In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

Vol. V

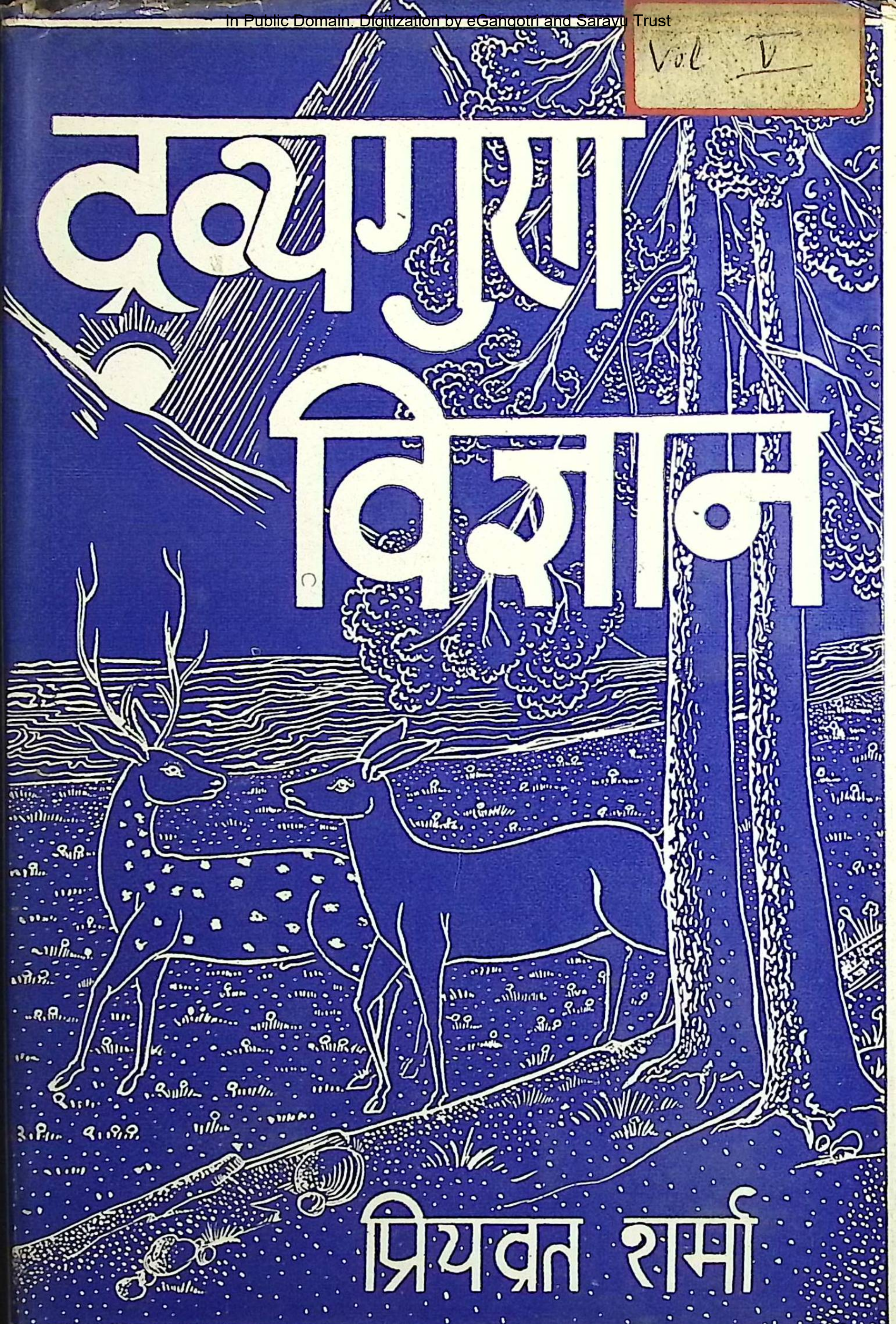

द्रव्यगुण विज्ञान

प्रियव्रत शर्मा

चौखम्भा भारती अकादमी, वाराणसी-पटना

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

Phone : 2911617
Chaukhambha Orientalia
Lu .alow Road, 9 U. B
(N.. r Kirorimal College)
DELHI- 10007

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

॥ श्रीः ॥

वि० आयुर्वेद ग्रन्थमाला

३

सचित्र

द्रव्यगुण-विज्ञान

पञ्चम भाग

(द्रव्य-विमर्श)

आचार्य प्रियव्रत शर्मा

भूतपूर्व अध्यक्ष, द्रव्यगुण-विभाग,

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

चौखम्भा भारती अकादमी

आकर ग्रन्थों के प्रकाशक एवं वितरक

गोकुल भवन, के. ३७/१०९, गोपाल मन्दिर लेन

वाराणसी–२२१००१ (भारत)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

प्रकाशक : चौखम्भा भारती अकादमी, वाराणसी
मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी
संस्करण : प्रथम, वि० संवत् २०३८
मूल्य : रु० [illegible]-००

Vaidyaraj Zandu Bhatji
National Ayu edic Libra
Punjabi ... Delhi
Call No.
Book No. 4.39

अन्य प्राप्तिस्थान

१. चौखम्भा ओरियन्टालिया

पो० बा० नं० ३२
गोकुल भवन, के. ३७/१०९, गोपाल मन्दिर लेन
वाराणसी–२२१००१ (भारत)
टेलीफोन : ६३३५४ टेलीग्राम : गोकुलोत्सव

शाखा—बंगलो रोड, ९ यू० बी० जवाहर नगर
दिल्ली–११०००७ फोन : २२१६१७

२. चौखम्भा संस्कृत संस्थान

पोस्ट बाक्स नं. १३९
जड़ाव भवन, के. ३७/११६, गोपाल मन्दिर लेन
वाराणसी–२२१००१ (भारत)
फोन : ६५८८९

३. चौखम्भा विश्वभारती

पो० बाक्स नं० १३९
चौक (चित्रा सिनेमा के सामने)
वाराणसी–२२१००१ (भारत)
फोन : ६५४४४

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

THE
V. AYURVEDA SERIES
3
*****

स्व. कविराज गौरी लाल चानना
भूतपूर्व सम्पादक एवं प्रधानमंत्री, अ.भा.आ. महासम्मेलन
के परिवार की ओर से
महासम्मेलन पुस्तकालय को सादर भेंट

Illustrated

DRAVYAGUṆA-VIJÑĀNA

Vol. V

(Discussion on Drugs)

Prof. P. V. SHARMA
Formerly Head, Department of Dravyaguṇa,
Banaras Hindu University, Varanasi

CHAUKHAMBHA BHARATI ACADEMY
Publisher and Distributor of Monumental Treatises of East
Gokul Bhawan, K. 37/109, Gopal Mandir Lane
VARANASI (INDIA)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

© *Chaukhambha Bharati Academy, Varanasi*

First Edition 1981

Price : Rs. 45-00

Also can be had of

1. **CHAUKHAMBHA ORIENTALIA**
   Post Box No. 32
   Gokul Bhawan, K. 37/109, Gopal Mandir Lane
   VARANASI-221001 (India)
   Telephone : 63354 Telegram : Gokulotsav

   Branch—Bungalow Road, 9 U. B. Jawahar Nagar,
   DELHI-110007 (India) [Phone : 221617]

2. **CHAUKHAMBHA SANSKRIT SANSTHAN**
   Post Box No. 139
   Jadau Bhawan, K. 37/116
   Gopal Mandir Lane
   VARANASI-221001 (India)
   Phone : 65889

3. **CHAUKHAMBHA VISVABHARATI**
   Post Box No. 139
   Chowk (Opposite Chitra Cinema)
   VARANASI-221001
   Phone : 65444

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

भूमिका

द्रव्यगुण-विज्ञान का यह रजत जयन्ती-वर्ष है। पचीस वर्ष पूर्व १९५५ ई० में इसका प्रथम भाग प्रकाश में आया था। तब से अब तक इसके कलेवर एवं वस्तुविन्यास में अनेक परिवर्तन आये। क्रमशः अन्य भाग उसमें जुटते गये और आज पञ्चम भाग प्रस्तुत करते हुये परम प्रसन्नता की अनुभूति हो रही है। १९५५ ई० में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के आयुर्वेदिक कालेज के एक तरुण अध्यापक तथा द्रव्यगुण के प्रांगण में नवागन्तुक लेखक ने यह कभी कल्पना नहीं की थी कि उसकी कृति को ऐसा समादर प्राप्त होगा किन्तु देश-विदेश के अध्यापक-वृन्द तथा छात्र-समुदाय ने जिस स्नेह से इसे अंगीकार किया उसके लिए यह आभार से अभिभूत है।

इस भाव-विकास की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि है। जब इसके प्रथम और द्वितीय भाग प्रकाशित हुये थे तब देश में आयुर्वेद का स्नातकीय शिक्षण ही प्रचलित था, स्नातकोत्तर शिक्षण प्रारंभ होना शेष था। अतः तत्कालीन आवश्यकता को देखते हुए इन भागों की रचना की गई जिनमें द्रव्यगुण के अपेक्षित पक्षों पर प्रकाश डाला गया। जामनगर में स्नातकोत्तर शिक्षण प्रारंभ होने के बाद १९६३ ई० में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में जब आयुर्वेदीय स्नातकोत्तर संस्थान की स्थापना हुई तब संयोगवश मुझे द्रव्यगुण-विभाग में पुनः कार्य करने का अवसर प्राप्त हुआ। स्नातकोत्तर पठन-पाठन तथा अनुसन्धान के क्रम में नये नये विचार उत्पन्न होने लगे और भावभूमि का उत्थान होता गया। द्रव्यगुण के अनेक शास्त्रीय पक्ष दृष्टि में आने लगे जिन पर अभी बहुत कुछ करना शेष था। इस दिशा में आगे बढ़ने पर जो नवीन ज्ञान उपलब्ध हुआ उस आधार पर द्रव्यगुण-विज्ञान के प्रथम और द्वितीय भागों को आमूल परिमार्जित कर अद्यतन बनाया गया। आहार-द्रव्यों को जोड़ कर एक पृथक् तृतीय भाग की संरचना की गई। यह अनुभव हुआ कि भारतीय संस्कृति के आदि स्रोत वैदिक वाङ्मय का जब तक इस दृष्टि से परिशीलन नहीं होगा तब तक द्रव्यों के मूल स्वरूप तथा प्रयोग का परिज्ञान सम्भव नहीं है। यह एक दुरूह कार्य था किन्तु वर्षों के कठिन परिश्रम से समस्त उपलब्ध वैदिक वाङ्मय

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

(संहिता, ब्राह्मण, उपनिषद् और वेदाङ्ग) का सर्वेक्षण कर द्रव्यों के सम्बन्ध में सूचनायें एकत्रित की गईं और उन्हें चतुर्थ भाग में प्रस्तुत किया गया। उसमें द्रव्यगुण का इतिहास भी जोड़ दिया गया क्योंकि बिना ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य के विषय का सम्यक् ज्ञान सम्भव नहीं है। मैं यह देख कर अवाक् रह गया कि ऐतिहासिक दृष्टि के अभाव के कारण बड़े बड़े महारथी हजारों वर्ष पूर्व चरक द्वारा वर्णित फल 'पारावत' का अर्थ 'अमरूद' करने लगे जो १६वीं शती में भारत में प्रविष्ट हुआ। आयुर्वेद एक अति प्राचीन शास्त्र है, अतः आधुनिक युग से इसका सामञ्जस्य स्थापित करने के लिए इसके विकासक्रम को समझना अत्यावश्यक है जिसका एकमात्र साधन इतिहास का अध्ययन है। ऐतिहासिक दृष्टिसम्पन्न समीक्षक ही आयुर्वेद का वास्तविक व्याख्याता हो सकता है।

अध्ययन के संभार

सन्दिग्ध द्रव्यों पर विचार करने की बात बहुत पहले मन में आई थी किन्तु उसके पूर्व अपेक्षित संभार एकत्रित करना आवश्यक था। इनमें एक का उल्लेख ऊपर किया गया। इसके अतिरिक्त, गुप्तकालीन वाङ्मय (काव्य, व्याकरण, ज्योतिष, स्मृति, पुराण आदि) का सर्वेक्षण कर संबद्ध सामग्री संकलित की गई। बाणभट्ट की कृतियों का विशेष रूप से परिशीलन किया गया क्योंकि बाणभट्ट एक घुमक्कड़ जीव थे और उन्होंने प्रकृति का सन्निकट से पर्यवेक्षण कर वनस्पतियों का यथार्थ चित्रण किया है[1]। इसी दृष्टि से वराहमिहिर की बृहत् संहिता का भी अध्ययन किया गया[2]। विशाल निघण्टु-वाङ्मय में से अत्यन्त स्वल्प ही अब तक उपलब्ध था जो द्रव्यों के ज्ञान के लिए पर्याप्त नहीं था। अतः अज्ञात एवं अद्यावधि अप्रकाशित निघण्टुओं को प्रकाश में लाने की योजना बनी जिस क्रम में अनेक निघण्टु—अष्टाङ्गनिघण्टु, माधवद्रव्यगुण, सोढलनिघण्टु, सिद्धमन्त्र, हृदयदीपक, अभिधानरत्नमाला, कैयदेवनिघण्टु आदि—प्रकाशित हुए। यह बृहत् संभार जुटाते-जुटाते सारा दिन निकल गया और देखते-देखते मैं जीवन की सन्ध्या में पहुँच गया। कभी सोचता कि देर तो नहीं हुई किन्तु जब चारों ओर नजर घुमाई तो देखा कि सभी आचार्यों ने इसी काल में सन्दिग्ध द्रव्यों पर लेखनी उठाई। इसका कारण है कि यह इतना दुरूह कार्य है कि जीवन के पूर्ण परिपाक से प्रादुर्भूत समस्त अनुभवों का सार भी इस समस्या का समाधान करने के लिए पर्याप्त नहीं है।

---

१. इसके लिये देखें—Indian Medicine in the Classical Age, Choukhambha, 1972

२. BIHMH, Vol. VI, M. I, Jan. 1976

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

सन्दिग्ध द्रव्यों की समस्या

प्राचीन संहिताओं में अनेक द्रव्य ऐसे हैं जो आज सन्दिग्ध कोटि में पहुँचे हुए हैं या नितान्त अज्ञात हैं। इसका परिणाम यह हुआ कि उनका प्रयोग छूट गया और उनके चामत्कारिक प्रभाव से आतुर जन वञ्चित रह गये। दूसरी ओर, एक द्रव्य के नाम पर अनेक भिन्न-भिन्न द्रव्य देश के विभिन्न अञ्चलों में परम्परानुसार व्यवहृत हो रहे हैं। उदाहरणार्थ, पाषाणभेद को लें। उत्तर का पाषाणभेद बर्जीनिया लिगुलाटा है तो दक्षिण का इरुवा लनाटा, पूर्व में कोलियस ऐम्बायनिकस व्यवहृत हो रहा है तो पश्चिम में ब्रायोफाइलम कैलिसिनम चल रहा है। यही स्थिति मूर्वा, रास्ना आदि द्रव्यों की भी है। इससे न केवल शास्त्रीय दृष्टि से प्रत्युत व्यावहारिक दृष्टि से भी अव्यवस्था उत्पन्न हो गई है। संवैधानिक दृष्टि से भी औषधद्रव्यों के सम्बन्ध में कोई राजकीय नियमन लागू करना कठिन हो रहा है क्योंकि जब तक इनमें एकरूपता स्थापित हो कर इनका मानकीकरण नहीं हो जाता तब तक न तो कोई भेषजसंहिता (फार्माकोपिया) बन सकती है और न कोई ड्रग ऐक्ट ही सफलतापूर्वक कार्यान्वित किया जा सकता है।

सन्दिग्धता के कारण

द्रव्यों की सन्दिग्धता के अनेक कारण हैं जिनमें निम्नांकित प्रमुख हैं :—

१. भौगोलिक विविधता

भारतवर्ष एक विशाल देश है जिनमें विविध भौगोलिक वातावरण विद्यमान हैं। एक ओर हिमालय की हिमाच्छन्न अधित्यका है तो दूसरी ओर विन्ध्य की दावाग्निसंतप्त पाषाण-श्रृंखला; एक ओर राजस्थान का मरुस्थल तो दूसरी ओर पूर्वोत्तर प्रदेश के आनूप क्षेत्र। इन विविध वातावरणों की अपनी अपनी वानस्पतिक विशेषतायें हैं। एक क्षेत्र में होने वाली वनस्पति दूसरे क्षेत्र में स्वभावतः नहीं उग सकती अतः वहाँ उसके अभाव में किसी अन्य प्रतिनिधि द्रव्य का चुनाव कर लिया जाता है जो गुण-कर्म में तत्समान हो। इस परम्परा का श्रीगणेश हम वैदिक वाङ्मय में ही पाते हैं। ऋग्वेद में सोम की बहुत चर्चा है, उस काल में वह एक प्रचलित द्रव्य रहा हो किन्तु वह सर्वत्र उपलब्ध नहीं था। अतः ऐसी व्यवस्था की गई कि यदि सोम उपलब्ध न हो तो उसके स्थान पर आदार आदि अन्य द्रव्यों का प्रतिनिधि रूप में प्रयोग किया जाय[1]। इसका प्रभाव व्यापक रूप से समस्त भारतीय समाज पर पड़ा और सर्वत्र मूल द्रव्य के अभाव में प्रतिनिधि द्रव्यों की

---

१. जै. ब्रा. १।३५४; श. ब्रा. १४।१।२।१२

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कल्पना की जाने लगी। मूल द्रव्य की निरन्तर स्थानापन्नता के कारण प्रतिनिधि द्रव्य का भी कालान्तर में मूल द्रव्य के नाम से प्रचलित हो जाना स्वाभाविक है। यह व्यवस्था मूल रूप में तो विशुद्ध भावना से की गई थी कि आत्ययिक स्थिति में ही इसका उपयोग किया जाय किन्तु देश में आलसियों की कमी नहीं है। वे ऐसे अपवादों की ताक में रहते हैं और उनका पूरा-पूरा लाभ उठाते हैं। यद्यपि निकटवर्त्ती जंगल में मूल द्रव्य उपलब्ध है तथापि जंगल में जाने का कष्ट क्यों उठाया जाय, इस आलस्य के कारण किसी अन्य सुलभ प्रतिनिधि द्रव्य का प्रयोग कर दिया गया।

२. यातायात की असुविधा

देश की विशालता के अनुरूप यातायात की सुविधा ऐसी नहीं रही कि कोई द्रव्य एक स्थान से दूसरे स्थान पर आसानी से पहुँचाया जाय। अतः कतिपय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण द्रव्यों को छोड़ कर सामान्य द्रव्यों के सम्बन्ध में परम्परा यह थी कि तत्तत् क्षेत्र में उपलब्ध होने वाले द्रव्यों से ही काम चलाया जाय। जिस प्रकार आहार-द्रव्यों के सम्बन्ध में परम्परा है कि जहाँ जो अन्न होता है उसी का सामान्यतःव्यवहार किया जाता है। वही स्वाभाविक नियम औषध-द्रव्यों के सम्बन्ध में भी लागू हुआ। फलतः दूसरे क्षेत्रों में उत्पन्न होने वाली ओषधियों के स्थान पर प्रयुक्त हो सकने वाली तत्सम स्थानापन्न ओषधियों का व्यवहार प्रवर्त्तित किया गया। ये ओषधियाँ कालान्तर में मूल द्रव्य का नाम ग्रहण कर लेती हैं। इस प्रकार एक ही मूल द्रव्य के विभिन्न प्रतिनिधि देश के विभिन्न क्षेत्रों में व्यवहृत होने के कारण मूल द्रव्य कौन सा है? यह प्रश्नचिह्न उपस्थित हो जाता है।

३. नागरिकता का विस्तार

जैसे-जैसे नागरिकता का विस्तार होता गया मानव प्रकृति से दूर हटता गया। प्राचीन काल में ऋषि-महर्षि वनों में रह कर प्राकृतिक वानस्पतिक सम्पदा का सन्निकट से सम्पर्क प्राप्त करते थे। दूसरे शब्दों में यह कहा जाय कि उनका समस्त जीवन वनस्पतिमय था। उनके दैनिक या सामाजिक जीवन के सभी कार्यकलापों में वनस्पति उनके सहचर थे। अतः प्राचीन मानव वनस्पतियों का पूर्ण ज्ञाता था और उनके विविध उपयोगों की भी पूरी जानकारी रखता था। इसी कारण संहिताकारों ने सलाह दी है कि वनस्पतियों का परिचय वनवासी समाज से सम्पर्क कर प्राप्त किया जाय। किन्तु कालक्रम से जंगल कटते गये और नगरों का निर्माण होता गया। नगरों से जंगल इतने दूर भाग गये कि नागरिक की

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

दृष्टि से बिलकुल ओझल हो गये, फलतः नागरिक को अपने उद्यान-गमन[1] से ही सन्तोष करना पड़ा, जंगल में होने वाली वनौषधियों को वह भूल गया। नगर का चिकित्सक भी ऐसी वनौषधियों के परिचय में सन्देहग्रस्त हो गया और जो वहाँ उपलब्ध हो जाता उसी का औषध में प्रयोग करता। परिणाम यह हुआ कि—

'यस्य कस्य तरोर्मूलं येन केनापि पेषितम्।
यस्मै कस्मै प्रदातव्यं यद्वा तद्वा भविष्यति ॥'

४. ओषधियों का व्यापार

नागरिकता के परिणामस्वरूप तथा ओषधियों की सर्वत्र सुलभता न होने के कारण इस क्षेत्र में भी व्यापार प्रारम्भ हुआ। चिकित्सक जन जंगलों से ओषधियाँ न लाकर शनैः-शनैः व्यापारियों पर ही निर्भर होते गये। वनस्पतियों के क्रय-विक्रय का संकेत प्राचीन संहिताओं में भी मिलता है। चरक में 'क्रय' और 'आक्रय' दो शब्द प्रयुक्त हुये हैं[2]। क्रय है देश के भीतर खरीद और आक्रय है बाहर से द्रव्यों का आयात। यह स्मरणीय है कि प्राचीन काल से ले कर अब तक अनेक औषध-द्रव्य बाहरी देशों से आयातित होते रहे हैं। बाणभट्ट की रचनाओं में भी इसका संकेत मिलता है। ये व्यापारी कभी आलस्यवश और कभी लोभवश मूल द्रव्य के स्थान पर प्रतिनिधि द्रव्य या किसी अपद्रव्य का विक्रय करते रहे। चिकित्सक भी अज्ञानवश इसका विरोध नहीं कर सकते थे। दूसरे, चिकित्सक स्वयं चिकित्साकार्य में अत्यन्त व्यस्त रहने के कारण औषधनिर्माण को नहीं देख पाते और इसे भृत्यों पर ही पूर्णतः छोड़ देते। वणिक् और भृत्य मिल कर इस परम्परा को यथासम्भव आगे बढ़ाते गये। यद्यपि अर्थशास्त्र तथा स्मृतियों में ऐसे दुष्कृत्य के लिए दण्ड-विधान है तथापि यह प्रक्रिया कभी रुकी नहीं।

५. नामरूप-ज्ञान की उपेक्षा

प्राचीन ऋषि-मुनि वनों में रहते थे अतः वनौषधि-परिचय उनके लिए न तो कोई समस्या थी और न कोई ज्ञातव्य विषय। बालक जन्मते ही इनका परिचय प्राप्त करने लगता था और अनायास ही व्यक्तिगत सम्पर्क से इनका अभिज्ञ बन जाता था। इस कारण आयुर्वेदीय संहिताओं में यद्यपि नामरूपज्ञान की चर्चा हुई तथापि उन्हें विवरण की दृष्टि से महत्त्व न दे कर प्रयोगपक्ष को ही महत्त्व दिया गया क्योंकि उद्देश्य था प्राणियों का दुःखनिवारण। अतः यह सोचा गया

---

१. कामसूत्र २।४।२५, ४।१।२६

२. च. सू. १५।३

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कि वनस्पतिविवरण में व्यर्थ समय और शक्ति का अपव्यय न कर सारा श्रम प्रयोग में ही लगाया जाय। किन्तु इसका परिणाम दूरगामी एवं भयानक हुआ। निघण्टुओं ने भी संहिताओं का अनुकरण कर वनौषधियों का वर्णन नहीं किया, केवल उनके गुणकर्म तथा आमयिक प्रयोग बतला दिये। इस प्रकार इस विषय के पठन-पाठन में नामरूपज्ञान नितान्त उपेक्षित हो गया जिसका परिणाम यह हुआ कि बड़े बड़े यशस्वी चिकित्सक भी सामान्य वनौषधियों की पहचान में भी असमर्थ होने लगे। आधुनिक काल में जब नवीन शैली के आयुर्वेद महाविद्यालय प्रचलित हुये तब नामरूपज्ञान को यथावत् महत्त्व प्राप्त हुआ।

पुनर्जागरण

उपर्युक्त तथा अन्य अनुक्त कारणों से जिस सन्दिग्ध स्थिति में चिकित्सक पहुँच चुका था उससे उसका उद्धार करना आवश्यक था। क्योंकि न केवल वही बल्कि उसके साथ आयुर्वेद भी अनेक कारणों से संशयात्मक स्थिति में पहुँच चुका था। अतः वर्तमान शती के प्रथम दशक में जब आयुर्वेद के पुनर्जागरण के निमित्त वैद्य शंकरदा जी शास्त्री पदे ने शंखध्वनि की तो उसके साथ ही विद्वान वैद्यों ने सन्दिग्ध द्रव्यों की चुनौती स्वीकार की और उस दिशा में प्रयत्न प्रारम्भ किये। ऐसी चर्चाओं के लिए अखिल भारतीय वैद्यसम्मेलन के मञ्च का पूरा उपयोग किया जाता। इस सम्मेलन के अधिवेशन पर इस क्षेत्र में कार्य करने वाले वैद्य तथा अन्य महानुभाव बड़े उत्साह से ओषधियों के नमूने लेकर वहाँ पहुँचते, प्रदर्शनी लगाई जाती और सन्दिग्ध द्रव्यों पर भाषण होते, लेख पढ़े जाते और शास्त्रार्थ होता। इतना ही पर्याप्त न देख कर इस प्रक्रिया को और आगे बढ़ाने के उद्देश्य से कुछ विशिष्ट पत्र भी प्रकाशित किये जाने लगे जिनमें 'बूटी-दर्पण' उल्लेखनीय है। वास्तव में, कोई वैद्य विद्वान माना नहीं जाता जब तक वह सन्दिग्ध द्रव्यों के विषय में अपने विचार व्यक्त नहीं करता। विद्वत्ता की अभिव्यक्ति के लिए वह एक महत्त्वपूर्ण क्षेत्र दशकों तक बना रहा।

आधुनिक युग के समीक्षक

आधुनिक काल में सन्दिग्ध वनौषधियों के सम्बन्ध में कार्य करने वाले व्यक्तियों में रूपलाल वैश्य, भगीरथ स्वामी, वैद्य बापालाल तथा बलवन्त सिंह के नाम शीर्षस्थ हैं। रूपलाल वैश्य के अद्भुत लगन एवं अध्यवसाय ने मुझे सर्वाधिक प्रभावित किया। रेलवे में एक साधारण क्लर्क की नौकरी करते हुए बिहार की भूमि में उत्पन्न वह व्यक्ति अपूर्व जीवट का था। अपनी नौकरी से बचा हुआ सारा समय वह वनस्पतियों के अध्ययन एवं खोज में लगाता, जंगलों की खाक छानता, वहाँ से संगृहीत वनौषधियों के स्वरूप का सूक्ष्म

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

पर्यवेक्षण कर उनकी विशेषताओं को नोट करता और फिर उनके रंगीन चित्र बनाता। वह इस कार्य में ऐसा रम गया था कि उसका सारा परिवार इसमें उसकी सहायता करता। कोई वनौषधियों का रख-रखाव करता, कोई किसी वनस्पति के बीज मिट्टी में डाल कर उसे उगाता, कोई उनके हर्बेरियम शीट बनाता और कोई उनके चित्रांकन में सहायता करता। 'बूटीदर्पण' की फाइलों को देखने से उनके अध्यवसाय का अनुमान होता है। संदिग्ध द्रव्यों के सम्बन्ध में उनके विचार भी उसमें मिलते हैं। इस सम्बन्ध में कोई बृहदाकार सचित्र ग्रन्थ लिखने का उनका विचार था जो कार्यान्वित न हो सका, केवल थोड़ा अंश छप सका।

आयुर्वेदमहोपाध्याय भगीरथ स्वामी मुख्यतः कलकत्ता में रहते थे। सन्दिग्ध वनौषधियों के सम्बन्ध में शास्त्रार्थ में वह रुचि रखते थे तथा लेखों के द्वारा एवं सम्मेलन के अधिवेशनों में शास्त्रार्थ के द्वारा अपने विचार व्यक्त करते थे। सन्दिग्धनिर्णय-वनौषधि-शास्त्र उनकी प्रसिद्ध कृति है जो बृहदाकार होने पर भी अपूर्ण ही रह गई।

वैद्य बापालाल जी ने अपना सारा जीवन वनौषधियों के अध्ययन में लगाया। वह भाई जयकृष्ण जी इन्द्र जी की परम्परा के हैं जो वनस्पति-जगत् के वशीभूत होकर अपना स्वत्व खो बैठे थे। 'निघण्टु आदर्श' वैद्य जी की प्रमुख रचना है जिसके द्वारा वनस्पतियों पर अपने विचार व्यक्त कर उन्होंने विद्वज्जनों का ध्यान आकृष्ट किया। इसके बाद भी सन्दिग्ध द्रव्य की समस्या से वे बेचैन रहे और निरन्तर उसके समाधान के लिए प्रयत्नशील रहे। अनेक समितियों के माध्यम से भी उन्होंने इस कार्य को आगे बढ़ाया। 'सन्दिग्धद्रव्य-निर्णय-उपसमिति' (भारत सरकार द्वारा गठित) की भी अध्यक्षता आपने की थी। बाद में 'Controversial Drugs in Indian Medicine' शीर्षक उनकी लेखमाला धारावाहिक रूप से प्रकाशित हुई[१]। अब इसी नाम से एक ग्रन्थ प्रकाशनाधीन है। लगभग ९० वर्ष की आयु में भी सन्दिग्ध द्रव्यों की समस्या पर निरन्तर लिखने वाला व्यक्ति आयुर्वेद के इतिहास में दूसरा नहीं है। उनमें दुराग्रह नहीं है, अतः वे कोई दूसरा अच्छा विकल्प मिलने पर अपना विचार अनासक्त होकर तुरन्त छोड़ देते हैं। कभी-कभी कोई ठोस प्रामाणिक आधार न मिलने पर केवल एक तिनके का ही सहारा पाकर आधार बना लेते हैं, इस विचार से कि आगे फिर इसका परिमार्जन कर लिया जायगा। यह सब उनके शिव-संकल्प तथा समस्या के प्रति जागरूकता एवं तन्मयता का द्योतक है

---

१. J. R. I. M., Vol. V, No. 1, 2; VII, 1, 2, 3; IX, 2; X, 3, 4.

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

ठाकुर बलवन्त सिंह रूपलाल वैश्य के समान मूलतः आयुर्वेद-परम्परा के व्यक्ति नहीं थे, बाद में वैद्यों के सान्निध्य से इसके प्रति आकृष्ट हुए और वनस्पति-विज्ञान में अपने विशिष्ट ज्ञान का उपयोग सन्दिग्ध द्रव्यों के निर्धारण में करने लगे। आयुर्वेदिक कालेज के छात्रों के साथ वनौषधि-यात्रा की टोली लेकर देश के विभिन्न क्षेत्रों में जाते थे। इस प्रकार लगभग सारे देश के वानस्पतिक क्षेत्रों का सर्वेक्षण आपने कर लिया। श्रीवैद्यनाथ आयुर्वेद भवन द्वारा आयोजित ऐसी यात्राओं में भी आप नेतृत्व करते थे। बाद में अनुसन्धान-परिषद् के माध्यम से भी आपने यह कार्य किया। इस प्रकार क्षेत्रीय परिभ्रमण के द्वारा समृद्ध अनुभव तथा वनस्पति-विज्ञानीय वैदुष्य दोनों को साथ लेकर आपने आयुर्वेद की बृहत्त्रयी की ओषधियों का अध्ययन-मनन किया। फलतः आप विशिष्ट वैदुष्य, क्षेत्रीय अनुभव, शास्त्राध्यवसाय तथा अद्भुत कल्पनाशक्ति के द्वारा अनेक अज्ञात एवं सन्दिग्ध द्रव्यों के निर्धारण में सफल हुये। इस दिशा में आपका योगदान ऐतिहासिक एवं अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। आपने अपने जीवन के अन्तिम निष्कर्ष अपनी अन्तिम रचना 'Glossary of Vegetable Drugs in Bṛhattrayī' में दिये हैं। आपकी अनुसन्धान शैली नाम-प्रधान है। आधार यह है कि आदिवासियों या प्राचीन समाज में प्रचलित नाम प्रायः प्राचीन नामों के ही परिवर्तित रूप या अपभ्रंश हैं, उनमें अधिक परिवर्तन नहीं आया है। अतः नाम के सादृश्य से संकेत पाकर अनेक द्रव्यों की पकड़ में आप सफल हुए हैं यद्यपि कहीं-कहीं यह अतिसीम हो गया है।

पुनर्जागरण के वातावरण में उपर्युक्त विद्वानों के नेतृत्व में अनेक दशकों तक जो मन्थन हुआ उसका परिणाम अत्यन्त शुभ निकला। दर्जनों सन्दिग्ध द्रव्यों का तात्कालिक निर्धारण कर दिया गया। सबसे बड़ी उपलब्धि यह हुई कि इस सम्बन्ध में वैद्यों में आत्मविश्वास की भावना उत्पन्न हो गई और वे इस समस्या को रचनात्मक दृष्टि से देखने लगे।

सन्दिग्ध द्रव्यों के अध्ययनार्थ अपेक्षित पृष्ठभूमि

सन्दिग्ध द्रव्यों की समस्या के समाधान के लिए अपेक्षित पृष्ठभूमि का निर्माण सर्वप्रथम आवश्यक है। इसमें निम्नांकित बातें आवश्यक हैं :—

१. आयुर्वेद-वाङ्मय का ज्ञान।

२. संस्कृत भाषा में प्रौढता—जिससे मूल एवं व्याख्याओं को हृदयङ्गम करने के अतिरिक्त शब्दों की निरुक्तियों के विश्लेषण में भी समर्थ हो। अन्य भाषाओं का भी यथासम्भव ज्ञान हो।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

३, वनस्पतिविज्ञान की जानकारी—जिससे वह वनस्पतियों की आकारिकी का ज्ञान प्राप्त कर सके और उनका स्वयं वर्णन कर सके।

४. **क्षेत्रीय सर्वेक्षण**—विभिन्न वानस्पतिक क्षेत्रों में परिभ्रमण कर वनस्पतियों का प्रत्यक्ष ज्ञान करना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त, उनके पारम्परिक प्रयोगों की भी जानकारी होनी चाहिए।

५. **ऐतिहासिक दृष्टि**—विवेचन में ऐतिहासिक दृष्टि से विकासक्रम के निरूपण की प्रवृत्ति एवं क्षमता होना आवश्यक है। प्राचीन इतिहास का ज्ञान भी अपेक्षित है। विशेषतः द्रव्य-व्यापार से सम्बद्ध जानकारी आवश्यक है।

६. **भौगोलिक ज्ञान**—भारतवर्ष, आस-पड़ोस के देशों तथा विश्व के भूगोल का ज्ञान अपेक्षित है। विभिन्न व्यापारिक स्थलमार्गों तथा जलमार्गों का ज्ञान होना चाहिए जिनके द्वारा औषधद्रव्यों का यातायात होता रहा। भारत के विभिन्न क्षेत्रों की जलवायु तथा उनमें उत्पन्न होने वाली वनस्पतियों की जानकारी होनी चाहिए।

७. **संबद्ध भारतीय वाङ्मय**—आयुर्वेद के अतिरिक्त अन्य वाङ्मय का भी सर्वेक्षण आवश्यक है क्योंकि वनस्पतियों का उपयोग प्रायः सभी शास्त्रों में हुआ है।

८. **कल्पनाशक्ति**—वैज्ञानिक विश्लेषणात्मक प्रवृत्ति के साथ-साथ कार्यकर्त्ता की कल्पनाशक्ति भी विकसित होनी चाहिए। वह सहृदय भी हो जिससे लता-गुल्मों के साथ तादात्म्य स्थापित कर सके।

द्रव्यनिर्धारण की पद्धति

किसी भी सन्दिग्ध द्रव्य के अध्ययन एवं स्वरूप के निर्धारण में निम्नांकित पद्धति का अनुसरण करना चाहिए :—

१. **शास्त्रीय स्वरूप**—प्राचीन संहिताओं में द्रव्य के जो सन्दर्भ आये हैं उन्हें संकलित कर उनके आधार पर वनस्पति के स्वरूप, गुण-कर्म तथा प्रयोग का ढाँचा खड़ा करना चाहिए।

२. **व्याख्याकारों के मत का संकलन**—अब संहिता की विभिन्न व्याख्याओं का अध्ययन कर देखना चाहिए कि किस टीकाकार ने उस द्रव्य के स्वरूप आदि के सम्बन्ध में क्या लिखा है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

३. **समीक्षकों के विभिन्न मत**—द्रव्य के निर्धारण के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों के मतों का युक्तिसहित संकलन करना चाहिए।

४. **व्यवहृत प्रतिनिधि द्रव्यों का ज्ञान**—देश के किस क्षेत्र में उस नाम पर कौन सा द्रव्य व्यवहृत हो रहा है, इसकी जानकारी प्राप्त की जाय।

५. **प्रतिनिधि द्रव्यों का संग्रह**—उपर्युक्त प्रतिनिधि द्रव्यों के नमूने ताजे तथा प्रयोज्यांग बाजार से मँगवा कर संग्रह करना चाहिए।

६. **तुलनात्मक नामरूपात्मक अध्ययन**—उन नमूनों का तुलनात्मक नामरूपात्मक अध्ययन (pharmacognostical study) कर यह देखना चाहिए कि निर्धारित शास्त्रीय स्वरूप किस नमूने से मिलता है।

७. **तुलनात्मक गुणकर्मात्मक अध्ययन**—इसी प्रकार उनका तुलनात्मक गुणकर्मात्मक अध्ययन (pharmacological study) होना चाहिए और यह देखना चाहिए किस द्रव्य में शास्त्र में वर्णित गुण-कर्म अधिकतम मिलते हैं।

८. **तुलनात्मक प्रायोगिक अध्ययन**—गुण-कर्म-निर्धारण के बाद द्रव्य का जन्तुओं पर तथा रोगियों पर प्रयोग (experimental and clinical study) कर देखना चाहिए कि जिन रोगों में वह द्रव्य विहित है उसका कौन सा नमूना सर्वाधिक कार्यकर है।

९. **विमर्श**—उपर्युक्त सारी सूचनाओं को एकत्र कर उनका तुलनात्मक विश्लेषणात्मक अध्ययन करे और युक्तिपूर्वक कौन सा नमूना मूल द्रव्य के सर्वाधिक निकट है, यह निश्चय करे।

१०. **निष्कर्ष**—अन्त में अध्ययन का निष्कर्ष प्रस्तुत करे।

उपर्युक्त अपेक्षित पृष्ठभूमि किसी एक व्यक्ति में मिलना तथा उसे अनुसन्धान-सम्बन्धी सुविधायें उपलब्ध होना कठिन है। अब तक विद्वानों ने वाङ्मयात्मक आधार पर ही द्रव्यों का निर्धारण किया है, किन्तु जब तक द्रव्य में निर्दिष्ट व्याधि के प्रति कार्मुकता का परीक्षण न किया जाय तब तक वह विश्वसनीय नहीं हो सकता। अतः अब तक के आचार्यों द्वारा किये गये द्रव्य-निर्धारण को प्रस्ताव मात्र समझना चाहिए, सिद्धान्त नहीं। इन प्रस्तावों को उपर्युक्त पद्धति की कसौटी पर कसा जाय और जब खरे उतरें तब माना जाय, अन्यथा नहीं। यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि केवल कार्मुकता भी द्रव्य के निर्धारण में समर्थ नहीं है क्योंकि ऐसा देखा गया है कि कभी-कभी प्रतिनिधि द्रव्य मूल द्रव्य की अपेक्षा अधिक कार्यकर है। अतः शास्त्रीय स्वरूप को समष्टितः ध्यान में रखना

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

होगा, व्यष्टितः नहीं। आकृति, गुण, कर्म, प्रयोग सभी मिलें, तभी मानना चाहिए अन्यथा नहीं।

उपर्युक्त पद्धति से मैंने द्रव्यगुण-विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में पीएच० डी० शोधकर्त्ताओं द्वारा पाषाणभेद, मूर्वा, रास्ना आदि कतिपय सन्दिग्ध द्रव्यों पर अपने निर्देशन में कार्य कराये थे। उनके सारांश ग्रन्थ में सम्बद्ध स्थलों पर दिये गये हैं। सभी द्रव्यों पर कार्य सम्पन्न करना एक व्यक्ति के लिए सम्भव नहीं। एक दिशा-निर्देश कर दिया गया है जिस पर अन्य शोधकर्त्ता कार्य को आगे बढ़ावें।

प्रस्तुत ग्रन्थ

प्रस्तुत ग्रन्थ में यही शैली अपनाई गई है। संहिताओं द्वारा संकेतित स्वरूप एवं गुण-कर्म-प्रयोग को मानदण्ड मान कर समस्या का अध्ययन और उसका निष्कर्ष प्रस्तुत किया गया है। इन सबका क्रियात्मक अध्ययन अपेक्षित है। विषय के विवेचन में मध्यम मार्ग अपनाया गया है अतः इसमें आपको रूपलाल वैश्य की तन्मयता, भगीरथ स्वामी की शास्त्रयुक्तिप्रवणता, वैद्य बापालाल जी की समुत्सुकता तथा ठाकुर बलवन्त सिंह जी कल्पनापरक नामप्रधान शैली मिलेगी। अनेक विद्वानों ने इधर एक सूची बना कर यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि उन्होंने इतनी वनौषधियों का निर्धारण कर दिया। वैसा दुःसाहस करने मैं नहीं जा रहा हूँ। इस दिशा में मेरे योगदान की क्या सार्थकता है इसका संकेत प्रत्येक पृष्ठ पर पाठकों को मिलेगा।

अब तक विद्वान् बृहत्त्रयी के द्रव्यों पर लिख कर लेखनी रख देते थे किन्तु निघण्टुओं में भी अनेक द्रव्य ऐसे हैं जिनका निर्धारण स्पष्ट नहीं है। उनका विनिश्चय कैसे होगा? यह प्रश्न तब विशेष महत्त्वपूर्ण हो जाता है जब हम देखते हैं कि आज द्रव्यगुण के लिए निघण्टुग्रन्थ ही पढ़े-पढ़ाये जाते हैं, संहिताग्रन्थ नहीं। इस कठिनाई के निराकरण के लिए मैंने प्रस्तुत ग्रन्थ में दो खण्ड कर दिये हैं– प्रथम खण्ड में बृहत्त्रयी के द्रव्यों और द्वितीय खण्ड में निघण्टुओं के द्रव्यों का विमर्श है। निघण्टु-ग्रन्थों के प्रायः सभी ऐसे द्रव्यों को अकारादि क्रम से व्यवस्थित कर दिया गया है और यथासम्भव द्रव्यों पर निर्णय दिये गये हैं। जिन पर बुद्धि नहीं चली, वे छोड़ दिये गये हैं, उन पर अन्य शोधकर्त्ता कार्य करें, उन्हें समस्या के रूप में लें। इन द्रव्यों को सामने लाने का उद्देश्य शोधकर्त्ताओं के समक्ष समस्याओं को प्रस्तुत करना मात्र है।

ग्रन्थ के अन्त में परिशिष्ट दे दिया गया है जिसमें बृहत्त्रयी के तीन प्रमुख व्याख्याकारों—चक्रपाणिदत्त, डल्हण तथा अरुणदत्त—की सम्बद्ध व्याख्यायें संकलित हैं जिससे पाठकों को सुविधा हो।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

द्रव्यगुण का विशाल क्षेत्र

द्रव्यगुण-विज्ञान का क्षेत्र विशाल है। त्रिस्कन्ध[1] आयुर्वेद में एक (औषध) स्कन्ध द्रव्य ही है। देखा जाय तो आयुर्वेद के सभी अंगों के बराबर द्रव्यगुण है :—

'यद्येकतस्तुलायां सर्वाङ्गाणि प्रतिष्ठितानि स्युः।
तेभ्यश्चापि समेभ्यो द्रव्यगुणं स्याद् गरिष्ठं तत् ॥'

जिस प्रकार आयुर्वेद के आठ अंग हैं उसी प्रकार द्रव्यगुण भी अष्टाङ्ग है[2]। इसके आठ अंग निम्नांकित हैं :—

१. नाम	२. रूप
३. गुण	४. कर्म
५. योग	६. प्रयोग
७. संयोग	८. कल्प

संहिताओं में ये सूत्ररूप से निर्दिष्ट हैं। इनका पल्लवन कर अब प्रत्येक अंग पर प्रभूत विशिष्ट वाङ्मय का सृजन होना चाहिए। द्रव्यगुण-विज्ञान के पाँच भागों में इनमें से कुछ विषय आ गये हैं। शेष विषयों पर शोधकर्त्ता कार्य करें।

अन्त में, मैं पञ्चम भाग के द्वारा द्रव्यगुण-विज्ञान की पूर्णाहुति सम्पन्न कर सभी सदाशय विद्वज्जनों को प्रणाम करता हूँ। जिज्ञासु जनों को साधुवाद देता हूँ जिन्होंने ग्रन्थ के अन्य भागों को अपनाया, आशा है, वे इसे भी उसी तरह अपनावेंगे। समीक्षक जनों से अनुरोध है कि छोटी त्रुटियों का स्वयं परिमार्जन कर लें और गंभीर त्रुटियाँ मुझे बतलावें जिनका परिमार्जन आगे किया जा सके। द्रव्यगुण के अध्यापकों तथा शोधकर्ताओं को शुभकामनासहित प्रेरित करता हूँ कि वे इस कार्य को आगे बढ़ाते जाँय।

'उत्पत्स्यते च मम कोऽपि समानधर्मा।
कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी ॥'

---

१. त्रिस्कन्ध–हेतु, लिंग, औषध–है। इन तीनों से सम्बद्ध विभाग आज भी महत्त्वपूर्ण हैं। हेतु (दोष–दूष्य) से सम्बद्ध मौलिक सिद्धान्त है; लिंग से संबद्ध कायचिकित्सा तथा औषध (द्रव्य) से सम्बद्ध द्रव्यगुण है।

२. नाम रूपं गुणः कर्म प्रयोगो योगसंज्ञितः।
अष्टाङ्गं स्याद् द्रव्यगुणं संयोगः कल्प एव च ॥

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

इस महान कार्य में जिन लोगों ने ज्ञात एवं अज्ञात रूप में सहायता की है उनके प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ। विशेषतः मैं चौखम्भा परिवार का आभार मानता हूँ जिन्होंने इस ग्रन्थ की योजना को पूर्ण करने में सतत सहयोग प्रदान किया तथा द्रव्यगुण के क्षेत्र में अनेकानेक अनुपलब्ध ग्रन्थों को प्रकाश में ला कर आयुर्वेद-भारती के प्राङ्गण को आलोकित किया। आशा है, ये इसी प्रकार आयुर्वेद-वाङ्मय की श्रीवृद्धि में तत्पर रहेंगे।

१ जनवरी १९८१
३९, गुरुधाम
वाराणसी–१

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

विषय-सूची

प्रथम खण्ड : बृहत्त्रयी के द्रव्य

	पृष्ठ
अक्षिपीडक	५
अक्षीव	,,
अगुरु	६
अग्निमन्थद्वय	८
अङ्कलोड्य	९
अजगन्धा	१२
अजगरी–गोनसी–सर्पा	१५
अजरुहा–मूषिका	,,
अजलोमी–गोलोमी	१६
अजश्रृङ्गी–विषाणिका–कर्कटश्रृङ्गी–मेषश्रृङ्ग	,,
अजा	१८
अञ्जन–रसाञ्जन	,,
अञ्जनकी	१९
अधोगुडा	२०
अनुपाकी	,,
अन्तःकोटरपुष्पी	,,
अभिषुक	२१
अभीरुपत्री	,,
अमृतफल	,,
अम्बष्ठा–माचीक	,,
अम्लवेतस	२३
अम्लिका	२५
अरलु–श्योनाक	२६
अर्कपर्णी–अर्कपुष्पी	३०
अर्जक	३१
अर्जुन–ककुभ–आर्त्तगल	,,
अवगुत्थ	३५
अशोकरोहिणी	३६
अश्मन्तक	,,
अश्वगन्धा	३८
अश्वबला	४१
अश्वमूत्री	,,
अश्वशकृत्	४२
अश्वावरोहिका	,,
अष्टवर्ग–जीवनीयगण	,,
आक्षिकीफल	४४
आखुपर्णिका–वृषपर्णिका	४६
आदानी	४७
आदारी	,,
आदित्यपर्णी–आदित्यवल्ली–सूर्यवल्ली सुवर्चला–ब्रह्मसुवर्चला–तिलपर्णी	४८
आरुक	५०
आर्द्रिका–श्रृङ्गबेरिका	५१
आलुकभेद	५२
आस्फोता–गोपवल्ली–सारिवाद्वय	५३
इक्षु–काण्डेक्षु–इक्षुवालिका	५७
इक्षुरक–कोकिलाक्ष	५८
इत्कट	,,
इन्द्रवल्ली–इन्द्राणी	५९
उच्चटा–कुलिंगा	६०
उदीच्य–वालक–तगर–हीवेर	६४
उद्दालक–कोविदार–कर्बुदार	६३
उपकुल्याद्वय	७१
उल्लका–अल्लका	,,
उ(ऊ)षक	७२
ऋष्यगन्धा–ऋष्यप्रोक्ता	,,
एकैषिका	७३
एलाद्वय	,,
ऐन्द्री–ब्राह्मी–मण्डूकपर्णी	७४

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

ऐरावत-ऐरावती	७७
कङ्कुष्ठ	८०
कञ्चुकी-कुक्कुटी	८८
कटभी-किणिही	९०
कटुक-कटुकदौग्धिक-कटुकिका	९२
कठिञ्जर	९३
कणकणिका	,,
कण्टकारी-बृहती	९४
कत्तृण-भूस्तृण-जंबीर-ध्यामक-रोहिष	,,
कदम्ब-नीप	९७
कन्दली	९८
कपीतन	९९
कपोतवङ्का	१००
करञ्ज	,,
करञ्जिका	१०३
करवी-कारवी-उपकुञ्चिका	१०४
कर्कश-कर्कोट	,,
कर्कारुक	,,
कर्णिकार	१०५
कलाय-त्रिपुट-खण्डिका-सतीन-हरेणु	१०६
कलायवल्ली	,,
काकजंघा	१०७
काकनासिका	,,
काकाण्ड-काकाण्डोला	१०९
काकादनी	,,
काकोदुम्बर-मलयू-भद्रोदुम्बर-फल्गु	१११
काण्डीर-गण्डीर-जलपिप्पली	,,
काम्बोजी	११५
कायस्था-वयःस्था	,,
कार्मुका	,,
काला-कालानुसारिवा-कालानुसार्य	११६
कालीयक-कालेयक	११७
कुङ्कुम-केशर	११९
कुटज	१२०
कुन्तलिका	१२१
कुरुण्टिका-शितिवारक-इन्दीवर-सुनिषण्णक	१२१
कुलक	१२२
कुलहल	,,
कुश-दर्भ	१२३
कुष्ठ-पुष्करमूल	,,
कृष्णगन्धा-श्वेतमरिच	१२४
केलूट	१२५
कोशातकीचतुष्टय	१२६
क्रमुक-तिल्वक-लोध्र	,,
क्रौञ्चादन	१२९
क्रीतक	,,
क्षवक-राजक्षवक	१३४
क्षीरपलाण्डु-क्षीरपुष्पी	१३५
क्षीरीवृक्ष	,,
गजलेण्ड	१३६
गांगेरुकी-गुडशर्करा	१३७
गिरिकर्णिका-अपराजिता	,,
गुन्द्रा-एरका-गुण्ठ	१३८
गृञ्जन (क)	१३९
गोचन्दना	१४०
गोजिह्वा-गोजी	,,
चण्डा-चोरक-चोरकपत्र	१४२
चन्दनभेद	,,
चर्म(चर्मि)वृक्ष	१४३
चव्य-गजपिप्पली	१४५
चारटी-पद्मचारटी-पद्मचारिणी	१४७
छत्राह्वय	,,
जटिला-नलद-मांसी-पलङ्कषा-भूतकेशी-सुरा	१४८
जातुक	१४९
जातुकन्द	१५०
जीवन्ती-जीवन्त-कुमारजीव	,,
टङ्क	१५१
तरुणी-रामतरुणी	,,
तालीशपत्र-स्थौणेयक	,,
तिण्डिश	१५२
तिन्तिडीक-वृक्षाम्ल	,,

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

तिमिर	१५३
तिलक-तिल्वक	"
तुगाक्षीरी-तवक्षीरी	१५४
तुरुष्क-सिल्हक	"
तुलसी	१५५
तुवरक	१५६
तुवरी	१५७
तृणपञ्चमूल	"
तेजोवती-तुम्बुरु	"
तोदन	१५८
त्रिवृत्-श्यामा-महाश्यामा-छगलान्त्री	"
दन्तशठ	१६०
दन्ती-द्रवन्ती-जयपाल	१६१
हस्तिदन्ती-नागदन्ती-पुत्रश्रेणी	१६४
दिव्य ओषधियाँ	१६५
दुग्धिका-क्षीरिणी-क्षीरिका	१६७
नदीभल्लातक	१६८
नदीमाषक	"
नन्दीवृक्ष-पारीष-नन्दीतक-कपीतन	"
नलिका	१६९
नाकुलीद्वय-सर्पगन्धा	"
नागकेसर	१७०
निचुल-विदुल-वञ्जुल-वेतस-वानीर	१७१
निर्गुण्डी-सिन्धुवार-हरेणुका-शेफाली	१७३
पत्तूर	१७६
पद्मा	१७७
पर्णास	१७८
पर्पट	"
पर्पटकी-पर्पोटिका	१७९
पर्वणी-पर्वपुष्पी	१८०
पाटली-कुबेराक्षी-मुष्कक	१८१
पाठाद्वय	१८३
पारावत-पालेवत	"
पारावतपदी	१८८
पारिजात-पारिभद्र	"
पाषाणभेद	१८९
पिचु-पिचुक	१९८
पिण्डीतक-मदन	"
पिप्पली-पिप्पलीमूल	१९९
पीलुपर्णी-मोरट-क्षीरमोरट	२००
पुनर्नवा-वर्षाभू-वृश्चीव-कठिल्लक	२०१
पुल्लास	२०३
पुष्करवर्ति	"
प्रपौण्डरीक-मधुपर्णी-असनपर्णी	"
प्राचीबल	२०४
प्रियङ्गु-गन्धप्रियङ्गु-कान्ता	२०५
बदरभेद	२०६
बर्हिशिखा	२०७
बलाभेद-सहदेवा-विश्वदेवा-शीतपाकी-ओदनपाकी-प्रसारणी	२०८
बल्वज	२१२
बहुला	"
बाष्पद्वय-बाष्पिका-हिङ्गुपत्रिका-वेणुपत्रिका	"
बिम्बीलोट-भिल्लोटक	२१४
बिल्वपर्णी-सुरसी	"
	२१५
भव्य	"
भाण्डी-भाण्डीर	२१६
भार्ङ्गी-फञ्जी	२१७
भृङ्गवृक्ष	२१८
मत्स्याक्षक-मत्स्याख्यक	"
मदयन्तिका-मदयन्ती	२१९
मधुक-मधूक	२२०
मधूली-नन्दीमुखी-नृत्तकौण्डक	२२२
मन्दारी	२२३
महानिम्ब	"
मागधिका	२२६
मुकूलक	२२७
मुद्गपर्णी-माषपर्णी	"

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

मुशली	२२८	शङ्खपुष्पी–विष्णुक्रान्ता	२७५
मुस्तक	”	शतपर्वक–शतपर्विका	२७६
मूर्वा	२२९	शतवीर्या–सहस्रवीर्या	”
मूलकपर्णी	२३४	शताह्वक	२७७
मृगलिण्डिक	”	शताह्वाद्वय	”
मेषशृङ्गी	२३५	शाबरकन्दक	”
मोहनिका–मोहनवल्लिका	२३७	शार्ङ्गेष्टा	”
यवफला–यवतिक्ता	२३८	शिग्रुद्वय	२७९
रास्ना–एलापर्णी	२३९	शीतफल	२८०
रुहा–रोहा–रोहिणी	२४५	शीतवल्ली	”
रोहितक–रक्तवृक्ष–रोहीतकलता–रक्ता–लोहिता	२४८	शीतशिव	”
लक्ष्मणा	२४९	शुकतरु–शुकाह्वा	२८१
लवली	२५४	शुक्ता–क्षीरशुक्ता	२८३
लामज्जक–उशीर	२५६	शृङ्गाटिका–शृङ्गाटी	”
वंशलोचन	”	श्रावणीद्वय–अलम्बुषा–कुलहल	२८४
वचा–हैमवती	२५७	श्वेता–महाश्वेता	२८७
वज्रवृक्ष–महावृक्ष	२५८	संवर्त्तक	२८८
वज्रकन्द	”	संहर्षा	”
वत्सादनी	२५९	सप्तला–संखिनी	२८९
वनत्रपुषी	२६२	सर्पलोचना–सर्पाक्षी	२९१
वरक–वरुक	२६२	सुवर्ण–हेमांग	”
वरांग–त्वक्–चोच–शाल्मलक	”	सुषवी–पानीयवल्ली	२९२
वल्लीषट्क	२६४	सूर्यवल्ली–आदित्यवल्ली	२९३
वसुक–वशिर	२६५	सैरेयक-भेद	”
वायसपीलुक	२६६	सोम	२९५
वायसी	”	सोमा–सोमवल्ली–सोमसरला–सोमवृक्ष	”
विदारीगन्धा–शालपर्णी–त्रिपर्णी	२६७	स्थूलकन्द	२९८
विषद्रव्य	”	स्पृक्का	”
विषमुष्टिक–विषतिन्दुक–कुपीलु	२६९	स्फूर्जक	”
विषाणिका–वृश्चिकाली	२६९	स्वर्णक्षीरी	२९९
विषाद्वय	२७१	हरिचन्दन–लवङ्ग	३००
वीरतरु	२७२	हस्तिपर्णी	३०२
वृकधूमक	”	हिन्ताल	”
वेतस–वेत्र	”	हिरण्यपुष्पी	”
शकुलादनी	२७४		

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

द्वितीय खण्ड : निघण्टुओं के द्रव्य

	पृष्ठ		पृष्ठ
अगुरु	३०७	एलान	३१४
अग्निदमनी	”	ऐरावती	”
अङ्गारकेतु	”	कच्चक	”
अञ्जीर	”	कञ्चट	”
अत्यम्लपर्णी	३०८	कटुपर्णी	३१५
अन्धक	”	कटूवी	”
अपराजिता	”	कण्टपुङ्खा	”
अपर्वदण्ड	”	कदलीभेद	३१६
अपामार्ग	”	कन्थारी	”
अफूक–खस्तिल	३०९	करजोडिकन्द	”
अमृतफल	”	करञ्जभेद	”
अमृतस्रवा	”	करट	”
अम्लायन	३१०	करण्ट–कोरण्ट	”
अर्क	”	करवीरभेद	”
अश्मवल्क	”	करुण–करुणी	३१७
अश्वकाथरा	३११	कर्णस्फोटा	”
अश्वक्षुर	”	कर्पूर	”
असिशिम्बी	”	कर्मार	३१८
अस्थिशृङ्खलिका	”	कलम्बक	”
आकारकरभ	”	काकदोला	”
आभावबूलक	”	काकमाची	”
आमलक	३१२	काञ्चनी	३१९
आरामशीतला	”	काण्डीर	”
आशालिम	”	कामवृद्धि	”
आहुल्य–भूम्याहुल्य	”	काम्बोजी	”
इक्षुदर्भा	”	कारस्कर	”
उंसादन	३१३	कारी	३२०
उखल	”	कालाञ्जनी	”
उत्तुण्डक	”	किङ्किणी	”
उष्ट्रकाण्डी	”	किङ्किरात	३२१
उष्णसुन्दर	”	किंपाक	”
ऊंषदी	”	कीटगन्धा	”
एकवीर	३१४	कीटमारी	”

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कुकुरुन्द ३२१
कुचेलिका ३२२
कुटुम्बिनी ”
कुडुहुञ्ची ”
कुबेराक्षी ”
कुम्भाट ”
कुम्भी ३२३
कुरी ”
कुलञ्ज(न) ”
कुलत्था ”
कुशिंशपा ”
कूर्चपर्णी ३२४
केकिदण्डा ”
केविका ”
कैवर्त्तिका ”
कोलकन्द ”
कोलिपत्र ”
क्षीरनदी ३२५
क्षीरिणी ”
क्षुत्करी ”
खदिरभेद ”
खवल्ली ”
गङ्गाटी ”
गङ्गापत्री ”
गणिकारी ३२६
गण्डदूर्वा ”
गन्धकोकिला ”
गन्धमालती ”
गर्मोटिका ”
गिण्डिट ३२७
गिरिमती ”
गुग्गुलुभेद ”
गुच्छाह्वकन्द ”
गुडदिल्ल ”
गुण्ड ”
गुण्डकन्द ३२८
गुण्डाला ”
गुण्डासिनी ”
गोमूत्रिका ३२८
गोरक्षदुग्धी ”
गोरक्षी ”
गोलोमिका ”
ग्रन्थिपर्ण ”
घण्टावली ३२९
घोटक ”
घोली ”
चञ्चु ”
चणिका ”
चण्डालकन्द ”
चिञ्चोटक ”
चिरपोटा ३३०
चौहार ”
छिलहिण्ट ”
जन्तुकारी ”
जम्बू ”
जरणद्रुम ”
जलकारवल्ली ३३१
जीरावली ”
झिञ्झिरीटा ”
टङ्कारी ”
डिल्ल ”
डुलुपुष्प ”
ढण्ढण ३३२
तक्राह्वा ”
तक्की ”
तगरभेद ”
तमाल ”
तरटी ”
ताम्रवल्ली ३३३
तिलकन्द–तैलकन्द ”
तृणाढ्य ”
तेजफल ”
तैरिणी ”
त्रपुसभेद ३३४
दग्धा ”
दधिपुष्पी ”

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

दन्तीभेद ३३४
दीनकी ३३५
दुन्दुभटी ,,
दुर्मिल ,,
देवगन्धारिका ,,
देवसर्षप ,,
द्रोणपुष्पी-महाद्रोणा ,,
धरणीकन्द ३३६
नदीकान्त ,,
नरपुष्प ,,
नाकनारी ,,
नागदमनी ,,
नागपुष्पी ,,
नागार्जुनी ,,
नाराची ३३७
निकुञ्जिका ,,
निम्बी ,,
निश्रेणिका ,,
निष्पावी ,,
नील ,,
नीलाम्ली ,,
पक्काण्ड ,,
पण्यन्ध ३३८
पनसी ,,
पर्पोटी ,,
पलाशिनी ,,
पल्लिवाह ,,
पाची ,,
पिण्डार ,,
पीतरोहिणी ,,
पुत्रदा ३३९
पुत्रदात्री ,,
पेऊ ,,
फोग ,,
बलामोटा ,,
बृहतीभेद ३४०
बृहत्पाली ,,
ब्रह्मदण्डी ३४१
ब्रह्मसोमा ३४१
भृङ्गराजभेद ,,
भृङ्गारि ,,
भृङ्गाह्वा ,,
भृङ्गी ३४२
भेण्डा ,,
मज्जर ,,
मढिण्ढ ,,
मन्थानक ,,
मर्कोश ,,
महापिण्डी ,,
महाराष्ट्री ,,
माकन्दी ,,
मायुक ३४३
मालाकन्द ,,
माषाली ,,
मुद्गर ,,
मैत्री ,,
मोदयन्ती ३४४
यवानीभेद ,,
रागी ,,
राजक्षवक ,,
राजशमी ,,
राजाद्रि ,,
रुदन्ती ,,
रुद्रजटा ३४५
रुद्राक्ष ,,
लघुकच्छू ,,
लवणतृण ३४६
लिङ्गिनी ,,
वंशरोचना ,,
वचाभेद ,,
वच्छूल ३४७
वराहसदन ,,
वल्लीयक ,,
विषखर्परिका ,,
विषमुष्टि ,,
विष्णुकन्द ३४८

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

वृद्धदारुक	३४८	सर्पिणी	,,
वृश्चिका	३४९	साकुरुण्ड	,,
शतात्तक	३५०	साबून	,,
शल्लक	,,	सिगृडी	,,
शशाण्डुली	,,	सिद्धेश्वर	३५२
शिरीषिका	,,	सिन्दूरी	,,
शिल्पिका	,,	सुरपर्ण	,,
शूली	,,	सोमराजी	,,
श्टङ्गिरिट्टी	,,	स्फूर्दन	
शोली	,,	स्वर्णवल्ली	३५३
श्रीवल्ली	,,	स्वर्णुली	,,
श्वाविदुदरज	,,	हस्तिकन्द	,,
श्वेतवट्ट	३५१	हस्तिशुण्डी	,,
श्वेता	,,	हिज्जल-समुद्रफल	,,
श्वेताम्ली	,,	हेमा	,,
समुद्रशमी	,,		

परिशिष्ट—(विशिष्ट द्रव्यों पर प्रमुख टीकाकारों की व्याख्या) ३५५

संस्कृत-हिन्दी शब्दानुक्रमणिका ३९९

Index of Latin and English Names ४२६

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

संकेत-निर्देश

अ० नि०	: अष्टाङ्गनिघण्टु
अ० र०	: अभिधानरत्नमाला
अरुण०	: अरुणदत्तकृत व्याख्या
अ० सं०	: अष्टाङ्गसंग्रह
अ० हृ०	: अष्टाङ्गहृदय
उ०	: उत्तरतन्त्र
ऋ०	: ऋग्वेद
ऋतु०	: ऋतुसंहार
क०	: कल्पस्थान
कै० नि०	: कैयदेवनिघण्टु
गु०	: गुजराती
च०	: चरकसंहिता
चक्र०	: चक्रपाणिदत्तकृत व्याख्या
चि०	: चिकित्सास्थान
ड०	: डल्हणकृत व्याख्या
द्र० गु० वि०	: द्रव्यगुण-विज्ञान (प्रियव्रतशर्माकृत)
द्र० सं०	: द्रव्यगुणसंग्रह (चक्रपाणिकृत)
ध० नि०	: धन्वन्तरिनिघण्टु
नि० आ०	: निघण्टु आदर्श (वापालाल वैद्यकृत)
नि० शे०	: निघण्टुशेष (हेमचन्द्रकृत)
पं०	: पञ्जाबी
प० र०	: पर्यायरत्नमाला (माधवकृत)
पा० म०	: पातञ्जल महाभाष्य
वं०	: बंगाली
बृ० सं०	: बृहत् संहिता (वराहमिहिरकृत)
भा० नि०, भा० प्र०	: भावप्रकाशनिघण्टु
म० नि०, म० पा०	: मदनपालनिघण्टु

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

मा० द्र०	:	माधव-द्रव्यगुण
रघु०	:	रघुवंश
रा० नि०	:	राजनिघण्टु
वि०	:	विमानस्थान
शा०	:	शारीरस्थान
शार्ङ्ग०	:	शार्ङ्गधरसंहिता
शौ०	:	शौनकीय अथर्ववेद
सि०	:	सिद्धिस्थान
सु०	:	सुश्रुतसंहिता
सू०	:	सूत्रस्थान
सो० नि०	:	सोढलनिघण्टु
हर्ष०	:	हर्षचरित (बाणभट्टकृत)
हि०	:	हिन्दी
हृ० दी०	:	हृदयदीपकनिघण्टु (वोपदेवकृत)
B. B. O.	:	Botany of Bihar and Orissa by Haines
F. B. I.	:	Flora of British India by Hooker
BSOAS	:	Bulletin of the School of Oriental and African Studies, London
G. V. D.	:	Glossary of Vegetable Drugs in Bṛhattrayī by Thakur Balwant Singh and K. C. Chunekar.
J. A. O. R.	:	Journal of American Oriental Society.
J. R. I. M.	:	Journal of Research in Indian Medicine
W. I.	:	Wealth of India

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

द्रव्यगुण-विज्ञान

पञ्चम भाग

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

प्रथम खण्ड

बृहत्त्रयी के द्रव्य

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

नदीषु शैलेषु सरःसु चापि
पुण्येष्वरण्येषु तथाश्रमेषु ।
सर्वत्र सर्वाः परिमार्गितव्याः
सर्वत्र भूमिर्हि वसूनि धत्ते ॥

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

अक्षिपीडक

अक्षिपीडक का उल्लेख विषचिकित्सा में चरक ने किया है (च. चि. २३। २१५,२१६)। सुश्रुत ने कुष्ठचिकित्सा में 'अक्षपीड' का उल्लेख किया है।

गंगाधर ने अक्षिपीड का अर्थ किया है कि जिसका रस निचोड़ कर आँख में डाला जाय। 'नेत्ररोगों में प्रयुक्त होने वाली ओषधि' भी इसका अर्थ हो सकता है किन्तु नेत्ररोगप्रकरण में इसका उल्लेख संहिताओं में नहीं मिलता।

चक्रपाणि ने अक्षिपीडक से 'श्वेतपीतशिम्बीभेदः' लिया है जिससे जहरमार (Phaseolus lunatus Linn.) की संभावना की जाती है[1]। 'जहरमार' शब्द इसके विषघ्न कर्म की ओर संकेत भी करता है। कुछ लोग इससे गुजरात में प्रचलित आँखफूटामणि (Ctenilepis cerasiformis. Naud.) का ग्रहण करते हैं[2]।

डल्हण ने इससे यवतिक्ता का ग्रहण किया है।

इस संबन्ध में निम्नांकित वनस्पतियों की ओर भी ध्यान जाता है :—

१, Alangium begonifolium Harms.—यह 'अखनी' के नाम से प्रसिद्ध है। अंकोठ की जाति का होने से इसका विषघ्न कर्म संभव है।

२. Evodia meliaefolia Benth.—उड़ीसा में इसे 'आँखिफोरा' कहते हैं। इसकी तिक्त छाल में बर्बेरिन होता है तथा यह चक्षुष्य एवं जन्तुघ्न है।

अक्षीव

चरकसंहिता में दो ही बार इसका उल्लेख हुआ है—एक क्रिमिघ्न महाकषाय में (सू. ४।१५) तथा दूसरा अगुर्वाद्य तैल के प्रकरण (चि. ३।२६६) में। सुश्रुत में अक्षीवपिप्पल का विषघ्न के रूप में, निर्देश है (सु. क. ८।१२०)। अष्टांगहृदय में इसका उल्लेख नहीं है। निघण्टुओं में इससे शिग्रु, महानिम्ब तथा वशिर लिये गये हैं। इस प्रकार यह नानार्थक शब्द हो गया। किसी द्रव्य का परिचय और प्रयोग छूट जाने का ही यह परिणाम होता है। प्रयोग का शब्दार्थ पर अंकुश रहता है उसके हटते ही वह शब्द अनेक अर्थों में व्यभिचरित होने लगता है।

चक्रपाणि ने प्रथम प्रकरण में इससे 'अब्दक (मुस्ता) या शोभाञ्जन' लिया है। दूसरे प्रकरण में इसे स्पर्श ही नहीं किया। डल्हण ने महानिम्ब या शोभाञ्जन लिया है।

---

१. G. V. D., 3

२. नि. आ. पृ० ६६०

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कोषों में अक्षीव से शिग्रु और वशिर का ग्रहण किया गया है।

अतः शिग्रु, महानिम्ब और वशिर के सन्दर्भ में इस पर विचार करना आवश्यक है।

वशिर भी सन्दिग्ध द्रव्य है। टीकाकारों ने इससे अपामार्ग, मर्कटतृण, सूर्यावर्त्त, देशान्तरोत्पन्न फलविशेष आदि लिया है। सामुद्र लवण के पर्यायों में अक्षीव और वशिर दोनों आते हैं अतः इनमें कुछ घनिष्ठता का अनुमान होता है किन्तु वशिर स्वयं अज्ञात होने के कारण इसका कोई फल नहीं निकलेगा।

शिग्रु एक प्रसिद्ध द्रव्य है। सामान्यतः दो भेद माने जाते हैं—शिग्रु और मधुशिग्रु किन्तु राजनिघण्टु एक तीसरा भेद नीलशिग्रु भी मानता है। शिग्रु क्रिमिघ्न भी है। विशेषत. उसके बीज जो श्वेतमरिच के नाम से प्रसिद्ध हैं 'अक्षीव' से लिये जा सकते हैं। उनका नेत्ररोगों में प्रयोग भी हैं अतः 'अक्षीव' संज्ञा भी सार्थक हो जाती है। एक आपत्ति यह अवश्य आती है कि अगुर्वाद्य तैल के प्रकरण में अक्षीव के साथ शिग्रु और शोभाञ्जन भी पठित हैं तब अक्षीव से शिग्रु कैसे ले सकते हैं? वहाँ तो मूलकपर्ण भी है जिससे लोग शिग्रु ही लेते हैं (किन्तु मेरे विचार से वह भिन्न द्रव्य हैं या 'मूषकपर्ण' पाठ है जैसा वि० ७ में है)। किन्तु यदि 'अक्षीव' से शिग्रुबीज ले लें तो कोई कठिनाई नहीं रहती। बीजों का प्रयोग एक भिन्न द्रव्य के रूप में साथ-साथ किया जाता है यथा कुटज-इन्द्रयव, तेजवल-तुम्बुरु आदि।

अक्षीव महानिम्ब के लिए भी है। महानिम्ब भी क्रमिघ्न है। सुश्रुत के सुरसादि गण में विषमुष्टिक नाम से तथा पिप्पल्यादि गण में महानिम्बफल का पाठ है।

मेरे विचार से, अक्षीव से शिग्रु (Moringa oleifera Lam.) का बीज लेना चाहिए। इनमें मरिच के समान तीक्ष्ण गन्ध होती है इस कारण शिरोविरेचन में भी इनका प्रयोग होता है। 'शिग्रूणि' (च० सू० २।३) से इन्हीं शिग्रुबीजों का तात्पर्य है। शिग्रु के लिए 'कृष्णगन्धा (च. सू. १।११६) भी इसी आधार पर है (कृष्णस्य मरिचस्येव गन्धो यस्याः सा)। चरक के क्रिमिघ्न महाकषाय-प्रकरण में मरिच के साहचर्य के कारण भी 'अक्षीव' से शिग्रुबीज के ग्रहण में बल मिलता है।

अगुरु

अगुरु एक प्रसिद्ध गन्धद्रव्य है जिसका प्रयोग धूप, लेप आदि में चिरकाल से होता आ रहा है। अगुरु और चन्दन ये दो प्रसिद्ध भारतीय गन्ध द्रव्य हैं जिनका निर्यात देशान्तरों में भी होता रहा है। इसके लिए 'अगुरु' और 'अगरु' दोनों शब्द व्यवहृत होते हैं। पहले शब्द का अर्थ गुरुत्वरहित (हलका) तथा दूसरे का 'अगे रौति' (पार्वत्य प्रदेश में होनेवाला) अर्थ है। अगुरु का एक पर्याय 'लौह' भी है क्योंकि यह लौह के समान कृष्णवर्ण तथा भारी होता है (लोहवद् वारि

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

मज्जति)। इस दृष्टि से 'अगुरु' की अपेक्षा 'अगरु' शब्द इसके लिए अधिक उपयुक्त है।

अगरु पूर्वोत्तर भारत के पार्वत्य अञ्चल की एक विशिष्ट संपदा है। यह विशेषतः आसाम के जंगलों में होता है। भूटान तथा बंगाल के कुछ हिस्सों में भी पाया जाता है। बर्मा, मलक्का तथा मलेशिया में भी इसके वृक्ष होते हैं। कालिदास ने लौहित्य (ब्रह्मपुत्र) नदी को पारकर प्राग्ज्योतिष (आसाम) प्रदेश में कालागुरु के वृक्षों का वर्णन किया है :—

चकम्पे तीर्णलौहित्ये तस्मिन् प्राग्ज्योतिषेश्वरः।
तद्गजालानतां प्राप्तैः सह कालागुरुद्रुमैः॥ (रघु० ४।८१)

वराहमिहिर ने भी इसे पूर्वोत्तर प्रदेश का निवासी कहा है तथा अनेक गन्धयोगों में इसका प्रयोग किया है[1]।

बाणभट्टकृत हर्षचरित में भी उल्लेख है कि राजा प्रभाकरवर्धन को प्राग्ज्योतिष के राजा ने थैलों में भरा अगुरुकाष्ठ, बाँस की नलियों में भरा अगुरुतैल तथा अगुरु की छाल से बने कागज पर लिखी पुस्तकें उपहार में दीं[2]। इससे प्राग्ज्योतिष प्रदेश में अगुरु के प्राचुर्य तथा उसके विविध लौकिक उपयोगों की सूचना मिलती है।

अगुरु के अनेक भेदों का वर्णन किया गया है। कौटिल्य ने काल, कालचित्र और मण्डलचित्र ये तीन प्रकार के अगुरु कहे हैं (२।२७।११)। कालिदास ने उपर्युक्त कालागुरु के अतिरिक्त एक श्वेत अगरु का भी उल्लेख किया है :—

विन्यस्तशुक्लागुरु चकुरङ्गं गोरोचनापत्रविभक्तमस्याः।
सा चक्रवाकाङ्कितसैकतायास्त्रिस्रोतसः कान्तिमतीत्य तस्थौ॥
(कुमारसंभव, ७।१५)

राजनिघण्टु में पाँच प्रकार का अगुरु वर्णित है :—

१. कालेयक
२. कृष्णागरु
३. काष्ठागरु
४. दाहागरु
५. मंगल्यागरु

ये भेद अगुरुकाष्ठ के वर्ण, गन्ध तथा तैलांश के आधार पर किये गये हैं। कालेयक और काष्ठागुरु पीताभ होते हैं। कृष्णागुरु अञ्जनाभ कृष्णवर्ण होता है। दाहागुरु में तैलांश अधिक होने से यह अधिक ज्वलनशील होता है। मंगल्यागुरु मल्लिकागन्धि कहा गया है।

---

१. बृ० सं०—१६।३०, २३।२९, २७।८, ६९।१६, ७७।१३, ८७।११
२. हर्ष० ३८७

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

वस्तुतः अगुरु कृष्णागुरु ही है जो पुराने वृक्षों में कीड़े लगने से बनता है। यों इससे रहित वृक्ष का काष्ठ पीताभ श्वेत तथा निर्गन्ध होता है। वर्ण और गन्ध कृमिजन्य होता है अतः 'कृमिज' या 'कृमिजग्ध' इसका पर्याय है। इस प्रकार कालिदास का शुक्लागुरु तथा राजनिघण्टु के कालेयक और काष्ठागुरु कृमिरहित अपरिपक्व वृक्ष के काष्ठ हैं जो लेपार्थ प्रयुक्त होते थे। राजनिघण्टु के शेष तीन भेद—कृष्णागुरु, दाहागुरु तथा मंगल्यागुरु—पक्व अगुरु (कालागुरु) के ही अवान्तर भेद हैं जो धूपार्थ तथा गन्धार्थ प्रयुक्त होते हैं। कालिदास ने 'कालागुरु' का ही प्रायः प्रयोग किया है। इस अर्थ में अगुरु और कालागुरु एक ही है। भावप्रकाश ने अगुरु के भेद न कर 'कृष्णं गुणाधिकं' ठीक ही कहा हैं। कौटिल्य ने भी कालागुरु के ही किञ्चित् वर्णान्तर संसर्ग के आधार पर तीन भेद किये हैं।

इस प्रकार वस्तुतः अगुरु के भेद विभाजन की आवश्यकता नहीं है। अगुरु एक ही है, (Aquilaria agallocha Roxb.) जिसे कालागुरु या कृष्णागुरु भी कह सकते हैं।

अग्निमन्थद्वय

अग्निमन्थ और तर्कारी ये अग्निमन्थद्वय में आते हैं। इन दोनों के पर्याय ऐसे मिले-जुले हैं कि इन्हें पृथक् करना अत्यन्त कठिन है। यदि ऐसा होता कि पुंलिंग पर्याय अग्निमन्थ के और स्त्रीलिंग पर्याय तर्कारी के होते तो सुविधा से इन्हें पृथक् कर लिया जाता किन्तु ऐसा है नहीं।

संहिताओं में जयाद्वय से इनका उल्लेख किया गया है (च. चि. ६।५१, अ. हृ. सू. १५।२१)। अग्निमन्थ और तर्कारी का साथ-साथ उल्लेख (च. सू. २७।५५; सु. सू. ३८।८) होने के कारण ये दोनों निश्चित रूप से भिन्न द्रव्य हैं। यद्यपि वाग्भट ने इन्हें पर्यायवाची माना है (अ. हृ. चि. १।१५०, १५।४६)।

अमरकोष में दोनों को स्वतन्त्र रूप से दो भिन्न द्रव्यों के रूप में लिखा है। जया, जयन्ती, नादेयी और वैजयन्तिका तर्कारी के तथा श्रीपर्ण, अग्निमन्थ, कणिका और गणिकारिका अग्निमन्थ के पर्याय हैं। आनूप देश में बहुलता से होने के कारण तर्कारी को नादेयी तथा समूहबद्ध उगने के कारण अग्निमन्थ को गणिकारिका कहा गया। भावप्रकाशनिघण्टु में भी लगभग दोनों के पर्याय पृथक्कृत हैं। प्रथम पंक्ति में अग्निमन्थ के और द्वितीय पंक्ति में तर्कारी के। इन दोनों का ग्रहण बृहद् और क्षुद्र अग्निमन्थ करके भी किया गया है। ठा० बलवन्त सिंह ने इनके लिए क्षुराग्निमन्थ एवं अक्षुराग्निमन्थ शब्दों का सुझाव दिया है।

वानस्पतिक दृष्टि से ये दोनों द्रव्य निम्नांकित हैं :—

१. अग्निमन्थ—(i) Premna integrifolia Linn.
(ii) Premna latifolia Var. mucronata Clarke.

२. तर्कारी—Clerodendrum phlomidis Linn. f.

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

'अग्निमन्थ' और 'अरणी' इन शब्दों से संकेत मिलता है कि इनकी शाखाओं को रगड़ कर आग निकालते थे। इस मन्थन प्रक्रिया से आग निकालने का उल्लेख चरक ने किया है—'मथ्यमन्थनमन्थानसंयोगादग्निसंभवः' (च. सु. ११।२४)। जिस प्रकार सृष्टि के लिए पुरुष और स्त्री दो तत्त्वों की आवश्यकता होती है उसी प्रकार अग्निमन्थन में भी उत्तरारणि पुरुष तथा अधरारणि स्त्री का प्रतीक होता है। प्राचीन काल में अश्वत्थ और शमी का इस रूप में प्रयोग होता था। संभव है, अग्निमन्थन कार्य के लिए इसी प्रकार कालान्तर में अग्निमन्थ और तर्कारी का उपयोग किया जाने लगा हो।

अङ्कलोड्य

चरक-संहिता में अंकलोडच का उल्लेख केवल एक बार श्रृंगाटक आदि जलज वनस्पतियों के साथ शाकवर्ग में हुआ है :—

तरुटबिसशालूकक्रौञ्चादनकसेरुकम्।
श्रृङ्गाटमङ्कलोड्यं च गुरु विष्टम्भि शीतलम्॥ (सू. २७।११६)

इसका स्पष्ट अर्थ है कि जो तालाब के तल में संचित हो या इकट्ठा किया जाय।

अङ्के तडागतले लोड्यते चीयते इति अङ्कलोड्यम्।

आगे चल कर भाषा-विज्ञान के नियमानुसार, 'अंकलोड्य' शब्द क्रमशः 'कलोड्य' और गलोड्य (गालोड्य या गिलोड्य) में परिणत हो गया।

अंकलोड्य—कलोड्य—गलोडय—गालोड्य वा गिलोड्य 'कलोडच' का अर्थ भी यही है कि जो जल में संचित हो (के जले लोडचते इति)।

अष्टांग-संग्रह में 'कलोड्य' तथा सुश्रुत-संहिता में गालोड्य या 'गिलोड्य' शब्द मिलता है। अष्टांग-संग्रह में चरक-संहिता के समान 'अंकलोड्य' शब्द है। सुश्रुत-संहिता में गिलोड्य मधुरवर्ग में पठित है (सू. ४२।११) पुनः पित्तानुबन्ध वात व्याधि में प्रदेह के रूप में (चि. ५।८) तथा प्रमेह में प्रयुक्त है (चि. ११।१०)

अष्टांग-हृदय में भी प्रायः चरक के अनुसार ही इसका वर्णन है (सू. ६।९२) अंकलोड्य क्या है ?

इस सम्बन्ध में टीकाकारों के विचार देखें! चक्रपाणि ने चरक-व्याख्या में इसे ह्रस्वोत्पलकन्द कहा है (अंकलोड्यं ह्रस्वोत्पलकन्दः—च. सू. २७।११६)। जबकि सुश्रुत-संहिता की भानुमती व्याख्या में इसे चिच्चोडक बतलाया है (अंकलोड्यं चिच्चोडकः—सु. सू. ४२।११)। माधव ने भी पर्यायरत्नमाला में ऐसा ही कहा है। इससे प्रतीत होता है कि वंगीय परम्परा में ऐसी मान्यता प्रचलित थी। भावप्रकाश ने लघुकशेरु को चिच्चोडक कहा है। डल्हण ने एक स्थान पर गिलोड्य को कालंकतक कहा है और दूसरे स्थान पर इससे पद्मबीज का ग्रहण किया है :—

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

'गिलोडयः कालंकतकः शितोड्यकन्दः प्रावृड्जातः
शणपत्रिकाकारवल्लीयुक्तो 'गिल्लोटी' इति लोके'
(सु. सू. ४२।११)

गिलोड्यः कन्दः प्रावृड्जातः शणपत्राकारो वल्लीयुक्तश्चर्मण्वतीनदीभवः।
श्वेतवर्तुलपाषाणसदृशः गुगिलोट इति लोके। (सु. चि. ११।१०)
गलोड्यं पद्मबीजम्। (सु. चि. ५।८)

इस प्रकार द्रव्य-निर्णय में चक्रपाणि और डल्हण दोनों ही भ्रान्त प्रतीत होते हैं। यह भी संभव है कि चक्रपाणि का ह्रस्वोत्पलकन्द और चिच्चोडक एकार्थक हो तथा डल्हण गिलोडय और गलोडय को पृथक् मानकर उनसे दो भिन्न द्रव्यों (प्रावृड्जात कन्दविशेष और पद्मबीज) का ग्रहण करते हों। किन्तु प्रसंगों का विश्लेषण करने पर पता चलता है कि गिलोड्य और गलोडय का उल्लेख भी शृंगाटक आदि जलज शीत-मधुर द्रव्यों के साथ वैसे ही हुआ है जैसे अंकलोडय का अतः ये द्रव्य भिन्न न होकर एक ही हैं। 'गिलोड्य' का 'अंकलोडय' पाठान्तर भी इसकी पुष्टि करता है।

अंकलोडय इत्यन्ये पठन्ति, चिच्चोडकमिति च व्याख्यानयन्ति।
(डल्हण सु. सू. ४२।११)

अंकलोड्य का अर्थ अधिकांश टीकाकारों ने पद्मबीज किया है। अष्टांग-हृदय के टीकाकार अरुणदत्त, चन्द्रनन्दन तथा हेमाद्रि ने यही अर्थ किया है। डल्हण ने भी इसके अनुसार एक स्थान पर गलोड्य से पद्मबीज का ग्रहण किया है। धन्वन्तरि-निघण्टु, मदनविनोद, भावप्रकाश तथा राजनिघण्टु ने गालोड्य को पद्मबीज के पर्याय में रखा है। कोषों में पद्मबीज के साथ गिलोड्य नहीं है।

अंकलोड्य पद्मबीज नहीं हो सकता, क्योंकि अंकलोड्य और गिलोड्य से पृथक् वहीं पर पुष्करबीज (पद्मबीज) का भी उल्लेख है (च. सू. २७।११८, सु. सु. ४२।११)। अतः इससे कमलबीज का ग्रहण करना उचित नहीं है। किन्तु 'पद्मबीज' शब्द बिलकुल निराधार भी नहीं है। पुष्करबीज स्पष्टतः पृथक् रहने पर भी टीकाकारों ने जो अंकलोड्य को पद्मबीज कहा उससे प्रतीत होता है कि उनका संकेत एक ऐसी वनस्पति की ओर है, जो कमलवत् होती है तथा उसके बीज कमलबीज के समान होते हों। यह द्रव्य वही है, जिसे आजकल हमलोग मखाना के नाम से जानते हैं। सर्वप्रथम भावप्रकाश में इसका मखान्न के नाम से वर्णन किया गया। वहाँ इसे 'पद्मबीजम्' कहा है :—

मखान्नं पद्मबीजाभं पानीयफलमित्यपि।
मखान्नं पद्मबीजस्य गुणैस्तुल्यं विनिर्दिशेत्॥ (आम्रादिवर्ग, ९१)

इस वनस्पति को उड़िया भाषा में कण्टपद्म कहते हैं कारण कि इसका पौधा जल में कमल के समान ही होता है, इसकी पत्ती, फूल आदि वैसे ही होते हैं किन्तु इसके सर्वांग में काँटे व्याप्त होते हैं। अतः पद्म की समानता के कारण इसके बीजों

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

को पद्मबीज कहा गया या जहाँ मखान्नवीज उपलब्ध न था वहाँ उसके अभाव में प्रतिनिधि रूप में कमल के वीज लिखे गये या 'पद्मबीज' भी मखान्न का ही पर्याय हो, क्योंकि दोनों के बीजों का स्वरूप मिलता-जुलता है (पद्मस्य बीजमिव बीजं यस्य तत्)।

मखाने के पौधे में सर्वांगव्याप्त कण्टक होने के कारण उसे कोई छू नहीं सकता। फूल-फल लग चुकने के बाद इसके बीज अपने आप गिर कर तालाब की तली में बैठते जाते हैं। सारा पौधा भी गल कर नीचे बैठ जाता है। जब सारा बीज तलस्थ हो जाता है तव इसके व्यापारी जल में डुबकी लगाकर एक विशेष प्रकार के झाड़ू से तल को बुहार कर बीजों को इकट्ठा कर जगह-जगह ढेर लगाते हैं और फिर वहाँ से विशेष प्रकार की चलनियों में उठाकर जल में आलोडित करते हैं, जिससे कीचड़ अलग होकर स्वच्छ बीज प्राप्त होते हैं। इस सारी क्रिया का अर्थ 'अंकलोड्य' शब्द में निहित है।

वानस्पतिक विवरण

लैटिन नाम—Euryale ferox Salisb.

कुल—कमलकुल (Nymphaeaceae)

हि०—मखाना

उड़िया—कण्टपदमु। तेलगु—मेलुनिपदममु

कमल के समान यह जलज वनस्पति है किन्तु यह सर्वांगतः कण्टकावृत होता है। इसका मूल और काण्ड कीचड़ में दबे रहते हैं। पत्तियाँ अंडाकार या गोलाकार १-४ फुट व्यास की, ऊपर हरी तथा नीचे की ओर लाल या गाढ़े बैंगनी रंग की होती हैं। इसकी प्रोन्नत सिरायें कण्टकित होती हैं। पत्रवृन्त पर भी काँटे होते हैं। पुष्प–१-२ इंच लम्बा, नीले, बैंगनी या लाल रंग के होते हैं। फल गोलाकार या अंडाकार, कण्टकित, नारंगी के आकार के होते हैं, जिनके भीतर ४-२० काले रंग के मटर से कुछ बड़े आवरणयुक्त बीज होते हैं। बरसात के वाद इसमें पत्र-पुष्प लगते हैं और मई-जून तक फल तैयार हो जाता है।

बीजों को वालू में भूनने के बाद हथौड़े से मारकर ऊपरी आवरण को पृथक् कर लेते हैं, जिससे वीजमज्जा फूलकर फैल जाती है। इसी रूप में यह बाजार में उपलब्ध होता है। यज्ञ, व्रत, त्यौहार में इसका प्रयोग होने के कारण इसका नाम 'मखान्न' (मखस्य यज्ञस्य अन्नम्) सार्थक है।

बिहार राज्य के मिथिला प्रदेश में इसकी प्राप्ति बहुतायत से होती है। यहाँ तालाबों में इसकी खेती की जाती है। स्थानीय ग्रामोद्योग का यह एक अच्छा अंग है। यही कारण है कि मगधवासी भावमिश्र ने इसका स्पष्ट वर्णन किया जव कि इतरदेशीय टीकाकारों को भ्रम बना रहा।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

मखान्न का इतिवृत्त

१६वीं शती में भावमिश्र ने मखान्न का स्पष्ट वर्णन किया किन्तु इसके पूर्व इसका उल्लेख क्यों नहीं मिलता ? जब यह द्रव्य प्राचीन काल से है तब अवश्य ही अन्य नाम से इसका उल्लेख होगा। अथर्ववेद (४।३४।५) में जलज वनस्पतियों में कुमुद, शफक, मुलाली आदि के साथ आण्डीक का उल्लेख है। मेरे विचार से अण्डाकार फल होने के कारण मखान्न को ही आण्डीक कहा गया है। पाणिनि (५।२।१११) का 'आण्डीर' भी संभवतः यही है। केवल आकृतिसादृश्य ही नहीं अपितु वृष्य होने के कारण भी इसकी 'आण्डीक' संज्ञा सार्थक है। मेरी कल्पना है कि इसी कारण यह 'मुष्कान्न' भी कहा जाता होगा, जिसका अपभ्रंश रूप 'मखान' मिथिला में प्रचलित है। इसी का संस्कृतीकरण कर भावमिश्र ने 'मखान्न' शब्द की रचना की। संभवतः इसी आधार पर आकृति-सादृश्य न होने पर भी वृष्य होने के कारण इक्षुरक (कोकिलाक्ष) को तालमखाना (ताल-तलैयों में होने वाला मखाना) कहा जाने लगा।

निष्कर्ष

संहितोक्त अंकलोड्य मखान्न (मखाना) है जिसका उल्लेख टीकाकारों ने पद्मबीज नाम से किया है। वैदिक काल में इसका नाम आण्डीक था।

डल्हण ने गिलोड्य नाम से जिस कन्दयुक्त वनस्पति का विवरण दिया है वह Ceropegia bulbosa Roxb. है जिसे गलोट (पं०) और पातालतुमड़ी (गु०) कहते हैं[1]।

अजगन्धा

'अजगन्धा' शब्द गन्धवाचक है—अज (बकरे) के समान जिसमें गन्ध हो। पशुगन्धा और बस्तगन्धा भी इसके पर्याय हैं। 'गन्ध और मोद' शब्द भी पर्यायवाची हैं। अतः अजगन्धा से अजमोदा का भ्रम होना स्वाभाविक है।

चरक ने इसका पाठ मूलिनी रेचन ओषधियों में किया है तथा इसके फल शिरोविरेचन होते हैं। यह अजमोदा के साथ शूलप्रशमन महाकषाय में पठित है। हरितकवर्ग में हरी धनियाँ के साथ अजगन्धा (हरी) का उल्लेख है। इसे सुगन्ध, नातिकटु, रोचन और दोषोत्क्लेशक कहा है (च. सू. २७।१७३)। इसके अतिरिक्त गुल्म, शूल, उदर आदि में अनुलोमन-रेचन के लिए विहित है। कास में इसके धूम का प्रयोग है। वातव्याधि में भी प्रयोग है जिससे इसके उष्णवीर्य का संकेत मिलता है।

सुश्रुत में कफज शोफ में लेप के लिए प्रयुक्त है। इसके अतिरिक्त, हिंग्वादि वटी (अजमोदा के साथ) में पठित है।

१. नि. आ., भाग ४, पृ० ६२६

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

शटी, त्वचा, एला आदि गन्धद्रव्यों के साथ पठित होने से (सु. उ. ४२।२८) यह सुगन्धित द्रव्य है, इसमें सन्देह नहीं। चरक ने हरितकवर्ग में इसे स्पष्ट रूप से 'सुगन्ध' कहा :—

'धान्यकं चाजगन्धा च सुमुखश्चेति रोचनाः।
सुगन्धा नातिकटुका दोषानुत्क्लेशयन्ति च॥' (च. सू. २७।१७३)

संहिताओं में इसके पत्र (हरित शाक), मूल (विरेचन) तथा फल (शिरोविरेचन) प्रयुक्त हुये हैं।

अब देखा जाय कि टीकाकारों ने क्या लिखा है। चक्रपाणि इससे 'फोकान्दी' और 'अजमोदा' दोनों लेते हैं :—

१. अजगन्धा फोकान्दी (च. सू. ४।४५)
२. अजगन्धा वनयवानी (च. सू. २७।१७३)
३. अजगन्धा अजमोदा (च. चि. २७।४३)
४. अजगन्धा अजमोदा, फोकान्धी इति केचित् (च. सू. २।४)

इस प्रकार अजगन्धा के संदर्भ में चक्रपाणि ने निम्मांकित तीन द्रव्यों का उल्लेख किया है :—

१. फोकान्दी
२. अजमोदा
३. वनयवानी

फोकान्धी का उल्लेख अनेक बार किया है अतः उनका अधिक झुकाव उसी ओर प्रतीत होता है। किन्तु यह द्रव्य उनके लिए भी सन्दिग्ध था इसमें सन्देह नहीं।

डल्हण ने अजगन्धा से निम्नांकित द्रव्यों का ग्रहण किया है :—

१. बोथयिका (अजगन्धा बोथयिका, लतौषधीत्येके, अन्ये यवानिकामाहुः— सु. सू. ३७।६)
२. लतौषधि
३. यवानिका
४. क्षेत्रयवानी (अजगन्धा बोवयिका इति, गयी तु क्षेत्रयवानी इत्याह— सु. चि. ५।२८)

इन सभी में बोवयिका की ओर डल्हण का अधिक झुकाव था यद्यपि उनके लिए भी यह द्रव्य अत्यन्त संदिग्ध था जैसा कि अनेक एकीय मतों के उद्धरण से स्पष्ट है।

संभवतः चक्रपाणि की 'फोकान्धी' और डल्हण की 'बोबयिका' एक ही है। यह क्या है, यह विचारणीय है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

अजगन्धा का अजमोदा के साथ अनेक स्थलों में (च. सू. ४।४५; सु. चि. ५।२८) पृथक् पाठ है अतः यह अजमोदा से भिन्न है। नारायण-चूर्ण (च. चि. १३।१२५–१२६) में यवानी के साथ पृथक् पठित है अतः यवानी भी नहीं हो सकती। शताह्वा (सोया) भी वहाँ पृथक् पठित है अतः उसकी भी संभावना खण्डित हो जाती है। उष्णवीर्य द्रव्यों में (च. चि. ३।२६६) अजमोदा के साथ तिलपर्णी पठित है और तीव्र गन्ध भी होने से हुलहुल को अनेक विद्वान अजगन्धा मानने के पक्ष में हैं किन्तु तिलपर्णी निश्चित रूप से हुलहुल है और उसका शाकवर्ग में पत्र-शाकों में पृथक् पाठ है (च. सू. २७।९७) जब कि अजगन्धा का पाठ पृथक् हरितवर्ग में है। अष्टांगहृदय (सू. ६।१०६) में अजगन्धा न देकर आसुरी का पाठ है जबकि चरक के हरितवर्ग में आसुरी नहीं है। इससे सन्देह हो सकता है कि अजगन्धा को ही वाग्भट ने आसुरी कहा किन्तु चरक में आसुरी का पृथक् पाठ है (च. सू. २७।१०१)। सुश्रुत में भी सर्षप के साथ राजिका पठित है (सु. सू. ४६।२२१)। हरितक वर्ग के शाकों में सुश्रुत ने अजगन्धा का उल्लेख नहीं किया है किन्तु हरी धनिया के पूर्व कारवी, करवी तथा उपकुञ्चिका का वर्णन है।

इस प्रकार अजमोदा, यवानी, शताह्वा, राजिका, तिलपर्णी से भिन्न होने के कारण यह वनयवानी (Thymus serpyllum Linn.) प्रतीत होती है। इसीको चक्रपाणि ने वनयवानी तथा डल्हण ने गयीमुख से क्षेत्रयवानी कहा है। डल्हण की बोबयिका यही है जैसा वह स्वयं कहते हैं (अजगन्धा बोबयिका इति, गयी तु क्षेत्रयवानी इत्याह—सु. चि. ५।२८)। संभवतः चक्रपाणि की फोकान्धी भी यही है। प्राचीन काल में इसी वनस्पति का प्रयोग शाक आदि में होता था किन्तु आगे चल कर इसका प्रयोग बन्द हो जाने के कारण यह द्रव्य लुप्त एवं सन्दिग्ध हो गया।

गुणकर्म की दृष्टि से विचार करने पर भी यह द्रव्य उत्तम प्रमाणित होता है। यह एक उत्तम शूलहर, अनुलोमन तथा वातहर द्रव्य है। यह शंका की जा सकती है कि यह विरेचन नहीं है किन्तु यह ध्यान में रखना चाहिए कि विरेचन वर्ग में पठित सभी द्रव्य तीक्ष्ण विरेचन नहीं हैं अपि तु कुछ अनुलोमन एवं मृदुरेचन भी हैं। अजगन्धा इसी श्रेणी का है। इसका स्वतन्त्र प्रयोग कहीं विरेचन के लिए नहीं हुआ है बल्कि अन्य मुख्य विरेचन द्रव्य के साथ सहायक रूप में प्रयुक्त हुआ है। उदाहरणार्थ :—

१. कुटकी, त्रिवृत् आदि के साथ (च. चि. ३।२९९)
२. त्रिवृत् के साथ (च. क. ७।२२–५४)
३. अजश्रृंगी के साथ (च. क. ११।१३।१७)
४. दन्ती-द्रवन्ती के साथ (च. क. १२।१२; ३३, ३५)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

Thymus serpyllum Linn.

यह तुलसीकुल की वनस्पति है। इसका उग्रगन्धि रोमश क्षुप लगभग १५–३० सें. मी. ऊंचा होता है। पत्र वृन्तहीन, ग्रन्थिबिन्दुकित, आयताकार-लट्वाकार, अखण्ड, गोलाग्र लगभग ८ मि. मी. लम्बे होते हैं। **पुष्प**–छोटे, बैंगनी रंग के, शाखाग्र गुच्छों में होते हैं। बहिर्दल–रोमश, द्वि-ओष्ठी, ऊपरी ओष्ठ चौड़ा, त्रि-दन्तुर और निचला दो में विभक्त होता है। अन्तर्दल–नलिका बहिर्दल के बराबर। पुंकेशर–४, बाहर निकले हुये होते हैं। बीज अत्यन्त सूक्ष्म चिकने होते हैं।

यह पश्चिमी हिमालय में कश्मीर से कुमाऊं तक ५–१३ हजार की ऊंचाई पर होता है। इसके अतिरिक्त, युरोप, उत्तरी अफ्रीका तथा उत्तरी एशिया में भी मिलता है।

इसका प्रयोग दीपन, अनुलोमन, रेचन, शूलप्रशमन, कृमिघ्न, कासहर, मूत्रल तथा आर्त्तवजनन के रूप में विश्व के विभिन्न भागों में होता है।

यूनानी हकीम इसे 'हाशा' कहते हैं।

अजगरी–गोनसी–सर्पा

अजगरी[1] तथा गोनसी[2] का सुश्रुत ने (सु. चि. ३०।५; १०, १२) और सर्पा[3] का चरक ने (च. चि. १।४।७) दिव्य ओषधियों में वर्णन किया है। ये तीनों वनस्पतियाँ सर्पाकार एक जाति की प्रतीत होती हैं और सम्भवतः Arisaema Sp. की हैं।

अजरुहा–मूषिका

सुश्रुत ने लिखा है कि मूषिका या अजरुहा हाथ में बंधी हो तो विषाक्त अन्न निर्विष हो जाता है। (सु. क. १।७८)। उशनःसंहिता का एक श्लोक उद्धृत कर डल्हण ने इनका स्वरूप-परिचय इस प्रकार दिया है:—

'कन्दः श्वेतः सपिण्डको भेदे चाञ्जनसन्निभः।
गन्धलेपनपानैस्तु विषं जरयते नृणाम्॥
दष्टानां विषपीतानां ये चान्ये विषमोहिताः।
विषं जरयते तेषां तस्मादजरुहा स्मृताः॥
मूषिका लोमशा कृष्णा भवेत् सापि च तद्गुणा।'

तदनुसार अजरुहा का कन्द श्वेत किन्तु तोड़ने पर भीतर कृष्णवर्ण होता है जब कि मूषिका लोमश एवं कृष्णवर्ण होती है। गुणधर्म दोनों के समान होते हैं।

इसका निर्णय अभी वानस्पतिक दृष्टि से नहीं हो सका है।

---

१. मण्डलैः कपिलैश्चित्रैः सर्पाभा पञ्चपर्णिनी।
पञ्चरत्निप्रमाणा च विज्ञेयाऽजगरी बुधैः॥
२. द्विपर्णिनीं मूलभवामरुणां कृष्णमण्डलाम्।
द्व्यरत्निमात्रां जानीयाद् गोनसीं गोनसाकृतिम्॥
३. सर्पा नामौषधिः सर्पाकारा।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

अजलोमी–गोलोमी

सुश्रुतसंहिता में सोमसमवीर्य महौषधियों (दिव्य ओषधियों) में इनका पाठ है (सु. चि. ३०।५)।

इनके स्वरूप का निम्नांकित वर्णन मिलता है :—

'गोलोमी चाजलोमी च रोमशे कन्दसम्भवे।
हंसपादीव विच्छिन्नैः पत्रैर्मूलसमुद्भवैः॥
अथवा शंखपुष्प्या च समाना सर्वरूपतः।' (सु. चि. ३०।२३–२४)

इसके अनुसार गोलोमी और अजलोमी के कन्द रोमश होते हैं तथा पत्ते कटे हुए, मूलोद्भव, हंसपादी के सदृश होते हैं। अथवा यह पूर्णतः शंखपुष्पी के समान होती है (पुष्प श्वेतवर्ण होते हैं)।

इनका प्रयोग भूतबाधा-प्रतिषेध तथा मानसरोगों में किया गया है (सु उ. ६०।४७)। यहाँ डल्हण ने 'दूर्वा' का ग्रहण किया है[1]।

चरकसंहिता में अजलोमी नहीं है। गोलोमी का प्रयोग संज्ञास्थापन महाकषाय में तथा धूपन के लिए किया गया है[2]। सुश्रुतसंहिता में भगन्दर-चिकित्सा में शोधन वर्ग के अन्तर्गत गोलोमी का पाठ है तथा ग्रहों एवं भूतबाधा के प्रतिषेध में इसका प्रयोग किया गया है[3]।

चक्रपाणि गोलोमी का अर्थ एक स्थल पर भूतकेशी तथा दूसरे स्थल पर श्वेत-दूर्वा करते हैं। डल्हण सर्वत्र इससे दूर्वा का ग्रहण करते हैं।

चरक के संज्ञास्थापन महाकषाय में गोलोमी का उल्लेख वचा, वयःस्था, जटिला आदि द्रव्यों के साथ हुआ है। धूपन में भी प्रायः ये ही द्रव्य हैं। इन द्रव्यों में अधिकांश सुगन्धित हैं। सुश्रुत में भी प्रायः इन्हीं द्रव्यों के साथ गोलोमी का पाठ है।

इससे प्रतीत होता है कि गोलोमी जटामांसी के समान सुगन्धित द्रव्य है। चक्रपाणि ने इससे भूतकेशी लिया है किन्तु सुश्रुतसंहिता (उ. ६१।४७) में गोलोमी और भूतकेशी का एकत्र पृथक् पाठ है अतः दोनों भिन्न द्रव्य हैं इसमें सन्देह नहीं। किन्तु ये सब सजातीय द्रव्य प्रतीत होते हैं। मेरे विचार से ये दोनों Selinum Sp. हैं।

अजशृङ्गी–विषाणिका–कर्कटशृङ्गी–मेषशृङ्ग

चरक में अजशृङ्गी विरेचनद्रव्यों में है। अजगन्धा–अजशृङ्गी का कल्प दन्ती–द्रवन्ती के समान बनाने का विधान है।

१. गोलोमी दूर्वा, अजलोमी श्वेत दूर्वा।
१. च. सू. ४।४८, शा. ८।६१;
३. सु. चि. ८।३९, उ. २९।३, ३२।४; ३६।६; ६०।४७.

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

'दन्तीद्रवन्त्योः कल्पोऽयमजश्रृङ्गयजगन्धयोः ।' —च. क. ११।१३
'दन्तीद्रवन्त्योः कल्पेन सौवीरकतुषोदके ।
अजगन्धाजश्रृंग्योश्च तद्वत् स्यातां विरेचने ॥' —च. क. ११।१७

दन्ती और अजश्रृङ्गी के रस में गुड़, घृत और मधु मिला कर विरेकार्थ लेह का प्रयोग है (च. क. १२।११)। रसायन-प्रकरण (च. चि. १।४।७ में अजा नामक दिव्यौषधि को अजश्रृङ्गी कहा गया है किन्तु यह शब्द यहाँ स्वरूपवाचक है, नामवाचक नहीं :—'अजा नामौषधिः 'अजश्रृङ्गी' इति विज्ञायते ।'

सुश्रुत में भी अजश्रृङ्गी का उल्लेख अधिकांश अजगन्धा के साथ है। इसका प्रयोग वातिक शोफ में लेप, संशोधनी वर्त्ति, वरुणादि गण, वल्लीपञ्चमूल और विरेचनार्थ हुआ है।

चरक में अजश्रृङ्गी और विषाणिका एक साथ पृथक् पठित हैं (च. चि. ३०।२७३) अतः दोनों भिन्न द्रव्य हैं। इसी प्रकार सुश्रुत के वरुणादि गण में मेषश्रृङ्गी और अजश्रृङ्गी पृथक् पठित हैं अतः ये दोनों भी भिन्न सिद्ध होते हैं। मेषश्रृङ्गी और वृश्चिकाली भी एक साथ पृथक् पठित हैं अतः भिन्न हैं। वल्लीपञ्चमूल में होने वाली अजश्रृङ्गी कोई लता है यह भी पता चलता है। सारांश यह है कि—

१. अजश्रृङ्गी, मेषश्रृङ्गी और विषाणिका तीनों भिन्न द्रव्य हैं।
२. अजश्रृङ्गी लता जाति की वनस्पति है जिसके फल श्रृङ्गाकार होते हैं।

चक्रपाणि ने अजश्रृङ्गी को विषाणिका लिखा है (च. क. ११।१३) जो उपर्युक्त सन्दर्भ में सही नहीं है। डल्हण इस पर निम्नांकित विचार प्रकट करते हैं :—

१. अजश्रृङ्गी कर्कटश्रृङ्गी, अन्ये छगलविषाणिका उत्तमारणी 'मेढिका' इति लोके। —सु. सू. ३७।६
२. अजश्रृङ्गी छगलविषाणिका उत्तमारणी 'मेढिका' इति लोके। —सु. सू. ३८।१०
३. अजश्रृङ्गी मेढिका, कर्कटश्रृङ्गीत्यपरे। —सु. सू. ३८।७२
४. अजश्रृङ्गी कर्कटश्रृङ्गी विषाणिकेत्यपरे। —सु. सू. ४४।४१

इस प्रकार डल्हण ने भी इसे कर्कटश्रृङ्गी, उत्तमारणी और विषाणिका में उलझा दिया है।

मेरे विचार से, अजश्रृङ्गी आदि द्रव्यों के सम्बन्ध में निम्नांकित निर्णय लिया जा सकता है—

१. अजश्रृङ्गी—Gymnema sylvestre R. Br.
२. विषाणिका (वृश्चिकाली)—Pergularia extensa N. E. Br.
   उत्तमारणी
३. कर्कटश्रृङ्गी—Pistacea integerrima Stew ex Brandis.
४. मेषश्रृङ्ग—Dolichadrone falcata Seem.

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

वाग्भट ने अजश्रृङ्गी-मूल का प्रयोग अर्श में लाभकर बताया है :—

अजश्रृङ्गीजटाकल्कमजामूत्रेण यः पिबेत् ।
गुडवार्त्ताकभुक्तस्य नश्यन्त्याशु गुदाङ्कुराः ॥ —अ. हृ. चि. ८।५७

अजा

अजा का पाठ दिव्य ओषधियों में है[1] । सुश्रुत ने इसका स्वरूप निम्नांकित बतलाया है :—

अजास्तनाभकन्दा तु सक्षीरा क्षुपरूपिणी ।
अजा महौषधी ज्ञेया शंखकुन्देन्दुपाण्डुरा ॥

Saussuria की अनेक प्रजातियाँ जो हिमालयक्षेत्र में कमल के नाम से प्रचलित हैं, उन्हीं में से यह कोई हो सकती है । S. gossypifolia Don. की विशेष संभावना है ।

अञ्जन—रसाञ्जन

अञ्जन एक खनिज द्रव्य भी है किन्तु सुश्रुत ने अञ्जनादि गण में अञ्जन और रसाञ्जन का साथ-साथ उल्लेख किया है । इस गण में अन्य सभी द्रव्य वानस्पतिक हैं अतः अञ्जन भी निश्चित रूप से यहाँ वानस्पतिक है । इसका लैटिन नाम Hardwickia binata Roxb. है । लोकभाषा में इसे अनजान कहते हैं । इसकी लकड़ियों का फर्नीचर या गृहनिर्माण में उपयोग करते हैं ।

अञ्जनादि गण के द्रव्य शीतवीर्य, पित्तशामक हैं और रक्तपित्त, विष एवं दाह में हितकर हैं । रक्तपित्त-चिकित्सा (च. चि. ४।६६), पैत्तिक प्रमेह (च. चि. ६।३०), रक्तस्तम्भन (च. सि. ६।४९) में अञ्जन वृक्ष ही अभिप्रेत हैं या रसाञ्जन जिसका संक्षिप्त रूप 'अञ्जन' हो सकता है ।

चरक में एक स्थल पर (च. चि. ७।१७१) 'अञ्जने द्वे' लिखा है । इसकी टीका में चक्रपाणि लिखते हैं :—

'अञ्जने द्वे इति सौवीरं रसाञ्जनकं च'—अर्थात् अञ्जनद्वय एक सौवीराञ्जन और दूसरा रसाञ्जन है ।

इस संबन्ध में डल्हण लिखते हैं :—

"अञ्जनं सौवीराञ्जनं, रसाञ्जनं दारुहरिद्राक्वाथेन कृत्रिमं । अन्ये त्वेवं वदन्ति—रसाञ्जनं द्विविधं-स्रोतोऽञ्जनं कृष्णपाषाणाकृति धातुद्रव्यं, अन्यद् दारुहरिद्राक्वाथेन कृत्रिमं पीतलोहितम् । अत्र धातुद्रव्यमेव सौवीराञ्जनसाहचर्यात् ।"—(सु. सू. ३८।४१)

अर्थात्—'अञ्जन सौवीराञ्जन है और रसाञ्जन दारुहरिद्रा-क्वाथ से निर्मित कृत्रिम पदार्थ । कुछ लोगों का कथन है कि रसाञ्जन दो प्रकार का है एक काले पत्थर के समान खनिज द्रव्य जिसे स्रोतोऽञ्जन कहते हैं और दूसरा दारुहरिद्रा के

१. च. चि. १-४।६, सु. चि. ३०।५, १७, १८

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

क्वाथ से निर्मित पीत-रक्त वर्ण का पदार्थ। यहाँ सौवीराञ्जन के साहचर्य से खनिज-द्रव्य ही अञ्जन से लेना चाहिए।'

किन्तु डल्हण का यह विचार स्पष्टतः भ्रामक है क्योंकि :—

१. अञ्जनादि गण में सभी औद्भिद द्रव्य हैं अतः अञ्जन भी वानस्पतिक द्रव्य होना चाहिए।

२. अञ्जन रक्तपित्त की चिकित्सा में विहित है।

खनिज सौवीराञ्जन उष्ण होने के कारण रक्तपित्त में लामकर नहीं हो सकता। अतः अञ्जनादि गण में उसकी गणना नहीं हो सकती।

मेरे विचार से 'अञ्जनः' होने पर वृक्ष तथा 'अञ्जनम्' होने से सौवीराञ्जन या रसाञ्जन लेना चाहिए।

अञ्जनवृक्ष का वानस्पतिक परिचय यहाँ दिया जा रहा है :—

लैटिन नाम—Hardwickia binata Roxb.

कुल—शिम्बीकुल (Leguminosae)

उपकुल—कण्टकीकरञ्ज-उपकुल (Caesalpinioidae)

स्वरूप—इसका बड़ा, सुन्दर वृक्ष होता है जिसकी शाखायें झुकी हुई तथा पत्र क्षोदयुक्त होते हैं। पत्र काञ्चनार के सदृश किन्तु दोनों पत्रक पूर्णतः पृथक्, अवृन्त, लगभग १-२ इञ्च लंबे, गोलाग्र होते हैं। पुष्प अक्षीय या अन्त्य मंजरियों में श्वेताभ लगते हैं। फली-लंबी, आयताकार, २-३ इञ्च लंबी होती है। वर्षा में पुष्प तथा वसन्त में फल लगते हैं। बिहार में पलामू जिले में बहुत होता है।

रसाञ्जन दारुहरिद्रा के क्वाथ से बनाया जाता रहा है और दारुहरिद्रा के प्रतिनिधि रूप में चिरकाल से प्रयुक्त होता आ रहा है। चरक का वाक्य 'दार्वी रसाञ्जनं वा गोमूत्रेण प्रबाधते कुष्ठम्' (चि० ७।६१) इसका साक्षी है। चक्रपाणि भी लिखते हैं—'दार्वी दारुहरिद्रा, रसाञ्जनं दार्वीक्वाथकृतम्।' यद्यपि रसशास्त्र में रसाञ्जन से एक खनिज द्रव्य भी अभिप्रेत है तथापि व्यवहार में वानस्पतिक रसाञ्जन ही अधिक प्रचलित हुआ और अभी भी है।

अञ्जनकी

अञ्जनकी का उल्लेख केवल सुश्रुतसंहिता (चि० १८।३४) में मिलता है। इसका प्रयोग पित्तार्बुद और पित्तोदर में विरेचनार्थ किया गया है। डल्हण ने इसका अर्थ नीलिनी किया है[1]।

मेरे विचार से, यह Strychnos colubrina Linn. है जिसे कुचला लता या काजरबेल कहते हैं। इसकी विशाल लता विशेषतः दक्षिण भारत में होती है। इसका मूल रेचन, ज्वरघ्न तथा क्रिमिघ्न है।

---

१. **'अञ्जनकी नीलाञ्जनिका शारदं फलं, श्रीफलिकेति लोके।' ड०**

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

अधोगुडा

इसका उल्लेख मूलिनी रेचन ओषधियों में किया गया है। केवल एक ही बार चरक में (सूत्र० १।७७) इसका उल्लेख है। चक्रपाणि ने इसे वृद्धदारक कहा है। वस्तुतः गुडा स्नुही का पर्याय है अतः अधोगुडा का अर्थ होगा (पृथ्वी के) नीचे रहने वाली स्नुही। यह वनस्पति Euphorbia acaulis Roxb. है। इसे लोक-भाषा में बनमूली कहते हैं। मेरे विचार से मूलकपर्णी भी इसी का पर्याय होना चाहिए क्योंकि इसके पत्र मूली के जैसे लंबे-चौड़े होते हैं। इस वनस्पति का परिचय यहाँ दिया जा रहा है—

यह स्नुही की एक वामन प्रजाति है जिसका भौमिक मूलस्तम्भ $\frac{3}{4}$–१$\frac{1}{2}$ इञ्च व्यास का होता है। इसके पत्र—मूली के पत्ते के सदृश, ·६–८ इञ्च लंबे, १·३–३·८ इञ्च चौड़े, किञ्चित् दन्तुरधार प्रायः बरसात में निकलते हैं और हेमन्त तक रहते हैं। पुष्प ३–७, लगभग ६ इञ्च लंबी मंजरी में लगते हैं। फल ·३ इञ्च व्यास का होता है। विशेषतः बलुआही मिट्टी में होता है।

अनुपाकी

इसका उल्लेख केवल चरकसंहिता (सू० २७।१६२) में मिलता है। यह फलवर्ग में है। इसके फल मधुर, पित्तश्लेष्महर हैं। चक्रपाणि ने इसे 'अनुया' नाम से प्रसिद्ध कहा है। चक्रपाणिकृत द्रव्यगुणसंग्रह में इसके फल मधुर तथा वातपित्त नाशक कहे गये हैं[1]। शिवदास ने भी इसकी व्याख्या में 'अनुया इति ख्यातम्' इतना ही लिखा। प्रतीत होता है कि इसके फल पहले प्रचलित रहे होंगे। संप्रति इसका वानस्पतिक स्वरूप अज्ञात है।

अन्तःकोटरपुष्पी

इसका उल्लेख एक ही बार चरक (सू० १।८२) में हुआ है। फलिनी गण में होने से यह पता चलता है कि इसके फलों (या बीजों) का प्रयोग होता है। यह विरेचनार्थ प्रयुक्त होता है।

चक्रपाणि ने इसे नीलबुह्ना कहा है। अन्तःकोटर (फनेल की आकृति के) पुष्प त्रिवृत्कुल की वनस्पतियों में होते हैं अतः यह वनस्पति उसी कुल की प्रतीत होती है और इसके बीजों का रेचनार्थ प्रयोग होता है। कृष्णबीज (कालादाना) के बीज आजकल भी प्रयुक्त हो रहे हैं। इसका लैटिन नाम ipomoea nil (Linn.) Roxb. है[2]।

---

१. अनुपाकिफलं स्वादु वातपित्तविनाशनम्। (द्र॰ सं॰, फलवर्ग, ३१)
इसके अनुसार चरक का पाठ 'पित्तश्लेष्महराणि च' के स्थान पर 'वातपित्तहराणि च' होना चाहिए।

२. वानस्पतिक विवरण द्र॰ गु॰ वि॰, भाग २ में देखें।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

अभिषुक

इसका उल्लेख वाताम (बादाम), अक्षोड (अखरोट), निकोचक (चिलगोजा) आदि शुष्क स्निग्ध फलों (मेवों) के साथ हुआ है[1]। ये उत्तरापथ में होने वाले कहे गये हैं[2]। डल्हण ने इसे 'अभिषुः' इति लोके' कहा है।

कुछ लोग पिश्ता का ग्रहण 'मुकूलक' से तथा कुछ 'अभिषुक' से करते हैं। मेरी दृष्टि में, फारसी नाम 'फुस्तुक' के निकट होने के कारण 'अभिषुक' से पिस्ता (Pistacia vera Linn.) का ग्रहण करना चाहिए।

पिश्ता का वृक्ष पूर्वी भूमध्यसागरीय क्षेत्र, ईरान, अफगानिस्तान तथा मध्य एशियाई देशों का निवासी है। भारत में मुख्यतः अफगानिस्तान और ईरान से आता है।

अभीरुपत्री

इसका उल्लेख केवल एक बार चरकसंहिता (वि. ८।१४६) में हुआ है। 'अभीरु' शतावरी का एक पर्याय है अतः इससे ऐसी वनस्पति का बोध होता है जिसकेपत्र शतावरी के सदृश हों। इस प्रकार यह Asparagus की कोई प्रजाति हो सकती है।

अमृतफल

चरकसंहिता में एक ही स्थल (चि० १।१४७) पर 'अमृतफल' का उल्लेख है। चक्रपाणि ने इसका अर्थ आमलकी किया है। वाग्भट ने स्पष्टतः इसके स्थान पर 'आमलकी' का उल्लेख किया है। कालान्तर में 'अमृतफल' से नासपाती का ग्रहण किया जाने लगा।

अम्बष्ठा–माचीक

चरक ने अम्बष्ठा का पाठ सन्धानीय महाकषाय तथा कषायस्कन्ध में किया है। कषायस्कन्ध में माचीक भी है। अम्बष्ठा का प्रयोग ग्रहणीरोग तथा योनिव्यापद् (पुष्यानुग चूर्ण) में किया गया है।

सुश्रुत में माचीक नहीं है। अम्बष्ठा को प्रमुखता देकर एक गण का नामकरण इसके नाम पर किया गया (अम्बष्ठादि)। यह कषाय, स्तम्भन, सन्धानीय, पित्त-शामक तथा व्रणरोपण है। यह प्रमेह, ग्राही बस्ति, विषघ्न (एकसर), कर्णस्राव तथा अतिसार में प्रयुक्त होता है। अष्टांगहृदय में यही प्रयोग है, पुष्यानुग चूर्ण में 'मृद्वीका' के स्थान पर 'माचीक' पाठान्तर है।

---

१. च. सू. २७।१५७; सु. सू. ४६।१८७–१८८; अ. हृ. सू. ६।१२०

२. 'वातामादयः औत्तरापथिकाः'—चक्र०

'वातामादीन्युरुमाणान्तान्युत्तरापथे जातानि, तत्रैव प्रसिद्धानि।'—ड०

३. देखें द्रव्यगुणविज्ञान भाग ३, पृ० २३५; भाग ४, पृ० २५२

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

चक्रपाणि ने अम्बष्ठकी को अकर्णविद्धा लिखा है जो पाठा है। अन्यत्र इससे पाठाभेद लिया है।

डल्हण ने निम्नांकित व्याख्या की है :—

१. अम्बष्ठा 'माचिका' 'साङ्कुरड' इति पश्चिमे प्रसिद्धा, पाठेत्यपरे।

—सु. सू. ३८।४६

२. अम्बष्ठा माचिका 'साङ्क्रुरड' इति लोके—सु. चि. ११।१०

३. अम्बष्ठा पाठा—सु. क. ५।८५

४. अम्बष्ठा साङ्कुरडा—सु. उ. २१।४८

इस प्रकार डल्हण का झुकाव काकमाची की ओर है। किन्तु काकमाची तिक्तरस है अतः कषायरस अम्बष्ठा से उसका तादात्म्य नहीं हो सकता। इसी प्रकार पाठा भी तिक्तस्कन्ध में है, इसके अतिरिक्त, पुष्यानुगचूर्ण में वह अम्बष्ठा से पृथक् पठित है अतः पाठा की संभावना भी खंडित हो जाती है।

मध्यकाल में इसका स्वरूप सन्दिग्ध हो जाने के कारण निघण्टुओं में 'अम्बष्ठा' अनेक द्रव्यों के पर्याय में आ गया। धन्वन्तरिनिघण्टु में अम्बष्ठा पाठा, क्षुद्राम्लिका, यूथिका तथा अङ्गारवल्लिका का पर्याय है। भावप्रकाश में भी माचिका और अम्बष्ठा दोनों पर्यायवाची हो गये तथा अम्बष्ठा पाठा का भी पर्याय है। यह स्मरणीय है कि अम्बष्ठा और माचीक कषायस्कन्ध में पृथक् पठित हैं अतः दोनों भिन्न हैं।

मध्यकाल में एक और विचित्र बात हुई कि 'अम्बिका' (अम्बष्ठा) 'अम्लिका' में परिणत हो गई। धन्वन्तरिनिघण्टु में क्षुद्राम्लिका का पर्याय अम्बष्ठा दिया है। भावप्रकाश में भी अम्बष्ठा में अम्लरस आरोपित किया गया। धन्वन्तरिनिघण्टु में कुछ गुणधर्म पाठा के (तिक्तरस आदि) तथा कुछ माचिका के (कषाय आदि) अम्बष्ठा में आरोपित किये गये। राजनिघण्टु ने जो वर्णन किया है वह कषायाम्ल द्रव्य का है जो रुचिकर है। यहाँ द्विन्नपत्रा, चित्रपुष्पी तथा दृढवल्का भी इस वनस्पति के परिचायक पर्याय हैं। यह वनस्पति Hibiscus cannabinus Linn. है जिसे लोकभाषा में कुदरुम या पटसन कहते हैं। इसका फल खट्टा होता है, उसकी चटनी बनती है। त्वचा में दृढ़ रेशे होते हैं जिससे रस्सी बनती है। स्पष्टतः राजनिघण्टु तथा भावप्रकाश के समक्ष इसी वनस्पति का चित्र था। किन्तु संहिताओं में यह पूर्णतः कषाय के रूप में वर्णित है, अम्ल का संपर्क नहीं है अतः यह अम्ल वनस्पति नहीं हो सकती। यद्यपि चरक (चि. १५।१०८) में वृक्षाम्ल, अम्लवेतस के साथ पठित होने से इसकी अम्लता का भ्रम हो सकता है।

वस्तुतः अम्बष्ठा माजूफल (Quercus infectoria Oliv.) है तथा माचीक माई (Tamarix Sp.) है[1]। माजूफल को माईफल भी कहते हैं जो अम्बष्ठा का

१. इनका विवरण द्र. गु. वि.. भाग २ में देखें।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

ही रूपान्तर है (अम्ब = माई, छा = फल)। माई तो माचीक का अपभ्रंश है ही। इनके परिचय के संवन्ध में सन्दिग्धता होने का कारण यह है कि ये द्रव्य ऊँचे पहाड़ों और रेगिस्तान में होते हैं अतः सर्वत्र सुलभ नहीं। अरब देशों में बहुलता के कारण यूनानी चिकित्सक इनका प्रयोग अधिक करने लगे।

अम्लवेतस

चरक ने अम्लवेतस का उल्लेख अम्लस्कन्ध (वि० ८) में तथा गुणकर्म का विवरण फलवर्ग (सू० २७।१५२) में किया है। सुश्रुत ने अम्लवर्ग (सू० ४२) में इसका उल्लेख तो किया किन्तु फलवर्ग में अम्लवेतस का वर्णन नहीं किया। इसके स्थान पर वेत्रफल का उल्लेख अम्लफलों के साथ किया किन्तु इसके गुणकर्म का भी वर्णन उपलब्ध नहीं है। टीकाकारों ने भी इस पर प्रकाश नहीं डाला है। डल्हण ने वेत्रफल को कमलवीज के सदृश कहा है(सु. सू. ४६।१३९)।

इस संबन्ध में निम्नांकित तथ्य ध्यान देने योग्य है :—

१. चरक ने फलवर्ग में अम्लवेतस का तथा सुश्रुत ने वेत्रफल का वर्णन किया है।[1]
२. चरक ने अम्लवेतस के जो गुणकर्म बतलाये हैं वही सुश्रुत ने वेत्रफल के कहे हैं।
३. सुश्रुतसंहिता (सू. ४२) में वेत्रफल तथा अम्लवेतस का एक साथ प्रयोग तो है किन्तु टीकाकारों ने इन दोनों की व्याख्या छोड़ दी है। दूसरी बात यह है कि सूत्रस्थान में इस स्थल के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं अम्लवेतस का उल्लेख नहीं है। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि उपर्युक्त स्थल पर 'अम्लवेतस' का पाठ लिपि-प्रमाद के कारण हुआ हो।
४. सुश्रुतसंहिता के सूत्रस्थान में 'वृक्षाम्ल' के स्थान पर 'तिन्तिडीक' तथा 'अम्लवेतस' के बदले 'वेत्रफल' का प्रयोग हुआ है। वृक्षाम्ल तथा अम्लवेतस का स्पष्ट उल्लेख केवल उत्तरतन्त्र में मिलता है।
५. डल्हण ने एक स्थल (सू. १२।१८) पर 'वेत्राम्ल' का अर्थ 'अम्लवेतस' किया है। इससे स्पष्ट है कि 'वेतस' और 'वेत्र' को एक मान कर ऐसा किया गया है। ऐसी स्थिति में वेत्राम्ल तथा वेत्रफल एक ही द्रव्य है जिससे अम्लवेतस का ग्रहण किया जा सकता है।

वाग्भट ने फलवर्ग में न अम्लवेतस और न वेत्रफल या वेत्राम्ल का वर्णन किया। संभवतः उस समय तक यह द्रव्य संदिग्ध हो जाने के कारण इसे छोड़ दिया गया।

---

१. सुश्रुत ने अम्लफलों के उद्देश-प्रकरण में वेत्रफल का उल्लेख किया किन्तु पुनः इसके गुणकर्म का वर्णन नहीं मिलता जब कि अन्य फलों का दिया गया। इससे वर्त्तमान पाठ पर सन्देह होता है। वस्तुतः 'तद्वद् भेदि तु केवलम्' (सू. ४६।१६०) के स्थान पर 'तद्वद् भेदि तु वेत्रजम्' शुद्ध पाठ होगा।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

सोढल का कथन है कि अम्लवेतस वेतस के फलों का अम्ल निर्यास है[1]। इसका अभिप्राय यह है कि इसके वृक्ष वेतससदृश होते हैं और फलों के तीक्ष्ण रस का प्रयोग किया जाता है। अत एव इसे 'रसाम्ल' भी कहा है।

अम्लवेतस के संबन्ध में भ्रान्ति उत्पन्न होने का कारण यह रहा कि 'वेतस' को बाद में 'वेत्र' समझा जाने लगा क्योंकि लोकभाषा में प्रायः दोनों ही 'वेत' कहे जाते हैं। इसी आधार पर रेवन्दचीनी की वेत्रवत् शाखायें गुँथी हुई प्रचलित हुईं जिसे निघण्टुओं ने 'शाखाम्ल' भी कहा है।[2] आजकल बाजारों में यही अम्लवेतस के नाम पर उपलब्ध होता है जो वस्तुतः रेवन्दचीनी (Rheum emodi Wall ex Meissn.) के शाखावत् पत्रवृन्त हैं।

प्राचीन संहिताओं में अम्लवर्ग तथा फलवर्ग में अम्लवेतस का वर्णन होने से यह स्पष्ट है कि यह एक अम्लरस फलवर्ग का द्रव्य है। अर्थात् यह एक वेतससदृश वृक्ष है जिसके फल अम्लरस होते हैं। सोढल ने उपर्युक्त प्रसंग में कहा है कि इसका रस नींबू के रस के समान (मधुजम्बीरसप्रभः) होता है तथा यह इतना तीक्ष्ण होता है कि इसमें पत्थर, लकड़ी या लोहा डाल दिया जाय तो वह गल जाता है, केवल लौकी को नहीं गलाता। अत एव लौकी के बाह्यावरण के पात्र में इसे रखते हैं। इसके पर्याय 'अलाबुसुहृत्' का यही रहस्य है। मांस को शीघ्र गला देने के कारण यह 'मांसारि' कहा गया है। कैयदेवनिघण्टु में अम्लवेतस का लक्षण बतलाते हुए कहा गया है कि इससे बकरी का मांस गल जाता है, मलिन वस्त्र निर्मल हो जाता है तथा यह चणकाम्लवत् अम्ल होता है[3]। भावप्रकाशनिघण्टु में भी इसी प्रकार का वर्णन किया गया है[4]।

इन सब तथ्यों पर विचार करने से यह निर्णय किया गया है कि गार्सिनिया पेंडकुलाटा (Garcinia pedunculata Roxb.) नामक वृक्ष का ग्रहण 'अम्लवेतसपादप' के नाम से करना चाहिए और इसके अम्लफलों का प्रयोग अम्लवेतस के रूप में करना चाहिए[5]। यह पूर्वी प्रदेशों में विशेष होता है। बंगाल में यह थैकल के नाम से प्रसिद्ध है। शिवदास सेन ने भी इसका नाम 'थैकल' दिया है[6]। इसकी

---

१. ....वेतसा नाम पादपाः ......।
तेषां फलेभ्यो निर्यासः सोऽम्लत्वादम्लवेतसः ॥—गदनिग्रह, भाग २, कल्पाध्याय

२. कैयदेवनिघण्टु, ओषधिवर्ग, ३१९

३. वही, ३१९–३२५
'द्रवीभवत्यजामांसं मलवस्त्रं सितं भवेत्।
चणकाम्लोपमं स्वादु साम्लं स्यादम्लवेतसम् ॥' ३२४–२५

४. कफवातामयध्वंसि छागमांसद्रवत्वकृत्। चणकाम्लगुणं ज्ञेयं लौहसूचीद्रवत्वकृत् ॥
—फलवर्ग, १४६

५. विशेष विवरण द्रव्यगुणविज्ञान, द्वितीय भाग में देखें।

६. द्रव्यगुणसंग्रह, फलवर्ग, ११

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

एक प्रजाति गार्सिनिया जैन्थोकाइमस (Garcinia xanthochymous Hook. f.) 'सताम्बा' या कुजी थैकल नाम से पुरी आदि में प्रचलित है। इसके फल आम्रसदृश होते हैं।

अम्लिका

चरक ने अम्लिका का फलवर्ग में वर्णन किया है (च. सू. २७।१५२)। चक्रपाणि ने इसका अर्थ तिन्तिडी किया है। यह प्रसिद्ध इमली (हि०) या तेंतुल (बं०) नामक द्रव्य है। इसके फल एवं पत्र अम्ल होने के कारण उनका प्रयोग अम्ल द्रव्यों में विहित है। यह Tamarindus indica Linn. है[1]।

चरक ने इसके अतिरिक्त शाकवर्ग में एक अम्लिकाकन्द का वर्णन किया है जो ग्रहणी एवं अर्श में हितकर कहा गया है[2]। अर्शचिकित्सा में भी इसके शाक का विधान है (च. चि. १४।१२४, २००)। अम्लस्कन्ध में चरक ने चतुर्विध अम्लिका का उल्लेख किया है[3]। पुनः शुष्क अम्लिका को ग्राम्य एवं आरण्य दो प्रकार का कहा है[4]। कतिपय टीकाकारों ने चतुर्विध अम्लिका को आम, शुष्क, ग्राम्य एवं आरण्य इस रूप में लिया है किन्तु यदि ऐसा अभिप्राय वस्तुतः होता तो पुनः शुष्काम्लिका का पाठ नहीं करते, चतुर्विध अम्लिका से ही उसका परिज्ञान हो जाता। मेरे विचार से चतुर्विध अम्लिका में इन चार अम्ल द्रव्यों का समावेश करना चाहिए—अम्लिका, अम्लिकाकन्द, चुक्रिका तथा तिन्तिडीक। स्मरणीय है कि अम्लिका चुक्रिका के पर्यायों में पठित है तथा तिन्तिडीक से तिन्तिडीक एवं अम्लिका दोनों का ग्रहण होता है[5]। इस प्रकार चतुर्विध अम्लिका की व्याख्या करने से स्थिति स्पष्ट हो जाती है।

अम्लिकाकन्द की व्याख्या करते हुए चक्रपाणि ने लिखा है—'अम्लिका स्वल्पविटपा प्रायः कामरूपादौ भवति' (च. सू. २७।१२१), अम्लिका कन्दप्रधाना कामरूपे प्रसिद्धा अम्लिकाभेद एवेत्याहुः (च. वि. ८।१४०)। इससे संकेत मिलता है कि अम्लिका का छोटा पौधा होता है जिसमें कन्द होता है और यह कामरूप (आसाम) में विशेष प्रचलित है। यह अम्लिका का ही एक भेद माना जाता है[6]।

१. इसका विवरण द्रव्यगुणविज्ञान, भाग ३ में देखें।
२. अम्लिकायाः स्मृतः कन्दो ग्रहण्यर्शोहितो लघुः।
नात्युष्णः कफवातघ्नो ग्राही शस्तो मदात्यये ॥ (च. सू. २७।१२१)
३. चतुर्विधानां चाम्लिकानां। (च. चि. ८।१४०)
४. द्वयोश्चैव शुष्काम्लिकयोर्ग्राम्यारण्ययोः। (वही)
५. वस्तुतः तिन्तिडीक से समाकदाना (Rhus parviflora Roxb.) और 'तिन्तिडी' से अम्लिका (इमली) का ग्रहण होना चाहिए। अमरकोष में इस प्रकार स्पष्ट विभाजन मिलता है (देखें २।४।४३, २।९।३५)।
६. इससे भी चतुर्विध अम्लिका में इसका समावेश संपुष्ट होता है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

गंगाधर ने इसे अम्लार्द्रक कहा है[१]।

वैद्य बापालाल इससे वाराही प्रजाति का एक कन्द (Dioscorea oppositifolia), जो गुजराती में 'आंबलियो कन्द' के नाम से प्रचलित है, लेते हैं[२]। किन्तु नाम से संकेत मिलता है कि यह अम्लरस होना चाहिए अतः गंगाधर के कथन की ओर ध्यान जाता है। गंगाधर का अम्लार्द्रक और चक्रपाणि का महार्द्रक[३] एक ही प्रतीत होता है। यह Zingiber या Curcuma की कोई प्रजाति हो सकती है। एक और वनस्पति है जिसका विचार अम्लिका के संबन्ध में करना चाहिए वह है Rheum emodi Wall ex Meissn. जो रेवन्दचीनी के नाम से प्रसिद्ध है। इसके पत्र का शाक में प्रयोग होता है, पत्रवृन्त अम्ल होता है। आसाम में इसका विशेष प्रचार भी है। अनुलोमन-रेचन होने से यह अर्श में लाभकर हो सकता है। आगे चल कर इसके पत्रवृन्तों का प्रयोग अम्लवेतस के स्थान पर होने लगा, इसका एक कारण यह भी हो सकता है क्योंकि अम्लिका, अम्लवेतस, वृक्षाम्ल ये एक ही वर्ग के द्रव्य हैं। रेवन्दचीनी के लिए वर्त्तमान काल में अनेक नये नाम (पीतमूली, अम्लपर्णी, रेवतिका आदि) गढ़े गये किन्तु यह द्रव्य हिमालय-प्रदेश में उपलब्ध प्राचीन द्रव्य होने के कारण ग्रन्थकारों को अवश्य ही ज्ञात रहा होगा। मेरे विचार से रेवन्दचीनी के लिए चरकोक्त संज्ञा 'अम्लिकाकन्द' पुनर्जीवित करना चाहिए।

अरलु और श्योनाक

अरलु और श्योनाक पर्य्यायवाची शब्द हैं या भिन्न द्रव्य इस पर विद्वानों में मतभेद है। कुछ लोग अरलु को श्योनाक का पर्य्याय मानते हैं और दूसरे लोग इसे श्योनाक से भिन्न एक पृथक् द्रव्य मानते हैं। मध्यकालीन निघण्टुओं में अरलु श्योनाक के पर्य्याय में ही पठित है इसलिए ऐसा भ्रम होना स्वाभाविक है। इस भ्रम के कारण कुछ विद्वानों ने श्योनाक का लैटिन नाम आरोक्सीलम् इण्डिकम् वेन्ट और कुछ ने एइलेन्थस एक्सेल्सा रोक्सवर्ग दिया है।

चरकसंहिता में अरलु शब्द नहीं मिलता है यद्यपि श्योनाक, टुण्टुक, कट्वङ्ग आदि शब्द मिलते हैं। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि उस काल में या तो अरलु का प्रयोग न होता हो, या कट्वङ्ग शब्द से उसका उल्लेख किया गया है। यह ज्ञातव्य है कि परवर्ती निघण्टुओं में कट्वङ्ग अरलु का पर्याय दिया है। जो भी हो, अरलु शब्द का उल्लेख न होना यह विचार का विषय है। कट्वङ्ग से अरलु का ग्रहण अधिक संभव प्रतीत होता है क्योंकि एक योग में

---

१. अम्लार्द्रकस्य कन्दः— (जल्पकल्पतरु)
२. नि. आ, उत्तरार्ध, पृ० ६५५
३. वृक्षाम्लं महार्द्रकम् (च. सू. २७।१५१)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

१. अरलु

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

श्योनाक और कट्वङ्ग दोनों शब्द आये हैं[१]। एक ही योग में इनका पाठ होने से इसका भी अनुमान होता है कि ये दोनों द्रव्य गुण, कर्म में प्रायः समान हैं और इनका आमयिक प्रयोग भी समान है। चरक के शोथहर महाकषाय में जिसमें दशमूल के द्रव्य हैं श्योनाक का उल्लेख है। दूसरे स्थलों में भी यथा अनुवासनोपग महाकषाय, शीतप्रशमन महाकषाय और वस्तिप्रकरण में श्योनाक का पाठ है।

इससे इसके प्रमुख वातकफशामक तथा शोथहर कर्म का संकेत मिलता है। शीतप्रशमन महाकषाय में उल्लेख होने से इसके उष्णवीर्य का बोध होता है। ज़हाँ तक कट्वङ्ग (अरलु) का प्रश्न है, यह पुरीषसंग्रहणीय गण तथा कषाय स्कन्ध में पठित है। अग्र्यप्रकरण में यह दीपनीय, पाचनीय और सांग्राहिक द्रव्यों में श्रेष्ठ बतलाया गया है। इससे संकेत मिलता है कि यह कषाय-रस,[२] शीतवीर्य तथा स्तम्भन है। स्तम्भन कर्म के कारण ही अतिसार तथा ऊर्ध्वग एवं अधोग रक्त-पित्त की विविध अवस्थाओं में इसके प्रयोग का विधान है। कुटन्नट शब्द से श्योनाक का प्रयोग ग्रहणी और कास में केवल एक ही बार हुआ है।

उपर्युक्त तथ्यों पर विचार करने से अरलु और श्योनाक दोनों भिन्न द्रव्य प्रतीत होते हैं जिनके गुण-कर्म एवं प्रयोग पृथक्-पृथक् प्रतिपादित हैं।

	श्योनाक	कट्वंग (अरलु)
रस	तिक्त-कषाय	तिक्त-कषाय
वीर्य	उष्ण	शीत
कर्म	शोथहर वातश्लेष्महर, शीतप्रशमन	पुरीषसंग्रहणीय, दीपनीय, पाचनीय
प्रयोग	वातश्लैष्मिक विकार शोथ, विष	अतिसार, ग्रहणी रक्तपित्त

सुश्रुतसंहिता में श्योनाक के अतिरिक्त अरलु का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। बृहत् पंचमूल में टिण्टुक शब्द से, रोध्रादिगण में कुटन्नट शब्द से तथा वीरतर्वादिगण में भल्लूक शब्द से श्योनाक का उल्लेख मिलता है। अरलु के अतिरिक्त कट्वङ्ग शब्द भी इसमें प्रयुक्त हुआ है जो अम्बष्ठादि गण में पठित है। अम्बष्ठादि गण के द्रव्य कषायरस एवं स्तम्भन है। अतः इससे चरकोक्त कथन की पुष्टि होती है।

१. वचामतिविषां पाठां सप्तपर्णं रसांजनम्।
श्योनाकोदीच्यकट्वङ्गवत्सकत्वगुदुरालभाः॥—च० चि० १५।१३४

२. प्रत्यक्षतः यह तिक्त भी है अतः इसका रस तिक्त-कषाय मानना चाहिए। स्तम्भन होने के कारण इसका पाठ कषायस्कन्ध में किया।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

अरलु और कट्वङ्ग का प्रयोग अतिसार, प्रमेह में मुख्य रूप से हुआ है। इसके अतिरिक्त अपस्मार एवं सर्पविष में भी इसका प्रयोग है। श्योनाक का प्रयोग वातश्लैष्मिक विकार, सर्पविष तथा ग्रहदोष में मुख्यतः है। इसके प्रयोग के सम्बन्ध में सुश्रुतसंहिता में एक विशेष बात देखने को मिलती है। रोध्रादिगण में कुटन्नट का पाठ है जो स्तम्भन माना गया है। दूसरी ओर, दीर्घवृन्त के पुटपाक का अतिसार में विधान है तथा पक्वातिसार में प्रयुक्त स्तम्भन योगों में भी विहित है। यह प्रश्न उठता है कि दीर्घवृन्त शब्द से क्या लिया जाय श्योनाक या अरलु ?

चरक के आमयिक प्रयोगों को देखते हुए जहाँ कि स्तम्भन कर्म के लिए मुख्यतः कट्वङ्ग (अरलु) का विधान है यहाँ भी दीर्घवृन्त शब्द से अरलु का ही ग्रहण होना चाहिए।

वाग्भट की रचनाओं के अध्ययन से इस बात पर कुछ प्रकाश पड़ता है। अष्टांगसंग्रह में चरकोक्त तथा सुश्रुतोक्त गणों के अतिरिक्त वत्सकादिगण में दीर्घवृन्त का पाठ है। यह गण वातश्लेष्महर, मेदोहर, दीपन, पाचन तथा अर्श, शूल एवं गुल्म का नाशक है। सुश्रुत में जो दीर्घवृन्त का पुटपाक निर्दिष्ट है उसके स्थान पर वाग्भट ने अरलु के पुटपाक का वर्णन किया है इससे भी दीर्घवृन्त शब्द से अरलु का ग्रहण समर्थित होता है। पित्तातिसार में दीर्घवृन्त की त्वचा का विधान है। इसी प्रसंग में यवागू के अन्तर्गत कट्वङ्ग का उल्लेख है ये दोनों शब्द अरलु के ही वाचक प्रतीत होते हैं। विषों में विशेषकर श्योनाक का कुटन्नट शब्द से प्रयोग है, कुछ योगों में कट्वङ्ग भी है। विशेषकर श्वग्रह तथा श्वानविष में कट्वङ्ग का विधान किया गया है। वातिक विकारों में श्योनाक का पूर्ववत् विधान मिलता है।

अष्टांगहृदय में अष्टांग-संग्रहोक्त पुटपाक-विधान में अरलु के स्थान पर दीर्घवृन्त शब्द का प्रयोग है इससे भी दोनों का ऐक्य सिद्ध होता है। अतिसार, अर्श इत्यादि में कट्वङ्ग का ही प्रयोग है और वातनाशक योगों में श्योनाक का उल्लेख है।

भेलसहिता में अरलु का उल्लेख नहीं है। श्योनाक के जो प्रयोग है उनमें अतिसार का उल्लेख नहीं है।

काश्यपसंहिता में श्योनाक का प्रयोग दशमूल के अन्तर्गत सूतिकारोग तथा वातविकारों में किया गया है तथा कट्वङ्ग और दीर्घवृन्त का अतिसार में प्रयोग है। इसके आधार पर कट्वङ्ग और दीर्घवृन्त दोनों अरलु के पर्य्याय प्रतीत होते हैं।

इस प्रकार प्राचीन संहिताओं के पर्य्यालोचन से यह स्पष्ट होता है कि अरलु और श्योनाक दोनों भिन्न द्रव्य हैं। टुण्टुक, भल्लूक और कुटन्नट श्योनाक के पर्य्याय हैं और दीर्घवृन्त और कट्वङ्ग अरलु के पर्य्याय हैं। जैसा कि पीछे स्पष्ट किया गया है कि दोनों द्रव्यों के रस, वीर्य तथा कर्म भिन्न हैं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

अष्टांग-निघण्टु तथा सोढलनिघण्टु में अरलु और श्योनाक का पृथक्-पृथक् वर्णन है। अष्टांगनिघण्टु में अरलु के दीर्घवृन्त, महानिम्ब, कट्वङ्ग तथा तिक्तक पर्य्याय दिये हैं[1] और श्योनाक के भल्लूक, भूतवृक्ष और टुण्टुक पर्य्याय दिये गये हैं। सोढल ने अरलु को ग्राही, कफघ्न, दीपन, क्रिमिघ्न और कुष्ठघ्न कहा है तथा श्योनाक को वातघ्न, वृष्य, शोथहर तथा दीपन बतलाया है। इस प्रकार इन निघण्टुओं में अरलु और श्योनाक भिन्न द्रव्य माने गये हैं। अन्य निघण्टुओं में अरलु और श्योनाक एक द्रव्य मानकर पर्य्यायवाचक शब्दों के रूप में रखे गये हैं, तथा दोनों के पर्य्याय जो पहले अलग-अलग थे एकत्र मिल गये जिससे उनका पृथक्करण असम्भव सा हो गया। ऐसे निघण्टुओं में धन्वन्तरिनिघण्टु, पर्य्यायरत्नमाला, निघण्टुशेष, मदनपाल–निघण्टु, कैयदेव निघण्टु, भावप्रकाशनिघण्टु, शालिग्राम निघण्टु आदि प्रमुख है।

कोशों में अमरकोश ने भी दोनों को एक ही मान कर सभी पर्य्यायों को एकत्र कर दिया है।

मध्यकालीन टीकाकारों में चक्रपाणि ने कट्वंग से श्योनाक का ग्रहण किया है[2]। जहाँ दोनों शब्दों का एकत्र प्रयोग है वहाँ बड़ा और छोटा श्योनाक करके लेते हैं। डल्हण ने कट्वंग से अरलु का ग्रहण किया है तथा अरलु को श्योनाक भेद कहा है। कुछ लोग अरलु से श्योनाक का ग्रहण करते थे इसका भी उल्लेख किया है[3]। इससे प्रतीत होता है कि अरलु यद्यपि भिन्न द्रव्य था फिर भी श्योनाक के भेद के रूप में लिया जाने लगा था। इसके अतिरिक्त, अनेक लोग अरलु, श्योनाक को एक मानने लगे थे। इसे सन्दिग्धता की प्रारम्भिक स्थिति माननी चाहिए। कुछ समय बीतने पर अन्य विद्वानों का ध्यान भी इस ओर गया और सम्भवतः इसी आधार पर राजनिघण्टुकार ने 'श्योनाकयुगलं' करके दो श्योनाकों का वर्णन किया है। सम्भवतः यहाँ श्योनाक का दूसरा भेद अरलु ही सम्भावित है। डल्हण ने एक स्थान पर कट्वङ्ग से अरलु का ग्रहण किया है और दूसरे स्थान पर वह पर्वतनिम्ब को अरलु कहते हैं। कही-कहीं इसे महानिम्ब भी कहा गया है। जैसा कि ऊपर कहा गया है कि महानिम्ब अरलु का एक पर्य्याय अष्टांगनिघण्टु में आया है।

आधुनिक काल में कतो भट्ट ने निघण्टुसंग्रह में निम्बाकारदल अरलु का पर्य्याय दिया है जिससे इसके स्वरूप का पता चलता है[4]।

---

१. दीर्घवृन्तो महानिम्बो कट्वंगोऽरलुतिक्तकः। अ. नि. १८।१४७

२. कट्वंगः श्योनाकः—च. सू. ४।१६

३. अरलुः श्योनाकभेदः, अन्ये श्योनाकमरलुशब्देनाहुः—सु. उ. ४०
अरलुः श्योनाक इत्यन्ये—सु. उ. ६१
कट्वंगः अरलुकः—सु. सू. ३८, चि. ११

४. निम्बाकारदलो विष्वक् भल्लूकः पंक्तिपत्रकः।
प्रसिद्धो भंगुरोऽसारोऽडूसो देशभाषया॥

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

इस प्रकार अरलु और श्योनाक प्राचीन काल में स्पष्टतः दो भिन्न द्रव्य माने जाते थे और उनका प्रयोग भी भिन्न था। किन्तु मध्यकाल में निघण्टुओं के द्वारा वे अभिन्न बना दिये गये। आधुनिक काल के विद्वानों के द्वारा पुनः इस सन्देह का निराकरण हुआ। श्योनाक से ओरोक्सीलम इण्डिकम (Oroxylum indicum Vent) और अरलु से एलेन्थस एक्सेल्सा (Ailanthus excelsa Roxb.) का ग्रहण होना चाहिए[1]।

कट्वङ्ग, दीर्घवृन्त अरलु के पर्याय है तथा कुटन्नट, टुण्टुक आदि श्योनाक के पर्याय हैं[2]।

अर्कपर्णी-अर्कपुष्पी

ये दोनों केवल सुश्रुतसंहिता में पठित हैं। अर्कपर्णी का उल्लेख एक ही बार विषघ्न के रूप में हुआ है—

तत्र पद्मककुष्ठैलाकरञ्जककुभत्वचः ।
स्थिरार्कपर्ण्यपामार्गदूर्वाब्राह्मयो विषापहाः ॥ —सु० क० ८।१०६

डल्हण ने इस पर कोई टीका नहीं की। स्वरूप से यह अर्ककुल की ही वनस्पति प्रतीत होती है। Tylophora indica (Burm. f.) Merrill. को आजकल अर्कपर्णी मानते हैं। इसे लोकभाषा में अन्तमूल कहते हैं। संभव है, विषप्रकरण का अन्त्रपाचक (सु० क० २।५) यही हो। इससे वमन-विरेचन आदि विषाक्त लक्षण होते हैं।

अर्कपुष्पी का दो बार उल्लेख हुआ है—एक शाकवर्ग में मण्डूकपर्णी आदि के साथ और दूसरी बार मेध्यायुष्य कुमारलेहयोग में।

डल्हण ने इसे अर्कपत्रसदृशी लता कहा है—'अर्कपुष्पी अर्कपत्रसदृशी लता, अन्ये अर्कपर्णमाहुः। (सु० सू० ४६।२६२) दूसरे स्थल पर 'अर्कपुष्पी पयस्या अर्कसदृशपयः पुष्पा लतैव, श्वेतदूर्वाविशेषां केचिदाहुः, वृक्षजातिमन्ये (सु० शा० १०।६९)। डल्हण ने 'पयस्या' से प्रायः अर्कपुष्पी का ग्रहण किया है। (सू० १६।२१, शा० १०।४५,५७ आदि)। इससे भी स्पष्ट है कि यह दूधवाली अर्ककुल की वनस्पति है, साथ-साथ गुणधर्म में रसायन है।

मेरे विचार से अर्कपुष्पी Holostemma rheedei Wall है। इसके पत्र का शाक खाते हैं और मूल का भी औषध में प्रयोग होता है। यह एक सुन्दर आरोहिणी लता है जिसके काण्ड चमकीले होते हैं। पत्र-आयताकार-लट्वाकार, ३–६ इञ्च लम्बे, गहरे आधारीय नाड़ी (sinus) से युक्त, ऊपरी कुछ त्रिकोणाकार;

१. इन द्रव्यों का विवरण द्रव्यगुण द्वितीय भाग में देखें।
२. अनिरुद्ध मिश्रः श्योनाक का गुणकर्मात्मक अध्ययन (डी. एवाई. एम्. शोधप्रबन्ध, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, १९७१)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

२. अर्जक

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

पुष्प बाहर श्वेत या हलके गुलाबी तथा भीतर बैंगनी रंग के अर्कपुष्पवत् होते हैं। अन्तर्मल तीक्ष्णाग्र लट्वाकार खण्डों में विभक्त होता है। फली ४ इञ्च लम्बी तथा १–३ इञ्च चौड़ी होती है। पुष्प वर्षाऋतु तथा फल हेमन्त में लगते हैं।

अर्जक

इसके पत्र स्वेदन के लिए प्रयुक्त हुये हैं। हरितवर्ग में भी इसका उल्लेख है। यह हृद्य तथा पित्तोत्क्लेशक कहा गया है। अर्जक कटुकस्कन्ध में है। इसके फलों का प्रयोग कुष्ठ में विहित है। इसके अतिरिक्त अर्जक शोथ तथा ऊरूस्तम्भ में प्रयुक्त हुआ है[1]।

सुश्रुत में यह सुरसादि गण में पठित है। अर्जकपत्र शिरोविरेचन, शाक, स्वेदन में विहित है। शूल में इसके पत्र को यूष के साथ लेने का विधान है[2]।

चक्रपाणि ने अर्जक से श्वेतपर्णास लिया है। डल्हण ने इसका परिचय देते हुए लिखा है—'अर्जको बर्बरिकाकारो लघुमंजरीकः सूक्ष्मपत्रो निर्गंधः श्वेतकुठेरकः'। अर्थात् अर्जक बर्बरिका के सदृश, छोटी मंजरी वाला, ह्रस्वपत्र, गन्धरहित श्वेतकुठेरक है। अन्य स्थलों में इसे कुठेरक या श्वेतकुठेरक लिखा है। यदि पर्णास और कुठेरक पर्यायवाची माने जायँ तो चक्रपाणि और डल्हण के विचार एक ही हो जाते हैं।

इससे 'अजगुर' नाम से प्रसिद्ध Orthosiphon pallidus Royle नामक पौधा लिया जाता है[2]।

अर्जुन–ककुभ–आर्त्तगल

सुश्रुतसंहिता में अर्जुन और ककुभ एक साथ पृथक् पठित हैं[3]। इसके अतिरिक्त, अर्जुन सालसारादि गण में तथा ककुभ न्यग्रोधादि गण में समाविष्ट है। इससे सन्देह होता है कि अर्जुन और ककुभ दो भिन्न द्रव्य हैं। डल्हण ने ककुभ का संवन्ध आर्त्तगल से भी स्थापित किया है। अतः इस विषय पर विमर्श अपेक्षित है।

चरकसंहिता में अर्जुन कुष्ठघ्न लेप[4], उदर्दप्रशमनगण[5], सारासव[6], कषायस्कन्ध[7], प्रमेहचिकित्सा[8], सांग्राहिक योग[9], विषघ्न योग[10], व्रणप्रच्छादन (पत्र)[11],

१. च. सू. १४।३२, २७।१७०; वि. ८।१४२, चि. ७।११२, ११।८५, १२।६७, २७।५६; सु. सू. ३८।१८, ३९।६, ४६।२२१, चि. ५।२१८, उ. ११।११, ४१।११

२. विशेष विवरण के लिए देखें—शोधप्रबन्ध (डी. एवाई. एम.)—Study on Arjaka– P. K. Mukherji, 1976 (B. H. U.)

३. सु. क. ६।३

४. च. सू. ३।५

५. च. सू. ४।१७

६. च. सू. २५।४९

७. च. वि. ८।१४३

८. च. चि. ६।२७, ३१

९. च. चि. ८।१२९

१०. च. चि. २३।२०४

११. च. चि. २५।९५

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कफज हृद्रोग[१], महानीलतैल[२], पुष्यानुगचूर्ण[३] में पठित है।

ककुभ का उल्लेख दन्तधावन[४], चन्दनाद्य तैल[५], कुष्ठघ्नयोग[६], रक्तपैत्तिक अर्श[७], क्षारागद (पुष्प)[८], जांगलदेशीय वृक्षों[९] में हुआ है।

यह ध्यान देने की बात है ककुभ और अर्जुन दोनों का प्रायः असन के साथ उल्लेख हुआ है किन्तु ककुभ और अर्जुन का एक साथ पृथक् पाठ नहीं है जैसा कि सुश्रुत में है। दूसरी बात यह है कि अर्जुन की तुलना में ककुभ का प्रयोग कम किया है। प्रयोग की दृष्टि से अर्जुन का प्रयोग उदर्द, प्रमेह, अतिसार, व्रण, हृद्रोग, पलित में विशेष है। ककुभ का हृद्रोग में प्रयोग नहीं है।

सुश्रुतसंहिता में अर्जुन का प्रयोग व्रण[१०], सालसारादिगण[११], शुक्रदोष[१२], सवर्णीकरण[१३], व्रणरोपण[१४], पैत्तिक ग्रन्थि[१५], पैत्तिक वृद्धि[१६], नीलीतैल[१७], क्षारागद[१८], रक्ताभिष्यंन्द[१९], जीर्णज्वर[२०], अतिसार[२१], रक्तपित्त[२२] में हुआ है।

ककुभ का प्रयोग न्यग्रोधादिगण[२३], भग्न में कुशार्थ[२४], पैत्तिककुष्ठ[२५], शुक्रप्रमेह[२६], योनिशूल[२७], क्षारागद[२८], रेवती[२९], शीतपूतना[३०] में हुआ है।

इससे स्पष्ट है कि ककुभ का प्रयोग चरक की अपेक्षा सुश्रुत में अधिक हुआ है। दूसरी बात यह है कि क्षारागद-प्रकरण ककुभ और अर्जुन का एकत्र प्रयोग कर उनकी भिन्नता प्रदर्शित की है। अर्जुन सालसारादिगण में तथा ककुभ न्यग्रोधादि गण में पठित है अतः अर्जुन विशेषतः कफ और मेद के विकारों में तथा ककुभ पित्तशामक तथा संधानीय कर्म में उपयोगी है। अर्जुन का ग्रन्थि, वृद्धि आदि में तथा ककुभ का भग्न में प्रयोग इसको संपुष्ट करता है।

---

१. च. चि. २६।९८
२. च. चि. २६।२७३
३. च. चि. ३०।९२
४. च. सू. ५।७३
५. च. चि. ३।२५८
६. च. चि. ७।१२९
७. च. चि. १४।२१४
८. च. बि. २३।१००
९. च. क. १।८
१०. सु. सू. १४।३६
११. सु. सू. ३८।८
१२. सु. शा. २।७
१३. सु. चि. १।९८
१४. सु. चि. २।६५
१५. सु. चि. १८।१०
१६. सु. चि. १९।३१
१७. सु. चि. २५।२८
१८. सु. क. ६।३
१९. सु. उ. १२।११
२०. सु. उ. ३९।२५७
२१. सु. उ. ४०।९६
२२. सु. उ. ४५।२२, ३४, ३६
२३. सु. सू. ३८।४८
२४. सु. चि. ३।६
२५. सु. चि. ९।७
२६. सु. चि. ११।९
२७. सु. चि. १५।२४
२८. सु. क. ६।३
२९, सु. उ. ३१।५
३०. सु. उ. ३४।५

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

टीकाकारों ने अर्जुन और ककुभ को पर्यायवाची माना है। इसका एक आधार यह भी है कि वाग्भट ने न्यग्रोधादि गण में ककुभ के बदले अर्जुन का उल्लेख किया है। इससे स्पष्ट है कि उसने सुश्रुतोक्त ककुभ से अर्जुन का ग्रहण किया। यही मान्यता परवर्ती आचार्यों के लिए आधार बनी।

किन्तु सुश्रुत में ककुभ और अर्जुन भिन्न थे इसमें कोई सन्देह नहीं। चरक में भी ऐसी ही स्थिति संभवतः थी। अब विचारणीय है कि ये दोनों द्रव्य क्या थे?

अर्जुन असन के साथ पठित होने के कारण दोनों स्पष्टतः सजातीय वृक्ष हैं। अर्जुन चरक के सारासव में परिगणित सारवान् वृक्षों में तथा सुश्रुत के सालसारादि गण में पठित होने से इसकी संपुष्टि होती है। चरक ने अर्जुन का प्रयोग भी हृद्रोग में बतलाया है। अतः 'अर्जुन' से Terminalia arjuna W. & A. का ग्रहण करना चाहिए जिसका व्यवहार अद्यावधि 'अर्जुन' नाम से हो रहा है।

ककुभ सुश्रुतोक्त न्यग्रोधादि गण में पठित होने के कारण बड़ा वृक्ष तथा प्रायः असन के साथ पठित होने के कारण तज्जातीय वृक्ष प्रतीत होता है। मेरे विचार से यह Terminalia myriocarpa Heurck & Muell-Arg. है जो भारत के पूर्वी प्रदेशों में होता है और 'पानीसाज' के नाम से प्रसिद्ध है। यह अर्जुन के सदृश वृक्ष हैं तथा उसीके समान नदी-नालों के किनारे होता है अत एव इसकी संज्ञा 'पानीसाज' (नदीसर्ज ?) है। इसकी छाल भी हृद्य होती है[1]।

ऐसा प्रतीत होता है कि वाग्भट के काल में अर्जुन ककुभ के प्रतिनिधि के रूप में व्यवहृत होने लगा और दोनों स्वरूप एवं गुण-कर्म में समान होने के कारण पर्यायवाची बन गये। 'ककुभ' और 'नदीसर्ज' अर्जुन के पर्यायों में परिणत हो गया। ककुभ का अपभ्रंशरूप 'कौहा' या 'ककुभ' भी अर्जुन के लिए प्रयुक्त होने लगा।

हेन्स ने बुक-हैमिल्टन के भागलपुर (पूर्वी विहार) जिले के सर्वेक्षण की चर्चा करते हुए लिखा है कि "वह 'काहू' और 'अर्जुन' को भिन्न मानते थे। उनका कथन था कि अर्जुन स्वरूपतः काहू के अधिक निकट था अपेक्षाकृत असन (T. tomentosa) के और केवल जिले के दक्षिण-पूर्वी भाग में पाया जाता था।" किन्तु मैं इन दोनों नामों को एक ही वृक्ष के लिए मानता हूँ। तथापि मैंने अर्जुन और असन की संकर जातियों को देखा है जिनमें से कोई उनका 'काहू' हो सकता है[2]। मेरे विचार से बुक-हैम ने T. myriocrpa का ही उल्लेख काहू के रूप में किया है जो अर्जुन से अधिक साम्य रखता है तथा उस क्षेत्र में होता भी है।

डल्हण ने अर्जुन को सर्वत्र 'ककुभ' लिखा है केवल क्षारागद-प्रकरण में जहाँ दोनों पठित हैं, अर्जुन को स्वनामप्रसिद्ध वृक्षविशेष कहा है। इससे दोनों की

१. W. I., X, 179–181

२. Haines :—B. B. O., Vol. I, Introduction. p. 73

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

भिन्नता पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। उस समय तक अर्जुन और ककुभ एक हो चुके थे अतः यह संभव भी नहीं था। इसी प्रकार ककुभ की व्याख्या में अर्जुन लिखा है तथा अधिकांश स्थलों पर ककुभ को 'सुगन्धिमूल विटपविशेष' कहा है। आर्त्तगल को भी डल्हण ने प्रायः ककुभ माना है और वहाँ भी ऐसा ही परिचय दिया है। साथ ही यह कहा है कि यह 'कौहा' नाम से पूर्व देश में प्रसिद्ध है। इस विटपविशेष से डल्हण का क्या अभिप्राय था स्पष्ट नहीं होता किन्तु इतना निश्चित है कि यह द्रव्यविशेष अर्जुन से भिन्न है। इसका आकार भी वृक्ष न होकर गुल्मवत् है। यह भी स्पष्ट है कि ककुभ का वर्णन करते समय :आर्त्तगल डल्हण के ध्यान में था। इस प्रकार डल्हण की दृष्टि में 'ककुभ' अर्जुन का पर्याय तो था ही, आर्त्तगल का भी पर्य्याय था जो एक अन्य विटपविशेष है। इसके लिए आर्त्तगल पर विचार करना होगा।

आर्त्तगल चरक में नहीं है, यह सुश्रुत की देन है। आर्त्तगल सुश्रुत के वरुणादि गण वातसंशमन वर्ग में पठित है। इसका प्रयोग वातिक अश्मरी, वातिक नेत्ररोग, वातिक स्वरभेद में विहित है।

आर्त्तगल का शाक नेत्ररोग में प्रशस्त माना गया है (सु. उ. १७।५१)। वाग्भट ने इसके लिए 'रुजाकर' पर्याय किया है। इसके अतिरिक्त, आर्त्तगल को कासहर, कण्ठ्य कहा है तथा अन्य ओषधियों के साथ लेप वातिक विसर्प में बतलाया है। सारांशतः आर्त्तगल विशिष्ट वातशामक द्रव्य है।

डल्हण ने आर्त्तगल से प्रायः ककुभ लिया है। इसके अतिरिक्त, जलयुक्त देश में उत्पन्न कण्टकफल और नीलसहचर भी कहा है। एकीय मत से कुरबक तथा कण्टकीवृक्ष का भी निर्देश किया है। इस प्रकार इस प्रसंग में निम्नांकित पाँच वनस्पतियों का उल्लेख किया है :—

१. ककुभ
२. कण्टकफल
३. नीलसहचर
४. कुरबक
५. कण्टकीवृक्ष

नील सहचर और कुरबक सैरेयक-भेद के रूप में प्रसिद्ध हैं। कण्टकी वृक्ष विकंकत है। बहिःकेशर कंटकितफल को ठा० बलवन्त सिंह Xanthium strumarium मानते हैं जो करोनी या करथुआ के नाम से ज्ञात है[१]। किन्तु ककुभ (सुगन्धितमूल विटपविशेष) जो डल्हण का विशेषरूप से अभिप्रेत था स्पष्ट नहीं है। स्पष्टतः यह छोटा विटप होना चाहिए जिसकी मूल सुगंधित हो, जिसका प्रयोग शाकार्थ होता हो तथा जो 'कौहा' नाम से प्रसिद्ध हो।

१. G. V. D.

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

Lactuca serriola Linn. काहू के नाम से प्रचलित है। इसकी अन्य प्रजाति L. indica Linn. भारत के पूर्वी प्रदेशों में होती है। यह शाकार्थ व्यवहृत होती है तथा इसमें वातशामक, कण्ठ्य एवं मूत्रल गुण भी होते हैं। इसके मूल में इन्यूलिन नामक द्रव्य होता है[1]। संभवतः डल्हणोक्त 'ककुभ' (कोहा) इन्हीं में से कोई हो।

अवगुत्थ

इसका वर्णन केवल सुश्रुसंहिता के शाकवर्ग में (सू. ४६) किया गया है। 'वेगनाम' भी इसका पर्याय दिया है। इसका वर्णन इस प्रकार है :—

'विदाहि बद्धविण्मूत्रं रूक्षं तीक्ष्णोष्णमेव च।
त्रिदोषं सार्षपं शाकं गाण्डीरं वेगनाम च॥'—(सु. सू. ४६।२३८)

अर्थात्—वेगनाम (अवगुत्थ) का शाक विदाही, मलमूत्ररोधक, रूक्ष, तीक्ष्ण, उष्ण तथा त्रिदोषकोपक होता है।

डल्हण ने इसकी व्याख्या में 'अवगुत्थं वेगनामा काकादनीत्यर्थः' लिखा है। इस प्रकार डल्हण के मत में यह काकादनी है।

मेरे विचार से यह डल्हणोक्त काकतिक्ता है जिसका विवरण शार्ङ्गेष्टा के प्रकरण में उसने दिया है :—

"काकतिक्ता गौरवर्त्तुलावगुण्ठितफला 'चिरपोटिका' इति प्रसिद्धा, 'भुरुदाका' इति पूर्वदेशे, (सु. सू. ३८।६)।

अन्यत्र इसे 'झझरुष इति पूर्वदेशे' (सु. सू. ३८।५४), 'भुंभुरुटा इति लोके' (सु. चि. ६।७), 'भुंभुरुडक इति लोके' (सु. चि. १२।६) 'भुंभुरुट्टाको वेष्टितफलः काकमाच्यनुकारः' (सु. चि. ३७।३६) कहा गया। इन सबका निष्कर्ष यह है कि काकतिक्ता काकमाची के समान वनस्पति है जिसके फल गोरवर्तुल तथा अवगुण्ठित (आच्छादित) होते हैं। चिरपोटिका, भुरुदाका, झझरुष, भुंभुरुटा, भुंभुरुडक आदि इसके क्षेत्रीय नाम हैं।

मेरे विचार से 'अवगुत्थ' शब्द 'अवगुण्ठितफला' का ही संक्षिप्त रूप है। इसके पौधे शीघ्रता से बढ़ने तथा शरीर पर इसकी आशु क्रिया होने के कारण 'वेगनाम' इसका पर्याय है। यह वनस्पति तिक्त होने के कारण तथा जंगलों में होने से काकों के द्वारा भक्षित होने के कारण इसे काकतिक्ता कहा गया।

यह Physalis minima Linn नामक वनस्पति है। इसका पौधा ४–१५ इञ्च ऊँचा होता है। पत्र—जालीदार, लट्वाकार, दन्तुर या खण्डितप्राय, लंबाग्र १–२½ इञ्च लम्बे होते हैं। पुष्प—छोटे, पीले रंग के, '२–'२५ इञ्च लम्बे-चौड़े होते हैं। फलित बाह्यदल प्रायः गोलाकार ¾–१ इञ्च लम्बा ५–१० पर्शुकायुक्त

---

१. W. I., VI, p. 12–16

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

होता है। अन्तर्दल के मूल पर भीतर की ओर प्रायः छोटे दाग होते हैं। फल ½ इञ्च व्यास के होते हैं। अगस्त से दिसम्बर तक इसमें पुष्प-फल लगते हैं। यह समस्त भारत में उष्ण कटिबन्धीय क्षेत्र में होता है।

अशोकरोहिणी

चरकसंहिता में अशोकरोहिणी संज्ञास्थापन महाकषाय में पठित है जब कि कटुका (शकुलादनी नाम से ?) भेदनीय महाकषाय में हैं। कुमारागार में बालक के वस्त्र-आस्तरण आदि के धूपनार्थ इसका प्रयोग गुग्गुलु, हिंगु आदि के साथ हुआ है। मदनफल–कल्प में एला, शतपुष्पा आदि द्रव्यों के साथ इसका प्रयोग है। सुश्रुत में यह त्रायमाणा के साथ तिक्तवर्ग में पठित है।

टीकाकारों में चक्रपाणि ने इसके सम्बन्ध में लिखा है—'अशोकरोहिणी अशोकसदृशपत्रा लता, कटुरोहिणी इत्यन्ये'। अर्थात्—'अशोकरोहिणी अशोकसदृश-पत्रवाली लता है। कुछ लोग इससे कुटकी लेते हैं'। डल्हण ने इससे कटुका लिया है। निघण्टुओं में भी सर्वत्र यह कुटकी का ही पर्याय है।

अधिकांश गन्धद्रव्यों के साथ प्रयोग होने से यह भ्रम होता है कि यह कुटकी से भिन्न कोई सगन्ध द्रव्य है।

अश्मन्तक

चरक में तीन शोधन क्षीरीवृक्षों में इसका पाठ है और वमन में इसका प्रयोग है। यद्यपि यह स्पष्ट नहीं लिखा कि अश्मन्तक के क्षीर का प्रयोग करते हैं, केवल 'वमनेऽश्मन्तकं विधात्' लिखा तथापि इसके क्षीर का प्रयोग निम्नांकित प्रमाणों से सिद्ध होता है :—

१. इसके साथ अन्य दो द्रव्यों (स्नुही और अर्क) के क्षीर का ही स्पष्ट उल्लेख है।
२. प्रकरण के उपसंहार में लिखा कि ये छ वृक्ष क्षीरत्वगाश्रय (तीन क्षीरी तथा तीन त्वगाश्रय) हैं—'षड् ये दिष्टपयस्त्वचः'।
३. अध्याय के अन्त में भी 'षड् ये क्षीरत्वगाश्रयाः' लिखा।

अतः अश्मन्तक क्षीरी वृक्ष है, इसमें सन्देह नहीं।

मूत्रसंग्रहणीय महाकषाय में अन्य क्षीरी वृक्षों के साथ पठित है। इसके अतिरिक्त, नाडीस्वेद, प्रमेह, शूल में अवगाहन, शिरोरोग में नस्य के लिए प्रयुक्त है। इसके पत्र अम्लवर्ग में तथा स्वयं अश्मन्तक कषायस्कन्ध में परिगणित है। उष्णवीर्य द्रव्यों में भी यह पठित है।

सुश्रुत में इसके वल्कल (सूत्र) से व्रण सीने का विधान है। क्षीरिवृक्षों के साथ कषायरस फलों में इसका वर्णन है। इसके फल कषाय, शीत; मधुर और

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कफवातहर कहे गये हैं। गर्भपात की स्थिति में जब रक्त रुक जाय और वेदना बनी हो तो अश्मन्तक, शतावरी और पयस्या से सिद्ध दुग्ध देने का विधान है। गर्भस्राव में उपयोगी मासानुमासिक योगों में भी अश्मन्तक है। इन द्रव्यों में विशेषतः मधुर-कषाय द्रव्य हैं। वातिक अश्मरी में भी इसका प्रयोग है। प्रमेह चिकित्सा में लिखा है कि धनी व्यक्ति आँवला, कपित्थ, तिन्दुक और अश्मन्तक के फल खाकर रहें। कर्णपालीरोग में इसके पत्रक्वाथ से सेचन का विधान है। इसके अतिरिक्त, यह विष, नेत्ररोग में प्रयुक्त है। इसके पत्र पुटपाक में लपेटने के लिए तथा इसकी लकड़ी खदिर के समान इन्धन के काम में आती थी।

उपर्युक्त विवरण से अश्मन्तक कषाय-मधुर, मूत्रसंग्रहणीय, कफवातहर तथा अश्मरीभेदन सिद्ध होता है। अश्मरीभेदन इसका प्रमुख कर्म प्रभावजन्य प्रतीत होता है और संभवतः इसके नामकरण (अश्मा = पत्थर, अन्तक = नाशक) का भी यही रहस्य है। इस विवरण में कहीं विप्रतिपत्ति या विरोधाभास नहीं मिलता।

टीकाकारों ने इस पर कुछ निश्चयात्मक विचार नहीं दिया। चक्रपाणि ने इसकी निम्न व्याख्या की है—

१. अश्मन्तको मालुयासदृशपत्रो वृक्षः—च. सू. १।११४

२. अश्मन्तकः अम्ललोटः—च. सू. ४।३३

डल्हण ने निम्नोक्त विचार दिये हैं :—

१. अश्मन्तकः अम्ललोटकसदृशो वृक्षः—सु. सू. २५।२०

२. अश्मन्तको यमलपत्रकः 'आसन्त' इति लोके—सु. सू. ४६।१६३

३. अश्मन्तकः कर्बुदाराकारः (कोमलपत्रो मधुरफलः—पा०)—सु. शा. १०।५७

४. अश्मन्तकः कोविदारसदृशोऽम्लपत्रः 'अम्ललोटक' इति लोके —सु. शा. १०।५९

५. अश्मन्तकोऽम्ललोटः कोविदारसदृशपत्रकः—सु. चि. ७।५

६. अश्मन्तको वृक्षोऽम्लोटकानुसारी—सु. क. ५।८५

चक्रपाणि के अनुसार यह मालुया (मालझन–Bauhinia vahlii W. & A.) के सदृशपत्र वाला वृक्ष है जिसे अम्ललोट कहते हैं। डल्हण ने इसे अम्ललोटक, आसन्त या अम्ललोटक सदृश वृक्ष कहा है। अम्ललोटक का परिचय देते हुए लिखते हैं कि यह कोविदार के सदृश, अम्ल पत्र वाला होता है। कोविदारसदृश पत्र काञ्चनारजाति (Bauhinia sp.) के वृक्षों में होते हैं। अम्ललोट या कठमहुली B. racemosa Lam. को कहते हैं। खट्टी पत्तियाँ B. malabarica Roxb. में होती हैं, उसे भी अमटी कहते हैं। किन्तु इसे मानने में निम्नांकित आपत्तियाँ हैं :—

१. यह क्षीरी नहीं है।

२. इसका फल भक्ष्य नहीं है जबकि अश्मन्तक फल धनी व्यक्तियों के लिए प्रमेह में विहित है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

३. वमन में भी इसका प्रयोग नहीं है।

मेरे विचार से अश्मन्तक कोई क्षीरी वृक्ष होना चाहिए जो वामक भी हो और जिसका फल भक्ष्य भी हो। ऐसा वृक्ष न्यग्रोधकुल का Ficus rumphii Blume है। इसे मारवाड़ में 'अष्ट' कहते भी हैं।

यह मध्यम प्रमाण का या बड़ा वृक्ष होता है। पत्र आयताकार, लट्वाकार, लम्बाग्र होते हैं। फल–अवृन्त, गोलाकार, ½ इञ्च व्यास के होते हैं जो एक साथ दो-दो निकलते हैं और पकने पर काले हो जाते हैं। देखने में यह वृक्ष अश्वत्थ के सदृश होता है किन्तु इसका पत्रवृन्त तथा पत्राग्र छोटा और पत्राधार संकीर्ण या गोलाकार होता है। यह हिमालय क्षेत्र में ५ हजार फीट की ऊँचाई तक पंजाब से लेकर आसाम, बंगाल तक तथा मध्य और दक्षिणभारत में भी होता है।

इससे पर्याप्त दूध निकलता है जो वामक होता है। यह क्रिमिघ्न भी है। इसकी त्वचा से सूत्र निकलते हैं और लकड़ी इंधन के काम आती है। इसके वृक्ष पर लाक्षा भी लगाई जाती है।

× × ×

वमनेऽश्मन्तकं विद्यात्, स्नुहीक्षीरं विरेचने।
क्षीरमर्कस्य विज्ञेयं वमने सविरेचने॥ —च. सू. १।११५
मूलकत्रिफलार्काणां वेणूनां वरुणस्य च।
अग्निमन्थस्य शिग्रोश्च पत्राण्यश्मन्तकस्य च।
जलेनोत्क्वाथ्य शूलार्त्तं स्वभ्यक्तमवगाहयेत्॥ —च. चि. १४।४५–४६
पाषाणभेदो वसुको वशिराश्मन्तकौ तथा।
... ...
भिनत्ति वातसंभूतामश्मरीं क्षिप्रमेव तु॥—सु. चि. ७।५–७

महाधनो वा (प्रमेही) श्यामाकनीवारवृत्तिरामलककपित्थतिन्दुकाश्मन्तकफलाहारो मृगैः सह वसेत्। —सु. चि. ११।१२

शिशोस्तु लिखितं वर्त्म स्रुतासृग्वाऽम्बुजन्मभिः।
धान्यश्मन्तकजम्बूत्थपत्रक्वाथेन सेचयेत्॥—अ. हृ. उ. ९।८८

अश्वगन्धा

जिससे अश्व के समान गन्ध निकले तथा जिसके सेवन से अश्व के समान गन्धन (उत्साह) हो वह अश्वगन्धा हैं। यह चरक के बृंहणीय और बल्य महाकषायों एवं मधुरस्कन्ध में पठित है।

अश्वगन्धा के मूल का प्रयोग होता है। बाजार में उपलब्ध द्रव्य वन्य द्रव्य से भिन्न होता है। इस आधार पर पहले कुछ विद्वान दोनों को भिन्न प्रजातियाँ मानते थे। वन्य वनस्पति को Withania somnifera तथा व्यवहार में प्रचलित पौधे को Withania aswagandha कहते थे। वामन गणेश देसाई ने इसका Convolvulus asgandha नाम डिमक के अनुसार लिखा है। किन्तु इधर

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

इस पर जो शोध हुये हैं उनसे यह प्रमाणित हुआ कि वनस्पति की प्रजाति Wlthania somnifera (Linn.) Dunal एक ही है, केवल देशगत भेद से इसके अनेक प्रकार (forms) मिलते हैं। ऐसे पाँच प्रकारों का विवरण दिया गया है[१]।

भारत में कुल जमा जितनी 'अश्वगन्धा' की खेती होती है उसका ९८ प्रतिशत अश्वगन्धा केवल मनासा गाँव में पैदा होती है। रही शेष दो प्रतिशत वह पाई जाती है मध्यप्रदेश के विदिशा जिले की 'गंज बासौदा' नामक बस्ती में। यह दो प्रतिशत भी नहीं के बराबर समझिये। वहाँ की सारी अश्वगन्धा भी मनासा से ही नियंत्रित होती है।

भारत का नक्शा लेकर आप उसे फैलाइए। जिला ढूँढिए जिसका नाम है मनसौर। इस जिले की एक तहसील का केन्द्र है मेरा गाँव मनासा। वैसे मेरी तहसील में कोई ३०० गाँव हैं। सवा लाख की आबादी वाली इस तहसील का लम्बा-चौड़ा क्षेत्रफल है पर यह अश्वगन्धा पैदा कितने हिस्से में होती है ? दक्षिण की ओर केवल सात मील के अर्द्धवृत्त के भीतर-भीतर इने-गिने गाँवों में अश्वगन्धा पैदा होती है।

१९७४ में केवल ढाई हजार क्विण्टल अश्वगन्धा पैदा हुई। आप दो प्रतिशत गंज बासौदा को भी मिला लीजियेगा। याने सब मिला कर सारे भारत का तीन हजार क्विण्टल। गए कुछ सालों से इसका भाव बराबर बढ़ता जा रहा है। दो साल पहले यह कोई दो सौ से तीन सौ रुपये प्रति क्विण्टल तक गई। गये साल यह पाँच सौ से छः सौ रुपये क्विण्टल तक तुली। १९७४ में इसका भाव आया एक हजार रुपया क्विन्टल और १९७५ में इससे भी ज्यादह। मनासा के इतिहास में गए कुछ साल निकले जब कि अश्वगन्धा की चोरियाँ हुईं और इसके खेत के लिए खड़ी फसल पर झगड़ा हुआ। वरना इस फसल को कोई छूता नहीं था।

अश्वगन्धा एक खरीफ की फसल है। पर यह फसल न सियालू है न उन्हालू। वह हमेशा आलसी किसान की फसल रही है। जो किसान खेती से ही जी चुराए वह अश्वगन्धा बोता है। न कोई पशु खाता है, न कोई पक्षी। किसी रखवाली की आवश्यकता नहीं पड़ती, कोई जरूरत नहीं है इसे किसी खाद या पानी की। हुई की नहीं आलसियों की खेती। सावन की अमावस्या से लेकर भादों की अमावस्या तक बीच के दिनों में यह फसल बो दी जाती है। जन्माष्टमी के बाद तक किसान इसको बोता है। अत्यधिक बरसात इस फसल के दुश्मन है। बीज बह जाये और खेत साफ। इसका बीज फूंका जाता है। वहुत हल्का बीज होता है फसल का।

१. C. K. Atal et al : Pharmacognosy and Phytochemistry of Withania Somnifera (Linn.) Dunal (Aswagandha), C. C. R. I. M. H., New Delhi. 1975.

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

आप लाल मिर्च को मसल लीजियेगा । उसमें जो बीज निकलता है करीब-करीब वैसा ही बीज । खेत में बीज हाथों से फेंक दिए जाते हैं, जिसे 'फूंकना' कहते हैं । बारिश में फिर टिकेगा ही कहाँ ?

आसोज (आश्विन) महीने तक किसान यदि पाता है कि अश्वगन्धा के पौधे ठीक उग आये हैं जिसे कहा जाता है कि असगन्ध ठीक 'मँड' गई तो फिर उसको रहने देगा । वरना वह खेत नए सिरे से हल डाल कर रबी की फसल बो देगा । अश्वगन्धा का पौधा बहुत छोटा होता है । अमूमन एक फुट से ऊँचा नहीं उठता । पर अश्वगन्धा पत्तियों के ऊपर लगने वाली फसल नहीं है । यह जमीन के भीतर पैदा होती है । ठीक मूली की तरह । जितना लम्बा पौधा ऊपर होगा करीब-करीब उतनी ही गहरी यह नीचे भी बैठ जाती है । याने जिसे आप अश्वगन्धा कहते हैं वह जमीन के नीचे नौ इंच से लेकर एक फुट तक जड़ जैसी होती है । अश्वगन्धा की सबसे बड़ी खाद है कड़क सर्दियाँ । जिस समय मेरे गाँव के आसपास की सारी फसलें शीत दाह से जल जाती हैं उस समय भी अश्वगन्धा का किसान खुश रहता है । उतरते माघ के आसपास इस फसल को उखाड़ लिया जाता है । यदि कहीं यह कम्बखत खलिहान में पड़ी हो और बादल आ जाय या मावठा हो जाए तो फिर अश्वगन्धा की सम्हाल पूरी करनी होगी । पानी इसका दुश्मन है ।

उखाड़ने के बाद अश्वगन्धा के पत्ते काट कर अलग फेंक दिये जाते हैं । पत्ते के ठीक नीचे से जो तना शुरू होता है वहाँ से आधे तने तक का टुकड़ा बेहद अच्छी अश्वगन्धा माना जाता है । पूरी जड़ को चार टुकड़ों में काट लेते हैं । 'श्रेष्ठ', 'अच्छी', 'ठीक' और 'बेकार' । काटने के बाद एक मजदूर इसको मोटी लाठी से कूटता है । फिर इसको हवा में उफन लेते हैं । उफनाई के बाद अलग-अलग क्वालिटी के माल को छाट लिया जाता है ।

इसकी गन्ध की विशेषता ही यह है कि आपको लगेगा अभी-अभी यहाँ से हजार-दस हजार घोड़े निकले हैं और अपनी गन्ध छोड़ गये हैं ।

सर्दियों में इसका पाक तैयार किया जाता है । मनासा और आसपास के लोग, प्रौढ़ तथा बूढ़े इसका सेवन अक्सर करते हैं । जिस तरह गोंद और केसर या सुपारी का पाक बनता है उसी तरह अश्वगन्धा का भी पाक तैयार करके कमजोर पुरुषों को खिलाया जाता है । कहा जाता है कि यह पाक या यह दवा औरतों को नहीं दी जाती है । इधर के साधनहीन और गरीब लोग जब अश्वगन्धा को खाना चाहते हैं तो किसी भी दुकान से इसके दो चार टुकड़े माँग लेते हैं और उसको पीस कर कपड़े से छान कर उस सूखी पाउडर को फाँक लेते हैं, मर्द की काठी मजबूत रहती है । एक बीघा में एक सूखी सट्ट आधा क्विण्टल बैठ जाती है । याने एक एकड़ में एक क्विण्टल के कुछ ही ज्यादा[1] ।

---

१. बालकवि वैरागी : नई दुनियाँ, १० नवम्बर, १९७७

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

अश्वबला

इसे अरबी में फिसफिसत और फारसी में इस्फिशत कहते हैं। इसीसे "हिस्फित्थ" शब्द यहाँ भी प्रचलित हुआ[1]। इसका मूलस्थान काकेसस के दक्षिण अनातोलिया, फारस, अफगानिस्तान, बलूचिस्तान आदि है। संभवतः एशिया माइनर से इसका विशेष रूप से प्रारम्भ हुआ यद्यपि भारत में भी पश्चिमोत्तर प्रदेश में होता है। ग्रीक इसे मेडिकाई और रोमन मेडिका कहते थे क्योंकि यह उस समय मीडिया से लाया गया था। चूँकि चरकसंहिता में इसका उल्लेख केवल एक स्थान पर दिव्य औषधियों के प्रकरण में हुआ है इससे प्रतीत होता है कि यद्यपि उस काल में यह ओषधि ज्ञात थी तथापि यह सुलभ न थी[2]। संभवतः इसका कारण सुदूर देश या देश में भी दुर्गम स्थान में होना था। सुश्रुत में तीन स्थलों पर इसका उल्लेख है[3]। दो स्थलों पर चिकित्सा के प्रसंग में और एक स्थल शाकवर्ग में है जहाँ अश्वबला के शाक का विधान है। इससे उस काल में इसके विकसित प्रचार की सूचना मिलती है। संभवतः इस देश में इसका प्रचार-प्रसार मध्यकाल के प्रारम्भिक भाग में हुआ। सुश्रुत के टीकाकार ब्रह्मदेव (११वी शती) और डल्हण (१२वीं शती) ने इसे तुरुष्क देश में होनेवाला लिखा है[4]।

अश्वमूत्री

इसका केवल एक बार सुश्रुत में उल्लेख हुआ है। वातज शूल में विडंग, शिग्रु आदि के साथ इसका प्रयोग है। (सु. उ. ४२।६४)

डल्हण ने इसका अर्थ 'शल्लकी' किया है। निघण्टुओं में शल्लकी कषाय-शीत तथा कफपित्तशामक कही गई है अतः वातिक विकार में उसका प्रयोग उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। अतएव अधिक संभावना है कि अश्वमूत्री कोई भिन्न द्रव्य हो।

---

१. अश्वबला तुरुष्कदेशे बृहत्पत्रा मेथिकाभेद एव हिस्फित्थ इति लोके।
—डल्हण (सु. सू. ४६, शाकवर्ग, ४६)

अश्वबला हिस्फित्थो मेथिकाभेदः—ड० (सु. चि. ६।५)

२. नारी नामौषधिः "अश्वबला इति विज्ञायते या बल्वजसदृशपत्रा।"
—(च. चि. १।४।७)

"अश्वबलेति ज्ञायत इति ऋषिभिरेवानेन नाम्ना ज्ञायते, न लौकिकैः, लोकाप्रसिद्धत्वात्॥"—चक्र०

३. सु. सू. ४६।२५६, २६१, चि. ११।१२, ६।८

४. "ब्रह्मदेवस्तु अश्वबला यवनभूमौ मेथिकाकारबीजा भवतीत्याह।"
—ड० (सु. चि. ११।८३)

देखें—गोडे : स्टडीज इन इण्डियन कल्चरल हिस्ट्री, भाग १, पृ. ३८४–४०९
वैद्य बापालाल : अश्वबला और मेथी, यादव-स्मृतिग्रन्थ, उत्तरार्द्ध, पृ. १०८–११४

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

अश्वशकृत्

क्रिमिरोग की चिकित्सा में अश्वकृत् का चूर्ण मधु के साथ मिला कर देने का विधान है। चरकसंहिता में इसका विधान विशद रूप से दिया गया है (वि. ७।२२)। डल्हण ने इसका अर्थ 'घोटकपुरीष' किया है अर्थात् घोड़े की लीद। किन्तु ध्यान देने की बात है कि इस प्रकरण में आगे और पीछे सर्वत्र वानस्पतिक द्रव्यों का वर्णन है अतः यह भी कोई वनस्पति होनी चाहिए। दूसरे, इसके विधान में अनेक बार ओखल और पत्थर पर पीस कर सूक्ष्म चूर्ण करने का निर्देश है। इससे भी प्रतीत होता है कि यह कोई काष्ठीय द्रव्य है जिसका चूर्ण सरलता से नहीं होता। घोड़े की लीद में इतने कूटपीस की क्या आवश्यकता है?

मेरे विचार से यह वनस्पति Vitis tomentosa Heyne है जिसे आदिवासी 'घोड़ा लिदी' कहते हैं। इसी शब्द का संस्कृत रूपान्तर है 'अश्वशकृत्'।

घोड़ा लिदी की विस्तृत आरोहिणी रोमश लता होती है जिसके फल बड़े, वृत्ताकार, गहरे हृद्वत्, प्रायः १० इंच लंबे-चौड़े, तथा ३–५ खण्डयुक्त होते हैं। पुष्प–अवृन्त, रक्तवर्ण, लगभग १ इंच लंबे पुष्पदण्ड पर लगी मञ्जरियों में होते हैं जो ३–६ इंच लंबी काष्ठीय शाखा पर एक तन्तु के साथ लगे होते हैं। फल–३ इंच व्यास के, काले रंग के होते हैं। पुष्प–जुलाई-सितंबर तथा फल उसके बाद नवम्बर तक लगते हैं। प्रायः गर्मियों में यह पौधा सूख जाता है। यह पश्चिमी भारत में विशेष मिलता है।

अश्वावरोहिका

चरकसंहिता में केवल एक स्थल पर इसका उल्लेख है। बस्ति के अतियोग में इसका प्रयोग है (च. सि. १०।३५)। चक्रपाणि ने इससे अश्वगन्धा, अश्वकर्ण या इक्षुरक लिया है किन्तु जतूकर्ण के अनुसार अश्वकर्ण ही उपयुक्त है[1]। निघण्टुओं में अश्वावरोहक अश्वगन्धा का पर्याय है।

अष्टवर्ग–जीवनीयगण

बृहत्त्रयी में अष्टवर्ग नहीं है। चरकसंहिता में जीवनीय महाकषाय है जिसमें दस द्रव्य हैं और जीवन पञ्चमूल है जिसमें पाँच द्रव्य हैं। इस जीवनीय महाकषाय में जीवक-ऋषभक, काकोली-क्षीरकाकोली, मेदा-महामेदा, मुद्गपर्णी-माषपर्णी, जीवन्ती और मधुक हैं तथा जीवनपञ्चमूल में जीवक-ऋषभक, मेदा-जीवन्ती और शतावरी हैं। ध्यान देने की बात है कि जीवनीय महाकषाय में ऋद्धि-वृद्धि नहीं होने के कारण अष्टवर्ग के छः ही द्रव्य हैं जब कि जीवनपञ्चमूल में चार द्रव्य हैं। सुश्रुतोक्त

१. अश्वारोहिका अश्वगन्धा, अश्वकर्णं इक्षुरको ऽवा; जतूकर्णदर्शनात्तु अश्वावरोहकः अश्वकर्णः।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

काकोल्यादि गण में ऋद्धि-वृद्धि का समावेश होने के कारण अष्टवर्ग के आठों द्रव्य हैं। शार्ङ्गधर ने अष्टवर्ग के अतिरिक्त चरकोक्त जीवनीय गण का विवरण दिया है जब कि भावमिश्र ने अष्टवर्ग में ही चरकोक्त जीवनीय महाकषाय के अवशिष्ट द्रव्यों को मिला कर जीवनीय गण निर्धारित किया। या यह कह सकते हैं कि जीवनीय महाकषाय में ऋद्धि और वृद्धि मिला कर उसमें अष्टवर्ग के सभी घटक पूरे कर दिये।

पर्यायरत्नमाला तथा कैयदेवनिघण्टु ने अष्टवर्ग की दो परंपराओं का उल्लेख किया है—एक में जीवकद्वय, काकोलीद्वय तथा मेदाद्वय के अतिरिक्त ऋद्धि-वृद्धि तथा दूसरे में जीवन्ती और मधुक है।

ऐसा प्रतीत होता है कि अष्टवर्ग चरकोक्त जीवनीय महाकषाय पर आधारित होने के कारण अनेक क्रमिक अवस्थाओं से गुजरा है :—

१. अष्टवर्ग के प्रथम छः द्रव्यों के बाद सभी संहिताओं में मुद्गपर्णी और माषपर्णी का स्थान है। अतः प्रथम अष्टवर्ग इन्हीं आठ से बना होगा।
२. द्वितीय अवस्था में मुद्गपर्णी एवं माषपर्णी के स्थान पर जीवन्ती और मधुक ले लिये गये जिसका निर्देश पर्यायरत्नमाला तथा कैयदेवनिघण्टु में मिलता है।
३. तृतीय अवस्था में जीवन्ती और मधुक को हटाकर, ऋद्धि-वृद्धि ने स्थान अधिकृत किया। यही अष्टवर्ग अद्यावधि प्रचलित है। इसके निर्धारण में सुश्रुतोक्त काकोल्यादि गण का आधार मिला होगा जिसमें ऋद्धि-वृद्धि का समावेश किया गया है।

भावमिश्र ने जीवनीय गण में अष्टवर्ग तथा जीवनीय महाकषाय दोनों का समन्वय कर दिया।

अष्टवर्ग के द्रव्यों की वानस्पतिक पहचान सन्देहास्पद रही है। वैद्यगण जो कन्द बाजार में उपलब्ध होते हैं उन्हीं को व्यवहार में लाते हैं। प्रवुद्ध जन उनके स्थान पर प्रतिनिधि द्रव्यों का प्रयोग करना अधिक उपयुक्त मानते हैं। भावमिश्र ने लिखा है कि मेदाद्वय, जीवकद्वय, काकोलीद्वय तथा ऋद्धिद्वय के स्थान पर क्रमशः शतावरी, विदारी, अश्वगन्धा तथा वाराही का प्रयोग करे।

फिर भी अष्टवर्ग के द्रव्यों का निर्धारण एक समस्या रही है और उस पर निरन्तर विचार-विमर्श होते रहे हैं। अखिल भारतवर्षीय वैद्यसम्मेलन के मंच पर संभाषा का यह महत्त्वपूर्ण विषय रहा है। रूपलाल वैश्य के सचित्र बूटीदर्पण में तत्कालीन विद्वानों के विचार देखने को मिलते हैं। अनेक चित्र भी अष्टवर्ग के द्रव्यों के दिये गये हैं। इधर मायाराम उनिन्याल तथा रूपकुमार इस्सर का एक सचित्र लेख सचित्र आयुर्वेद में प्रकाशित हुआ था।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

संप्रति वानस्पतिक दृष्टि से अष्टवर्ग के द्रव्यों का निर्धारण निम्नांकित रूप से किया जाता है :—

१. जीवकद्वय—Mictostylis sp.
२. काकोलीद्वय—Roscoea sp.
३. मेदाद्वय—Polygonatum sp.
४. ऋद्धिद्वय—Habenaria sp.

आक्षिकीफल

चरकसंहिता के फलवर्ग (सूत्र. २७।१६३) में आक्षिकीफल का वर्णन है। इसके अनुसार यह अम्लरस, वातल तथा पित्तश्लेष्मघ्न है :—

'पित्तश्लेष्मघ्नमम्लं च वातलं चाक्षिकीफलम्'।

बिभीतक का वर्णन इससे पृथक् है (सू. २७।१४८) अतः अक्ष बिभीतक का पर्याय मान कर इससे बिभीतक का सम्बन्ध जोड़ना निराधार है। दूसरी बात यह है कि बिभीतक का पर्याय 'अक्ष' है, 'अक्षक' नहीं। अतः 'अक्ष' से यदि तात्पर्य होता तो 'आक्ष' या 'आक्षी' बनता, आक्षिक या आक्षिकी नहीं। यथा सुश्रुत ने आक्षिकफल के गुणों का वर्णन करने के बाद आक्ष (बिभीतक) फलों का वर्णन किया। इस प्रकार मद्यवर्ग में जो आक्षिकी सुरा (च. सू. २७।१८६, सु. सू. ४५।१७९) तथा आक्षिक सीधु (सु. सू. ४५।१८६) का वर्णन है वह आक्षिकी-फलकृत ही है यद्यपि डल्हण और शिवदास सेन ने इसका अर्थ 'बिभीतककृत' किया है। सुश्रुत ने आक्षिक (आक्षिकीफल) को करीर, पीलु तथा तृणशून्य के फल के समान मधुर-तिक्त-कटु, उष्णवीर्य तथा कफवातहर कहा है :—

करीराक्षिकपीलूनि तृणशून्यफलानि च।
स्वादुतिक्तकटूष्णानि कफवातहराणि च॥ —सु. सू. ४६।१९४

वाग्भट ने लूतादिविषप्रतिषेध (अ. हृ. उ. ३७।७०) में अश्वत्थ, श्लेष्मातक तथा आक्षिक के लेप का विधान किया है।

चक्रपाणि ने इसका परिचय देते हुये लिखा है—आक्षिकी लता तस्याः फलम्। डल्हण ने 'आक्षिकमक्षिकीफलम्' कहा है।

इन उद्धरणों के अतिरिक्त आक्षिकी के सम्बन्ध में कोई सूचना नहीं मिलती।

ध्वनिसाम्य के आधार पर निम्नांकित द्रव्यों की ओर आक्षिकी होने का संकेत किया गया है[1] :—

१. Morinda coreia Buch-Ham. (Syn. M. tinctoria Roxb) इसे हिन्दी में आछी, आछू या आल कहते हैं। इसका छोटा या मध्यमाकार वृक्ष प्रायः समस्त भारत के शुष्क वनों में पाया जाता है। पत्तियाँ चौड़ी अण्डाकार, चमकीली हरी, चिकनी होती है। पुष्प श्वेत सुगंधित, सघन अण्डाकार शीर्षों में

१. G. V. D.

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

३. अक्षिकी ?

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

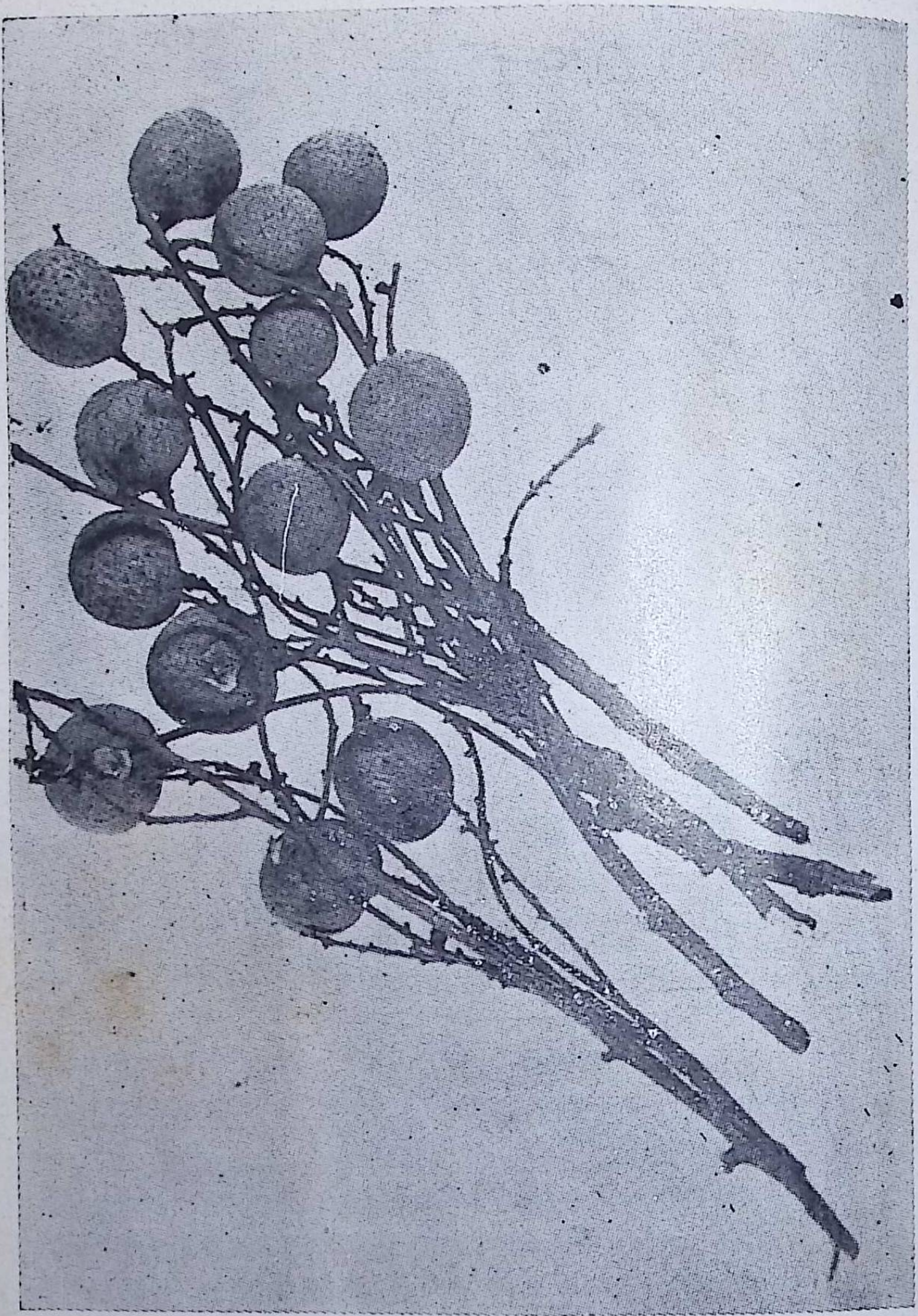

४. अक्षिकी ?

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

होते हैं। फल अण्डाकार या गोलाकार, लगभग २ से. मी. व्यास के होते हैं। फल खाये जाते हैं। इसकी जड़ से एक रंग निकलता है जो कपड़ा रंगने के काम में पहले आता था। रसरत्नसमुच्चय (१०।८८) में रक्तवर्ग में जो 'अक्षी' है, वह यही प्रतीत होता है।

२. Alangium begonifolium Harms—इसे हिन्दी में अखनी कहते हैं। इसका छोटा वृक्ष अनेक प्रसरणशील लम्बी शाखाओं से युक्त होता है। पत्तियाँ लट्वाकार, अखण्ड तथा बड़े खण्डों से युक्त, ४–८ इञ्च लम्बी होतीं है। पुष्प–पीताभ, २–३ इञ्च लम्बी मंजरियों में होते हैं। फल–चौड़े अण्डाकार, ३ इञ्च लम्बे होते हैं।

इनके अतिरिक्त, दो अन्य द्रव्यों की ओर भी मेरा ध्यान जाता है :—

३. Euphoria longan Steud. (Sapindaceae)—इसे बंगाली में आशफल तथा आसाम में नागलीची कहते हैं। इसका मध्यमाकार वृक्ष सुन्दर, सदाहरित, ३०–४० फीट ऊँचा होता है। पत्र–पक्षवत् , पत्रक नवीनावस्था में अरुणवर्ण होते हैं। फल–लीची के समान, गोलाकार, ·५–१ इञ्च व्यास के, पीताभ रक्त या बैंगनी रंग के होते हैं। ऊपर का छिलका रुखड़ा और पतला होता है जिसके भीतर सरस फलमज्जा होती है। बीज गहरा भूरा होता है।

यह दक्षिण-पश्चिमी भारत का निवासी है और पश्चिमी घाट के जंगलों में ५ हजार फीट की ऊँचाई पर होता है। आसाम के जंगलों में भी पाया जाता है। बंगाल तथा अन्य प्रदेशों में इसकी खेती भी की जाती है। दक्षिणी चीन और मलयेशिया में यह महत्त्वपूर्ण फलवृक्ष माना जाता है।

इसमें मार्च-मई में पुष्प आते हैं तथा जून-सितम्बर में फल पक जाते हैं।

फल लीची से कुछ छोटा होता है। इसे ताजा या सुखा कर खाते हैं। लीची जितना यह मीठा नहीं होता। चीन में फल का प्रयोग ज्वर में तथा बल्य के रूप में करते हैं।

४. Dillenia pentagyna Roxb—इसे हिन्दी में अग्गई तथा असमिया में अक्षि कहते हैं। इसका बड़ा वृक्ष ३०–७० फीट ऊँचा तथा ८–१० फीट मोटा होता है। पत्तियाँ बड़ी २–३ फीट लम्बी और $\frac{1}{2}$–१ फुट चौड़ी होती हैं। पुष्प–पीले, सुगंधित, सवृन्त मूर्धज होते हैं। फल–नारंगी रंग के, $\frac{1}{2}$–$\frac{3}{4}$ व्यास के, सरस एवं स्वादु होते हैं।

मेरा झुकाव Euphoria longan को ही आक्षिकीफल मानने की ओर है क्योंकि फल के रूप में इसका प्रयोगक्षेत्र शेष तीनों की अपेक्षा अधिक विस्तृत है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

आखुपर्णिका-वृषपर्णिका

चरकसंहिता में आखुपर्णिका तथा वृषप(क)र्णिका क्रिमिघ्न महाकषाय में पठित हैं। सुश्रुत में ये दोनों शब्द नहीं हैं। इनके स्थान पर उन्दुरुकर्णिका सुरसादि गण में तथा अन्यत्र मूषिकपर्णी है[१]। चरकसंहिता में भी मूषिकपर्णी है[२]। किन्तु अधिकांश आखुपर्णी है[३]।

चरकसंहिता में क्रिमिघ्न महाकषाय में पठित होने से दोनों गुणकर्म में समान प्रतीत होते हैं। क्रिमिघ्न कर्म को देखते हुए चरक विमानस्थान (७ अ.) के क्रिमिघ्न प्रकरण में भी 'मूषिकपर्णी' (मूलकपर्णी नहीं) उचित पाठ होना चाहिए। इसके अतिरिक्त, शोथरोग में इसका उद्वर्त्तन विहित है। आखुपर्णी तिक्तप्राय क्रिमिघ्न निरूहबस्तियों में तथा स्तम्भन योगों में प्रयुक्त है। वृषकर्णिका वातपित्तोल्बण विसर्प में शीत आलेपन के रूप में भी विहित है।

वृष, उन्दुरु और आखु मूषिक के पर्याय हैं इस प्रकार वृषपर्णी, आखुपर्णी तथा उन्दुरुपर्णी मूषिकपर्णी के ही पर्याय हो जाते हैं किन्तु चरकसंहिता (सू. ४) में आखुपर्णिका तथा वृषपर्णिका एक साथ पठित होने के कारण दो भिन्न वनस्पतियाँ हैं। चक्रपाणि ने आखुपर्णी को मूषिकपर्णी तथा वृषपर्णी को उसका भेद माना है जो फञ्जिपत्रिका के नाम से प्रसिद्ध है[४]। वाग्भट ने सुश्रुतोक्त उन्दुरुकर्णिका के स्थान पर वृषकर्णी सुरसादि गण में पढ़ा है इससे वाग्भट की दृष्टि में दोनों पर्यायवाची सिद्ध होते हैं।

मूषिकपर्णी द्रवन्ती का पर्याय भी कहा गया है। चक्रपाणि ने भी इसका दन्ती या द्रवन्ती अर्थ किया है[५]। डल्हण ने एक स्थल पर उन्दुरुकर्णी से मूषाकर्णी लिया है और एकीय मत से दन्ती और द्रवन्ती का उल्लेख किया है तथा दूसरे स्थान पर मूषिकपर्णी से दन्ती या द्रवन्ती लिया है और एकीय मत से मूषिककर्णी नामक अन्य द्रव्य का निर्देश किया है[६]। इससे स्पष्ट है कि डल्हण की दृष्टि में मूषिकपर्णी नाम से तीन द्रव्य सामने थे दन्ती, द्रवन्ती और मूषाकर्णी।

---

१. सु. क. १।५८, उ. ५४।२७

२. च. चि. १२।७२

३. च. चि. ३०।१०७, सि. ३।६१; ४।१८, ८।९, १०।३२

४. आखुपर्णी मूषिकपर्णी, वृषपर्णी च तद्भेदः फञ्जिपत्रिका इति ख्याता (च. सू. ४।११)

५. मूषिकपर्णी पुत्रश्रेणी इति ख्याता (च. चि. १२।७२)
आखुपर्णी दन्ती (च. सि. ८।९)।

६ उन्दुरुकर्णिका मूषिककर्णिका 'उन्दुरी' इति लोके; उन्दुरकर्णी द्रवन्तीमाहुरन्ये, अपरे दन्तिनीमाहुः (सु. सू. ३८।१८)
मूषिकपर्णी द्रवन्ती, द्रव्यान्तरमित्यन्ये (सु. सू. १।५८)
मूषिकपर्णी दन्ती, अन्ये मूषिककर्णाख्यं द्रव्यान्तरमाहुः (सु. उ. ५४।२७)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

वस्तुतः द्रवन्ती को 'मूषिकाह्वया' कहा है, न कि मूषिकपर्णी। पुरीष का निर्हरण करने के कारण इसे 'मूषिका' कहा किन्तु भ्रमवश मूषिका के स्थान पर मूषिकपर्णी से सन्दिग्धता उत्पन्न हो गई। अमरकोष में इसके लिए 'वृषा' (मूषिका) पर्याय ठीक है किन्तु साथ-साथ मूषिकपर्णी देना भ्रामक है।

मूषाकर्णी के नाम से आजकल मुख्यतः दो द्रव्य प्रचलित हैं :—

१. Merremia emarginata (Burm. f.) Hallier. f.[1]—

२. Evolvulus nummularis Linn.

दूसरा द्रव्य बाहर से आया कहा जाता है अतः चरकोक्त वनस्पति नहीं हो सकता। अतः आखुपर्णिका के नाम से प्रथम वनस्पति तथा वृषपर्णिका नाम से Ipomoea maxima (Linn f.) G. Don. का ग्रहण करना चाहिए। ये दोनों वनस्पतियाँ 'मूषाकानी' के नाम से प्रसिद्ध हैं।

i. maxima की बहुवर्षायु वल्ली प्रायः समस्त भारत में नदी-नालों तथा तालाबों के किनारे पाई जाती है। इसके पत्र लट्वाकार-हृद्वत् , अखण्ड तथा तीक्ष्णाग्र; पुष्प–बड़े, फनेल की आकृति के, हलके बैंगनी, गुलाबी या सफेद होते हैं। इसका प्रायः शाक में प्रयोग होता है।

आदानी

सूतिकागार की रक्षा के निमित्त इसकी शाखायें घर के चारों ओर रखने का विधान है (च. शा. ८।४७)। केवल चरक में ही इसका उल्लेख मिलता है। चक्रपाणि ने इसे 'घोषकभेद' कहा है। पर्यायरत्नमाला में भी आदानी देवदाली का पर्याय है (प. र., १४३)। राजनिघण्टु में भी जीमूत के पर्यायों में 'आदानी' है[2] (रा. नि. १।२४४)। अतः 'आदानी' से देवदाली का ग्रहण करना चाहिए।

आदारी

सुश्रुतसंहिता (उ. ४४।१९) में 'आदारिबिम्बी' को डल्हण आदारी और बिम्बी दो द्रव्य मानते हैं तथा आदारी को 'वेल्लन्तरसदृशपुष्पा आलिरिति लोके' लिखते हैं। कात्तिककुण्ड इसे 'आदारिशिम्बी' पढ़ कर उसका अर्थ 'आउलिरिति प्रसिद्धा' करते हैं। वस्तुतः 'आदारिशिम्बी' एक ही पद है, दो नहीं। इसी का संक्षिप्त रूप 'आदारी' है। अभिधानरत्नमाला में इसका पर्याय 'खदिरवल्ली' दिया है[3]। इससे डल्हणकृत व्याख्या उपयुक्त प्रतीत होती है क्योंकि वेल्लन्तर, खदिर

१. इसका विवरण द्वितीय भाग में देखें।
२. 'वृत्तकोषा विषघ्नी च दाली लोमशपत्रिका'—में 'च दाली' के स्थान पर 'चादानी' पाठ होना चाहिए।
३. 'आहारी गुच्छपत्री स्याद् दार्वी खदिरवल्ल्यपि।'—अ. र. ४।९६

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

आदि एक ही उपकुल के हैं। 'वल्ली' से पता चलता है कि यह लताजाति की खदिरवत् वनस्पति है।

मेरे विचार से, यह Acacia pennata Willd. है जिसे आदिवासी 'अरार' कहते हैं जो 'आदारी' का अपभ्रंश प्रतीत होता है।

A. Pennata की विशाल काष्ठीय आरोहिणी लता होती है जिसकी प्रायः पञ्चकोणीय शाखाओं पर कोणों में छोटे काँटे पंक्तिबद्ध होते हैं। पुष्पव्यूह प्रायः ६ इञ्च लम्बा होता हैं। फली $\frac{3}{4}$–१ इंच चौड़ी, ५–७ इंच लम्बी, नई अवस्था में बैंगनी रंग की होती है जिसमें ८–१२ बीज होते हैं। यह मध्य एवं पूर्वी हिमालय में ५ हजार फीट की ऊँचाई तक, बिहार, महाराष्ट्र आदि में होता है।

आदित्यपर्णी–आदित्यवल्ली–सूर्यवल्ली–सुवर्चला–ब्रह्मसुवर्चला–तिलपर्णी

आदित्यपर्णी दिव्य ओषधियों में पठित है। चरक ने इसे 'सूर्यकान्ता' नाम दिया है तथा इसके सुनहले क्षीर एवं सूर्यमण्डलाकारपुष्प का उल्लेख किया है—'आदित्यपर्णी नामौषधिर्या 'सूर्यकान्ता' इति विज्ञायते सुवर्णक्षीरा सूर्यमण्डलाकार, पुष्पा च' (च. चि. १।५।७)। 'आदित्यवल्लीं' एक स्थल (च. चि. २६।२६८) पर आया है किन्तु चक्रपाणि इसे 'आदित्यपर्णी' पढ़ते हैं। अतः उसे आदित्यपर्णी ही समझना चाहिए।

सुश्रुतसंहिता (चि. ३०।५, २०, ३१) में भी इसका वर्णन सोमसमवीर्य महौषधियों में किया है। उसके अनुसार यह मूलिनी ओषधि रक्तवर्ण, कोमल पाँच पत्रों से युक्त तथा सदा सूर्य का अनुसरण करने वाली है :—

'मूलिनी पञ्चभिः पत्रैः सुरक्तांशुककोमलैः।
आदित्यपर्णिनी ज्ञेया सदादित्यानुवर्त्तिनी ॥

मूढगर्भप्रकरण (चि. १५।४३ में बलातैल के समान आदित्यपर्णी से भी तैल सिद्ध करने का विधान है।

चक्रपाणि ने आदित्यपर्णी को एकीय मत से देशविशेष में उत्पन्न सूर्यावर्त्त कहा है[1]। डल्हण ने भी इसे सूर्यावर्त्त कहा है।

ब्रह्मसुवर्चला का वर्णन भी दिव्यौषधियों के प्रकरण में हुआ है। चरक के अनुसार यह स्वर्णक्षीरिणी तथा कमलसदृशपत्रा है[2] (च. चि. १।५।७)। ब्राह्मरसायन (चि. १।१।५८) में तथा मेध्य रसायन द्रव्यों (ऐन्द्री, मत्स्याक्षक, ब्राह्मी, शंखपुष्पी आदि) के साथ इसका प्रयोग है (चि. १।३।२४)।

१. आदित्यपर्णी सूर्यावर्त्तमेव देशविशेषजातं केचिद् वर्णयन्ति।
२. ब्रह्मसुवर्चला नामौषधिर्या हिरण्यक्षीरा पुष्करसदृशपत्रा।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

सुश्रुत ने भी महौषधियों में इसका वर्णन किया है (चि. २०।५।२१।३०)। इसके अनुसार ब्रह्मसुवर्चला स्वर्णाभ, क्षीरिणी, कमलिनीसदृश ओषधि है जो जलीय प्रदेश में चारों ओर फैली रहती है[1]। विशेषतः यह देवसुन्द नामक तालाब तथा सिन्धु नदी के क्षेत्र में पाई जाती है[2]।

सुवर्चला का उल्लेख चरक ने मधुर-शीत शाकों (सू. २७।९९), प्रवाहिका के लिए हितकर शाकों (चि. १९।३२) तथा वस्तिव्यापत् (अतिसार) में (सि. ७।६१) किया है।

सुश्रुत ने शोधनकषाय (सू. ३७।१२), उत्सादन गण (सू. ३७।३०), तिक्त-वर्ग (सू. ४२।११), निम्बादि तैलयोनि द्रव्यों (सू. ४५।११५), तिक्तप्राय रक्त-पित्तहर शाकों (सू. ४६।२६२), लवणक्षारीय शाकों (सू. ४६।२७४), गर्भसंग में धारणार्थ (शा० १०।११), लणरोपण तैल (चि. २।८२), शोथहर प्रदेह (चि. २३।१२) में सुवर्चला का पाठ किया है।

चक्रपाणि ने सुवर्चला को सूर्यभक्तिका और एकीय मत से फप्पुक कहा है। एक स्थल पर सूर्यावर्त्त तथा अन्यत्र सुनिषण्णक भी कहा। अन्तिम स्थल में 'सुवर्चल' पाठ किया है।

डल्हण ने इससे सूर्यावर्त्त या सूर्यभक्ता लिया है, जिसे लोक में 'सौम्चली' कहते हैं। एकीय मत से मारिषसदृश दण्ड एवं आतंगलसदृश पत्र वाले लप्पस का उल्लेख किया है[3]। अन्यत्र सूर्यावर्त्तभेद लिया है। डल्हण ने सूर्यावर्त्त के मूल को शीतल तथा फल को उष्णवीर्य कहा है।

तिलपर्णी को चरक ने तिक्त, कटुविपाक, शीतवीर्य कहा है (सू. २७।९७)। अन्यत्र तिलपर्णी को उष्णवीर्य द्रव्यों में परिगणित किया है। (चि. ३।२६७)।

सुश्रुत ने इसे कफसंशमन वर्ग (सू. ३९।९), पिप्पल्यादि कटु-उष्ण शाकों (सू. ४६।२२१) तथा विषघ्न द्रव्यों (क. ६।१४) में लिखा है।

चक्रपाणि इससे हुलहुलिका या हुलहुल का ग्रहण करते हैं। डल्हण भी इससे हुलहुल या चोरक लेते हैं।

सूर्यवल्ली का उल्लेख सुवर्चला से पृथक् भिन्न मधुर शीतवीर्य तैलयोनि द्रव्यों में है (सु. सू. ४५।१२०)। इसका तैल शिरोविरेचन कहा गया है। (सु. चि. ३१।५)।

डल्हण सूर्यवल्ली से अर्कपुष्पी या पटोलसदृश वल्ली का ग्रहण करते हैं जिसके रस से मांस गल जाता है। कुछ लोग इससे सूर्यावर्त्तभेद लेते हैं।

---

१. कनकाभा जलान्तेषु सर्वतः परिसर्पति। सक्षीरा पद्मिनीप्रख्या देवी ब्रह्मसुवर्चला॥
२. देवसुन्दे ह्रदनदे तथा सिन्धौ महानदे। दृश्यते च जलान्तेषु मेध्या ब्रह्मसुवर्चला॥
३. सुवर्चला सूर्यावर्त्तः, केचित् मारिषसदृशदण्डमातंगलसदृशपत्रं लप्पसमाहुः। ड० (सु. सू. ४६।२६२)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

इस पर विद्वानों ने बहुत कुछ लिखा है। दिव्य ओषधियों में पठित आदित्यपर्णी तथा ब्रह्मसुवर्चला की पहचान करना संभव नहीं है। यह चक्रपाणि आदि के काल में भी अज्ञात ही थीं। सुवर्चला से प्रायः सूर्यावर्त्त या सूर्यभक्ता लेते हैं। एक स्थल पर डल्हण ने इससे 'सोंचली' का ग्रहण किया है। जो स्वरूप बतलाया गया है उसके अनुसार इसका पुष्प सूर्यमण्डल सदृश होना चाहिए तथा सूर्य की गति के अनुसार इसका पुष्प या पत्र घूमना चाहिए। सूर्यमुखी का पुष्प सूर्यमण्डलाकार होता है तथा वह सूर्य की ओर घूमता रहता है। हुलहुल की पत्ती भी सूर्य का अनुसरण करती है अतः लोग उसे भी सूर्यभक्ता कहते हैं और इस कारण सुवर्चला से उसका भी ग्रहण करते हैं। यह ध्यान देने की बात है कि सुवर्चला का पाठ दिव्यौषधियों में न कर विशेषतः उसका प्रयोग शाक के रूप में विहित है। इससे स्पष्ट है कि वह लोक में विशेष प्रचलित थी। सुश्रुत ने शाक प्रकरण में दो भिन्न वर्गों में सुवर्चला का उल्लेख किया है। डल्हण ने एक जगह सूर्यावर्त्त तथा दूसरी जगह सूर्यावर्त्त भेद लिया है। इससे स्पष्ट है कि वह दो प्रकार की सुवर्चला मानते थे। निघण्टुओं में भी दो प्रकार की सुवर्चला का वर्णन है। भावप्रकाश में एक सुवर्चला मधुर और शीत तथा दूसरी तिक्त-कषाय, कटु एवं उष्ण कही गई है। संभव है, द्वितीय प्रकार से उसका अभिप्राय हुलहुल से हो।

मेरे विचार से निम्नांकित रूप में इनका ग्रहण करना उचित होगा :—

१. सूर्यावर्त्त—सूरजमुखी[1] (Helianthus annuus Linn.)

२. सूर्यावर्त्तभेद—सोंचली (Malva rotundifolia Linn.)

३. तिलपर्णी—हुलहुल (श्वेत–Gynandropsis pentaphylla DC.
पीत–Cleome viscosa Linn.)

यह स्मरणीय है कि तिलपर्णी का वर्णन सुवर्चला से पृथक् किया गया है तथा इसके गुणकर्म भी भिन्न हैं। प्रायः सभी टीकाकार भी इसे हुलहुल मानने के पक्ष में हैं। हुलहुल का स्थानीय नाम 'तिलवन' भी इसकी ओर संकेत करता है।

सूर्यवल्ली से कुछ लोग सूर्यावर्त्तभेद लेते हैं किन्तु डल्हण के अनुसार इससे अर्कपुष्पी का ग्रहण करना चाहिए (देखें अर्कपुष्पी)।

आरुक

चरक ने फलवर्ग (सूत्र. २७।१३८) में आरुक का वर्णन किया है। अम्ल आरुक पित्तश्लेष्मप्रकोपी कहा गया है। सुश्रुत ने आरुक का पृथक् वर्णन फलवर्ग में

१. सूरजमुखी मेक्सिको और पेरु का मूल निवासी है। आईने-ए-अकबरी में 'आफताबी' नाम से इसका उल्लेख है। युरोप में यह १६वीं शती के अन्त में प्रविष्ट हुआ। भारत में प्राचीन काल में इसका अस्तित्व था या नहीं, कहना कठिन है तथापि वर्त्तमान काल में यह पर्याप्त प्रचलित है अतः इसका प्रयोग करने में कोई बाधा नहीं है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

१७. सूर्यमुखी

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

नहीं किया। संभवतः औत्तरापथिक फलों (वाताम आदि—सु. सू. ४६।१८७) के वर्णन में 'प्रभृति' से आरुक आदि का संकेत किया।

धन्वन्तरिनिघण्टु में चतुर्विध आरुक का उल्लेख है :—

'आरुकं वीरसेनं तु वीरं वीरारुकं तथा।
विद्याज्जातिविशेषेण तच्चतुर्विधमारुकम् ॥'

आचार्य यादवजी ने इन चारों के लिए निम्नांकित संभावना व्यक्त की है :—

१. आड़ू (Prunus persica)
२. आलूबुखारा (Prunus commumis)
३. आलुबालु-गिलास (Prunus carasus)
४. आलूचा (Prunus aloocha) —द्रव्यगुणविज्ञान, भाग २, पृ. १६४

आरुक से सामान्यतः आलूबुखारा (Prunus domestica Linn.) लेना चाहिए।

आर्द्रिका-शृङ्गबेरिका

आर्द्रिका और शृङ्गबेरिका सुश्रुत में नहीं हैं। अष्टांगहृदय में आर्द्रिका कुठेरादि हरित शाकों में पठित है (सू. ६।१०९)। इसके अतिरिक्त, यह दीपन-रोचन कर्मों के लिए व्यवहृत हुई है (चि. ७।१५, ८।८२)। पिछले दोनों संदर्भों में यह आर्द्रक के साथ आया है। इससे पता चलता है कि यह आर्द्रक की ही जाति की वनस्पति है। इसके कन्द तथा किसलय दोनों का प्रयोग विहित है।

चरकसंहिता के शाकप्रकरण में हरितवर्ग के अन्तर्गत (सू. २७।१७१) शृङ्गबेरिका का पाठ तुम्बुरु, जलपिप्पली आदि के साथ है। यह तीक्ष्ण, उष्ण, कटु, रूक्ष तथा कफवातहर कहा गया है।

कुछ लोग आर्द्रिका को हरी धनिया मानते हैं[1] किन्तु उपर्युक्त प्रसंगों के आधार पर वह शृङ्गबेर (आर्द्रक) जाति की वनस्पति प्रतीत होती है। चक्रपाणि ने इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है :—

शृङ्गबेरी गोजिह्विका, किं वा आर्द्रकाकृतिः शृङ्गबेरी यदुक्तम्—"शृङ्गबेर वदाकृत्या शृङ्गबेरीति भाषिता। कुस्तुम्बुरुसमाकृत्या तुम्बुरूणि वदन्ति च ॥' सिद्धमन्त्र की व्याख्या में वोपदेव ने भी यही श्लोक उद्धृत किया है।

तदनुसार आर्द्रिका और शृङ्गबेरिका को पर्याय मानना चाहिए और इससे वन-अदरख (अदरखी) (Zingiber cassumunar Roxb.) का ग्रहण करना चाहिए।

---

१. आर्द्रिका आर्द्रधनिका—(अरुणदत्त)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

आलुक-भेद

प्राचीन संहिताओं में शाकवर्ग में 'आलुक' का उल्लेख मिलता है। यह आधुनिक 'आलू' से भिन्न किन्तु प्रायः तत्सदृश कन्द है। वस्तुतः पोटेटो जब १६वीं शती में भारत में आया तब शकरकन्द (बटाटा) के सदृश पाकर बम्बई-वासियों ने उसे 'बटाटा' कहना प्रारम्भ किया और शेष प्रदेशों में प्राचीन 'आलुक' के समान कन्द होने के कारण वह 'आलू' के रूप में प्रसिद्ध हुआ।

चरक में आलुक कन्दशाकों में अहिततम माना गया है[1]। आलुक के भेदों का उसमें कोई उल्लेख नहीं मिलता। सुश्रुतसंहिता में आलुक के अनेक भेदों यथा पिण्डालुक, मध्वालुक, हस्त्यालुक, काष्ठालुक, शंखालुक और रक्तालुक का उल्लेख प्राप्त होता है[2]।

चक्रपाणि और डल्हण ने इस पर अत्यन्त संक्षिप्त टिप्पणी दी है जिससे इसके स्वरूप पर विशेष प्रकाश नहीं पड़ता।

वानस्पतिक दृष्टि से आलुक वाराहीकुल की प्रजातियाँ (Dioscorea species) हैं। गृष्टि तो Dioscorea deltoidea Wall. है जिसे पंजाब और कश्मीर में 'क्रिस' कहते हैं। 'क्रिस' गृष्टि का ही अपभ्रंश है। सुश्रुतोक्त आलुकभेदों का वानस्पतिक स्वरूप निम्नांकित हो सकता है :—

१. मध्वालुक—यह रोमश एवं मधुर होता है[3]। यह Discorea esculanta Burkill. है जिसे लोकभाषा में सुथनी कहते हैं।
२. पिण्डालुक—चक्रपाणि[4] एवं डल्हण[5] की व्याख्या से प्रतीत होता है कि यह अत्यन्त प्रचलित कन्द था। यह सुथनी का ही गोल रूप है।
३. काष्ठालुक—इसे लोकभाषा में 'कठालू' कहत हैं। यह D. alata Linn. है। इसके विभिन्न आकृतियों के कन्द होते हैं।
४. हस्त्यालुक—यह काष्ठालुक के सदृश किन्तु आकृति में बड़ा कन्द होता है[6]। यह D. hispida Dennst. हो सकता है। कभी-कभी इसका कन्द ३५ कि. वजन तक का मिलता है।
५. शंखालुक—इसका कन्द शंख के सदृश श्वेत होता है। यह D. glabra Roxb. हो सकता है। इसका कन्द काटने पर बिलकुल श्वेत होता है।

---

१. च. सू. २५।३९
२. सु. सू. ४६।२९८
३. मध्वालुकं रोमशं मधुरास्वादमेव। ड. (सु. सू. ४६।२९८)
४. आलुकानि पिण्डालुकादीनि। चक्र. (च. सू. २७।९९)
५. कशेरुकपिण्डालुकौ प्रसिद्धौ। ड. (वही)
६. हस्त्यालुकं महत् काष्ठालुकमित्येके। ड. (वही)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

६. रक्तालुक—यह रतालू के नाम से प्रसिद्ध है क्योंकि यह देखने में बैंगनी या रक्ताभ होता है। यह D. bulbifera Linn. हो सकता है। वाराही कन्द इसीको मानते हैं। इसे 'सुअरालु' भी कहते हैं।

राजनिघण्टु[1] में अनेक अतिरिक्त आलुकभेदों का वर्णन है यथा मुखालु, कासालु, फोण्डालु, पानीयालु, नीलालु, शुभ्रालु। मुखालु को महाकन्द और शुभ्रालु को महिषीकन्द भी कहा है। मुखालु हस्त्यालुक तथा शुभ्रालु शंखालुक हो सकता है। कासालु D. puber Blume है जो 'कसालू' के नाम से प्रसिद्ध है। नीलालु D. prazeri Prain and Burkill, है जिसके कन्द नीले या काले रंग के होते हैं। पानीयालु जलीय प्रदेश में होने वाली कोई प्रजाति है। फोण्डालु भी इन्हीं प्रजातियों में से कोई होगा।

आस्फोता–गोपवल्ली–सारिवाद्वय

'आस्फोता' 'आस्फोटा' शब्द का रूपान्तर है। आस्फोट या आस्फोटा का अर्थ है जिसके फल स्फोटी हों। आस्फोट अर्क का एक पर्याय है। ऐसे फल अर्ककुल में होते हैं अतः इस कुल की वनस्पतियों के लिए यह पर्याय उपयुक्त है। इस आधार पर आस्फोता अर्ककुल की लता है इसमें कोई संदेह नहीं।

आस्फोता और सारिवा एक साथ पृथक् पठित हैं[2] अतः ये दोनों भिन्न हैं, इसमें भी कोई संदेह नहीं है। किन्तु आगे चल कर टीकाकारों ने इसे अनेक अर्थों में लेकर संदिग्ध बना दिया। चक्रपाणि तथा अन्य वंगीय टीकाकार इससे अपरमल्लिका (हाफरमाली) लेते हैं। अरुणदत्त ने गिरिकर्णिका लिया है[3]। डल्हण इससे प्रायः सर्वत्र सारिवा का ग्रहण करते हैं। एक स्थल पर सारिवा या अर्क लिखा है[4]। किन्तु जैसा ऊपर कहा गया है, यह सारिवा से नितान्त भिन्न है। ऐसा भ्रम संभवतः वाग्भट से प्रारंभ हुआ। बिदारिगन्धादि गण में सुश्रुतोक्त सारिवा के स्थान पर वाग्भट ने 'गोपसुता' पढ़ा। श्वासचिकित्सा में चरकोक्त (च. चि. १७।११०) आस्फोता के बदले सुश्रुत (उ. ५१।२६) में एक श्वासहर योग दिया है जिसमें 'गोपवल्ली' पाठ है। इस प्रकार 'गोपवल्ली' आस्फोता और सारिवा दोनों के लिए होने के कारण ये सब पर्यायवाची हो गये।

गुणकर्म एवं प्रयोग की दृष्टि से आस्फोता उष्णवीर्य द्रव्यों के साथ अगुर्वाद्य तैल में पठित है (च. चि. ३।२६७) अतः यह उष्णवीर्य है। वातव्याधिचिकित्सा

१. रा. नि. ७।२२–३४
२. च. चि. १५।१२५, २३।२४३
३. अमरकोष में भी आस्फोता गिरिकर्णिका के पर्यायों में दिया है।
४. मेरे विचार से पुंल्लिंग में यह (आस्फोट) शब्द अर्क का तथा स्त्रीलिंग में (आस्फोटा) आस्फोता का द्योतक है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

(च. चि. २८।१२५) में यह जीवक, ऋषभक आदि मधुर द्रव्यों के साथ पठित है अतः मधुररस है। इसका प्रयोग कुष्ठ, पैत्तिक ग्रहणी, श्वास, विष, वातव्याधि अर्श, अर्बुद आदि में विहित है। सुश्रुत ने क्षार-वनस्पतियों में इसे अर्क से पृथक् लिखा है (सू. ११।११)। ये प्रयोग सारिवा से मिलते-जुलते हैं यह भी एक कारण दोनों का ऐक्य होने का है। किन्तु सारिवा चरक के दाहप्रशमन गण में शीतवीर्य द्रव्यों के साथ पठित है जब कि आस्फोता उष्णवीर्य द्रव्यों के साथ है। रस की दृष्टि से भी अस्फोता मधुररस द्रव्यों के साथ है जबकि सारिवा स्तन्यशोधन महाकषाय में तिक्त द्रव्यों के साथ है। इस प्रकार रस और वीर्य की दृष्टि से भी आस्फोता और सारिबा भिन्न सिद्ध होते हैं। अतः चरक द्वारा इन दोनों की भिन्नता का प्रदर्शन उचित ही है।

'गोपवल्ली' शब्द केवल एक बार चरक के मधुरस्कन्ध में तथा सुश्रुत की श्वासचिकित्सा में आया है। वाग्भट ने अनेक स्थलों में गोपसुता, गोपाङ्गना, गोपकन्या और गोपी शब्दों का प्रयोग किया है। यह ऊपर कहा जा चुका है कि वाग्भट ने सारिवा के स्थान पर 'गोपसुता' शब्द दिया है अतः वह निश्चित रूप से गोपसुता तथा अन्य गोपपूर्वक प्रर्यायों से सारिवा का ग्रहण करते थे। किन्तु चरक और सुश्रुत की गोपवल्ली प्रकरण के अनुसार आस्फोता के अधिक निकट है। बाद में आस्फोटा और सारिवा का ऐक्य स्थापित हो जाने पर गोपपूर्वक विशेषण सारिवा के लिए प्रयुक्त होने लगे होंगे।

'गोपवल्ली' का सामान्यतः अर्थ 'ग्वालों की लता' है। ग्वालों के लिए विशेष उपयोगी होने के कारण उनकी प्रिय हुई अतः परिवार के प्रिय जनों का समावेश पर्यायों में कर (गोपांगना, गोपी, गोपसुता आदि) उसका बोध कराया गया। संभवतः इस वनस्पति का अनेक प्रकार से लौकिक एवं औषधीय उपयोग किया जाता था। इसकी शाखायें बाँधने तथा टोकरी आदि बनाने के काम आती थीं। इसकी लता गायों को खिलाते थे जिससे स्तन्य की वृद्धि के साथ-साथ उसका शोधन भी होता था। इस प्रकार सर्वतोभावेन शरीर का रक्षक होने से इसका नाम गोपी (गाः इन्द्रियाणि पाति रक्षति = गोपी) सार्थक है। गौओं की तो रक्षक है ही।

यह बात भी ध्यान देने की है कि चरक, सुश्रुत आदि संहिताओं में 'सारिवा' शब्द का ही प्रयोग हुआ है, 'कृष्णसारिवा' का नहीं। सुश्रुत ने विदारिगंधादि गण में सारिवा के साथ जो कृष्ण सारिवा का पाठ किया है, वह सर्वमान्य नहीं है। इसी प्रकार के अन्य पाठों में भी संदेह है। केवल सारिवा का पाठ करने पर भी चरक और सुश्रुत दोनों 'सारिवाद्वय' का उल्लेख करते हैं[1] जिससे स्पष्ट है कि दो प्रकार

१. च. चि. १०।२१, २३।१०२, ७।१४५, ९।३५, १४।१६०
सु. चि. ३७।३०; क. २।४६, ६।९, उ. ६१।३५, ३९।२४७

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

की सारिवा वे मानते थे। फिर ये दो सारिवा क्या हैं? यदि प्रयोग की दृष्टि से देखें तो 'आस्फोता' और 'सारिवा' इन दो शब्दों का ही विशेष प्रयोग हुआ है। सारिवाद्वय के समान आस्फोता और सारिवा का भी एक साथ प्रयोग हुआ है। चक्रपाणि ने सारिवाद्वय से श्यामलता एवं अनन्तमूली का ग्रहण किया है[1]। डल्हण ने एक स्थल पर (उ. ३९।२३०) इससे सारिवा एवं उत्पलसारिवा तथा दूसरे स्थल पर (उ. ६१।३५) आस्फोता एवं कालवल्ली का ग्रहण किया है। डल्हण ने सारिवा से अधिकांश उत्पलसारिवा लिया है। एक स्थल पर (सू. ३८।४) जम्बूपत्रा दुग्धवल्ली का ग्रहण किया है। आस्फोता से भी सारिवा लिया है। यदि सारिवा-उत्पलसारिवा तथा आस्फोता-कालवल्ली सारिवाद्वय के इन दो युग्मों का सामंजस्य किया जाय तो आस्फोता उत्पलसारिवा और सारिवा कालवल्ली ठहरती है। चक्रपाणि की अनन्तमूली-श्यामलता भी क्रमशः उत्पलसारिवा और कालवल्ली है। कृष्णसारिवा की व्याख्या में डल्हण ने उसे छिलहिण्ट के सदृश पत्रयुक्त, चन्दनगन्धा कालवेली बतलाया है।

उपर्युक्त तथ्यों को ध्यान में रखते हुए यदि मूल ग्रन्थ को देखा जाय तो ऐसा लगता है वहाँ 'सारिवा' शब्द जम्बूपत्रा (कृष्ण) सारिवा का तथा आस्फोता शब्द उत्पल (श्वेत) सारिवा का वाचक है। बाद में सुश्रुत में उसके लिए उत्पलसारिवा का स्पष्ट प्रयोग हुआ[2] और डल्हण ने तो इस शब्द का प्रभूत प्रयोग किया ही है[3]। किन्तु इसकी तुलना में कृष्णसारिवा का प्रयोग नहीं के बराबर होने के कारण 'सारिवा' शब्द मुख्यतः कृष्णसारिवा का ही बोधक रहा। डल्हण ने कालानुसारिवा, कालानुसारी तथा कालानुसार्या से कृष्णसारिवा का अर्थ लिखा है।

मध्यकाल आते-आते ये सारे शब्द पर्यायवाची हो गये और इनका मूल अर्थ लुप्त हो गया। अष्टांगनिघण्टु में सारिवा को कृष्णवल्ली और फणिजिह्विका कहा है। पर्यायरत्नमाला में अनन्तमूल और श्यामलता का पृथक् वर्णन किया है। धन्वन्तरिनिघण्टु में सारिवा तथा कृष्णमूली (कृष्णसारिवा) का पृथक् वर्णन है। सारिवा के लिए गोपवल्ली और आस्फोता तथा कृष्णसारिवा के लिए चन्दनसारिवा, कृष्णवल्ली आदि पर्याय दिये हैं। सोढलनिघण्टु में गोपवल्ली, आस्फोता, उत्पलसारिवा ये पर्यायवाची हैं, कृष्णसारिवा के लिए चन्दनसारिवा. चन्दना, काष्ठसारिवा, कृष्णवल्ली आदि पर्याय हैं। इसी प्रकार कैयदेवनिघण्टु तथा भावप्रकाशनिघण्टु में भी श्वेतसारिवा और कृष्णसारिवा इस सारिवाद्वय का वर्णन है। आजकल भी इन्हीं दो भेदों का प्रचलन है। श्वेतसारिवा के नागजिह्विका (सर्पजिह्वासदृशपत्र) तथा उत्पलसारिवा (सुगन्धमूला) पर्याय सार्थक हैं।

---

१. च. चि. १०।२१

२. सु. शा. १०।६०

३. सु. क, ८।१३२, उ. १७।८७, ३९।१६९, २१८, २३०

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

श्वेतसारिवा (उत्पलसारिवा) से Hemidesmus indicus R. Br. का ग्रहण करते हैं। प्राचीन आस्फोता भी यही थी किन्तु बंगाली टीकाकारों ने वंगीय संप्रदाय के अनुसार हाफरमाली (Vallaris sp.) का ग्रहण किया है। कृष्णसारिवा में दो द्रव्य लिये जाते हैं। डल्हण ने एक का जम्बूपत्रा[1] या जम्बूपलाशिका[2] के नाम से उल्लेख किया है और दूसरे को छिलहिण्टापत्रसदृशच्छदा कहा है। ये क्रमशः Cryptolepis buchanani Roem & Schult तथा Ichnocarpus frutescens R. Br. हैं। जम्बूपत्रा को कृष्णसारिवा मानने में अधिकांश विद्वानों की सहमति है। यही डल्हण की कालवल्ली, चक्रपाणि की श्यामलता तथा भावमिश्र की 'कलघण्टिका' (करण्टा) है। सारिवाद्वय में श्वेतसारिवा तथा कृष्णसारिवा का ग्रहण करते हैं। छिलहण्टिच्छदा सारिवा 'दुधलत' नाम से प्रचलित है तथा वनवासियों के उपयोग में बहुत आती है अतः संप्रति इसका ग्रहण 'गोपवल्ली' नाम से करना चाहिए।

सारांश

१. आस्फोता—Vallaris heynei Spreng.
२. सारिवा (उत्पलसारिवा)—Hemidesmus indicus R. Br.
३. कृष्णसारिवा (जम्बूपत्रा)—Cryptolepis buchanani Roem. & Schult.
४. गोपवल्ली (छिलहिण्टपत्रा)—Ichnocarpus frutescens R. Br.

सारिवा का वर्णन द्वितीय भाग में किया गया है, वहीं देखें। शेष द्रव्यों का वर्णन यहाँ किया जा रहा है :—

आस्फोता (Vallaris heynei Spreng)–Fam. Apocynaceae—इसकी बड़ी आरोहिणी गुल्मवत् लता होती है। काण्ड दृढ़ सूत्रमय तथा बिन्दुकित होते हैं, काण्डत्वक् अत्यन्त तिक्त तथा कषाय होती है। पत्र–आयताकार, अण्डाकार लम्बाग्र, प्रायः चिकने, १½–४ इंच लंबे, ½–१½ इंच चौड़े होते हैं। पत्रवृन्त का मूल भाग ग्रन्थियुक्त होता है। पुष्प–मल्लिकावत् श्वेत, सुगंधित, ⅔ इंच व्यास के, द्विधा विभक्त मंजरियों में लगते हैं। फल ६ इंच लंबे, २ इंच व्यास के, सीधे, गोपुच्छाकार, तीक्ष्णाग्र होते हैं जो सूखने पर चार खंडों में विभक्त होते हैं। बीज–१ इंच लंबे, लट्वाकार, चंचुयुक्त, रूईदार होते हैं। अप्रिल-मई में पुष्प तथा नवम्बर-जनवरी में फल लगते हैं। यह बंगाल, बिहार, उड़ीसा तथा दक्षिण भारत में विशेष होता है।

जम्बूपत्रा (कृष्ण) सारिवा (Cryptolepis buchanani Roem & Schult) Fam. Apocynaceae—इसकी बड़ी झाड़ीदार क्षीरिणी लता

१. सु. सू. ३८।४
२. सु. चि. ११।१५

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

काण्डत्वक् रक्ताभ कृष्ण होती है। पत्र–३–६ इंच लंबे, १–२½ इंच चौड़े, जम्बूपत्र सदृश चर्मवत्, ऊपरी पृष्ठ पर चमकदार, आयताकार या लट्वाकार होते हैं। इन पर अनेक अनुप्रस्थ सिरायें होती हैं जो किनारे पर मिल जाती हैं। पुष्प–पीताभ, १–२ इंच लंबी शाखायुक्त मंजरियों में लगते हैं। फल–२–४ इंच लंबे, मध्य में ½–¾ इंच व्यास के, कठिन युग्म होते हैं। बीज ¾ इंच लंबे, आयताकार लट्वाकार, चपटे रोमगुच्छसहित होते हैं। ग्रीष्म में पुष्प तथा शीतकाल में फल लगते हैं। यह प्रायः समस्त भारत में पाया जाता है। हिमालय में ४ हजार फीट की ऊँचाई तक होता है।

गोपवल्ली (छिलहिण्टपत्रा)—(Ichnocarpus frutescens R. Br.) Fam. Apocynaceae—इसकी विशाल गुल्मवत् लता होती है। शाखायें मुरचई रंग की, रोमश होती हैं। पत्र–१½–४½ इंच लंबे, १–२ इंच चौड़े, आयताकार या अंडाकार, छिलहिण्ट (जलजमनी) पत्र सदृश, चिकने होते हैं। पुष्प–छोटे, श्वेतवर्ण, १–३ इंच लंबी, अक्षीय या अन्त्य मंजरियों में लगते हैं। फल–३–६ इंच लंबे, पतले, तीक्ष्णाग्र, भूरे रंग के, युक्त होते हैं। बीज ½ इंच लंबे, भूरे रंग के, रोमगुच्छ से युक्त होते हैं। पुष्प–सितंबर-दिसंबर तथा फल–जनवरी-अप्रिल में लगते हैं। प्रायः सर्वत्र मिलता है।

दक्षिण भारत में Decalpis hamiltonii W. & A. (Fam. Asclepiadaceae) श्वेत सारिवा के नाम पर प्रयुक्त होता है।

इसकी झाड़ीदार लता होती है। शाखायें दृढ़, चिकनी होती हैं। पत्र–चर्मवत्, अण्डाकार-अभिलट्वाकार या वृत्ताकार; गोलाग्र, अभिमुख होते हैं। सिरायें धनुषाकार, ६–८ जोड़ी होती हैं। पुष्प छोटे, अक्षीय मंजरियों में लगते हैं। कुक्षि उन्नतोदर, ५ परिखायुक्त होती है। इसके मूल में तीक्ष्ण सुगन्ध होती है।

इक्षु–काण्डेक्षु–इक्षुवालिका–पौण्ड्रक

ये चारों द्रव्य चरकसंहिता (सू. २५) में काण्डासव के घटक कहे गये हैं। इक्षुवर्ग में चरक ने इक्षु के भेद नहीं गिनाये हैं जैसा कि सुश्रुत ने किया है। इससे स्पष्ट है कि इन भेदों की गणना यहीं पर कर दी गई है।

इक्षु गन्ने का प्राचीन भारतीय रूप है। इसका नाम Saccharum sinense Roxb. दिया गया है। पतला काण्ड होने के कारण यह Thin canes or North Indian canes कहा जाता है।

यह इक्षु पाँच मुख्य वर्गों में विभाजित किया गया है। इनमें एक वर्ग सरेठा (Saretha) है जिसके अन्तर्गत काठ (काष्ठेक्षु या काण्डेक्षु) आता है।

पौण्ड्रक इक्षु की विकसित प्रजाति S. officinarum Linn. है। इसका काण्ड रंगबिरंगा तथा बड़ा होने के कारण यह Thick canes or noble

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

canes कहलाता है। इसका आदिम स्थान न्यु गिनी द्वीप है जहाँ से अनेक देशों में घूमता हुआ यह भारत पहुँचा। इब्न बतूता ने १३वीं शती में मलाबार क्षेत्र में पौंड़ा गन्ने की खेती का उल्लेख किया है। आधुनिक काल में यह १८२७ ई० में मारिशस से भारत में लाया गया। चरक में पौण्ड्रक के उल्लेख से यह स्पष्ट है कि अति प्राचीन काल से भारत में इसकी कृषि हो रही है।

इक्षुरक–कोकिलाक्ष

इक्षुरक चरक के शुक्रशोधन महाकषाय में पठित है। इसके अतिरिक्त यह वाजीकरण, अश्मरीभेदन के रूप में विहित है। सुश्रुत ने कल्याणकलवण, प्लीहोदर, गुल्म, क्षारागद में इसके क्षार तथा वाजीकरण में फल एवं बीज के चूर्ण का विधान किया है। शूल में इक्षुरकमूल विहित है। वाग्भट ने वासिष्ठ रसायन तथा वाजीकरण में इसका उल्लेख विशेष रूप से किया है।

'कोकिलाक्ष' चरकसंहिता में नहीं है। सुश्रुतसंहिता में मूत्रदोष विशोधन तथा अश्मरीभेदन के रूप में पठित है। वाग्भट ने इसका प्रयोग वातरक्त में किया है[1]।

चक्रपाणि तथा डल्हण ने इक्षुरक और कोकिलाक्ष को पर्यायवाची माना है। इससे तालमखाना (Astercantha longifolia Nees[2]) का ग्रहण करते हैं। कुछ लोग दोनों को भिन्न मानते हैं। यह धारणा इससे भी पुष्ट होती है कि सुश्रुत और वाग्भट ने कोकिलाक्ष का अत्यन्त सीमित प्रयोग किया जब कि वाजीकरण में इक्षुरक का ही उल्लेख है। ऐसी स्थिति में भी दोनों सजातीय द्रव्य हैं इसमें कोई सन्देह नहीं। यदि इक्षुरक से Astercantha longifolia लें तो कोकिलाक्ष से Hygrophila की कोई प्रजाति लेनी चाहिए। निघण्टुओं में तो दोनों पर्यायवाची ही हैं यों इक्षुरक शर, काश तथा इक्षु के पर्यायों में भी आया है।

इत्कट

इत्कट चरक के स्तन्यजनन एवं मूत्रविरेचनीय महाकषायों में पठित है। इसके बीजों का अन्नरूप में भी प्रयोग होता था जिसके अतिसेवन से कफज प्रमेह की उत्पत्ति कही गई है। यह मधुरस्कन्ध तथा शीतवीर्य द्रव्मों में पठित है।

सुश्रुत ने इसे कफप्रकोपक द्रव्यों में लिखा है तथा पैत्तिक अश्मरी में प्रयोग किया है।

वाग्भट ने वीरतर्वादि गण में इत्कट का पाठ किया है यद्यपि सुश्रुत में ऐसा नहीं है।

---

१. कोकिलाक्षकनिर्यूहः पीतस्तच्छाकभोजिना।
 कृपाभ्यास इव क्रोधं वातरक्तं नियच्छति॥ (अ. हृ. चि. २२।१८)

२. विवरण द्वितीय भाग में देखें।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

डल्हण ने इसका अर्थ खग्गली या महती खग्गली किया है। अरुणदत्त ने इससे काष्ठविशेष का ग्रहण किया है जिसके पत्र सूक्ष्म हों तथा काण्ड बड़ा और रक्तवर्ण हों[1]। चक्रपाणि ने इक्षुवालिका को खगालिका कहा है किन्तु स्तन्यजनन महाकषाय में इक्षुबालिका तथा इत्कट साथ-साथ पठित होने के कारण भिन्न द्रव्य हैं। इत्कट का पाठ शर के साथ भी हुआ है (सु. चि. ७।६) अतः यह शर से भी भिन्न है। किन्तु आश्चर्य की वात है कि स्तन्यजनन तथा मूत्रविरेचनीय महाकषायों में शर का नाम नहीं आता जब कि वर्त्तमान काल में शर तृणपञ्चमूल का एक प्रसिद्ध द्रव्य है। मधुरस्कन्ध में चरक ने इत्कट के वाद 'शरमूल' का पाठ किया है। यह पाठ महत्त्वपूर्ण है क्योंकि तृणजातीय अन्य द्रव्यों यथा कुश, काश आदि के साथ 'मूल' नहीं लगाया। कटे हुए शर को लोकभाषा में 'एकड़' कहते हैं। यह संभव है कि जिस प्रकार एक ही पौधे को अंगभेद से वीरण तथा उशीर कहते हैं, उसी प्रकार इत्कट और शर भी हों। जो भी हो, इतना निश्चित है कि तृणजातीय द्रव्यों में पाठ होने के कारण यह उसी जाति का कोई द्रव्य है।

इस प्रकार यह इक्षु (Saccharum) की कोई प्रजाति हो सकती है। डल्हण कोकिलाक्ष को खग्गली (सु. उ. ५८।४४) कहते हैं और इत्कट को भी (सु. सू. २१।२३)। एक स्थल (सु. चि. ७।६) पर इसे महती खग्गली कहा है। इससे स्पष्ट है कि वह इत्कट को कोकिलाक्ष की ही कोई प्रजाति मानते थे। इस प्रकार यह Hygrophila की कोई sp. हो सकती है विशेषतः H. salicifolia Nees.। यह तीक्ष्णमूत्रल तथा शुक्रल होने के कारण इत्कट से समानता रखता है। गुजराती वैद्य इकड़ (गु.) को इत्कट मानते हैं जो Sesbania cannabina (Retz.) Pers है[2]। यह जयन्ती का एक भेद है। मेरे विचार से इत्कट इक्षु (Saccharum) की ही कोई प्रजाति है।

इन्द्रवल्ली—इन्द्राणी

सुश्रुत में एक स्थल (उ. २८।७) पर इसका पाठ है। स्कन्दग्रहप्रतिषेध के लिए इसके धारण का विधान है।

डल्हण ने इसका अर्थ मत्स्याण्डक या गण्डदूर्वा किया है।

इन्द्राणी (शाक) का पाठ चरक और वाग्भट ने किया है। इसका लेप विसर्प में विहित है।

चक्रपाणि लिखते हैं कि इन्द्राणी शाक को कुछ लोग मत्स्याक्षक और कुछ निर्गुण्डी कहते हैं[3]।

---

१. इत्कटा सूक्ष्मपत्रिका दीर्घलोहितयष्टिका काष्ठविशेषः। अरुणदत्त (अ. हृ. सू. १५।२४)

२. नि. आ., भाग १, पृ. ४२८

३. इन्द्राणीशाकं केचित् मत्स्याक्षकमाहुः. निर्गुण्डीमेवापरे।
चक्र. (च. चि. २१।८५, ९०)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

चरक और सुश्रुत दोनों को मिलाने से ऐसा प्रतीत होता है कि सुश्रुत की जो इन्द्रवल्ली है वही चरक की इन्द्राणी है। संभवतः ये दोनों ऐन्द्री के ही पर्याय हैं (देखे ऐन्द्री) ।

उच्चटा—कुलिंगा

उच्चटा का उल्लेख चरकसंहिता के सिद्धिस्थान १२वें अध्याय उत्तरबस्ति प्रकरण में अन्य द्रव्यों के साथ सर्वप्रथम हुआ है। इसके प्रयोग को परमवृष्य बतलाया गया है। इसके परिचय का कोई निर्देश नहीं मिलता।

महर्षि सुश्रुत ने सुश्रुतसंहिता के चिकित्सा-स्थान में क्षीणबलीय वाजीकरण अध्याय २६ में उच्चटाचूर्ण के प्रयोग का विधान किया है। अन्यत्र एक स्थल पर निरूहक्रमचिकित्सत अध्याय ३८ में उच्चटा आदि द्रव्यों के क्वाथ का प्रयोग बतलाया है।

अष्टांगसंग्रह उत्तरस्थान अध्याय ५० वाजीकरण प्रकरण में उच्चटा का प्रयोग स्वतन्त्र तथा अन्य द्रव्यों के साथ वाजीकरण के लिए मिलता है। अष्टांगहृदय उत्तरस्थान में भी इसका प्रयोग मिलता है। इससे ऐसा प्रतीत होंता है कि वाग्भट के काल में उच्चटा काफी प्रचलित द्रव्य रहा होगा।

चरकसंहिता सिद्धिस्थान उत्तरबस्ति अध्याय के उपर्युक्त श्लोक की व्याख्या करते हुए आचार्य चक्रपाणि ने 'उच्चटकेत्यादि उच्चटा स्वनामख्याता' लिखा है। अन्यत्र सूत्रस्थान अ० ४ में शुक्रजनन महाकषाय में 'जटिला कुलिंगा' की व्याख्या में 'जटिला उच्चटा, कुलिंग उच्चटाभेदः' लिखा है। इससे यह स्पष्ट है कि चक्रपाणि के समय में उच्चटा के नाम से कोई द्रव्य प्रचलित एवं व्यवहार मे प्रसिद्ध था। इसके अतिरिक्त उसका कोई परिचय उपलब्ध नहीं है।

सुश्रुतसंहितो चिकित्सास्थान क्षोणबलीय बाजीकरण चिकित्सा अध्याय २६ में उपर्युक्त श्लोक की व्याख्या में आचार्य डल्हण 'उच्चटा श्वेतदुर्वारिका स्वल्पविटपः प्रायशो हिमवति सरयूनदीतीरे दृश्यते' लिखा है। इस प्रकार आचार्य डल्हण ने उच्चटा को श्वेतदुर्वारिका लिखा है। अन्यत्र निरूहक्रम-चिकित्सित अध्याय ३८ में २८वें श्लोक की टीका में उच्चटा घुर्घुराख्यः शणघण्टाकारफलोऽल्पो विटपः सरयूपकण्ठे हिमवति वारेन्द्रयां च प्रायश उपलभ्यते' लिखा है। इससे भी स्पष्ट नहीं होता है कि डल्हण के विचार से वह स्वल्प विटप कौन-सा था।

अष्टांगहृदय सूत्रस्थान अध्याय १५ श्लोक ८ की टीका में हेमाद्रि ने जटिला' को उच्चटा लिखा है। शिवदास सेन ने कुक्कुटी को उच्चटाभेद कहा है। इससे इसके कुक्कुटाण्डसदृश कन्द होने का संकेत मिलता है। इन्दु ने महामुस्ता लिखा है।

वृन्दमाधव, चक्रदत्त, वंगसेन और चिकित्साकलिका के वाजीकरण-प्रकरण में उच्चटा के प्रयोग का वर्णन मिलता है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

गदनिग्रह के वाजीकरण अधिकार के भल्लातकादि योग में उच्चटा चूर्ण का प्रयोग है।

लोलिम्बराजविरचित 'वैद्य-जीवन' का यह पद्य तो सर्वविदित है ही :—

'भुक्त्वोच्चटां क्षीरयुतां विलासी भुंक्ते शतं सुन्दरि सुन्दरीणाम्।
त्वां तावदेकासि मया तु साध्व, भुक्ता रतौ पश्य कुतूहलं मे॥'

योगरत्नाकर के वाजीकरण योग 'महासुगन्धि तैलम्' में सुगन्धित द्रव्यों के साथ उच्चटा का प्रयोग है।

सिद्धभेजमणिमाला के बाजीकरण-प्रकरण (पंचमो गुच्छः) में भी उच्चटामूल चूर्ण का प्रयोग वर्णित है।

अष्टाङ्गनिघण्टु के २३८ श्लोक में उच्चटा का वर्णन मिलता है।

बोपदेव कृत हृदयदीपक के द्विनामवर्ग में उच्चटा वर्णित है जहाँ उसका पर्याय 'सहा' दिया है।

भावमिश्रकृत भावप्रकाशनिघण्टु के गुडूच्यादिवर्ग में श्वेतगुंजा को उच्चटा मान कर उसका वर्णन किया गया है। यह केश्य, वात, पित्त, ज्वरनाशक तथा वल्य एवं वृष्य बतलाया गया है।

अमरकोषकार ने वनौषधिवर्ग (४।१६०) में मुस्ता के प्रसंग में उच्चटा का वर्णन किया है जिसके पर्याय चूड़ाला और चक्रला दिये हैं। भानुजी दीक्षित ते 'त्रीणि मुस्ताविशेषस्य' लिख कर इसे मुस्ता का ही एक भेद माना है।

निघण्टुशेष के लताकाण्ड में उच्चटा का वर्णन मिलता है। जिससे यह स्पष्ट है कि उसके मत से यह लता ज़ाति की कोई औषधि थी।

उपर्युक्त निघण्टुग्रन्थों के पर्यालोचन से निम्नांकित तथ्य सामने आते हैं :—

१—श्वेत गुंजा को धन्वन्तरिनिघण्टुकार एवं भावप्रकाशनिघण्टुकार ने उच्चटा लिखा है।

२—अमरकोषकार ने मुस्तकविशेष को उच्चटा माना है।

३—अष्टांगनिघण्टुकार ने शिखण्डी, आस्फोतक पर्याय उच्चटा के लिए दिया है जो मुस्ता, मयूरशिखा, अपामार्ग तथा अपराजिता की ओर संकेत करता है।

४—राजनिघण्टु ने गुंजा और मुस्ता का वाचक उच्चटा को माना है।

५—बोपदेव ने 'सहा' पर्याय उच्चटा का दिया है जो इसके वल्य-वृष्य कर्म की ओर संकेत करता है। 'सहा' शब्द मुद्गपर्णी के लिए भी निवण्टुओं में प्रयुक्त हुआ।

आचार्य भागीरथ स्वामी ने इससे भूम्यामलकी का ग्रहण किया है। आचार्य बापालाल उच्चटा से उटंगन का ग्रहण करते हैं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

धन्वन्तरिनिघण्टु में अज्जटा और राजनिघण्टु में इसके साथ उच्चटा शब्दों का प्रयोग भूम्यामलकी के पर्यायों में हुआ है। इससे यह भी सम्भावना हो सकती है कि चरक का मूल शब्द 'अजटा' था। परवर्त्ती काल में परिवर्तित रूप उच्चटा हो गया हो। बाद के ग्रन्थों में इसी शब्द का प्रयोग हुआ है।

आगे सुश्रुतसंहिता में उच्चटामूल के प्रयोग का विधान बतलाया गया है। आचार्य डल्हण ने टीका में "श्वेतदूर्वारिका स्वल्पविटपः प्रायशो हिमवति सरयूनदीतीरे दृश्यते" लिखा। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सुश्रुत के काल में भी उच्चटा के नाम से कोई द्रव्य चलता रहा होगा जिसका प्रधान कर्म वृष्य था। आचार्य डल्हण ने उच्चटा पर प्रकाश डालते हुए श्वेतदूर्बा के समान, स्वल्प विटप तथा सरयूनदी के किनारे होनेवाले किसी द्रव्यविशेष की ओर ध्यान आकृष्ट किया है लेकिन इन्होंने भी द्रव्य का कोई विशेष परिचय न देकर केवल 'स्वल्प विटप' लिखा है।

अजटा, अजड़ा,, भूधात्री तथा कपिकच्छू के पर्याय हैं। अगर हम यह मान लेते हैं कि उच्चटा अजड़ा का परिवर्तित रूप है तो इससे भूम्यामलकी या कपिकच्छू का ग्रहण किया जा सकता है। आचार्य भागीरथ स्वामी ने राज-निघण्टु के आधार पर इससे भूम्यामलकी का ग्रहण किया है। इस शब्द का अर्थ उन्होंने किया है कि जिसके फल चटक कर गिर जायें। किन्तु व्यवहार में कपिकच्छू का ही वाजीकरण में विशेष प्रयोग है। इसमें आपत्ति यह है कि अष्टांगसंगह में आत्मगुप्ता के साथ इसका पृथक् उल्लेख है। इससे सिद्ध है कि यह कपिकच्छू से भिन्न द्रव्य है।

उसी स्थल में इसका प्रयोग शतावरी के समान बतलाया गया है। आगे इसी संहिता में विदारीकन्द आदि के साथ इसका उल्लेख है। इससे स्पष्ट है कि इसका कन्द प्रयोग में आता था। शिवदास सेन ने कुक्कुटी को उच्चटाभेद कहा है जो एक कन्दविशेष है। यह वात्स्यायनकृत कामसूत्र के निम्नांकित उद्धरण से प्रमाणित हो जाता है, जिसमें उच्चटाकन्द, चव्या, यष्टीमधु का वाजीकरणार्थ प्रयोग है। मयूरशिखा, अपामार्ग, अपराजिता आदि अन्य वैकल्पिक द्रव्यों का प्रयोग व्यवहार में वृष्यकर्म के लिए नहीं मिलता।

आधुनिक कुछ विद्वानों ने इससे उटंगन बीज लिया है। वैद्य बापालाल जी ने इससे उटंगन का ग्रहण किया है। किन्तु जैसा कि ऊपर कहा गया है इसके मूल का ही प्रयोग पठित है न कि बीज का। अतः उटंगन का ग्रहण उचित नहीं है। यह द्रव्य भी कितने प्राचीन काल से प्रचलित है यह भी कहना कठिन है। विशेषतः हकीम लोग इसका प्रयोग करते हैं, सम्भव है उनके साथ यह आया हो।

इन्दु ने उच्चटा को महामुस्ता लिखा है। चूड़ाला, चक्रला, शिखण्डी आदि पर्याय भी इसी ओर इंगित करते हैं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

इसी प्रसंग में मुस्ता के भेदों का अनुशीलन करना होगा। निघण्टुओं में मुस्ता के कई भेद कहे गए हैं यथा—भद्रमुस्ता, नागरमुस्त, कैवर्त्तमुस्त आदि। व्यवहार में मुस्त और भद्रमुस्त का ही विशेष प्रचलन है। भावमिश्र ने भद्रमुस्त तथा नागरमुस्त को पर्याय मान लिया है किन्तु अन्य निघण्टुओं में नागरमुस्त पृथक् है। यह क्या है अभी तक स्पष्ट नहीं है। धन्वन्तरिनिघण्टु में नागरमुस्त के पर्याय में उच्चटा दिया है। शिवकोष में उच्चटा, श्वेतगुंजा, भूम्यामलकी और छत्रमुस्ता का पर्याय बतलाया है। छत्रमुस्ता सम्भवतः नागरमुस्ता ही है। 'नागर' शब्द नगर या नागरिकों के लिए विशेष उपयुक्त होने के कारण व्यवहृत हुआ हो, क्योंकि उद्भव की दृष्टि से यह शब्द असंगत हो जाता है क्योंकि नगर में इसकी उत्पत्ति न होकर जलीय प्रवेश में होती है।

भावमिश्र ने बड़े मुस्ते के लिए एक विशेष पर्याय दिया है, 'कशेरु', जो व्यवहार में बल्य-वृष्य के रूप में प्रचलित है। कामसूत्र के उपर्युक्त प्रकरण से बाजीकरण के लिए कसेरुक का अनेक बार प्रयोग हुआ है। सम्भव है, उच्चटा का कशेरूसदृश कन्द का ही प्रयोग बाजीकरण में होता है। डल्हण की श्वेतदूर्वारिका तृण जाति की कोई औषधि है जो आकार में बड़ी होती हो। ठाकुर बलवन्त सिंह जी की धारणा है कि यह इक्ष्वारिका सदृश कोई द्रव्य है।

उच्चटा से श्वेतगुंजा का ग्रहण कैसे होने लगा, इस पर भी विचार करना आवश्यक है। जैसा कि ऊपर कहा गया है कि उच्चटा के मूल का प्रयोग होता था। उसका मूल मधुर बल्य-वृष्य है। गुंजा का मूल तान्त्रिक प्रणाली में भी वशीकरण के लिए प्रचलित है। इसका मूल मधुर होता भी है। कभी-कभी मधुयष्टि के स्थान पर यह भी प्रयुक्त होता है। यष्टीमधु भी रसायन में निर्दिष्ट एवं व्यवहार में प्रचलित है। संभव है इन सारे तथ्यों को मिला कर विशेषतः जबकि उच्चटा नाम से प्रयुक्त द्रव्य जब संदिग्ध हो गया हो, इसके स्थान पर श्वेतगुंजा लिया जाने लगा हो। बाद में निघण्टुकारों ने यथा भावमिश्र ने स्पष्टतः इसको गुंजाद्वय में स्वीकार किया।

उपर्युक्त पर्यालोचन के आधार पर उच्चटा से मुस्ताविशेष (कशेरू) का ही ग्रहण होना चाहिए।

उच्चटा शब्द का अर्थ भी प्रासंगिक होना चाहिए। अमरकोष के व्याख्याकार ने इसकी व्याख्या नहीं की है। केवल 'चट गतौ' से इसकी सिद्धि की है। इस आधार पर 'उत्कर्षेण विशेषेण (चटकवत्) चटयति प्रेरयति बाजीकरणार्थं इति उच्चटा'। प्राचीन संहिताओं में चटक को बाजीकरण का प्रतीक माना गया है जो स्वल्पकाय होते हुए भी विशेष रूप से बाजीकृत होता है। सम्भवतः इसी आधार पर कुलिंगा और चटका इसके पर्याय दिये गये हैं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि विभिन्न कालों में उच्चटा के नाम पर विभिन्न द्रव्यों का प्रयोग प्रचलित हुआ। प्राचीनकाल में सम्भवतः इससे मुस्ता विशेष, मध्यकाल में श्वेत गुंजा, और आधुनिक काल में उटंगनबीज लिया जाता है। शास्त्रीय आधार पर इसे मुस्ताविशेष (Cyperus Sp.) या कशेरुविशेष (Scirpus Sp.) का ग्रहण होना चाहिए।

कुलिंगा

चरक के शुक्रजनन महाकषाय में जटिला के साथ कुलिंगा का पाठ है। चक्रपाणि ने जटिला से उच्चटा तथा कुलिंगा से उच्चटाभेद लिया है। पुनः विमान-स्थान में मधुरस्कन्ध में पठित कुलिंगा को उच्चटा कहा है। सुश्रुत तथा वाग्भट में कुलिंगा नहीं है।

वस्तुतः चटक[1] और कुलिंग[2] इन दो बहुमैथुनशक्त पक्षियों के नाम पर 'उच्चटा' और 'कुलिंगा' ये वानस्पतिक संज्ञायें निर्धारित हैं। चटक और कुलिंग के शुक्र एवं वसा का प्रयोग वृष्य पूपलिकाओं में भी हुआ है (च. चि. २।२।१०-११)।

अभिधानचिन्तामणि में चटक और कुलिंग पर्यायवाची कहे गये हैं। चटक गौरैया पक्षी है। इस प्रकार कुलिंग उसीका एक भेद हुआ। इसी आधार पर चक्रपाणि ने संभवतः कुलिंगा से उच्चटाभेद का ग्रहण किया है। परवर्ती ग्रन्थों में उच्चटा से काम चल जाने के कारण कुलिंगा का प्रयोग अवरुद्ध हो गया। किन्तु ऐसा पता चलता है कि कुलंग या कुंज सारसपक्षी का एक भेद (Anthropoides virgo) है जो बाहर से भारत में जाड़ों में अधिक संख्या में आता है। चरक का कुलिंगा इसी पक्षी के नाम पर आधारित प्रतीत होता है।

उदीच्य–बालक–तगर–ह्रीबेर

उदीच्य बालक का पर्याय है। ह्रीबेर, बर्हिष्ठ, जल इसके अन्य पर्याय हैं। आजकल इससे Coleus vettiveroides K. C. Jacob. का ग्रहण कर रहे हैं। यह द्रव्य दक्षिण भारत में होता है और वहीं प्रयुक्त होता है। विचारणीय है कि दक्षिण का द्रव्य उदीच्य कैसे कहा जायगा? अतः यह स्पष्ट है कि 'उदीच्य' शब्द से उत्तरी क्षेत्र (उत्तरापथ) में होने वाला द्रव्य ही ग्राह्य होगा।

बालक से अब तक सुगंधबाला (Valeriana hardwickii Wall) लिया जाता रहा है[3]। मेरे विचार से वास्तविक 'बालक' वही है, 'उदीच्य' पर्याय भी उसी में घटित होता है। पंजाब में इसे 'बाल' कहते भी हैं। तगर सदृश सुगंधि होने से इसे लोग 'तगर' भी कहते हैं।

---

१. नराश्चटकवद् केचिद् व्रजन्ति बहुशः स्त्रियः। (च. चि. २।४।६)
२. तासां प्रयोगात् पुरुषः कुलिंग इव हृष्यति। (च. चि. २।४।३२)
३. विवरण द्वितीय भाग में देखें।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

शीतल होने के कारण इसे 'जल' नाम दिया गया है। बालों को सुगन्धित करने के लिए इसका उपयोग किया जाता है अतः इसे 'बालक' कहा गया। केश्य, कचामोद आदि पर्याय भी इसी आधार पर हैं।

अब तगर पर विचार करें। अनेक विद्वानों का विचार है कि सुगन्धबाला नाम से गृहीत द्रव्य वस्तुतः तगर है। मेरे विचार से यह सही नहीं है क्योंकि तगर के कुटिल, वक्र, नत आदि पर्याय इसमें चरितार्थ नहीं होते। कुटिल पुष्प Delphinium जाति में होते हैं, अतः मेरी मान्यता है कि इसी जाति का कोई सुगंधि मूल वनस्पति वास्तविक तगर होगा। Delphinium जाति में निम्नांकित तीन वनस्पतियों उल्लेखनीय हैं जिनमें कस्तूरीवत् तीक्ष्णगन्ध होती है :—

१. D. brunonianum Royle.
२. D. glaciale Hook. f. TH.
३. D. cashmarianum Royle.

इनमें से प्रथम पश्चिम तिब्बत, द्वितीय पूर्वी हिमालय तथा तृतीय कश्मीर में होती है[1]। इन्हीमें से कोई मुख्यतः D. Burnonianum Royle तगर के नाम से लेना चाहिए। यह वनस्पति सुलभ नहीं होने के कारण प्रतिनिधि रूप में सुगन्धबाला का प्रचार हुआ होगा और फिर वही तगर भी कहा जाने लगा। लोकभाषा में सुगन्धबाला का 'तग्गर' नाम इसी स्थिति का द्योतक है।

वीर्य की दृष्टि से देखें तो बालक शीतवीर्य तथा तगर उष्णवीर्य है[2]। तीक्ष्ण उष्ण होने के कारण ही यह कुष्ठ के साथ धूमवर्ति में वर्जित किया गया है[3]।

Delphinium brunonianum Royle—इसका पौधा $\frac{1}{2}$–१ फुट ऊँचा होता है। पत्र–३–४ इंच व्यास के, खण्डित; पत्रवृन्त बहुत लम्बा होता है। पुष्प–बड़े, नीलाभ, रोमश; कोणपुष्प ३–५ विभागयुक्त, बहिर्दल १ इंच लम्बा वृत्ताकार; शंक्वाकृति जिह्मभाग (Spur) से लम्बा होता है। फल–५–६, $\frac{3}{4}$ इञ्च लम्बे, चिपचिपे रोमश होते हैं। संपूर्ण क्षुप में कस्तूरीवत् तीव्र गन्ध होती है।

यह पश्चिमी तिब्बत में १४ हजार फीट की ऊँचाई पर होता है।

---

१. F. B. I., I. 24–27
W. I., III, 30
२. च. चि. ३ के चन्दनाद्यतैल के (शीतवीर्य) द्रव्यों में उदीच्य तथा अगुर्वाद्य तैल के (उष्णवीर्य) द्रव्यों में तगर पठित है। निघण्टुओं में भी ऐसा ही है।
३. च. चि. २६।१८२

५ द्र० वि० पं०

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

उद्दालक–कोविदार–कर्बुदार

उद्दालक धान्यवर्ग में पठित है। इससे शालिविशेष[1] षष्टिकविशेष[2], कोद्रव[3] तथा वनकोद्रव[4] का ग्रहण किया जाता है। प्राचीन टीकाकारों ने इससे वनकोद्रव तथा कुछ परवर्ती निघण्टुओं में कोद्रव लिया गया है। अधिकांश वनकोद्रव का ही ग्रहण करते हैं। धान्यवर्ग के अतिरिक्त उद्दालक कोविदार तथा श्लेष्मातक के पर्यायों में भी आया है। संहिताओं में एक स्थल पर शाल्मलि, धन्वन आदि पिच्छिल द्रव्यों के साथ वमनोपग प्रकरण में उद्दालक का उल्लेख है[5]। अन्य वृक्षों के साहचर्य से यह भी वृक्ष ही प्रतीत होता है। चक्रपाणि ने इसका अर्थ "बहुवारः" किया है जिसका अभिप्राय श्लेष्मातक से है। अमरकोश, हेमचन्द्रकृत निघण्टुशेष तथा भावप्रकाश में उद्दालक श्लेष्मातक के पर्यायों में निर्दिष्ट है। कैयदेवनिघण्टु में "उद्दालक" तथा "कुद्दाल" कोविदार के पर्याय है[6]। अनेक निघण्टुओं में "कुद्दाल" भी कोविदार का पर्याय दिया गया है यथा—अमरकोश, धन्वन्तरिनिघण्टु, निघण्टुशेष, राजनिघण्टु, भावप्रकाश। शिवकोश ने लिखा हैं कि उद्दाल वनकोद्रव, व्रीहिभेद तथा कोविदार के लिए आता है, यहाँ श्लेष्मातक का उल्लेख नहीं है।

उद्दालक के समान "कर्बुदार" शब्द भी श्लेष्मातक के पर्यायों में परिगणित है[7] यद्यपि मूलतः यह कांचनार का द्योतक है। प्राचीन टीकाकारों में जैसे चक्रपाणि ने उद्दालक से श्लेष्मातक का ग्रहण किया, वैसे डल्हण ने कर्बुदार से कहीं श्लेष्मातक का ग्रहण किया है[8] और कहीं कांचनार का[9]। कोविदार शब्द भ्रान्ति का शिकार नहीं हुआ। इस प्रकार हम देखते हैं कि कांचनार के कुछ पर्याय श्लेष्मातक के पर्याय बन गये हैं।

---

१. अ. हृ. सू. १६।३५
२. चरकोद्दालकादयः षष्टिकविशेषाः; केचित् कुधान्यानि वरकादीनि वदन्ति—(चक्र.)
—च. सू. २७।१४
३. हलायुधकोश, अभिधान-चिन्तामणि, धन्वन्तरिनिघण्टु।
४. चक्रपाणि तथा डल्हण।
५. च. वि. ८।१३५
६. आस्फोतकः कोविदारः कुण्डलः कुण्डली कुली।
उद्दालकश्चमरिकः कुद्दालः स्वल्पकेशरः॥ कै. नि.
७. श्लेष्मातकः श्लेष्मफलः शापितो द्विजकुत्सितः।
कर्बुदारो बहुवारः शेलुको बहुदारुकः॥—कै. नि.
इसके अतिरिक्त देखें :—धन्वन्तरिनिघण्टु, राजनिघण्टु, मदनपालनिघण्टु
८. कर्बुदारः श्लेष्मातकः 'बवहार' इति "लिहसाडक" इति च देशभाषया प्रसिद्धः—
ड. सु. सू. ३९।३; कर्बुदारः श्लेष्मातकभेदः—सु. सू. ४६।२४९
९. डल्हण—सु. सू. ४५।१२

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

उद्दालक

उद्दालयतीति उद्दाल : (दल विशरणे) ऐसी निरुक्ति भानुजी दीक्षित ने अमरकोश की व्याख्या में की है। पहले कहा गया है कि धान्यभेद के अतिरिक्त उद्दालक कोविदार का भी बोधक है। ऐसी स्थिति में यदि 'उत् ऊर्ध्वं दलितानि खण्डितानि दलानि पत्राणि यस्य स उद्दालकः' ऐसी निरुक्ति की जाय तो यह सार्थक होगी और कांचनार वर्ग के पौधों की पत्तियों के विशिष्ट आकार का बोध इससे होगा। उद्दालक, कर्बुदार तथा कोविदार इन तीनों में "विदारण" का अर्थ निहित है। इन तीनों की पत्तियाँ आगे की ओर दो भागों में खण्डित होती हैं। यह भी संभव है कि जहाँ ये वृक्ष वहुलता से होते हों वहाँ की भूमि विदीर्ण हो जाती हो। इनके काष्ठ से निर्मित कृषि-उपकरणों के द्वारा भूमि को विदीर्ण करने का अर्थ भी हो सकता है। यद्यपि निघण्टुओं में उद्दालक कोविदार के पर्यायों में पठित है तथापि संहिताओं में कोविदार और कर्बुदार के साथ उद्दालक का पृथक् पाठ होने से[1] यह प्रतीत होता है कि यह कोविदार और कर्बुदार से भिन्न द्रव्य है, किन्तु तज्जातीय है तथा इन सभी का वमनोपग-प्रकरण में वर्णन होने से इसमें कर्म की समानता भी प्रतीत होती है। धन्वन आदि पिच्छिल द्रव्यों के साहचर्य में इसमें पिच्छिलता का भी अनुमान किया जा सकता है, किन्तु रास्ना आदि अन्य द्रव्य पिच्छिल नहीं है, अतः इसे भी निश्चित रूप से नही माना जा सकता। संभवतः पिच्छिलता के कारण इसका संबन्ध श्लेष्मातक से जोड़ा गया। दूसरा कारण यह हो सकता है कि उद्दालक वसन्त में पुष्पित होता है तथा श्लेष्मातक भी वसन्त में फूलता है[2]। इसके अतिरिक्त, उद्दालक धान्य का पीताभ वर्ण भी श्लेष्मातक के फलों से मिलता है, जिस प्रकार प्रियंगुधान्य की पाण्डुता से प्रियंगुफलों की पाण्डुता का सादृश्य है। संभवतः अमरकोष ने सर्वप्रथम "उद्दालक" को श्लेष्मातक के पर्यायों में दिया। उसके बाद चक्रपाणि आदि टीकाकारों ने तथा भावमिश्र आदि निघण्टुकारों ने भी इसका अनुसरण किया। "कर्बुदार" शब्द सर्वप्रथम कांचनार के लिए प्रयुक्त होता था, कांचनार शब्द प्राचीन संहिताओं में नहीं मिलता। पर्यायरत्नमाला में माधव (७वीं शती) ने संभवतः सर्वप्रथम "कांचनार" कर्बुदार के पर्यायों में दिया है[3]। इसके बाद शनैः शनैः "कांचनार" शब्द हीं इस द्रव्य के लिए शास्त्र एवं लोक में प्रयुक्त होने लगा और "कर्बुदार" शब्द "उद्दालक" के समान श्लेष्मातक में पर्यायों में चला गया[4]। सुश्रुतसंहिता के एक प्रकरण

१. च. वि. ८।१३५
२. देखें निघण्टुशेष, इन्दुनिघण्टु तथा कैयदेवनिघण्टु
३. काञ्चनालः कर्बुदारः पाकारिः काञ्चनः सितः।
४. देखें धन्वन्तरि निघण्टु, मदनपाल निघण्टु, राज निघण्टु।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

(सू. ४६।२४९) में श्लेष्मातक का पृथक् उल्लेख होने पर भी "कर्बुदार" श्लेष्मातकभेदः कह कर डल्हण ने समाधान करने की चेष्टा की है। "कर्बुदार" का संक्षिप्त रूप "कर्बुर" भी श्लेष्मातक के पर्यायों में है[1]।

किन्तु उपर्युक्त निरुक्ति तथा कर्मसादृश्य से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि यह कांचनार जाति (Bauhinia) का ही एक वृक्ष है। काशिका, जो गुप्तकाल का एक प्रसिद्ध व्याकरण-ग्रन्थ है, में "उद्दालकपुष्पभञ्जिका" नामक एक प्राचीन क्रीड़ा का उल्लेख है जो पूर्वी प्रदेश में प्रचलित थी[2]। संभवतः यह वृक्ष वसन्तऋतु में पुष्पित होता था और इससे आकृष्ट होकर स्त्रियाँ समूहबद्ध होकर इसके फूल तोड़ती थीं, यही इस क्रीडा का रूप था। इससे यह स्पष्ट होता है कि इसके पुष्प सुन्दर एवं सुगन्धित हैं। श्लेष्मातक यद्यपि वसन्त में फूलता है तथापि उसके पुष्पों का ऐसा कोई महत्त्व लोक में नहीं है। कांचनार जाति के वृक्षों के पुष्प का महत्त्व आज भी लोक में प्रचलित है। यह पश्चिम से पूर्व तक हिमालय की घाटियों में होता भी है[3]। अतएव इसका एक पर्याय "गिरिज" भी है (राजनिघण्टु)। उद्दालक के पुष्पों से भ्रमर भी आकर्षित होते हैं[4] और इनसे एक प्रकार के मधु का निर्माण होता है जिससे "औद्दालक" मधु कहा गया है। यह मधु की जातियों में एक है[5]। डल्हण ने यहाँ "उद्दालक' शब्द से मक्षिकाविशेष का ग्रहण किया है[6]। यह ज्ञातव्य है कि डल्हण ने "उद्दालक" शब्द से सर्वत्र वनकोद्रव का ही ग्रहण किया है कोविदार का नहीं। किन्तु उद्दालक वृक्ष से उपलब्ध मधु का यदि ग्रहण यहाँ किया जाय तो अधिक संगत होगा। यह पहले कहा जा चुका है कि उद्दालक कोविदार के पर्यायों में भी आया है। कुछ निघण्टुओं में "कुद्दाल" शब्द भी कोविदार के पर्यायों में 'दृष्टिगोचर होता है। संभव है, यह "उद्दालक" से वर्ण-विपर्यय के द्वारा निष्पन्न हुआ हो।

---

१. श्लेष्मातः कर्बुरोद्दालौ—वोपदेवकृत हृदयदीपक।
२. प्राचां क्रीडायाम् (६।२।७४)—उद्दालकपुष्पभञ्जिका, वरणपुष्प-प्रचायिका, शालभञ्जिका, तालभञ्जिका।
३. The tree is native at the foot hills of the Himalayas, and is cultivated in most parts of India,
—Santapau : Common trees, page 33.
४. They (flowers) are very fragrant; in the native haunts of the tree flowers are often visited by bees in search of pollen or nectar.—*Ibid.*
५. पौत्तिकं भ्रामरं क्षौद्रं माक्षिकं छात्रमेव च।
आर्घ्यमौद्दालकं दालमित्यष्टौ मधुजातयः॥—सु. सू. ४५।१३२
६. उद्दालकाः कपिलकीटाः स्वल्पाः प्रायशो वल्मीकेष्वन्तर्मधु चिन्वन्ति, तद्भवमौद्दालकम्।—ड०

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कर्बुदार

चरक-सुश्रुत में इसका उल्लेख अनेक स्थलों में हुआ है। चक्रपाणि ने इसका अर्थ श्वेतकांचन, कांचन, कांचनार किया है[1]। डल्हण ने कहीं कांचनार और कहीं श्लेष्मातक लिया है। इससे प्रतीत होता है कि चक्रपाणि निभ्रान्ति रूप से इससे कांचनार का ग्रहण करते थे जबकि डल्हण इसमें भ्रान्त थे। इससे यह भी अनुमान किया जा सकता है कि चक्रपाणि के काल में कर्बुदार से कांचनार का ही ग्रहण होता था, श्लेष्मातक का नहीं। आगे के निघण्टुओं में जब कर्बुदार के मौलिक अर्थ में "कांचनार" शब्द आ गया तब कर्बुदार श्लेष्मातक के पर्यायों में चला गया। निघण्टुओं में संभवतः सर्वप्रथम धन्वन्तरिनिघण्टु में कर्बुदार श्लेष्मातक के पर्याय में प्रयुक्त हुआ। उसके बाद मदनपाल, राजनिघण्टु तथा कैयदेव ने भी इसका अनुसरण किया। "कर्बुदार" शब्द में ध्वनि यह है कि इसके पुष्प कर्बुर (एक अन्तर्दल का मूलभाग चित्रित होता है) होते हैं। ठीक यही अर्थ वानस्पतिक नाम Bauhinia variegata का है। अतः कर्बुदार से इसी द्रव्य का ग्रहण युक्तियुक्त है। इसमें श्वेत, नील, रक्त, पीत अनेक वर्ण के पुष्प होते हैं। "कांचनार" शब्द में ध्वनि सुवर्णसदृश पीतवर्ण की है। अनेक कोशों (मेदिनी, शिवकोश आदि) तथा निघण्टुओं (निघण्टुशेष, मदनपाल, राजनिघण्टु, कैयदेव, भावप्रकाश आदि) में इसका एक पर्याय "कांचन" या "कांचनक" दिया भी है। संभवतः मूल "कांचनार" शब्द पीत पुष्पों को ही ध्यान में रख कर व्यवहृत हुआ हो। कांचनार वसन्त में पुष्पित होता है[2]।

कोविदार

यह नाम प्रारम्भ से अद्यावधि सुरक्षित रहा। इसे ग्राम्य भाषा में यत्र-तत्र "कोइलार" कहते भी हैं। निघण्टुओं में पुष्प के आधार पर कोविदार तथा काञ्चनार में भेद किया गया है। रक्तपुष्प को कोविदार तथा श्वेतपुष्प को काञ्चनार कहा गया है[3]। इसके अतिरिक्त, चक्रपाणि ने यह बतलाया है कि कोविदार शरद्

---

१. च. सू. ४।१३; २७।९९, १०४, सि० १०।३४

२. Flowers are large, white with yellow spots or pink with red spots, or puple mauve and are orchid-like in shape. They appear when the tree is in leafles condition from February to March.—Randhawa : Flowering trees—page 123
राजशेखर ने काव्यमीमांसा में वसन्त-वर्णन के प्रकरण में काञ्चनार के पुष्पों का उल्लेख किया है :—"पुष्पैः सम्प्रति काञ्चनारतरवः प्रत्यङ्गमालिङ्गिताः।

३. रक्तपुष्पः कोविदारो-काञ्चनः सितः—पर्यायरत्नमाला। कुछ लोग इसका विपरीत भी मानते हैं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

ऋतु में पुष्पित होता है तथा काञ्चनार वसन्त में फूलता है[१]। "कोविदार" शब्द सामान्य काञ्चनार के अर्थ में व्यवहृत हुआ है[२]। युग्मपत्र, मालुकापर्ण, चमरिक आदि पर्याय स्वरूपबोधक तथा पाकारि, गण्डारि आदि गुणकर्मबोधक हैं। "कोविदार" शब्द का अर्थ अनेक विद्वानों ने किया है कि जो भूमि को विदीर्ण करे। जैसा कि पहले कहा गया है, "कुद्दाल" भी इसके पर्यायों में आया है। वस्तुतः इसकी लकड़ी से कृषि के उपकरण हल, कुदाल आदि बनाये जाते थे जिनसे भूमि विदीर्ण की जाती थी[3]। वमनकर्म के लिए इनके मूल का प्रयोग किया जाता है[४] क्योंकि मूल में विषाक्त तत्त्व होते हैं जिनसे वमन होता है[५]। छाल का प्रयोग गलगण्ड, गण्डमाला में किया जाता है। पुष्प शीतवीर्य तथा स्तम्भक होने से रक्तपित्त में शाक

---

१. कोविदारः स्वनामख्यातः स शरदि पुष्पति, कर्बुदारस्तु काञ्चनारः स वसन्ते पुष्पति—च. क. १।१४

'Flowers of this tree may be seen particularly, from Sept. to Dec.—They are very fragrant.

—Santapau : Common Trees—page 33.

'Flowers, as a rule, are deep pink or rosy purple (purple to lilac or red) large and showy, and are finepetalled, clawed and pointed. At times the base of one petal is white. It flowers profusely in November.'

—Randhawa : Flowering trees. page 122.

महाकवि कालिदास ने ऋतुसंहार में शरद् ऋतु के वर्णन में कोविदार का सुन्दर निर्देश किया है :—

मन्दानिलाकुलितचारुतराग्रशाखः पुष्पोद्गमप्रचयकोमलपल्लवाग्रः।
मत्तद्विरेफपरिपीतमधुप्रसेकश्चित्तं विदारयति कस्य न कोविदारः॥—ऋतु ३।६

२. कोविदारो युग्मपत्रः स द्विविधो लोहितसितपुष्पभेदात्—चक्र. सु. सू. ३९।३

३. The wood is moderately hard and is used for making agricultural implements.—Santapau : Common trees, page 34.

४. सु. सू. ३९।३

५. The bark of the underground root is poisonous even in a small quantity.—*Ibid.*

वृक्ष के अन्य अंगों में यह प्रभाव नहीं होने के कारण उनका रस, गुण, वीर्य के आधार पर प्रयोग होता है और इस प्रकार कषायरस होने के कारण अन्य अंग छर्दिनिग्रह का कर्म करते हैं। इस विरोधाभास के कारण अनेक विद्वानों को इस प्रसंग में कठिनाई हुई है—देखें बापालाल जी के निघण्टु-आदर्श (प्रथम भाग—पृ. ४९४) में इसका विवेचन।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

एवं चूर्ण रूप में उपयोगी है[1]। प्राचीन काल में रथों में कोविदार की ध्वजा लगाई जाती थी[2]।

सारांश

कैयदेव निघण्टु में काञ्चनार तीन प्रकार का बतलाया गया है—श्वेतपुष्प, रक्तपुष्प तथा पीतपुष्प[3]। इससे प्रतीत होता है कि उसके ध्यान में ये तीनों द्रव्य थे। कोविदार, काञ्चनार तथा उद्दालक ये तीनों सजातीय द्रव्य हैं तथा इनसे निम्नांकित द्रव्यों का ग्रहण किया जा सकता है :—

१. कोविदार—Bauhinia purpurea Linn.

२. कर्बुदार या काञ्चनार—Bauhinia variegata. Linn.

३. उद्दालक[4]—Bauhina variegata (A variety). पुष्पों के रंग की दृष्टि से Bauhinia variegata के तीन प्रमुख भेद आधुनिक ग्रन्थों में भी वर्णित हैं[5]। धान्य-प्रकरण में इससे वनकोद्रव (Paspalum scrobiculatum var. commersonii Stapf.) का ग्रहण करते है।

उपकुल्याद्वय

डल्हण ने अन्य तन्त्रों के आधार पर उपकुल्याद्वय से पिप्पली एवं गजपिप्पली का ग्रहण किया है[6]।

उल्लक-अल्लका

इसका पाठ वाग्भट ने किया है (अ. हृ. चि. ८।१४९) किन्तु वहाँ पाठान्तर भी 'अल्लक' है। सोढलनिघण्टु में 'उल्ल' कटुक (कंकोल) का पर्याय है (१।३८९)। 'अल्लका' धान्यक के लिए आया है[7]।

उल्लक से कटुक तथा अल्लका से धान्यक का ग्रहण करना चाहिए।

---

१. २८. च. सू. २७।१००, १०४ ; चि. ३।२५८ ; ४।३९।७० ; १४।२०२ ; सि. १०।३५, सु. सू. ४६।२४९, २८१ ; उ. ४५।१९, ३४।

२. चञ्चद् बहुपताकेन कोविदारध्वजेन च (रथेन)—विष्णुधर्मोत्तर पुराण।

३. रक्तपुष्पोऽपरः श्वेतः पाकारिः काञ्चनारकः। तद्वच्च काञ्चनो ज्ञेयः—
—कैयदेवनिघण्टु, पृ. ८३४।८३५

४. ठाकुर बलवन्त सिंह इससे Sterculia की एक प्रजाति का ग्रहण करना चाहते हैं जिसे ग्राम्य भाषा में 'उदार' कहते भी हैं।

५. 'This colour scheme which is composed of three varieties of Bauhinia Variegata, pink, white and purple mauve, and light magneta (B. krugii) is recommended for dust-free roads of residential areas.'—Randhawa : Flowering trees, page 38, 124

६. तन्त्रान्तरदर्शनाद् हरिद्राद्वयं, पिप्पली गजपिप्पली चेत्युपकुल्याद्वयं च बोद्धव्यम्। (सु. चि. ९।८)

७. ध. नि. २।६३, हृ. दी., ५८

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

उ(ऊ)षक

सुश्रुत के ऊषकादि गण में यह प्रथम द्रव्य है। यह गण-कफनाशक, मेदोविशेषण; अश्मरी, शर्करा, मूत्रकृच्छ्र एवं गुल्म में उपयोगी है। इसका प्रयोग भी अश्मरी, विद्रधि, मूत्राघात आदि में हुआ है।

ऊषक का परिचय देते हुए डल्हण ने लिखा है—'ऊषकः क्षारमृत्तिका वाराणसीसमीपे बड़हरदेशे बाहुल्येन भवति, अन्ये तद्भवं द्रव्यान्तरमाहुः।' इस प्रकार डल्हण इसे क्षारमृत्तिका या उससे उत्पन्न कोई द्रव्य मानते हैं।

अरबी में 'उषक' एक वनस्पति (Dorema amuoniacum D. Don.) के रालीय निर्यास का नाम है। इसका छोटा बहुवर्षायु क्षुप होता है। इसमें गुणकर्म भी सुश्रुतोक्त मिलते हैं[1]। अतः 'ऊषक' नाम से इस निर्यास का ग्रहण करने पर विचार करना चाहिए। यह ध्यान देने की बात है कि सम्प्रति ऊषक क्षार अज्ञात है अतः प्रयोग से भी वञ्चित है। इससे अतिरिक्त, ऊषकादि गण में पठित हिंगु भी एक निर्यास है।

ऋष्यगन्धा—ऋष्यप्रोक्ता

ऋष्णगन्धा चरकसंहिता के बृंहणीय महाकषाय तथा मधुरस्कन्ध में पठित है। ऋष्यप्रोक्ता वहीं बल्य गण, मधुरस्कंन्ध तथा उष्णवीर्य द्रव्यों में परिगणित है। वातरक्त-चिकित्सा में अन्य द्रव्यों के साथ इससे तैल-घृत सिद्ध करने का विधान है।

मधुरस्कन्ध में एक साथ पठित होने से दोनों भिन्न द्रव्य हैं। चक्रपाणि ने ऋष्यगन्धा को ऋष्यजांगलक तथा एक स्थल पर वैकल्पिक रूप से बलाभेद कहा है। ऋष्यप्रोक्ता को बलाभेद, अतिबला तथा माषपर्णी कहा है। मधुरस्कन्ध में बला, अतिबला, माषपर्णी आदि पृथक् पठित हैं अतः उनमें से कोई भी ऋष्यप्रोक्ता होना सम्भव नहीं।

मधुरस्कन्ध में छत्रा-अतिच्छत्रा आदि युग्मों को क्रम से व्यवस्थित किया है। इन्हीं में एक युग्म ऋष्यगन्धा-अश्वगन्धा है। इससे पता चलता है कि ऋष्यगन्धा अश्वगन्धा जाति का ही कोई द्रव्य हो। इस प्रकार या तो यह Withania coagulens Dunal हो या अश्वगन्धा (Withania somnifera Dunal) की ही वन्य जाति हो। 'ऋष्यजांगलक' शब्द से वन्य स्वरूप की ही ध्वनि निकलती है।

ऋष्यप्रोक्ता का गुणकर्म ऋष्यगन्धा के समान होने के कारण यह भी उसी का कोई भेद हो सकता है या इससे आदिवासियों में 'सियरभुका' नाम से प्रचलित वनस्पति (Miliusa velutina Hook. f. & Th.) का ग्रहण कर सकते हैं। इसका फल खाया जाता है। (देखें वनत्रपुषी)

---

१. विवरण द्वितीय भाग में देखें।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

M. velutina का वृक्ष छोटा या मध्यम प्रमाण का होता है। पत्ते लट्वाकार-अण्डाकार या आयताकार, चर्मवत् अधस्तल पर रोमश एवं सुगन्धित होते हैं। लम्बी झुकी हुई मंजरियों में हरितपीत पुष्प आते हैं। फल काले या बैंगनी रंग के सरस होते हैं। मई-जून में पल्लवों के साथ पुष्प निकलते हैं और जून-जुलाई में फल लगते हैं। यह हिमालय प्रदेश में ३ हजार फीट की ऊँचाई तक, पूर्वोत्तर, मध्य एवं दक्षिण भारत में पाया जाता है।

एकैषिका

चरसंहिता में एक ही स्थल पर अगुर्वादि उष्णवीर्य द्रव्यों में 'एकैषिका' का पाठ है (च. चि. ३) किन्तु पाठान्तर होने से वह भी सन्दिग्ध है।

सुश्रुतसंहिता में कफज विसर्प, गलगण्ड तथा शोफ में लेप के लिए इसका विधान है। एकैषिका का तैल मधुर, अतिशीत, पित्तशामक तथा कफवातवर्धक कहा गया है।

डल्हण ने इसकी व्याख्या अनेक प्रकार से की है :—

१. एकैषिका शुक्लमूला त्रिवृत् (सु. सू. ३७।६)
२. एकैषिका अविद्धकरणी 'पाठा' इति लोके, त्रिवृदिति जेज्जटः (सु. सू. ४५।१२६)
३. एकैषिका शतावरी (अम्बष्ठकी, साकुरण्ड इति लोके—पा०), अन्ये त्रिवृद्भेदमाहुः (सु. चि. १७।१४)
४. एकैषिका अम्बष्ठा, त्रिवृदित्येके (सु. चि. १८।४६)

इस प्रकार एकैषिका से त्रिवृत्, पाठा तथा अम्बष्ठा का ग्रहण होता है। पाठा के लिए निघण्टुओं में 'एकाष्ठीला' पर्याय आया है, एकैषिका नहीं। एकैषिका से अम्बष्ठा का ग्रहण करना चाहिए। अम्बष्ठा और पाठा के तादात्म्य की भ्रान्ति के कारण एकैषिका से पाठा का ग्रहण कुछ आचार्यों ने किया।

एलाद्वय

चरकसंहिता में एला के लिए 'बहुला' शब्द भी आया है। सितोपलादि लेह में 'बहुला' ही है[1]। एलाद्वय चरक और सुश्रुत में नहीं है। वाग्भट में 'एलायुग्म' और 'एलाद्वय' का पाठ है (अ. हृ. सू. १५।४३, चि. १।१३६)। एक स्थल पर (अ. हृ. उ. ६।२६, २८) भद्रैला तथा एला दोनों है। इस प्रसंग में अनेक युग्म आये हैं यथा द्विसारिवा, द्विरजनी, द्विस्थिरा। इससे प्रतीत होता है कि एलाद्वय में भद्रैला (बड़ी इलायची) तथा एला (छोटी इलायची) है।

१. च. चि. ८।१०३; निघण्टुकारों ने 'बहुला' का 'बहुलगन्धा' अर्थ किया है—
'एला बहुलगन्धैन्द्री द्राविडी निष्कुटिस्त्रुटिः'। (रा. नि.)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

एक बात और ध्यान देने की है कि सुश्रूत के एलादि गण में जो एला और हरेणुका है उसी को वाग्भट ने एलाद्वय करके लिखी है। इससे स्पष्ट है कि चरक और सुश्रुत की हरेणुका को वाग्भट ने भद्रैला माना है। इस प्रकार हरेणुका के स्वरूप पर भी प्रकाश पड़ता है। (देखें हरेणुका)

ऐन्द्री–ब्राह्मी–मण्डूकपर्णी

चरक ने ऐन्द्री के साथ ब्राह्मी का पाठ प्रजास्थापन गण में तथा मण्डूकपर्णी का पाठ वयः स्थापन गण में किया है। पुनः गर्भस्थापन ओषधियों में वही सब परिगणित है (च० शा० ८।२०)। मण्डूकपर्णी तिक्तस्कन्ध में भी पठित है (च० वि० ८।१४३)। रसायन-प्रकरण में मेध्य ओषधियों में सर्वप्रथम मण्डूकपर्णी का ही स्थान आया है, ब्राह्मी उसमें नहीं है। उसी प्रकरण में ब्राह्म रसायन के घटक द्रव्यों में मण्डूकपर्णी है, ब्राह्मी नहीं जबकि ऐन्द्री रसायन में ब्राह्मी है, मण्डूकपर्णी नहीं। अपस्मार की चिकित्सा में ब्राह्मी का प्रयोग है, मण्डूकपर्णी का नहीं यद्यपि यह मेध्य ओषधियों में प्रथम परिगणित है। इसी प्रकार शाकवर्ग में मण्डूकपर्णी का उल्लेख है, ब्राह्मी का नहीं। इसके अतिरिक्त, ब्राह्मी का प्रयोग कुष्ठ में तथा मडूकपर्णी का क्षतक्षीण में है।

इसी प्रकार सुश्रुत में मण्डूकपर्णी पथ्य शाकों, महापंचमूलासव, कुष्ठचिकित्सा और मेधायुष्कामीय रसायन में और ब्राह्मी बालरसायन, अश्मरीनाशक योग, महाकुष्ठचिकित्सा, मेधायुष्कामीय रसायन, विषचिकित्सा में निर्दिष्ट है। अष्टाङ्ग-हृदय में बालग्रहनाशक सारिवादि घृत, उन्मादहर ब्राह्मीघृत, ब्राह्म्यादि वर्त्ति, आपस्मारचिकित्सा, कुष्ठचिकित्सा और रसायन में इसका उल्लेख है तथा मण्डूकपर्णी का शाकों में तथा रसायन-प्रकरण में पाठ है।

इस प्रकार ब्राह्मी और मण्डूकपर्णी के संहितोक्त प्रकरणों का विश्लेषण करने से निम्नांकित तथ्य उभरते हैं :—

१. एक भी स्थल में दोनों का एक साथ पाठ नहीं है।
२. मण्डूकपर्णी का स्थान मेध्य ओषधियों में प्रथम होने पर भी उन्माद, आपस्मार की चिकित्सा में इसका उल्लेख नहीं है।
३. शाकवर्ग में मण्डूकपर्णी का उल्लेख है।
४. ब्राह्मी और मण्डूकपर्णी के कुछ प्रयोग समान हैं यथा कुष्ठचिकित्सा में तथा मेधायुष्कामीय रसायन में।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि संहिताओं में ब्राह्मी और मण्डूकपर्णी एक ही द्रव्य के बोधक पर्याय हैं। ब्राह्मी कर्मपरक (मेध्य) तथा मण्डूकपर्णी रूपपरक पर्याय हैं। टीकाकारों में चक्रपाणि ने इस पर कोई टिप्पणी नहीं की, सम्भवतः इसकी आवश्यकता नहीं समझी। डल्हण ने मण्डूकपर्णी का अर्थ सर्वत्र ब्राह्मी कहा है और

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

ब्राह्मी को मण्डूकपर्णी कहा है। एक स्थल (सु. चि. ६।५) में ब्राह्मीभेद कहा। एक स्थल में ब्राह्मी को लवणिका कहा है (सु. चि. ७।२४) और एक अन्य स्थल (सु. उ. ६२।३०) में ब्राह्मी को मण्डूकपर्णी माना किन्तु 'अन्ये लवणिकामाहुः' कह कर एकीय मत से लवणिका का उल्लेख किया। इससे स्पष्ट है कि डल्हण भी दोनों को एक ही मानते थे यद्यपि तत्कालीन परिस्थिति में लवणिका नामक द्रव्य भी ब्राह्मी के नाम पर प्रचलित था। लवणिका को ब्राह्मी मानने वाले लोग मण्डूकपर्णी को ब्राह्मीभेद करके लेते थे। केवल एक-दो स्थलों पर इसके उल्लेख से यह सहज ही अनुमान होता है कि यह विचार अत्यन्त सीमित क्षेत्र में रहा होगा।

निघण्टुओं में मण्डूकपर्णी का स्वरूप तो अधिक नहीं बिगड़ा किन्तु ब्राह्मी कर्मपरक होने के कारण उससे अनेक ओषधियों का ग्रहण किया जाने लगा यथा मत्स्याक्षी, अजगन्धा, तेजस्विनी आदि। प्राचीनतम निघण्टु अष्टांगनिघण्टु में मण्डूकपर्णी ब्राह्मी दोनों पर्यायवाची हैं। अमरकोष में ब्राह्मी मत्स्याक्षी के लिये तथा मण्डूकपर्णी ब्राह्मणी (ब्राह्मणयष्टिका) और मञ्जिष्ठा के लिये प्रयुक्त है। स्पष्ट है कि यहाँ भी मण्डूकपर्णी का ब्राह्मी से संबन्ध ही उसे 'ब्राह्मणी' की ओर खींच ले गया।

मध्यकाल में इस प्रकार ब्राह्मी और मण्डूकपर्णी दोनों ही अनेकार्थक पर्याय मात्र रह गये, द्रव्य नितान्त सन्दिग्ध हो गये। आधुनिक काल में भी मण्डूकपर्णी ब्राह्मी के नाम पर ही चलती रही। अभी भी यह 'हरिद्वार की ब्राह्मी' कही जाती है। बंगाल-विहार में एक दूसरा द्रव्य 'वरमी' नाम से प्रचलित रहा जिसने ब्राह्मी के संदर्भ में विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया। पं० भगीरथ स्वामी इसे 'लघुब्राह्मी जलोद्भवा' मानते थे। वस्तुतः ब्राह्मी मण्डूकपर्णी ही मानी जाती थी। किन्तु आगे चल कर विद्वानों ने इन दोनों को पृथक् कर दिया और दोनों से दो भिन्न द्रव्य लिये जाने लगे।

१. मण्डूकपर्णी—Centella asiatica (Linn.) Urban.

२. ब्राह्मी—Bacopa monnieri (Linn.) Pennell.

डल्हण की 'लवणिका' द्वितीय द्रव्य है क्योंकि इसकी पत्ती लोणीशाक के समान आकृति वाली और मांसल होती है।

ब्राह्मी और मण्डूकपर्णी के सम्बन्ध में भ्रान्ति का एक बड़ा कारण यह रहा कि 'ऐन्द्री' की ओर विद्वानों का ध्यान नहीं गया। डल्हण को भी एक नई संज्ञा 'लवणिका' गढ़नी पड़ी। होता यह है कि जब किसी प्राचीन शब्द का अर्थ खो जाता है तब कालान्तर में उस अर्थ को नया शब्द मिल जाता है और वह शब्द भी नया अर्थ ग्रहण कर लेता है।

अतः अब इस सम्बन्ध में ऐन्द्री की ओर ध्यान आकृष्ट करता हूँ। यह ध्यान देने की बात है कि ऐन्द्री और ब्राह्मी का अनेक स्थलों पर साथ-साथ उल्लेख है यथा—

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

१. प्रजास्थापन महाकषाय (चरक सू० ४)

२. गर्भस्थापन (चरक शा० ८।२०, ५८, ६२)

३. ऐन्द्र रसायन (चरक चि० १।३।२४)

४. दिव्यौषधि (चरक चि० १।४।५)

इससे स्पष्ट है कि दोनों भिन्न द्रव्य हैं किन्तु समानधर्मिणी हैं। ऐन्द्री का अकेला प्रयोग बल्य गण, रेतोरोधजमूत्रकृच्छ्र चिकित्सा में (च० २६।७०) तथा वातरक्तोक्त मधुपर्ण्यादि तैल में हुआ। ये कर्म भी ब्राह्मी के समान हैं।

सुश्रुत (उ० ६२।३०) में भी उन्मादचिकित्सा में एक साथ ब्राह्मी और ऐन्द्री का पाठ है। अष्टांगहृदय (उ० १।६) में बालक के मेघायुष्कर लेह में ब्राह्मी के साथ ऐन्द्री है। रसायनप्रकरण (उ० ३९।५०) में भी ब्राह्मी के साथ ऐन्द्री है।

टीकाकारों ने ऐन्द्री को इन्द्रवारुणी, गोरक्षकर्कटी या मत्स्याक्षकभेद कहा है। इन्द्रवारुणी और गोरक्षकर्कटी विरेचन द्रव्य हैं जबकि ऐन्द्री बल्य और मेध्य है अतः ऐसा नहीं हो सकता। ऐन्द्र रसायन में ऐन्द्री और ब्राह्मी से पृथक् मत्स्याक्षक का पाठ है अतः यह दोनों से भिन्न है किन्तु ऐन्द्री और ब्राह्मी दोनों सन्दिग्ध हो जाने के कारण दोनों का संबन्ध मत्स्याक्षक से हो गया। इस प्रकार ऐन्द्री का स्वरूप लुप्त हो जाने के कारण ब्राह्मी के सम्बन्ध में भी भ्रान्ति और बढ़ती गई। निघण्टुकारों ने ब्रह्मसुवर्चला को भी इनमें मिला दिया जो कि इनसे पृथक् दिव्य ओषधियों में परिगणित है।

मेरे विचार से ऐन्द्री और मधुरस्कन्ध (च० वि० ८) में पठित इन्द्रवल्ली एक ही है। इसका मधुर विपाक होने से वहाँ पर इसका उल्लेख किया गया। एक स्थान (सु० शा० १०।४५) पर 'द्विब्राह्मी' कहा गया है। इससे प्रतीत होता है कि बृहतीद्वय, जयाद्वय आदि के समान द्विब्राह्मी भी है जिसमें ऐन्द्री और ब्राह्मी आती हैं जो अधिकांश साथ-साथ पठित हैं यथा बृहती और कण्टकारी भिन्न होने पर भी सजातीय एवं समान-गुणधर्म होने के कारण अधिकांश साथ-साथ पठित हैं और बृहतीद्वय में निर्दिष्ट हुये।

ऐन्द्री और इन्द्रवल्ली नाम इन्द्रपरक हैं जबकि ब्राह्मी ब्रह्मपरक। इन्द्र दैहिक शक्ति के प्रतीक हैं और ब्रह्मा मानस शक्ति के (ब्राह्मी सरस्वती को भी कहते हैं।) इस प्रकार दोनों मिलकर मनोदैहिक दृष्टियों से पुरुष को सामर्थ्यवान् बनाती हैं। इन्द्र का सम्बन्ध जल से भी है। कुँये को गाँवों में 'इनरा' या 'इनारा' कहते हैं। अतः ऐन्द्री और 'इन्द्रवल्ली' से उसके उद्भवस्थल का भी संकेत मिलता है। वह कुंओं पर जहाँ बराबर पानी गिरता रहता है वहाँ अधिकतर होती है। 'वल्ली' से उसकी प्रसरणशील प्रकृति का ज्ञान होता हैं।

इन सब तथ्यों का चिन्तन करने के बाद में इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि ऐन्द्री Bacopa monnieri (Linn) Pennell है जो उत्तरप्रदेश में जलनीम तथा

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

बंगाल बिहार में बरमी के नाम से प्रचलित है। डल्हण ने भी 'अन्ये' करके इसी को लवणिका कहा है क्योंकि लोनी शाक के समान इसके पत्र होते हैं। वैद्य बापालालजी का भी ध्यान इस ओर गया था और उन्होंने इन्द्रवल्ली को Bacopa monnieri माना था किन्तु ऐन्द्री से उसकी एकता का विचार न करने के कारण ऐन्द्री से उन्होंने इन्द्रवारुणी का ही ग्रहण किया (बृहत्त्रयीनी वनस्पतियो, १९३१)। बाद में संप्रति सामान्य प्रचलित धारणा से प्रभावित होकर उन्होंने भी विचार बदल दिया और ब्राह्मी से Bacopa monnieri तथा मण्डूकपर्णी से Centella asiatica लेने लगे (J. R. I. M., वर्ष ७, अंक १, १९७२, पृ. ५६–५७)। इस प्रकार ऐन्द्री और इन्द्रवल्ली पुनः पकड़ से छूट कर विस्मृति के गर्त्त में चली गई।

निष्कर्ष

१. ब्राह्मी एवं मण्डूकपर्णी दोनों पर्यायवाची शब्द हैं, भिन्न वनस्पतियाँ नहीं है। पहला पर्याय कर्मपरक और दूसरा स्वरूपपरक है। इससे Centella asiatica (Linn.) Urban.—का ग्रहण करना चाहिये जो उत्तरप्रदेश या हरिद्वार की ब्राह्मी कही जाती है।

२. ऐन्द्री एवं इन्द्रवल्ली एक ही है। इससे Bacopa monnieri (Linn.) Pennell का ग्रहण करना चाहिये। डल्हण ने इसी वनस्पति का नाम 'लवणिका' दिया है।

ऐरावत–ऐरावती

चरकसंहिता (वि. ८) में अम्लस्कन्ध के अन्तर्गत ऐरावत दन्तशठ से पृथक् पठित है। फलवर्ग (च. सूत्र २७।१६१) ने भी अम्लफलों के साथ इसका पाठ है। चक्रपाणि ने प्रथम प्रकरण में इसे नागरंग कहा है और दूसरे प्रकरण में अम्लातकं किंवा नागरंगम्' कहा। इससे स्पष्ट है कि चक्रपाणि इस सम्बन्ध में सन्देहग्रस्त थे। उनका सन्देह सही था क्योंकि आम्रातक तथा नागरंग दोनों ऐरावत से पृथक् पठित हैं अतः यह दोनों से भिन्न है। दन्तशठ के साथ पृथक् पठित होने से ऐरावत निश्चय ही उससे भिन्न है। इसी प्रकरण में पारावत भी पृथक् पठित है। इस प्रकार जब ऐरावत दन्तशठ, आम्रातक, नागरंग तथा पारावत सभी से भिन्न है तो क्या है?

डल्हण ने ऐरावत को ऐरावणिका कहा है जिसके छोटे कृष्णरक्त फल होते हैं (ऐरावतं ऐरावणिका कृष्णलोहितात्पफला—सु. सू. ४६।१९६) यहीं एक अन्य प्रकरण में डल्हण की व्याख्या से पता चलता है कि पञ्जिकाकार गयदास इससे जम्बीरभेद लेते थे—'इमं जम्बीरगुणपाठं पञ्जिकाकारो न मन्यते, ऐरावतमित्यादि।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

दन्तशठशब्देन जम्बीरस्य वक्ष्यमाणत्वात्, जम्बीरनानाविधत्वाद् युक्तोऽयं पाठ इत्यन्ये।' (सु. सू. ४६।१६५)

कुछ लोग ऐरावत से निम्बुभेद लेना चाहते हैं (आचार्य यादवजी, द्रव्यगुण-विज्ञान भाग २ पृ. १२८)। इस सम्बन्ध में निम्नांकित तथ्य ध्यान में रखने योग्य हैं :—

१. सुश्रुतसंहिता, निर्णयसागर संस्करण में 'ऐरावतं दन्तशठमम्लं शोणितपित्तकृत्' यह पंक्ति दो बार आई है। एक जम्बीर के बाद (श्लो. १६२) और दूसरे वशिर आदि के बाद (श्लो. १९१)। इस पर डल्हण की टीका परवर्त्ती पाठ पर ही है अतः उसे ही प्रामाणिक मानना चाहिए, पहला पाठ प्रक्षिप्त एवं अनावश्यक है। लिपिकार ने अत्रत्य डल्हण-व्याख्या (दन्तशठशब्देन जम्बीरस्य वक्ष्यमाणत्वात्) से भ्रान्त होकर यह पंक्ति यहाँ डाल दी। वस्तुतः जम्बीर पर आकर अम्ल द्रव्यों का प्रकरण समाप्त हो जाता है। इस प्रकरण के उपक्रम (तद्यथा—दाडिमामलक बदर······कोशाम्राम्लीकाप्रभृतीनि) में भी ऐरावत और दन्तशठ नहीं हैं।

इससे स्पष्ट है कि ऐरावत और दन्तशठ जम्बीर जाति के द्रव्य नहीं है। मातुलुंग, नारंग और जाम्बीर का वर्णन यहाँ हो ही गया जो आचार्य का अभीष्ट रहा होगा।

२. सरस फलों के वर्णन के बाद बादाम आदि शुष्क फलों का वर्णन जहाँ समाप्त हुआ उसके बाद कुछ अप्रसिद्ध फलों का वर्णन किया गया है यथा—लवलीफल, वशिर, शीतपाक्य, भल्लातकवृन्त, इंगुदी, शमीफल आदि। इन्हीं में ऐरावत और दन्तशठ हैं। इससे भी जम्बीर जाति से इनकी भिन्नता स्पष्ट हो जाती है।

३. ऐरावत और दन्तशठ दोनों कच्ची अवस्था में अम्ल तथा पकने पर मधुर हो जाते हैं यह सुश्रुत तथा चरक दोनों के वर्णन से संकेतित होता है। सुश्रुत ने लिखा है कि अम्लावस्था में ऐरावत और दन्तशठ रक्तपित्तकर हैं। यह बात चरक के कथन से और स्पष्ट हो जाती है। चरक ने आम्रातक दन्तशठ, करमर्द और ऐरावत के सम्बन्ध में लिखा है कि ये अम्लावस्था में रक्तपित्तकर होते हैं। चक्रपाणि ने इसे और स्पष्ट कर दिया है—'इहाम्रातकमम्लं ग्राह्यं, पूर्वं तु मधुर-माम्रातकमुक्तम्'।

इस प्रकार ऐरावत और दन्तशठ जम्बीर जाति से भिन्न हैं। दन्तशठ का विवेचन आगे किया जायगा, यहाँ ऐरावत का विवेचन प्रासंगिक है।

'ऐरावत' का यदि शाब्दिक अर्थ लें तो निम्नांकित अर्थ हो सकते हैं :—

१. इरावती नदी के क्षेत्र में होने वाला द्रव्य। इरावती नदी पंजाब की प्रसिद्ध नदी रावी हैं।
२. 'ऐरावत' नामक स्थान (उड़ीसा में) से जिसका सम्बन्ध हो।
३. 'इरावान्' (समुद्र) या जलीय प्रदेश में होने वाला।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कुल मिलाकर 'जल' से इसका संपर्क संकेतित होता है।

अभिधानरत्नमाला में रुद्राक्ष का पर्याय पारावत और ऐरावत दिया है :—

'पारावतं तु रुद्राक्षमैरावतमुदीरितम्।' —अम्लस्कन्ध, १९

कभी-कभी ऐसा होता है कि प्राचीन संहिताओं में कोई द्रव्य किसी नाम से पठित है जो आगे चल कर नामान्तर में परिणत हो जाता है। रुद्राक्ष के सम्बन्ध में भी यही बात हो सकती है। आश्चर्य की बात है कि भारत में रुद्राक्ष के वृक्ष होने पर भी इसका वर्णन संहिताओं में क्यों नहीं आया? वस्तुतः रुद्राक्ष का लोक में प्रचार तब हुआ जब उसके बीज तान्त्रिक समाज में माला आदि में धारण के लिए प्रयुक्त होने लगे। रुद्राक्ष का उल्लेख उत्तरगुप्तकाल में वाणभट्ट की रचनाओं में मिलता है। रुद्राक्ष का स्पष्ट उल्लेख निघण्टुशेष (१२वीं शती) में उपलब्ध होता है। यहाँ पर ध्यान देने की बात है कि पारावत और रुद्राक्ष का साथ ही एक दूसरे के बाद वर्णन है। अतः यह संभव है कि रुद्राक्ष का फल पारावत नाम से प्रचलित हो और बीज रुद्राक्ष नाम से। बीजों का ही अधिक प्रयोग होने पर फल का प्रयोग दब गया। दूसरी संभावना यह है कि पारावत रुद्राक्ष से भिन्न किन्तु तज्जातीय वृक्ष हो। राजनिघण्टु ने भी पारावत से पृथक् रुद्राक्ष का वर्णन किया है। वैजयन्तीकोष में भी रुद्राक्ष का वर्णन निघण्टुशेष से मिलता जुलता है शिवकोष में 'अक्ष' शब्द का प्रयोग रुद्राक्ष तथा बिभीतक दोनों के लिए किया गया है।

किन्तु संहिताओं में ऐरावत से पृथक् पारावत का पाठ होने के कारण दोनों भिन्न द्रव्य हैं। अतः अब संभावना रुद्राक्ष और ऐरावत के एक होने की है। यह ध्यान देने की बात है कि जैसे-जैसे रुद्राक्ष सामने आता गया, 'ऐरावत' पीछे हटता गया या दूसरे अर्थों में प्रयुक्त होने लगा। धन्वन्तरिनिघण्टु में ऐरावत नारंग का पर्याय है। राजनिघण्टु में भी यही स्थिति है यद्यपि वहाँ रुद्राक्ष का पृथक् वर्णन है।

मेरे विचार से, ऐरावत रुद्राक्ष या उसी जाति का कोई वृक्ष है जिसका फल मधुराम्ल होता है। रुद्राक्ष Elaeocarpus जाति का है। इस जाति की लगभग २५ प्रजातियाँ भारत में होती है। इनमें अधिकांश पूर्वोत्तर भारत में होती हैं। इनमें एक प्रजाति Elaeocarpus serratus Linn. है जिसे बंगाली में जलपई तथा उड़िया में जोलोपरी कहते हैं। यह मध्यम परिमाण का वृक्ष पूर्वी हिमालय में ३ हजार फीट की ऊँचाई तक होता है। इसके अतिरिक्त, पश्चिमी घाट के सदाहरित जंगलों में भी पाया जाता है। इसकी पत्तियाँ लट्वाकार, अभिलट्वाकार, दन्तुर, लम्बाग्र तथा चर्मवत् होती है। पुष्प श्वेत कक्षीय मंजरियों में होते हैं। फल अण्डाकार १–१–५ इञ्च लम्बे, चिकने, हरे होते हैं जिनके भीतर एक अस्थिवत् बीज होता है जिसके ऊपर छोटे-छोटे उभार होते हैं। फलमांस मधुराम्ल तथा

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

भक्ष्य होता है। इसका अचार, चटनी आदि बनती है। इसमें शर्करा, निम्बुकाम्ल तथा विटामिन सी मुख्य रूप से होते हैं।

सारांश

ऐरावत रुद्राक्ष जाति का फलवृक्ष है। इसका लैटिन नाम Elaeocarpus serratus Linn. है।

कङ्कुष्ठ

कंकुष्ठ का उल्लेख महर्षि चरक ने नहीं किया है। सुश्रुतसंहिता के सूत्रस्थान २८वें अध्याय विरोताविपरीतव्रणविज्ञानीय में व्रणों के वर्ण का उल्लेख करते हुए कंकुष्ठ का नाम आया है[1]। इससे इतना ही संकेत होता है कि कंकुष्ठ पीतवर्ण का कोई द्रव्य था। वाग्भट की रचनाओं, अष्टांगसंग्रह तथा अष्टांगहृदय में कंकुष्ठ का उल्लेख नहीं है। बृहत्त्रयी में केवल सुश्रुतसंहिता में वर्ण के प्रसंग में उल्लेख होने से यह स्पष्ट है कि चिकित्सा में उस काल में इसका व्यवहार नहीं था।

सुश्रुतसंहिता के उपर्युक्त श्लोक की टीका करते हूए आचार्य डल्हण ने 'कंकुष्ठं सुवर्णक्षीरीनिर्यासः' लिखा है। इससे यह स्पष्ट है कि डल्हण स्वर्णक्षीरीनिर्यास को ही कंकुष्ठ मानते थे।

सुश्रुत सूत्रस्थान अध्याय ११।१० में 'कनकक्षीरी' की व्याख्या करते हुए डल्हणाचार्य ने उसका अर्थ सुवर्णक्षीरी किया है तथा 'कंकुष्ठ' को अन्यों द्वारा एकोय मत के रूप में उल्लेख किया है।[2] उस समय के कुछ विद्वान् सम्भवतः स्वर्णक्षीरी से कंकुष्ठ का ग्रहण करते थे।

आगे चल कर डल्हण ने 'सुवर्णक्षीरी' की व्याख्या करते हुए कहा है।

'सुवर्णक्षीरी अनन्तासदृशपत्रा कङ्कुष्ठमित्यपरे'[3]।

पुनः सुश्रुत के त्रिवृतादि विरेचनीय गण में सुवर्णक्षीरी शब्द की व्याख्या में लिखा है :—

'सुवर्णक्षीरी अनन्तासदृशपत्रा हियावलि इति लोके, कंकुष्ठ इत्यपरे।'

अर्थात् सुवर्णक्षीरी वह वनस्पति है जिसके पत्र अनन्तमूल के सदृश हों और जिसे लोक में 'हियावलि' कहते हैं। इसीको कुछ लोग कंकुष्ठ भी कहते हैं[4]।

दूसरे स्थल पर सुश्रुतसंहिता के चिकित्सास्थान में 'कासीसं काञ्चनक्षोर्यौ वर्गः शोधन इष्यते' इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है :—

---

१. श्यामकुङ्कुमकङ्कुष्ठसवर्णा पित्तकोपतः। सु. सू. २८।१२
२. 'कनकक्षीरी सुवर्णक्षीरी कङ्कुष्ठमित्यन्ये'
३. सुश्रुतसंहिता, सूत्रस्थान ३८।१४
४. सुश्रुतसंहिता, सूत्रस्थान ३९।२

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

'काञ्चनक्षीर्यौ द्वे एकं कंकुष्ठम्, अन्या पीतदुग्धा यवतिक्ता' अर्थात् काञ्चनक्षीरी दो प्रकार की होती है, एक कंकुष्ठ और दूसरी पीले दूधवाली यवतिक्ता नामक वनस्पति।

डल्हण के उपर्युक्त विचारों का अवलोकन करने पर निम्नांकित तथ्य सामने आते हैं :—

१. सुवर्णक्षीरी का निर्यास कंकुष्ठ है।

२. स्वर्णक्षीरी को भी कुछ लोग कंकुष्ठ मानते हैं।

३. स्वर्णक्षीरी दो प्रकार की होती है जिनमें एक कंकुष्ठ है दूसरी पीतदुग्धा यवतिक्ता।

इन तथ्यों के पर्यालोचन से यह स्पष्ट है कि डल्हण के काल में स्वर्णक्षीरी-निर्यास ही कंकुष्ठ कहा जाता था। विवाद केवल इस बात पर था कि स्वर्णक्षीरी को कंकुष्ठ कहा जाय या नहीं। कुछ निघण्टुओं में कंकुष्ठ स्वर्णक्षीरी के पर्याय रूप में पठित है इसके अनुसार कुछ लोग डल्हण काल में भी स्वर्णक्षीरी को कंकुष्ठ कहते थे। चूंकि संहिताओं में दो प्रकार की स्वर्णक्षीरी उल्लिखित है अतः इसका समाधान डल्हण ने इस प्रकार किया है कि स्वर्ण-क्षीरी का एक प्रकार पीतदुग्धा यवतिक्ता है, तथा दूसरी जाति कंकुष्ठ है। पीतदुग्धा संभवतः पूर्वोक्त अनन्तासदृशपत्रा 'हियावलि' है। इसका अर्थ यह हुआ कि कंकुष्ठ का संबंध हियावलि के अतिरिक्त किसी अन्य वनस्पति से है जिसमें पीत दुग्ध हो।

आचार्य डल्हण ने उपर्युक्त प्रकरणों में 'स्वर्णक्षीरी' से क्या लेना चाहिये इसे निर्दिष्ट करने के लिये वहाँ पर उल्लिखित द्रव्यों के पत्र, दुग्ध आदि के प्रयोज्य अंग का उल्लेख किया है किन्तु कंकुष्ठ के संबंध में ऐसा कोई निर्देश नहीं है। इस आधार पर कुछ विद्वानों का मत है कि कंकुष्ठ वनस्पति न होकर खनिज है क्योंकि यदि कंकुष्ठ वनस्पति होता तो कहीं उसके प्रयोज्य अंग का उल्लेख अवश्य मिलता। किन्तु ऐसा भी संभव है कि स्वर्णक्षीरीनिर्यास को 'कंकुष्ठ', के नाम से ग्रहण करने के कारण वहाँ पर प्रयोज्य अंग का उल्लेख नहीं किया गया।

चक्रपाणि को चरकसंहिता में कंकुष्ठ का उल्लेख न होने के कारण उस सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करने का अवसर प्राप्त न हुआ। किन्तु सुश्रुतसंहिता की भानुमती व्याख्या में भी उपर्युक्त प्रसंग पर वह मौन ही रहे।

अष्टांगहृदय के टीकाकार अरुणदत्त ने सूत्रस्थान (१५।४५) में स्वर्णक्षीरी को कंकुष्ठ माना है। स्वर्णक्षीरी का उल्लेख श्यामादि गण में अन्य विरेचन औषधियों के साथ किया है। इस गण का मुख्य कर्म रेचन है। यह गुल्म, विष, अरुचि, कफ, हृद्रोग एवं मूत्रकृच्छ्र में गुणकारी बतलाया गया है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

शार्ङ्गधरसंहिता (मध्यम खण्ड ११।७२) में कंकुष्ठ का उल्लेख मिलता है। आढमल्ल ने इसकी दीपिका टीका में 'कंकुष्ठ स्वर्णक्षीरी अस्य भेदः चोक इति प्रसिद्धः' तथा काशीराम वैद्य ने गूढार्थदीपिका टीका में 'कंकुष्ठ चोकनिर्यासः' लिखा है।

अष्टांगनिघण्टु में 'कंकुष्ठ' स्वर्णक्षीरी का पर्याय कहा गया है :—

'स्वर्णक्षीरी हैमवती ककुष्ठः तीक्ष्णदुग्धिका'

सोढलनिघण्टु के गुडूच्यादि वर्ग में स्वर्णक्षीरी का उल्लेख मिलता है :—

'हेमदुग्धा हिमा तिक्ता श्लेष्मपित्तहरा सरा'

जबकि चन्दनादिवर्ग में कंकुष्ठ का स्वतन्त्र रूप से उल्लेख है :—

'कंकुष्ठ पित्तकृत् भेदि विबन्धकफगुल्मजित्'

केशवकृत सिद्धमन्त्र के कफघ्न वर्ग में 'काककुष्ठक' शब्द आया है जिसकी व्याख्या करते हुए बोपदेव ने 'काककुष्ठकं कंकुष्ठं' लिखा है।

बोपदेव ने हृदयदीपक के द्विपादवर्ग में स्वर्णक्षीरी का उल्लेख किया है :—

'स्वर्णक्षीरी हेमदुग्धा'—श्लोक ८४

किन्तु कंकुष्ठ का उल्लेख नहीं किया।

धन्वन्तरिनिघण्टु के चन्दनादि वर्ग में कंकुष्ठ का उल्लेख किया है :—

'कङ्कुष्ठं कालकुष्ठं च विरंग रङ्गनायकम्।
रेचकं पुलकं ह्रासं शोधनं कालपालकम् ॥ ४ ॥
कंकुष्ठं तिक्तकटुकं वीर्ये चोष्णं प्रकीर्तितम्।
गुल्मोदावर्तशूलघ्नं रसरञ्जं व्रणापहम् ॥

राजनिघण्टु के सुवर्णादि वर्ग में कंकुष्ठ का उल्लेख है :—

कंकुष्ठं कालकुष्ठं च विरङ्गं रंगदायकम्।
रेचकं पुलकं चैव शोधकं कालपालकम् ॥
कंकुष्ठं च द्विधा प्रोक्तं तारहेमाभ्रकं तथा।
कटुकं कफवातघ्नं रेचक व्रणशूलहृत् ॥

राजनिघण्टुकार के मत में स्पष्टतः यह खनिज द्रव्य है।

मदनपालनिघण्टु के अभयादि वर्ग में कंकुष्ठ का उल्लेख मिलता है :—

कंकुष्ठकं काककुष्ठं रेचनं रङ्गनायकम्।
शोधनं पुलकं हासं वराङ्गं कुक्षबालुकम्।
कंकुष्ठं रेचनं तिक्तं कटूष्णं वर्णकारकम्।
कृमिशोथोदराध्मानगुल्मानाहकफापहम् ॥—श्लोक ५१-५२

भावप्रकाशनिघण्ट के धात्वादि वर्ग में कंकुष्ठ का उल्लेख मिलता है :—

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

पोतप्रभं गुरु स्निग्धं श्रेष्ठं कंकुष्ठमादिमम् ।
श्यामं पीतं लघु त्यक्तसत्वं नेष्टं तथाऽण्डकम् ॥
कंकुष्ठं काककुष्ठं च विरङ्गं कोलकाकुलम् ॥ १६३ ॥
कंकुष्ठं रेचनं तिक्तं कटूष्णं वर्णकारकम् ।
कृमिशोथोदराध्मानगुल्मानाहकफापहम् ॥ १६४ ॥

ये सभी वर्णन कंकुष्ठ को खनिज मानने के पक्ष में हैं ।

शालिग्रामनिघण्टु के धातु-उपधातुवर्ग में कंकुष्ठ का निम्नांकित वर्णन मिलता है :—

कंकुष्ठं कालकुष्ठञ्च विरङ्गं रङ्गदायकम् ।
कंकुष्ठं रेचनं तिक्तं कटूष्णं वर्णकारकम् ॥
कृमिशोथोदराध्मानगुल्मानाहकफापहम् ।
कंकुष्ठं तिक्तकटुकं वीर्य्ये चोष्णं प्रकीर्त्तितम् ।
गुल्मोदावर्त्तशूलघ्नं रसजन्तुव्रणापहम् ॥
कंकुष्ठं पित्तकृद्भेदि विबन्धकफगुल्मनुत् ।
भजेदेनं विरेकार्थे ग्राहिभिर्यवमात्रया ॥
नाशयेदामपूर्ति च विरेच्यं क्षणमात्रतः ।
सुभक्षितं तु ताम्बूलं विरेकं तं विनाशयेत् ॥

यह सम्भवतः तत्कालीन प्रयुक्त द्रव्य का वर्णन है किन्तु वस्तुतः वह स्वरूपतः क्या था इससे पता नहीं चलता ।

रसहृदयतन्त्र में निम्नांकित विवरण मिलता है :—

रसदरदाभ्रकताप्यविमलामृतशुल्बलोहपर्पटिका ।
स्नुह्यर्कदुग्धपिष्टं कंकुष्ठशिलायुतं नागम् ॥

रसार्णव सप्तमपटल में निम्न विवरण मिलता है :—

'कंकुष्ठं विद्रुमच्छायं तच्च सत्त्वमयं प्रिये'

रसहृदयतन्त्र के नवम, द्वादश और अष्टादश अवबोधों में कई स्थानों पर पारद के संस्कारों में कंकुष्ठ का उपयोग आया है, जिसका टीकाकार ने अर्थ 'कंकुष्ठं-विरङ्ग' लिखा है परन्तु इससे इसके निर्णय में कुछ भी सहायता नहीं मिलती ।

रसरत्नसमुच्चय में निम्नांकित वर्णन उपलब्ध होता है :—

हिमवत्पादशिखरे कंकुष्ठमुपजायते ।
तत्रैकं नालिकाख्यं हि तदन्यद्रेणुकं मतम् ॥
पीतप्रभं गुरु स्निग्धं श्रेष्ठं कंकुष्ठमादिमम् ।
श्यामपीतं लघु त्यक्तसत्वं नेष्टं हि रेणुकम् ॥
केचिद् वदन्ति कंकुष्ठं सद्योजातस्य दन्तिनः ।
वर्णश्च श्यामपीताभं रेचनं परिकथ्यते ॥

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कतिचित्तेजिवांहानां नालं कंकुष्ठसंज्ञकम् ।
वदन्ति श्वेतपीताभं तदतीव विरेचनम् ॥
रसे रसायनं श्रेष्ठं निःसत्वं बहुवैकृतम् ।
कंकुष्ठं तिक्तकटुकं वीर्योष्णं चातिरेचनम् ॥
व्रणोदावर्तशूलार्तिगुल्मप्लीहगुदार्तिनुत् ।
कंकुष्ठं शुद्धिमायाति त्रिधा शुण्ठ्यम्बुभावितम् ॥
सत्वात्कर्षोऽस्य न प्रोक्तो यतः सत्वमयं हि तत् ।
भजेदेनं विरेकार्थं ग्राहिभिर्यवमात्रया ॥
नाशयेदामपूर्ति च विरेच्य क्षणमात्रतः ।
भक्षितः सह ताम्बूलैर्विरिच्यासून्विनाशयेत् ॥
बर्बूरीमूलिकाक्वाथो जीरसौभाग्यकं समम् ।
कंकुष्ठविषनाशाय भूयो भूयः पिबेन्नरः ॥ ३।११३–१२५

रसकामधेनु में निम्नांकित वर्णन मिलता है :—

कंकुष्ठं मलसम्भूतं पुलकं कालवालुकम् ।
हासाख्यं काककुष्ठं च वराङ्गं रङ्गनायकम् ॥
हिमाचलप्रदेशोत्थं गुरु स्निग्धं वरं त्रिधा ।
नलिकाख्यं पीतवर्णं द्रेष्काणं श्यामपीतकम् ॥
रेणुकं श्यामलं वर्चस्तद्योगजगजोद्भवम् ।
क्वचिदन्यत्र सम्प्रोक्तं तेजिवाहस्य नालजम् ॥
शुण्ठ्यम्बुभावितं शुद्धं कंकुष्ठं शुचि रेचनम् ।
काञ्जिकस्वेदेन तस्य शुद्धिः ॥
गैरिकवच्चास्यसत्व निर्गमः ।
कंकुष्ठकं कुष्ठकफोदरघ्नं जयेदुदावर्तकजन्तुगुल्मान् ॥
कट्वम्लतीक्ष्णोष्णविभेदि शोथानाहव्रणघ्नं कुरुते च वर्णम् ।
बब्बूलाङ्कोलकक्वाथं क्षीरसौभाग्यटङ्कणैः ॥
कंकुष्ठविषनाशाय भूयो भूयः पिबेन्नरः ॥ श्लोक २६२–२६६

आयुर्वेदप्रकाश में निम्नांकित वर्णन मिलता है :—

हिमाचलैकदेशे तु कंकुष्ठमुपजायते ।
तत्रैकं नलिकाख्यं स्यादन्यद्रेणुकनामकम् ।
पीतप्रभं गुरु स्निग्धं कंकुष्ठं शिलया समम् ।
मृद्वतीव शलाकाभं सच्छिद्रं नलिकाभिधम् ॥
रेणुकाख्यं तु कंकुष्ठं श्यामपीतरजान्वितम् ।
त्यक्तसत्वं लघु प्रायः पूर्वस्माद्धीनवीर्यकम् ॥

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कंकुष्ठं काककुष्ठं च वराङ्गं कोलवातुकम् ।
सद्योजातस्य करिणः शकृत्कंकुष्ठमुच्यते ॥
यद्वा सद्यः प्रसूतस्य वाजिबालस्य विट् स्मृतम् ।
नालं वा वाजिबालस्येत्येवं कंकुष्ठके भ्रमः ॥
शुण्ठ्यम्बुभावितं शुद्धि कंकुष्ठमुपगच्छति ।
कंकुष्ठं रेचनं तिक्तं कटूष्णं वणकारकम् ॥
कृमिशोथोदराध्मानगुल्मानाहकफापहम् ।

रसेन्द्रपुराण के चतुर्विंश अध्याय में निम्नांकित वर्णन मिलता है :—

हिमवत्पादशिखरे कंकुष्ठमुपजायते ।
तत्रैकं नलिकाख्यं च तदन्यद्रेणुकं मतम् ॥
पीतप्रभं गुरु स्निग्धं कंकुष्ठं शिलया समम् ।
मृद्वतीव शलाकाभं सच्छिद्रं नलिकाभिधम् ॥
रेणुकाख्यं तु कंकुष्ठं श्यामं पीतरजोन्वितम् ।
त्यक्तसत्वं लघु प्रायः पूर्वस्माद्धीनसत्वकम् ॥
कंकुष्ठं काककुष्ठं च वरांगं कोलवालुकम् ।
उपधातुस्तु वंगस्य इति भालुकिभाषितम् ॥ १९ ॥
वाग्भटसम्मतिस्त्वत्रेत्थम् ।
सद्योजातस्य करिणः शकृत्कंकुष्ठमुच्यते ।
यद्वा सद्यः प्रसूतस्य वाजिबालस्य विट् स्मृतम् ॥ २० ॥
नालं वा वाजिबालस्येत्येवं नानाविधं मतम् ।
आप्तवाक्यात्प्रमाणं तु सर्वेषां वचनं जगुः ॥ २१ ॥
कंकुष्ठं शुद्धतां याति त्रेधा शुण्ठयम्बुभावितम् ।
रसे रसायने श्रेष्ठं निःसत्वं बहुवैकृतम् ॥
सत्वोत्कर्षोस्य न प्रोक्तो यस्मात्सत्वमयं हि तत् ॥ २३ ॥
कंकुष्ठं तिक्तकटुकं वीर्योष्णं चातिरेचनम् ।
नाशयेदामवातं च रेचयेत्क्षणमात्रतः ॥ २४ ॥
व्रणोदावर्तशूलार्तिगुलमप्लीहगुद्रार्तिनुत् ।
कंकुष्ठ नाशयेच्छीघ्रं कठोदरजलोदरान् ॥ २५ ॥
भजेदेनं विरेकार्थं ग्राहिभिर्यवमात्रया ,। २६ ॥
बब्बूरीमूलिकाक्वाथरसौभाग्यटंकणैः ।
कंकुष्ठविषनाशाय भूयो भूयः पिबेन्नरः ॥ २७ ॥
वर्णितस्तु चतुर्विंशे द्वयोरपि विधिः शुभः ।
विज्ञाय तं कृतार्थः स्याः पुनः प्रष्टुमथार्हसि ॥ २८ ॥

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

वैद्य यादवजी त्रिकमजी आचार्य के मत से कंकुष्ठ उशारेरेवन्द (गेम्बोज) है[१]।

पं० भागीरथ स्वामी के मत से उसारेरेवन्द स्वर्णक्षीरी का सत्व है। स्वर्णक्षीरी कितने ही प्रकार की होती है। एक स्वर्णक्षीरी सत्यनाशी है द्वितीय इसी प्रकार की कश्मीर के पहाड़ पर होती है; उसके पत्ते इस सत्यानाशी की तरह होते हैं और जहरीले होते हैं। इसका स्वरस लगाते ही छाले पड़ जाते हैं। शरीर में आग लग उठती है। इसको हियावली या हिमावती कहते हैं। पंजाब से इधर सत्यनाशी की जड़ को चोक कहते हैं। पंजाब वाले कश्मीर में होने वाली स्वर्णक्षीरी को 'चोक' कहते हैं[२]।

पं० लक्ष्मीराम जी ने भी कंकुष्ठ को उसारेरेवन्द माना है[३]।

विद्यावाचस्पति श्री शालिग्राम शास्त्री के मत से कंकुष्ठ मुर्दासंग है[४]।

कविराज भूदेव मुखोपाध्याय रसायनाचार्य ने लिखा है कि कंकुष्ठ को भालुकि ने वंग का उपधातु कहा है, और अंग्रेजी में भी an ore containing tin लिखा है[५]।

वैद्य पं० हरिप्रपन्न शास्त्री ने कंकुष्ठ को मुर्दासंग या रेवनचीनी का सीरा लिखा है[६]।

प्राचीन टीकाकारों के वचन जो उद्धृत किये गये हैं, उनसे प्रतीत होता है कि कंकुष्ठ स्वर्णक्षीरी का निर्यास है। प्रमाणो से यह भी निश्चित है कि कंकुष्ठ औद्भिद द्रव्य है न कि खनिज। रसरत्नसमुच्चय आदि रसग्रन्थों में कंकुष्ठ की गणना उपरसों में की गई है। इससे यह सन्देह अवश्य होता है कि उपरसों में पठित होने से यह पार्थिव द्रव्य होना चाहिए। किन्तु उपरसों में कम्पिल्लक, अम्बर आदि कुछ द्रव्य औद्भिद तथा प्राणिज भी हैं। अतः इस आधार पर भी इसकी औद्भिदता में कोई शका नहीं रहती। सम्भवतः कम्पिल्लक के समान खनिजवत् कठिन स्वरूप तथा रसकर्म में इसका उपयोग देखकर ही रसशास्त्रियों ने इसका समावेश उपरस में किया होगा।

रसशास्त्र के कुछ ग्रन्थों में इसे सद्योजात हाथी का पुरीष तथा सद्योजात घोड़े का नाल कहा गया है। किन्तु यह तथ्य से नितान्त विपरीत है। स्वयं रसशास्त्री

१. आयुर्वेद विज्ञान (मासिक पत्रिका) जनवरी १९३२ में प्रकाशित लेख 'कङ्कुष्ठ पर मेरे विचार', पृ० २४८।

२. सन्दिग्ध निर्णय वनौषध शास्त्र, भाग ६–९, पृ० ८३७।

२. सिद्धभेषजमणिमाला की टिप्पणी से।

४. 'कङ्कुष्ठ क्या है', पुस्तिका से, १९३२ में प्रकाशित।

५. रसजलनिधि, द्वितीय भाग, पृ० २०७।

६. रसयोगसागर, प्रथम भाग, पृ० १६२।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

विद्वानों को भी इस पर आस्था नहीं थी जैसा कि आयुर्वेदप्रकाश के रचयिता ने लिखा है :—

सद्योजातस्य करिणः शकृत्कंकुष्ठमुच्यते ।
यद्वा सद्यःप्रसूतस्य वाजिबालस्य वा स्मृतम् ॥
नालं वा वाजिबालस्येत्येवं कंकुष्ठकेभ्रमः ।'

अन्य किसी प्राचीन ग्रन्थ में भी ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता। अतः यह कोई प्राणिज द्रव्य है ऐसी कोई शंका नहीं रहती।

कुछ वैद्यों ने कंकुष्ठ को मुर्दासंग मान लिया, किन्तु वस्तुतः रसग्रन्थों में दोनों का पृथक्-पृथक् उल्लेख मिलता है। दोनों के गुणकर्म तथा प्रयोग में भी अन्तर है। इससे यह सिद्ध है कि कंकुष्ठ एवं मुर्दासंग दोनों भिन्न द्रव्य है। सोढलनिघण्टु में भी इनका पृथक् वर्णन है।

यदि कंकुष्ठ औद्भिद द्रव्य है तो यह क्या है? अधिकांश विद्वान इसे उसारे रेवन्द या रेवन्दचीनी का सत या सीरा कहते हैं। शास्त्रीय वर्णन के आधार पर मूलतः इसका सम्बन्ध स्वर्णक्षीरी से ही रहा है। अष्टांगनिघण्टु में, जो प्राचीनतम निघण्टुओं में है, यह स्वर्णक्षीरी के पर्याय रूप में पठित है। यह भी निश्चित है कि स्वर्णक्षीरी का निर्यास कंकुष्ठ कहलाता था। या तो मूलतः कंकुष्ठ स्वर्ण-क्षीरी का वाचक था जो कालान्तर में उसके निर्यास के लिए प्रयुक्त होने लगा या स्वर्णक्षीरी निर्यास की संज्ञा कंकुष्ठ थी जो तादात्म्य सम्बन्ध से स्वर्णक्षीरी के लिये भी प्रयुक्त होती रही है।

जो भी हो स्वर्णक्षीरी से कंकुष्ठ का सम्बन्ध निश्चित है। संहिताओं में स्वर्णक्षीरी दो प्रकार की कही गई है। डल्हण प्रथम से अनन्तासदृशपत्रा या पीतदुग्धा यवतिक्ता हियावलि तथा द्वितीय से कंकुष्ठ का ग्रहण करते हैं। हियावलि या हिरवी Euphorbia thomsoniana नामक पौधा है जो हिमालय प्रदेश में उपलब्ध होता है। इसमें रेचन कर्म है। यदि डल्हण के अनुसार कंकुष्ठ हियावली नहीं है तो कौन सा पौधा या उसका निर्यास है। सम्भवतः डल्हण के इसी वचन ने विद्वानों का ध्यान रेवन्दचीनी की ओर आकृष्ट किया होगा और इसे उसारे-रेवन्द मानने लगे होंगे।

मध्यकाल में यूनानी चिकित्सा के प्रवेश से ऐसे औषधद्रव्यों के साथ रेवन्दचीनी का सम्पर्क भारतीय वैद्यसमाज से हो गया था। अतः उपर्युक्त परिस्थिति में कंकुष्ठ एवं उसारेरेवन्द की एकता में कोई कठिनाई नहीं हुई।

सोढलनिघण्टु में सर्वप्रथम स्वर्णक्षीरी से पृथक् कंकुष्ठ का वर्णन मिलता है। डल्हण के वर्णनों से भी स्वर्णक्षीरी की एक विशेष जाति से कंकुष्ठ के संबन्ध का संकेत मिलता है जो रेवन्दचीनी की ओर इंगित करता है। इससे अनुमान किया जा

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

सकता है कि लगभग १२वीं शती में कंकुष्ठ का मध्यकालीन स्वरूप उपस्थित हुआ। किन्तु मध्यकाल के पूर्व सम्भवतः यह हियावलि का निर्यास रहा होगा। क्षीरवान् औषधियों के क्षीर का प्रयोग आदिकाल से व्यवहार में चला आ रहा है। चरक-संहिता में स्नुहीक्षीर आदि का प्रयोग विहित है[1]। इसी प्रकार स्वर्णक्षीरी का क्षीर भी रेचन कर्म के लिये प्रयुक्त होता होगा और कालान्तर में कंकुष्ठ पर्याय इसमें रूढ़ हो गया होगा। औषधियों के अंगों के लिये पृथक् संज्ञा शास्त्र तथा लोक में प्रचलित है यथा शाल्मलीनिर्यास के लिये मोचरस, कुटजबीज के लिये इन्द्रयव, दारुहरिद्रा से निर्मित सत्व के लिये रसांजन आदि। अतः वैभिन्यमात्र से इसका पार्थक्य प्रमाणित करना उचित नहीं।

केशवकृत सिद्धमन्त्र में कंकुष्ठ के लिये जो 'काककुष्ठ' शब्द प्रयुक्त हुआ है उससे भी एक महत्त्वपूर्ण तथ्य का पता चलता है। सम्भवतः कुष्ठ के साथ इसके सम्बन्ध या सादृश्य के कारण यह संज्ञा प्रचलित हुई हो यथा कुपीलु के लिए काकपीलु या काकतिन्दुक। कश्मीर में कुष्ठ के प्रतिनिधि या मिलावट के रूप में रेवन्दचीनी के मूलों का अभी भी प्रयोग होता है।

स्वर्णक्षीरी हिमालय प्रदेश में ऊँचाई पर होने के कारण देश में सर्वत्र उपलब्ध नहीं थी तथा बड़े पैमाने पर इसके क्षीर का संग्रह, संरक्षण एवं व्यापार भी संभव नहीं था। इन कारणों से मध्यकाल में मूल कंकुष्ठ के स्थान पर इसी नाम से दूसरा द्रव्य प्रचलित हो गया होगा। कठिन स्वरूप होने के कारण रसशास्त्रियों ने इसे उपरस मान लिया और रसकर्म में इसका उपयोग करने लगे। आजकल जो कंकुष्ठ के नाम से द्रव्य आ रहा है वह Garcinia morella का निर्यास है।

निष्कर्ष एवं सारांश

कंकुष्ठ एक औद्भिद द्रव्य है। प्राचीन काल से यह स्वर्णक्षीरी का निर्यास था, मध्यकाल में उसारेरेवन्द था और अब Garcinia morella नामक वृक्ष का निर्यास कंकुष्ठ नाम से प्रचलित है।

कञ्चुकी–कुक्कुटी

अष्टांगसंग्रह में कञ्चुकी और कुक्कुटी का वर्णन लगातार रसायन-प्रकरण (उ. ४९) में लशुन और पलाण्डु के बाद दिया गया है। कञ्चुकी का स्वरूप वर्णन उस प्रकार किया है :—

---

१. 'वमनेऽश्मन्तकं विद्यात् स्नुहीक्षीरं विरेचने।
क्षीरमर्कस्य विज्ञेयं वमने सविरेचने॥ —च. सू. ११५

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

'क्षीरान्विता मूलकतुल्यकन्दा सप्ताष्टपत्रा सितरक्तकाण्डा ।
विभर्त्ति या पल्लवमब्ददर्शदात् सा कन्चुकी श्वेतवपुर्वरेण्या ॥'

अर्थात्—यह क्षीरिणी श्वेत वनस्पति है जिसके कन्द मूली के सदृश, पत्ते ७–८, काण्ड श्वेत–रक्त तथा जिसमें बरसात के प्रारंभ में नये पत्ते निकलते हैं। रसायन में इसके कन्द का प्रयोग है। इसका उल्लेख चरक, सुश्रुत तथा अष्टांगहृदय में नहीं है।

कुक्कुटी (या कुक्कुटा) का उल्लेख सुश्रुतसंहिता तथा अष्टांगहृदय में मिलता है। इसका धारण ग्रहप्रतिषेध तथा भूतबाधा में करने का विधान है। अष्टांगसंग्रह (उ. ४९) में यह रसायन-प्रकरण में पठित है। इसके कन्द का प्रयोग विहित है। समस्तरोगनाशक होते हुए भी यह विशेषतः वातहर है और अर्श, गुल्म आदि में लाभकर है[1]।

अष्टांगसंग्रह में कुक्कुटी का स्वरूप इस प्रकार बतलाया गया है :—

'कुक्कुटाण्डनिभैः कन्दैः किञ्चित् कटुकपिच्छिलैः ।
स्निग्धैर्मरकतच्छायैः खर्जूरसदृशच्छदैः ॥'

अर्थात्—इसके कन्द कुक्कुटाण्डसदृश, कटु, पिच्छिल तथा पत्र स्निग्ध-हरित, खर्जूर के सदृश होते हैं।

डल्हण ने इसकी व्याख्या ऐसे की है—

१. कुक्कुटी कुक्कुटशरीरवत् कुसुमचित्रा वल्ली स्फटिकरचितकुक्कुटाण्डतुल्यकन्दा। (सु. उ. २९।७)
२. कुक्कुटी स्फटिकरचितकुक्कुटाण्डसदृशकन्दा कुक्कुटीशरीरवत् कुसुमचित्रा वल्ली। (सु. उ. ३३।७)
३. कुक्कुटा कुक्कुटशिम्बी; वर्त्तमान प्रतिषु कुक्कुटीति दृश्यते, कुक्कुटी कुक्कुटसदृशकन्दा महौषधिः। (सु. उ. ६०।४७)

इसके अनुसार रंगीन पुष्प वाली यह लता है जिसके कन्द स्फटिकवत् श्लक्ष्ण-श्वेत कुक्कुटाण्डसदृश होते हैं।

कुक्कुटी को कुछ लोग एकपुटिया लहसुन तथा कुछ Polygonum sp. या Fritillaria sp. मानते हैं। मेरे विचार से, Chlorophytum sp. की संभावना पर भी विचार करना चाहिए।

कञ्चुकी के दुग्धवत् मूली के सदृश कन्द तथा स्वल्प पत्र होने से Euphorbia या Ceropegia की कोई प्रजाति प्रतीत होती है।

---

१. निखिलरोगहराणि विशेषतो जयति दारुणमप्यनिलामयम् ।
गुदजगुल्मतमोविषनाशिनी जनयति स्थिरतां वपुषः पराम् ॥

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कटभी—किणिही

डल्हण ने दोनों को पर्याय माना है। कहीं-कहीं किणिही को अपामार्ग बतलाया है (सु. उ. १७।४२) किन्तु चरक (वि. ७।२०–२२) और सुश्रुत (सू. ३९।६) में किणिही और अपामार्ग के प्रयोग पृथक्-पृथक् बतलाये हैं। सबसे मुख्य बात इसके विरुद्ध यह है कि किणिही सारासवों के अन्तर्गत पठित है (च. सू. २५) जिसमें सभी बड़े सारवान् वृक्ष हैं अतः अपामार्ग की संभावना पूर्णतः खंडित हो जाती है। कटभी भी अपामार्ग के साथ पृथक् पठित है, (च. चि. २३।२४५) अतः ये दोनों भिन्न हैं। किणिही के मूल और तथा (सु. सू. ३९।६, क. ८।१०८) कटभी की त्वचा (च. चि. ९।७०, २३।२०४) लेने का विधान है जबकि अपामार्ग के फलों (सु. सू. ३९।६) का प्रयोग है। सारासवों में पठित होने के कारण यह स्पष्ट है कि किणिही बड़ा वृक्ष है। कटभी की त्वचा का विधान होने से वह भी बड़ा वृक्ष प्रतीत होता है क्योंकि त्वचा प्रायः बड़े वृक्षों की ली जाती है (न्यग्रोधादेस्त्वचो ग्राह्याः)। सुश्रुत के उपर्युक्त उद्धरण में मूल से मूलत्वक् का अभिप्राय है क्योंकि करवीर और करञ्ज के भी मूल लेने का विधान है जो बड़े वृक्ष हैं।

इसी प्रकार गिरिकर्णिका की संभावना भी खंडित हो जाती है क्योंकि किणिही के साथ यह भी पृथक् पठित है (सु. सू. ३९।६) और दूसरे कि गिरिकर्णिका छोटी असार वनस्पति है।

चरक में किणिही क्रिमिघ्न महाकषाय में पठित है तथा क्रिमिचिकित्सा में भी विहित है अतः यह एक प्रसिद्ध क्रिमिघ्न द्रव्य प्रतीत होता है। कटभी एक विशिष्ट विषघ्न द्रव्य के रूप में बहुशः प्रयुक्त है (चि. २३।७०, १८७, २०४, २१३, २४५)। मानस रोगों में भी इसका प्रयोग है (चि. ९।७०, १०।३३) कट्‌फल के साथ कटभी के प्रधमन का विधान है, अतः इसकी त्वचा कटु एवं तीक्ष्ण प्रतीत होती है।

सुश्रुत में किणिही शिरोविरेचन गण में है (त्वचा ग्राह्यांग)। इसके अतिरिक्त, वातव्याधि, मुखरोग, विषचिकित्सा, नेत्ररोग, प्रतिश्याय (धूमपान), क्रिमिरोग और अपस्मार में विहित है। कटभी विषचिकित्सा में विहित है।

यह ध्यान देने की बात है कि चरक में कटभी के प्रयोग अधिक हैं जबकि सुश्रुत में किणिही के।

अष्टांगहृदय में किणिही क्रिमि, उन्माद और विष की चिकित्सा में तथा कटभी विष, उन्माद, मुखरोग की चिकित्सा में प्रयुक्त है। इस प्रकार यहाँ पर दोनों के प्रयोग प्रायः समान हैं।

ध्यान देने की बात है कि वाग्भट (उ. ३७।३६) ने सुश्रुत (क. ८।१०८) के 'किणिही' को 'कटभी' में परिणत कर दिया। इसी प्रकार सुश्रुत ने चरक के कटभी

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

(चि. १०।३३) को किणिही में परिवर्त्तित कर दिया। इससे यह स्पष्ट है कि कटभी और किणिही संहिताकारों द्वारा पर्याय रूप में प्रयुक्त थे।

दो बातें इस सम्बन्ध में और ध्यान देने योग्य हैं :—

१. चरकसंहिता में प्रारंभ में (निदानस्थान तक) केवल 'किणिही' का प्रयोग हुआ है। उसके बाद चिकित्सास्थान (दृढ़बलकृत अंश) से सर्वत्र 'कटभी' शब्द का प्रयोग है। इससे स्पष्ट है कि चरक के काल में किणिही का ही प्रयोग था, कटभी का प्रयोग बाद में प्रचलित हुआ जिसका अनुसरण दृढ़बल ने किया।

२. कटभी और किणिही के साथ श्वेत भी कहीं-कहीं प्रयुक्त हैं. (सु. क. ५।७५, अ. हृ. उ. ५।१०, ४६, ३८।१६)

इससे संदेह होता है कि कटभी की वर्ण के आधार पर एक से अधिक जातियाँ थी। संभवतः श्वेत के अतिरिक्त, नील भी हो। किन्तु वस्तुतः श्वेता और महाश्वेता पृथक् द्रव्य के रूप में पठित हैं। चरक में श्वेत के स्थान पर श्वेता हैं।

चक्रपाणि ने किणिही को एक स्थल पर कटभी और दूसरे स्थल पर अपामार्ग कहा है।

डल्हण ने इसकी निम्नांकित व्याख्यायें दी हैं :—

१. किणिही कटभी। (सु. सू. ३६।६, चि. २३।५५; क. ३।४५, ५।६६, उ. २४।३३, ५४।२४)

२. कटभी श्वेतस्यन्दः। (सु. क. ५।१८)

३. किणिही नीलस्यन्दा। (सु. क. ५।७५)

४. किणिही अपामार्गः। (सु. उ. १७।४२)

५. किणिही श्वेतस्यन्दः। (सु. उ. ६१।२३)

इस प्रकार अधिकांश स्थलों में किणिही-कटभी को पर्याय माना है। 'श्वेत' शब्द का प्रयोग होने के कारण इन्हें श्वेत और नीलस्यन्द भी कहा यद्यपि कौन श्वेत और कौन नील है इसका पृथक्करण नहीं है क्योंकि किणिही को एक बार नीलस्यन्द और दूसरी बार श्वेतस्यन्द कहा। इससे भी किणिही—कटभी का पर्यायत्व सिद्ध होता है। इसी कारण इन दोनों शब्दों का एक साथ कहीं प्रयोग देखने में नहीं आता।

मध्यकाल में निघण्टुकारों ने कटभी और किणिही को पृथक् करना चाहा। बोपदेव ने श्वेता से कटभी तथा महाश्वेता से किणिही का ग्रहण किया है :—

'श्वेता च कटभी चान्या महाश्वेता किणिह्यपि'—हृदयदीपकनिघण्ट, ६२

केशवकृत सिद्धमन्त्र में कटभी कफघ्न वर्ग तथा किणिही दोषघ्न वर्ग में पठित है। किन्तु चरक में श्वेता और कटभी का एक साथ उल्लेख होने के कारण श्वेता कटभी नहीं हो सकती। राजनिघण्टु में पुनः कटभी-किणिही पर्याय हैं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

नीलस्यन्द और श्वेतस्यन्द शब्दों से निर्गुण्डी की ओर ध्यान जाता है जिसके श्वेत और नील भेद प्रचलित हैं। किणिही के गुणधर्म और प्रयोग उसमें मिलते भी हैं। निर्गुण्डी का नाम बंगला में निशिन्दा है भी। इसकी अनेक जातियाँ भारत में प्रचलित हैं जो क्रिमि, विष, वातव्याधि आदि में प्रयुक्त होती हैं। किन्तु चरक के क्रिमिघ्न गण में किणिही और निर्गुण्डी पृथक् पठित हैं अतः दोनों भिन्न हैं।

अमरकोष ने कटभी को पारावतपदी का पर्याय दिया है। सुश्रुत ने कपोतवंका का पाठ वीरतर्वादि गण में किया है। डल्हण ने इसे एक स्थल (सू. ३८।१२) पर 'अन्ये शिरीषसदृशपत्रा स्वल्पविटपा' इति द्रव्यान्तरमाहुः' कहा है और दूसरे स्थल (चि. ६।६) पर 'कटभीसदृशपत्रो विटपी मध्यदेशे प्रसिद्धः' कहा। इस प्रकार कपोतवंका और कटभी सदृश वृक्ष प्रतीत हैं। कपोतवंका गोरख है (देखें कपोतवंका)।

अतः ठा० बलवन्त सिंह द्वारा प्रस्तावित Albizzia procera (Roxb.) Benth. नामक द्रव्य को कटभी–किणिही स्वीकार किया गया। यह द्रव्य प्रचलन में कम है अतः इसकी प्राचीन संज्ञा 'कटभी–किणिही' भी अज्ञात हो गई। अब इसके क्रिमिघ्न, मनोदोषहर, विषघ्न आदि कर्मों का परीक्षण कर इसे प्रचलित करना चाहिए।

निघण्टुकारों के अनुसार यदि कटभी (श्वेता) और किणिही (महाश्वेता) को पृथक् करना चाहें तो कटभी से Albizzia lucida Benth. तथा किणिही से A. procera. लेना चाहिए।

कटुक–कटुकदौग्धिक–कटुकिका

कटुक के फल का उल्लेख चरक तथा सुश्रुत ने मुशशोधन में लिया है। सुश्रुत ने मुखरोगों में भी इसके कषाय तथा चूर्ण का विधान किया है। चक्रपाणि इससे लताकस्तूरी लेते हैं। डल्हण ने अपना कोई विचार न देकर यह लिखा कि पञ्जिकाकार इससे लताकस्तूरी का फल तथा श्रीब्रह्मदेव लघु कक्कोलक लेते हैं। कक्कोलक बृहत् कक्कोलक है जबकि कटुक लघु कक्कोलक। यह स्मरणीय है कि लताकस्तूरी प्राचीन काल में उतनी प्रचलित नहीं थी, इसका उल्लेख केवल सुश्रुत (सू. ४६।२०४) में हुआ है, वह शीत और मूत्रल कही गई है। डल्हण ने इसे दक्षिणापथ में होने वाला विटप कहा है। अतः कटुक से कक्कोल का छोटे फलवाला भेद लेना चाहिए।

'कटुकदौग्धिक' शब्द 'कटुकदुग्धा' से निष्पन्न है—'कटुकदुग्धायाः भवम्' (कटुकदुग्धा से उत्पन्न द्रव्य)। कटुकदुग्धा स्वर्णक्षीरी का पर्याय है[1]। स्वर्णक्षीरी

१. क्षीरिणी काञ्चिका तीक्ष्णक्षीरिणी कर्षणी कटुः।
स्नुकूपर्णी कटुपर्णी च तिक्तदुग्धेति कथ्यते ॥—अभिधानमञ्जरी, १०९८

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

से उत्पन्न द्रव्य कंकुष्ठ है। अतः कटुकदौग्धिक से कंकुष्ठ का ग्रहण करना चाहिए।

कटुकिका उल्लेख सुश्रुत ने तिक्तशाकों में किया है। डल्हण ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है :—

'कटुकिका अरण्यकासमर्दिका, अन्ये तिक्तारिकामाहुः,
अपरे तु कटुतिक्तपुष्पामर्कफलाकारफलां प्रसिद्धामाहुः।'
(सु. सू. ४६।२६२)

इस प्रकार डल्हण इससे जंगली कासमर्द लेते हैं किन्तु एकीय मत से तिक्तारिका तथा अर्कसदृशफला इन दो अन्य वनस्पतियों की ओर इंगित करते हैं।

मेरे विचार से कटुकिका और कटुफला एक ही हैं। अष्टांग्रसंग्रह के अनुसार इससे धामार्गव का ग्रहण करना चाहिए। कटुकाफल (अ. हृ. २९।३५) भी यही है।

कठिञ्जर

कठिञ्जर या कुठिञ्जर चरक और सुश्रुक के शाकवर्ग में पठित है। इसका शाक मधुर, शीतवीर्य, गुरु और रूक्ष कहा गया है (च. सू. २७।९९)। सुश्रुत ने लोणिकादि शाकों में इसका पाठ किया है और यह मधुर, लवण-क्षारीय, वातवर्धक, कफघ्न तथा नातिपित्तल कहा गया है (सु. सू. ४६।२७४)।

चक्रपाणि ने इस पर कोई टीका नहीं की। डल्हण ने 'कुठिञ्जरः कुरहञ्जकः 'कोल्हसुआ' इति लोके' कहा है। अरुणदत्त ने 'कुठिञ्जरं ताम्रमूलकम्' लिखा है।

ठा० बलवन्त सिंह इससे Digeria muricata (Linn.) Mart. का ग्रहण करते हैं जो 'लहसुआ' नाम से प्रसिद्ध है।

कणकणिका

सूतिकागार के रक्षाविधान में सर्षप, अतसी, तण्डुल और कणकणिका को आगार के चारो ओर बिखेरने का विधान है। पुनः इन औषधियों की पोटली बाँध कर सूतिकागार की उत्तर देहली में रखने का उल्लेख है।

चक्रपाणि ने इसका अर्थ नहीं किया है। कुछ लोग 'सूक्ष्म कण' अर्थ करते हैं किन्तु प्रसंगों को देखने पर 'कणकणिका' एक स्वतन्त्र द्रव्य प्रतीत होता है।

१. दो बार एक ही प्रकार से इस शब्द का प्रयोग हुआ है (च. शा. ८।४७)।
२. तण्डुल के साथ 'कण' का कुछ सामञ्जस्य हो भी किन्तु 'लशुन' के बाद कणकणिका का वह अर्थ उपयुक्त नहीं होगा।

अतः कणकणिका एक स्वतन्त्र द्रव्य है यद्यपि निघण्टुओं में कण गुग्गुलु के लिये[२] आया है।

---

१. सो, नि., I–452
२. नि. शे., ८४

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कण्टकारी–बृहती

कण्टकारी से छोटी कँटेरी (रेंगनी) तथा बृहती से बड़ी कँटेरी (बनभण्टा) का ग्रहण करते हैं। ये दोनों लघुपञ्चमूल के द्रव्य हैं।

'कण्टकारी' वस्तुतः 'कण्ठकारी' है क्योंकि यह कण्ठ्य महाकषाय में पठित है तथा स्वरभेद आदि रोगों में लाभकर है। स्वर को गंभीर बनाने के कारण इसकी संज्ञा 'व्याघ्री' है। डल्हण ने विकङ्कत को 'वृक्षकण्टकारिका' लिखा है,[1] इससे स्पष्ट है कि आकृति के अनुसार वह कण्टकारी दो प्रकार की मानते थे—एक क्षुपकण्टकारिका (रेंगनी) और दूसरा वृक्षकण्टकारिका (विकङ्कत)।

बृहतीद्वय से डल्हण कण्टकारिकाद्वय लेते हैं[2]—एक स्थूलफला और दूसरी ह्रस्वफला या चणकफला। चणकफला को चणकबृहती भी नाम दिया है[3]। स्थूलफला बृहती Solanum indicum Linn. तथा चणकफला बृहती कण्टकारी (Solnum xanthocarpum Schrad & Wendle.) है। यही परम्परा में भी प्रचलित है। कुछ लोगों की मान्यता हैं कि बृहतीद्वय से बृहती की ही दो जातियाँ लेनी चाहिए।

कत्तृण–भूस्तृण–जंबीर–ध्यामक–रोहिष

उपर्युक्त पाँच द्रव्यों के परिचय में बड़ी भ्रान्ति चली आ रही है। प्रायः इन सभी को तृणजातीय समझ कर एक दूसरे के पर्याय में व्यवहृत किया जाता है। अतः इन पर विचार कर निर्णय आवश्यक है।

सर्वप्रथम यह स्वीकृत होना चाहिए कि ये पाँचों भिन्न द्रव्य हैं अतः एक दूसरे के पर्याय के रूप में किसी का प्रयोग भ्रामक है। ऐसा प्रयोग वनस्पति की सही जानकारी तथा उपलब्धि न होने के कारण हुआ है।

चरकसंहिता (चि. ३) के अगुर्वाद्य तैल में पठित उष्णवीर्य द्रव्यों में ध्यामक, रोहिष तथा भूस्तृण का पृथक्-पृथक् उल्लेख है अतः ये भिन्न द्रव्य हैं इसमें कोई संदेह नहीं है। जंबीर और भूस्तृण चरक के हरितवर्ग, सुश्रुत के पिप्पल्यादि शाक तथा वाग्भट के कुठेरादि गण में पृथक् पठित हैं। कत्तृण और भूस्तृण के सम्बन्ध में ध्यान देने की बात है कि कत्तृण चरक के स्तन्यजनन महाकषाय में अन्य तृणों के साथ पठित होने से तृणजातीय द्रव्य प्रतीत होता है जबकि भूस्तृण सुरसादि गण में पठित होने के कारण तुलसी जाति का क्षुप है। दोनों में स्थूलतः 'तृण' पद

---

१. कण्टकी विकङ्कतः वृक्षकण्टकारिकेति प्रसिद्धा। (सु. सू. ८।६)

२. बृहतीद्वयं कण्टकारिकाद्वयम्। (सु. सू. ३८।१०)
वृहत्योः कण्टकारीद्वयस्य। (सु. उ. १८।९५)

३. बृहतीद्वयं स्थूलफला चणकफला च। (सु. उ. ५१।२४)
बृहत्यौ स्थूलफला चणकबृहती च। (सु. शा. १०।६१)
बृहत्यौ सूक्ष्मफला स्थूलफला च। (सु. सू. ३८।४)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

देख कर लोग समझते हैं कि ये दोनों तृणजातीय द्रव्य हैं किन्तु सूक्ष्मता से देखने पर स्पष्ट होगा कि 'कत्तृण' में तृण है जबकि 'भूस्तृण' में 'स्तृण' है। 'कत्तृण' या 'कट्तृण' का अर्थ कटु तृण होगा जबकि 'भूस्तृण' का अर्थ है जो पृथ्वी को आच्छादित करे (समूहबद्ध होने के कारण या अपनी गन्ध के द्वारा)।

'ध्यामक' एलादि गण में तथा अन्यत्र भी (च. चि. १२, २३।७३, ७८; २८।१५४) तगर, मांसी आदि द्रव्यों के साथ पठित है। अतः यह उसी जाति का गन्ध द्रव्य प्रतीत होता है।

इस प्रकार उपर्युक्त पाँचों द्रव्यों को स्वरूपतः तीन श्रेणियों में स्थापित कर सकते हैं :—

१. भूस्तृण (तुलसीजातीय)
२. ध्यामक (मांसीजातीय)
३. कत्तृण–जबीर–रोहिष (तृणजातीय)

भूस्तृण

चरक में भूस्तृण को पुंस्त्वघ्न, कटु, रूक्ष, उष्ण तथा मुखशोधन कहा है[1]। यह कटुकस्कन्ध (च. वि. ८) में सुमुख, सुरस, कुठेरक आदि द्रव्यों के साथ तथा उन्हीं द्रव्यों के साथ उष्णवीर्य द्रव्यों (च. चि. ३) में पठित है। उन्हीं द्रव्यों के साथ रक्तपित्तनिदान (च. नि. २) तथा कृमिचिकित्सा में इसका उल्लेख है।

सुश्रुत में यह सुरसादि गण में पठित है (सु. सू. ३८।१८)। पुनः पिप्पल्यादि शाकों में इसका उल्लेख है। ये शाक कटु, उष्णवीर्य, रुचिकर तथा वातकफशामक होते हैं। इनका उपयोग अन्नसंस्कार में किया जाता है[2]। अष्टांगहृदय (सू. ६।१०६) में इसी प्रकार कुठेरादि गण में भूस्तृण का पाठ है। छर्दिरोग में अर्जक और भूस्तृण से युक्त रागों के सेवन का विधान है[3]।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, भूस्तृण कत्तृण, ध्यामक और रोहिष से नितान्त भिन्न द्रव्य है। भूतीक से भी यह भिन्न है क्योंकि दोनों अगुर्वाद्य तैल में पृथक् पठित है। वस्तुतः यह तुलसी-कुल का क्षुप है। मेरे विचार से नह Hyptis suaveolens Poit नामक वनस्पति है जिसे बिहार में भुंसरी (भूस्तृण ?) तथा उड़ीसा में गंगातुलसी कहते हैं। संभवतः इसी क्षुप को डल्हण ने तुम्वाक या गुदाक कहा है।

---

१. पुंस्त्वघ्नः कटुरूक्षोष्णो भूस्तृणो वक्त्रशोधनः। च. सू. २७।१७२
२. कटून्युष्णानि रुच्यानि वातश्लेष्महराणि च।
कृतान्नेषूपयोज्यन्ते संस्कारार्थमनेकधा॥ (सु. सू. ४६।२२२)
३. रागाः सार्जकभूस्तृणाः। (अ. हृ. चि. ६।१९)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

Hyptis suaveolens Poit—यह खर, सुगंधित क्षुप ७ फीट तक ऊंचा होता है। पत्र चौड़े लट्वाकार, २½–११ सेंमीं. लम्बे, दन्तुर, रोमश होते हैं। पुष्प–छोटे, नीलवर्ण; अक्षीय या अन्त्य मंजरियों में होते हैं। बीज कृष्णाभ भूरे, अंडाकार, चपटे होते हैं। यह पूर्वोत्तर भारत, दक्षिणभारत तथा अन्दमान-निकोबार द्वीपों में होता है।

ध्यामक

चरकसंहिता में ध्यामक धूमवर्त्ति के निर्माण में ह्रीबेर, मांसी, अगुरु आदि गन्धद्रव्यों के साथ प्रयुक्त है (सू. ५।२१)। शैलेयादि तैल (चि. १२।६५–६६) में भी इसी प्रकार गन्धद्रव्यों के साथ पठित है। मृतसंजीवन अगद (चि. २३।५४) में भी तगर, मांसी आदि के साथ उल्लेख है।

सुश्रुतसंहिता में एलादि गण में तगर, कुष्ठ, मांसी आदि के साथ इसका पाठ है। पैत्तिक व्रण के वर्णों में ध्यामक सदृशवर्ण होने पर असाध्य कहा गया है (सू. २८।१३)। डल्हण ने इसे ईषत् कृष्ण और कहीं दग्धेष्टकावर्ण कहा है। लोकभाषा में इसे 'झांवा' (ध्यामक ?) कहते हैं। इससे ध्यामक के वर्ण का पता चलता है। इससे प्रतीत होता है कि यह एक कृष्णाभ सुगंधित औषधद्रव्य है। मांसी के साथ इसका अन्यत्र (चि. २३।६९, क. २।५१, ६।१६) भी उल्लेख है।

वाग्भट ने ज्वर में गुग्गुलु, वचा आदि के साथ अपराजित धूप में इसका निर्देश किया है (अ. हृ. चि. १।१६२)।

चक्रपाणि ने ध्यामक से गन्धतृण लिया है किन्तु जैसा पहले कहा जा चुका है, यह तृणजातीय वनस्पति नहीं है। डल्हण ने भी इसी प्रकार भ्रमवश इससे कत्तृण लिया है।

संहिताओं के द्वारा ध्यामक का जो स्वरूप निर्धारित होता है उसके अनुसार यह मांसीकुल की वनस्पति होनी चाहिए। मेरे विचार से Valeriana pyrolaefolia Decne का ग्रहण ध्यामक से करना चाहिए। इसका क्षुप मांसी से मिलता जुलता है तथा उद्भवस्थान भी एक ही है। मांसी में इसकी मिलावट भी की जाती है[1]।

रोहिष

यह Cymbopogon martinii (Roxb.) Wats है। यह रूसा घास के नाम से प्रसिद्ध है[2]।

---

१. W. I., X, 427
२. विवरण द्वितीय भाग में देखें।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कत्तृण

चरकसंहिता में यह स्तन्यजनन महाकषाय में पठित है। इसके अतिरिक्त इसका दीपन, शूलहर, कासहर प्रयोग है। स्तन्यजनन गण में सभी तृणजातीय वनस्पति है अतः यह भी कोई तृणजातीय क्षुप होना चाहिए। मेरे विचार से यह Cymbopogon Jwarancusa Schult. है। यह हिमालय प्रदेश में तथा पश्चिमोत्तर भारत में विशेष होता है।

जम्बीर

बृहत्त्रयी में हरितशाक में इसका उल्लेख हुआ है। चरक ने इसे रोचक, दीपन पाचन, मुखशोधन, क्रिमिघ्न तथा कफवातशामक कहा है। यह तीक्ष्ण एवं सुगन्ध युक्त है[1]।

तृणों में कहीं इसका पाठ न होने से यह तृणजातीय क्षुप है यह कहना कठिन है। चक्रपाणि ने इसे पर्णासभेद कहा है। सुश्रुत ने भी इसका पाठ सुरसादि गण के अन्य द्रव्यों के साथ किया है। इससे पता चलता है कि यह तुलसी-कुल का कोई गन्धयुक्त क्षुप है।

कदम्ब-नीप

चरकसंहिता में कदम्ब और नीप दो शब्द आते हैं। सुश्रुतसंहिता में इनके अतिरिक्त एक तीसरा शब्द गिरिकदम्ब भी है। एक स्थल पर कदम्ब और नीप एक साथ पठित हैं जिससे ये दो भिन्न वृक्ष हैं यह स्पष्ट होता है—

'कोमलश्यामशष्पाढ्या शक्रगोपोज्ज्वला मही।
कदम्बनीपकुटजसर्जकेतकिभूषिता॥

यह वर्णन प्रावृट् ऋतु का है अतः इससे यह भी सिद्ध है कि ये दोनों वृक्ष प्रावृट् में पुष्पित होते हैं।

निघण्टुओं में धाराकदम्ब आदि भेद मिलते हैं। धन्वन्तरिनिघण्टु में धाराकदम्ब और धूलिकदम्ब दो भेद किये हैं। नीप धाराकदम्ब का पर्याय है। राजनिघण्टु में तीन भेद किये हैं—धाराकदम्ब, धूलिकदम्ब और भुमिकदम्ब। यहाँ भी नीप धाराकदम्ब के पर्याय में हैं। 'धारा' और 'धूलि' शब्द उसके पुष्पकाल का संकेत करते हैं। धाराकदम्ब बरसात शुरू होने पर पुष्पित होता है जबकि धूलिकदम्ब बरसात के पहले ही जब धूल उड़ती रहती है, तभी पुष्पित हो जाता है। भूमि-कदम्ब या गिरिकदम्ब उसका भेद है।

---

१. च. सू. २७।१६७

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

वनस्पतिविज्ञान की दृष्टि से कदम्ब के प्रमुख तीन भेद मिलते हैं—

१. Anthocephalus cadamba Miq.

यह सामान्य कदम्ब है जो बरसात में फूलता है। इसे धाराकदम्ब कहना चाहिये। राजकदम्ब भी यही है।

२. Adina cordifolia Hook. f.

इसे करम या हलदू भी कहते हैं। संस्कृत में इसका नाम हरिद्रु या हरिद्र भी मिलता है। यह जून जुलाई के लगभग फूलता है अतः इसे भी धाराकदम्ब कहना चाहिये। किन्तु पूर्वोक्त से भिन्न करने के लिए यह नीप माना जाना चाहिए। इस प्रकार धाराकदम्ब में दो हो जायेंगे—एक कदम्ब और दूसरा नीप।

३. Mitragyna parviflora Korth.

यह मई-जून में पुष्पित होता है। पुष्पकाल की दृष्टि से यह धूलिकदम्ब हो सकता है। गिरिकदम्ब, केलिकदम्ब आदि नाम इसी के हैं। राजनिघण्टु ने भूमिकदम्ब संभवतः इसीके लिये दिया है। मथुरा से गोकुल जाने वाली सड़क पर यही पेड़ है।

यदि Mitragyna parviflora को धूलिकदम्ब मान लिया जाय और गिरिकदम्ब इसके अतिरिक्त रखना हो तो इसीकी कोई जाति रक्खी जा सकती है। इसकी दो और जातियाँ भारत में होती हैं—

1. Mitragyna rotundifolia (Roxb.) Kuntze.

यह विशेषतः आसाम में पाया जाता है।

2. Mitragyna tubulosa (Arn.) Kuntze.

यह केरल में होता है।

मेरे विचार से धूलिकदम्ब और गिरिकदम्ब एक ही है। इसकी प्रथम संज्ञा पुष्पकाल तथा दूसरी संज्ञा देशवाचक है। 'केलिकदम्ब' नाम सम्भवतः कृष्णलीला के आधार पर पड़ा हो।

भूमिकदम्ब गिरिकदम्ब की छोटी जाति होनी चाहिए। 'भुमि' विशेषतः 'ह्रस्व' के लिए ही लगाते हैं। Mitragyna rotundifolia उपर्युक्त वृक्ष से छोटा होता है। अतः इसे भूमिकदम्ब मान सकते हैं।

कन्दली

इसका उल्लेख केवल एक स्थल पर सुश्रुत ने पित्तसंशमन वर्ग में किया है (सु. सू. ३९।८)। डल्हण ने इसका परिचय देते हुए लिखा है—'कन्दली श्वेतश्लक्ष्णबहुपुटकन्दविशेषः, 'सर्पच्छत्रकम्' इति लोके'। अर्थात् कन्दली श्वेत, चिकने, बहुपुटी कन्द से युक्त वनस्पति है जिसे लोक में 'सर्पच्छत्र' कहते हैं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

यह लोकप्रचलित वनस्पति रही है, अतः कवियों ने भी कन्दल या कन्दली का प्रचुर वर्णन किया है[1]। यह ग्रीष्म ऋतु में सूख जाती है, वर्षा में पुनः उत्पन्न होती है तथा शरद् में पुष्पित होती है[2]।

यह Crinum sp. है।

कपीतन

कपीतन चरक के मूत्रसंग्रहणीय महाकषाय में पठित है। इसके अतिरिक्त, यह फलासव, कषायस्कन्ध, शीतवीर्य द्रव्यों में परिगणित है। इन सन्दर्भों में यह न्यग्रोध, उदुम्बर, अश्वत्थ आदि क्षीरी वृक्षों के साथ आया है।

सुश्रुत ने न्यग्रोधादि गण तथा विषघ्न द्रव्यों में इसका पाठ किया है। वाग्भट ने न्यग्रोधादि गण तथा चन्दनादि घृत (पैत्तिक ग्रहणी) में इसका उल्लेख किया है।

चक्रपाणि ने गन्धमुण्ड का ग्रहण किया है। डल्हण इससे आम्रातक और गर्दभाण्ड लेते हैं। अरुणदत्त ने वानीर लिया है। निघण्टुओं में यह आम्रातक, पारीष तथा शिरीष का वाचक है।

ठा० बलवन्त सिंह सुश्रुत के एक संदर्भ[3] के आधार पर कपीतन के दो भेद क्षीरी और अक्षीरी मानते हैं। क्षीरी कपीतन से Ficus sp. तथा अक्षीरी से शिरीष, पारीष या आम्रातक प्रजाति का ग्रहण करते हैं। किन्तु मेरे विचार से ऐसा भेद करना उचित नहीं है। सुश्रुत के उक्त वचन का अर्थ है—'राजादन, क्षीरी (वृक्ष) और कपीतन'। इससे इतना ही अभिप्राय निकलता है कि सुश्रुत क्षीरी वृक्षों में कपीतन का समावेश नहीं करते थे। 'राजादन और क्षीरीकपीतन' यह अर्थ इस कारण भी संगत नहीं है कि यह पद बहुवचनान्त है, द्विवचनान्त नहीं, अतः यहाँ दो से अधिक द्रव्यों का ग्रहण अभिप्रेत है।

वस्तुतः कपीतन से गर्दभाण्ड (Thespesia populnea Soland ex Correa) का ग्रहण करना चाहिए। चक्रपाणि ने सम्भवतः इसीको गन्धमुण्ड लिखा है या लिपिदोष से ऐसा हुआ हो। न्यग्रोधादि गण के प्रसंग में कपीतन का अर्थ डल्हण ने आम्रातक किया है वह सही नहीं है, वहाँ भी गर्दभाण्ड ही होना चाहिए क्योंकि वह कषाय एवं स्तम्भन द्रव्यों का प्रकरण है। अरुणदत्त ने कपीतन

---

१. नीपं दृष्ट्वा हरितकपिशं केसरैरर्धरूढै-
राविर्भूतप्रथममुकुलाः कन्दलीश्चानुकच्छम् ।
दग्धारण्येष्वधिकसुरभिं गन्धमाघ्राय चोर्व्याः
सारङ्गास्ते जललवमुचः सूचयिष्यन्ति मार्गम् ॥ (मेघदूत, पृ. २१)

२. P. V. Sharma : Indian Medicine In the Classical Age, p. 145

३. राजादनक्षीरिकपीतनेषु षट् पानकान्यत्र हितानि च स्युः। (सु. उ. ४८।२६)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

से वेतस सम्भवतः इस कारण लिया कि वाग्भट क्षीरीवृक्षों में वेतस का ग्रहण करते हैं (देखें क्षीरीवृक्ष)। आम्रातक के लिए धन्वन्तरिनिघण्टु में पीतनक, अमरकोष में पीतनक और कपीतन तथा परवर्त्ती निघण्टुओं में कपीतन आया है। इस ऐतिहासिक क्रम से स्पष्ट है कि 'पीतनक' ही बाद में 'कपीतन' में परिणत हो गया जिसमें आम्रातक का पर्याय 'कपिचूत' सहायक बना। 'पारीष' तथा 'शिरीष' में भी भ्रम हुआ है।

कपोतवङ्का

यह चरक में नहीं है। सुश्रुत के वीरतर्वादि गण मे पठित है। अश्मरी-चिकित्सा में इसका तथा इसके स्नेह का प्रयोग है। पूतनाग्रह में परिषेक के लिए निर्दिष्ट है।

डल्हण ने इसकी निम्नांकित व्याख्या की है :—

१. कपोतवङ्का सुवर्चला, अन्ये शिरीषसदृशपत्रा स्वल्पविटपा इति द्रव्यान्तरमाहुः —सु. सू. ३८।१२

२. कपोतवङ्का कटभीसदृशपत्रो विटपी मध्यदेशे प्रसिद्धः—सु. चि. ७।६
कपोतवङ्का प्रसिद्धैव—सु. चि. ७।२५

३. कपोतवङ्का ब्रह्मसुवर्चला—सु. चि. ३१।५

४. कपोतवङ्का कवड़वङ्केति लोके प्रसिद्धा ब्रह्मसुवर्चलापरपर्याया—सु. उ. ३२।३

इस प्रकार डल्हण ने कपोतवङ्का को सुवर्चला, ब्रह्मसुवर्चला, कटभीसदृश विटप तथा शिरीषसदृश स्वल्प विटप माना है जो किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँच पाता।

कपोतवङ्का से गोरख (Dalbergia lanceolaria Linn.) का ग्रहण करना चाहिए।

करञ्ज

चरकसंहिता में 'करञ्जौ द्वौ' स्पष्ट रूप से आया है (च. चि. १५।१७९)। यह करञ्जद्वय क्या है इस पर चक्रपाणि ने यहाँ कोई व्याख्या नहीं की। किन्तु अन्यत्र प्रकीर्या तथा उपकीर्या–फलिनी गण में पठित वनस्पतियों को करञ्जद्वय कहा (च. सू. १।८२)। ये दोनों विरेचन हैं और इनके फल उपयोगी हैं। चिरबिल्व लेखनीय एवं भेदनीय गणों में और नक्तमाल कण्डूघ्न गण में पठित है। चरक ने विमानस्थान में (८ अ.) विरेचन द्रव्यों में प्रकीर्या का उल्लेख करने के बाद करञ्ज को कटुस्कन्ध तथा नक्तमाल को तिक्तस्कन्ध में रखा है। यहाँ करञ्ज से पूतीक का ग्रहण कर चरक ने करञ्ज को नक्तमाल से भिन्न माना। यदि इन दोनों का प्रकीर्या और उदकीर्या का पर्याय मानें तो प्रकीर्या को (पूति) करञ्ज तथा उदकीर्या को नक्तमाल कह सकते हैं। कहीं 'करञ्ज' नक्तमाल का बोधक है (च. चि. ३।२६७); यहाँ यह चिरबिल्व से पृथक् पठित है। वस्तुतः करञ्ज दोनों का बोधक है अत एव चरक

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

ने एक स्थल पर 'पूतीक' का बोध कराने के लिए करञ्ज के आगे पूतीक विशेषण लगाया है (च. चि. २६।२३)

सुश्रुतसंहिता में आरग्वधादि, श्यामादि तथा अर्कादि गणों में 'करञ्जद्वय' का पाठ है। इनके अतिरिक्त, सालसारादि तथा वरुणादि गणों में पूतीक और नक्तमाल का एकत्र उल्लेख है। श्लेष्मसंशमन वर्ग में प्रकीर्या तथा उदकीर्या है। इससे निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि पूतीक और नक्तमाल ही सुश्रुतोक्त करञ्जद्वय है तथा यही क्रमशः प्रकीर्या और उदकीर्या है। वाग्भट ने भी इन्हें करञ्जद्वय कहा है (अ. हृ. सू. १५।२१) तथा प्रकीर्या और उदकीर्या पर्याय दिये हैं (अ. हृ. सू. १५।२८)।

डल्हण ने पूतीक को चिरबिल्व तथा नक्तमाल को बृहत् करञ्ज लिखा है। इससे स्थिति स्पष्ट हो जाती है। प्राचीन करञ्जद्वय में निम्नांकित वनस्पतियाँ थीं :—

१. पूतीक (चिरबिल्व, प्रकीर्या, करञ्ज)—(Holoptelia integrifolia Planch)।

२. नक्तमाल (उदकीर्या)—(Pongamia pinnata Lierra.)।

यद्यपि डल्हण ने उपर्युक्त दोनों वनस्पतियों का परिचय ठीक दिया तथापि 'करञ्जद्वय' की व्याख्या में प्राचीन अवधारणा का उल्लेख न कर समसामयिक मान्यता का उल्लेख किया। बात यह है कि कण्टकीकरञ्ज का उल्लेख चरकसंहिता में कहीं नहीं मिलता और न सुश्रुत ने ही स्पष्ट रूप से इसका कहीं उल्लेख किया। ऐसा प्रतीत होता है कि कण्टकीकरञ्ज का विशेष प्रयोग मध्यकाल में प्रारम्भ हुआ और शनैः शनैः इसने चिरबिल्व को हटा कर करञ्जद्वय में नक्तमाल के साथ स्थान प्राप्त कर लिया। इसी स्थिति का डल्हण ने उल्लेख किया है। नक्तमाल को वह बृहत् करञ्ज या वृक्षकरञ्ज तथा लताकरञ्ज को कण्टकी या विटप-करञ्ज कहते हैं। कहीं-कहीं (सु. सू. ३८।६) उसने करञ्जद्वय में नक्तमाल के स्थान पर चिरबिल्व लिया है। यह उसके भ्रम का परिचायक है क्योंकि जब पूतीक चिरबिल्व है और वह नक्तमाल से पृथक् पठित है तब नक्तमाल और चिरबिल्व एक कैसे हो सकते हैं ? पूतीक सुश्रुत के अधोभागहर गण में पठित है तथा चिरबिल्व चरक के भेदनीय एवं लेखनीय गणों में निर्दिष्ट है। गुल्म-चिकित्सा में चरक ने चिरबिल्व के अंकुरों का प्रयोग किया है (च. चि. ५।१६५)। उसे सुश्रुत ने 'पूतीक' शब्द से कहा है (सु. उ. ४२।६१)। इससे पूतीक और चिरबिल्व की एकता सिद्ध होती है। चूंकि पूतीक और नक्तमाल पृथक् पठित हैं अतः चिरबिल्व नक्तमाल नहीं हो सकता।

कण्टकीकरञ्ज के समावेश के बाद करञ्जद्वय में नक्तमाल तथा कण्टकीकरञ्ज को लेने लगे। नक्तमाल के पर्यायों में उदकीर्य और चिरबिल्व दोनों समाविष्ट हो गये तथा कण्टकीकरञ्ज के पर्याय पूतीक, पूतिकरञ्ज और प्रकीर्य हुये। निघण्टुओं में यह

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

स्थिति दृष्टिगत होती है[१]। धन्वन्तरिनिघण्टु में स्थिति अत्यन्त भ्रामक है। वहाँ पूतीक, नक्तमाल, चिरबिल्व सब पर्यायरूप में हैं[२]। करञ्ज के अनेक भेदों का भी वर्णन है जो स्पष्ट नहीं हैं। कैयदेवनिघण्टु में नक्तमाल को प्रकीर्या तथा पूतीक (चिरबिल्व) को उदकीर्या कहा है। इनसे पृथक् कण्टकरञ्ज का वर्णन है। कण्टकरञ्ज का पृथक् वर्णन सम्भवतः सर्वप्रथम यही है। भावप्रकाशनिघण्टु में स्थिति और विचित्र है। उसमें नक्तमाल का पर्याय चिरबिल्व दिया है तथा उसके अतिरिक्त प्रकीर्य (पूतीक) और उदकीर्य (करञ्जी) का वर्णन किया है। इस प्रकार वहाँ करञ्जत्रय हो गया है। तथापि कण्टकीकरञ्ज का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है। इतना होने पर भी कुछ मध्यकालीन निघण्टुओं ने भी प्राचीन मान्यता को ठीक-ठीक प्रस्तुत किया है[३]।

निष्कर्ष—पूतीक और नक्तमाल करञ्जद्वय है। पूतीक के पर्याय प्रकीर्या, चिरबिल्व हैं तथा नक्तमाल उदकीर्या है। इनके वानस्पतिक नाम दिये गये हैं।

प्रकीर्योदकीर्ये करञ्जद्वयम्। चक्र. (च. सू. १।८२)
करञ्जद्वयम् वृक्षविटपकरञ्जौ। ड. (सु. सू. ३८।१६, २६
करञ्जद्वयम् एकश्चिरबिल्वः, द्वितीयः कण्टकी विटपकरञ्जः। ड. (सु. सू. ३८।६)
चिरबिल्वः वृद्धकरञ्जः 'चिरिहिलि' इति लोके। ड. (सु. सू. ३७।१०)
चिरबिल्वः वृक्षकरञ्जः। ड. (सु. सू. २।८६)
पूतीकः कण्टकिकरञ्जः। ड. (सु. सू. ११।१३)। यद्यपि 'पूतीक' शब्द से अधिकतर चिरबिल्व लिया है। करञ्जद्वय में कण्टकीकरञ्ज का ही ग्रहण किया। 'पूती(ति)करञ्ज' से प्रायः कण्टकीकरञ्ज का ग्रहण किया है।
उदकीर्या चिरबिल्वः। (सु. सू. ३६।६)
प्रकीर्यः कण्टकिकरञ्जः। ड. (सु. उ. ११।६); प्रकीर्या कण्टकी विटपकरञ्जः (सु. सू. ३६।६)
नक्तमालः बृहत् करञ्जः। ड. (सु. सू. १४।३५, ३८।१६), महाकरञ्जः (चि. २३।१२), करञ्जः (चि. १।१०३, ४।३०)

---

१. चिरबिल्वश्चोदकीर्यो नलमालः करञ्जकः।
पूतिकः पूतिकरजः प्रकीर्यश्च सकण्टकः॥ (य. र.)
२. करञ्जो नक्तमालश्च पूतिकश्चिरबिल्वकः। (ध. नि., ५।१०७)
३. पूतिकरञ्जः कैडर्यः प्रकीर्यश्चिरबिल्वकः।
उदकीर्यो नक्तमालः करञ्जो लाजपुष्पकः॥ (अ. नि., ७४)
और देखें—ह. दी. ११
सोढल ने करञ्ज और पूतिकरञ्ज दो करञ्जों का वर्णन किया है जो क्रमशः नक्तमाल एवं पूतीक हैं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

करञ्जो वृक्षकरञ्जः । ड. (सु. सू. ४५।११५); करञ्जोनक्तमालः । ड. (सु. उ. ३०।८)

करञ्जिका

करञ्जिका का उल्लेख चरकसंहिता में नहीं है, सुश्रुतसंहिता में व्रणशोधन, कुष्ठघ्न तथा विषघ्न रूप में इसका प्रयोग है (सु. चि. २।७४, ९१, ९।१०, क. ६।३)। वाग्भट ने रात्र्यन्धता में इसके अञ्जन का विधान किया है।

डल्हण ने करञ्जिका को वृक्षकरञ्ज या नक्तमाल कहा है। कहीं इससे करञ्ज का फल लिया गया है।

धन्वन्तरिनिघण्टु में उदकीर्य तथा अङ्गारवल्लिका ये दो करञ्जविशेष के रूप में वर्णित हैं। भावप्रकाशनिघण्टु में उदकीर्य का ही करञ्जी के नाम से करञ्ज के तृतीय भेद के रूप में वर्णन किया गया है। इसका हिन्दी नाम अरारी दिया है। हृदयदीपक में इसके उत्तुण्डकी शार्ङ्गेष्टा तथा काकतिक्ता पर्याय किये हैं। कैयदेवनिघण्टु में करञ्ज के अन्तर्गत इसका वर्णन किया है जिसमें उपर्युक्त पर्यायों के अतिरिक्त अङ्गारवल्लिका भी दिया है। इस प्रकार धन्वन्तरिनिघण्टु के अङ्गारवल्लिका का वर्णन हृदयदीपक तथा कैयदेवनिघण्टु में किया है।

करञ्जिका वृक्षकरञ्ज या नक्तमाल नहीं हो सकता क्योंकि ह्रस्वार्थक क प्रत्यय और स्त्रीलिंग होने से यह लता जाति की वनस्पति प्रतीत होती है। करञ्जवत् होने से करञ्जिका नाम है। भावप्रकाश में 'अरारी' नाम Acacia pennata Willd. की ओर संकेत करता है जो 'अरार' या ऐल नाम से प्रसिद्ध है। इसीसे मिलती-जुलती A. canesscens Grab. भी अरार कही जाती है। इसकी लता नदियों के किनारे होने से 'उदकीर्य' पर्याय सार्थक है। इसकी छाल में ९% टैनिन होता है जिससे इसका स्तम्भन कर्म होता है।

दूसरी वनस्पति जिसकी ओर ध्यान जाता है वह है Caesalpinia sepiaria Roxb. जिसकी कण्टकित लता कण्टकीकरञ्ज के सदृश होती है। काकवल्ली, अङ्गारवल्ली, शार्ङ्गेष्टा आदि पर्याय गुञ्जा में भी आते हैं। भावप्रकाश में करञ्जिका के बाद ही गुञ्जा का वर्णन है। अतः यह भी सम्भव है कि यह गुञ्जा (Abrus precatorius Linn.) की एक प्रजाति A. pulchellus Wall. हो। यह ध्यान देने की बात है कि गुञ्जा को कई क्षेत्रों की लोकभाषा में 'करजनी' कहते हैं जो 'करञ्जी' का रूपान्तर है।

धन्वन्तरिनिघण्टु और भावप्रकाश का उदकीर्य (करञ्जविशेष या करञ्जी) Acacia pennata Willd. और अंगारवल्ली (करञ्जविशेष) Abrus pulchellus Wall. प्रतीत होता है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

करवी–कारवी–उपकुञ्चिका

सुश्रुत ने इसका वर्णन पिप्पल्यादि शाकोपयोगी द्रव्यों में किया है (सु. सू. ४६।२३०)। जीरकद्वय का गुणधर्म बतलाने के बाद करवी, कारवी तथा उपकुञ्चिका के गुण तत्सदृश कहे।

डल्हण ने कारवी को उत्तरापथ में प्रसिद्ध कृष्णजीरक तथा करवी को एकीय मतों से यवानी, अजमोदा और राजिका कहा है।

जीरकद्वय में डल्हण शुक्ल और पीत जीरक लेते हैं और कारवी को कृष्णजीरक मानते हैं किन्तु वस्तुतः जीरकद्वय में शुक्ल और कृष्ण जीरक हैं। कारवी और करवी कृष्णजीरक से भिन्न किन्तु मिलतें-जुलते द्रव्य हैं। कृष्णजीरक Carum bulbocastanum W. Koch. है, कारवी Carum carvi एवं करवी Carum की अन्य प्रजाति है। स्मरणीय है कि Carum की लगलग १० प्रजातियाँ भारत में पाई जाती हैं और प्रायः सभी कृष्णजीरक में मिले-जुले चलते हैं[१]।

उपकुञ्चिका मंगरैल (Nigella sativa Linn.) है। जीरकद्वय में इसे मिलाने से जीरकत्रितय बनता है जिसका वर्णन निघण्टुकारों ने किया है। डल्हण ने उपकुञ्चिका को जीरकभेद ही करके लिखा है—'उपकुञ्चिका स्थूलजीरक ईषत्कृष्णो बृहज्जीरक इति लोके'।

कर्कश–कर्कोट

कर्कश का पाठ तिक्त शाकों तथा तिक्तस्कन्ध में चरक ने किया है। साथ-साथ कर्कोटक भी है। अतः दोनों भिन्न किन्तु सजातीय हैं। सुश्रुत ने कर्कश का उल्लेख न कर केवल कर्कोटक का पाठ किया है। यह भी तिक्तवर्ग, तिक्तशाक में पठित तथा नेत्ररोग एवं ज्वर में पथ्य कहा गया है।

चक्रपाणि ने कर्कश को स्वल्प कर्कोटक कहा है। डल्हण ने केवल एक स्थल पर 'कर्कोटकः प्रसिद्धः' यह लिखा। चक्रपाणि की व्याख्या उपयुक्त प्रतीत होती हैं। 'कर्कश' का ही अपभ्रंश हिन्दी नाम 'खखसा' है, कर्कोटक 'ककोड़ा' है। अधिकांश शाक में कर्कश ही प्रचलित है अतः उसे निघण्टुकारों ने कर्कोटी नाम भी दिया है जो कर्कोटक की तुलना में उसकी स्वल्पता का बोधक है। कर्कोटक Momordlca dioica Roxb. ex Willd. है तथा कर्कश उसीका एक भेद है।

कर्कारुक

चरक में केवल एक स्थल (चि. १९।३२) पर कर्कारुक का पाठ है। इसके शाक का प्रयोग प्रवाहिका में हुआ है।

---

१. देखें द्रव्यगुणविज्ञान, भाग २

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

५. कर्णिकार ?

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

सुश्रुत ने अनेक प्रसंगों में कर्कारु का उल्लेख किया है। यह मधुर वर्ग, मधुर तैलयोनि द्रव्य, शाकवर्ग में पठित है तथा इसके बीज का प्रयोग वातार्बुद में उपनाहार्थ और तैल का मूत्राघात में हुआ है। यह ज्ञातव्य है कि प्रायः यह 'त्रपुसैर्वारुककर्कारुक' इस क्रम से पठित है।

चक्रपाणि ने इसे कूष्माण्डभेद माना है। डल्हण इसे कर्कटीभेद या वाडव त्रपुस (लोकनाम 'खरवारु' या 'खेरसा') मानते हैं। यद्यपि अनेक प्रसंगों में इसके साथ कूष्माण्ड भी पठित होने से सन्देह होता है किन्तु सुश्रुत का शाकवर्ग देखने से यह निश्चित हो जाता है कि कर्कारु त्रपुसभेद ही है। वहाँ शाकवर्ग का प्रारम्भ कूष्माण्ड, अलाबु, कालिन्द प्रभृति से हुआ है उसमें कर्कारु का नाम नहीं है। कर्कारु द्वितीय वर्ग में त्रपुस आदि के साथ आता है (त्रपुसैर्वारुकर्कारुकशीर्णवृन्तप्रभृतीनि)।

अतः कर्कारु त्रपुसभेद (Cucumls sativus Linn.) है। आदिवासियों में जो कर्कारु' नाम कूष्माण्डभेद (Cucurbita pepo DC.) के लिए प्रचलित है वह वास्तविक द्रव्य की अनुपलब्धि के कारण प्रतिनिधिभूत द्रव्य के कारण मानना चाहिए।

कर्णिकार

संहिताओं में इसका अत्यन्त स्वल्प उल्लेख हुआ है। चरक ने इसे आरग्वध के पर्यायों में लिखा है (च. क. १।३)। सुश्रुत ने पित्तप्रकृति पुरुष के लक्षण बतलाते हुए कहा है कि वह स्वप्न में कनक, पलाश और कर्णिकार (के पुष्प) देखता है। इससे कर्णिकार के पीले फूलों[1] का संकेत मिलता है। अन्य प्रसंग से पता चलता है कि इसके पुष्प सुन्दर होते हुए भी निर्गन्ध होते हैं[2]।

अमरकोष ने कर्णिकार आरग्वध के पर्यायों में न देकर परिव्याध या द्रुमोत्पल का पर्याय दिया है—'द्रुमोत्पलः कर्णिकारः परिव्याधे' (अ. को. २।४।६०)। मेदिनी ने भी ऐसा ही लिखा है। भानुजी दीक्षित ने अमरकोष व्याख्या में इसका हिन्दी नाम 'कठचम्पा' दिया है।

इससे स्पष्ट हैं कि कर्णिकार नाम से आरग्वध के अतिरिक्त एक अन्य द्रव्य भी प्रचलित था। टीकाकारों ने इस पर कोई प्रकाश नहीं डाला हैं। द्रुसोत्पल क्या है यह भी पता चलता। शब्द से इतना ही संकेत मिलता है कि इसके वृक्ष में उत्पल सदृश पुष्प होते हैं।

लोकभाषा की दृष्टि से देखें तो आरग्वध को हिमाचल प्रदेश में 'कनियार' कहते हैं जो कर्णिकार का अपभ्रंश है। Garuga pinnata Roxb. 'केकर' नाम से प्रसिद्ध है। इसमें भी पीताभ उत्पल सदृश छोटे पुष्प लगते हैं। कनियार

१. आकृष्टहेमद्युतिकर्णिकारम्—कुमारसम्भव, ३।५३;
२. वर्णप्रकर्षे सति कर्णिकारं दुनोति निर्गन्धतया स्म चेतः।—(कुमारसम्भव, ३।२८)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

(कठचम्पा या कनक चम्पा) के नाम से विशेष रूप से मुचकुन्द (Pterospermum acerifolium Willd.) है। स्मरणीय है कि मुचकुन्द का उल्लेख संहिताओं में नहीं है। सुश्रुत में एक स्थल (चि. १८।१०) पर 'मुचकुन्द' है जिससे एकीय मत से डल्हण मुचकुन्द लेते हैं।

कालिदास के वर्णन के आधार आधार पर वर्णप्रकर्ष तथा निर्गन्धता[1] दोनों जो आरग्वध में मिलती है वह अन्य किसी द्रव्य में नहीं। अतः कर्णिकार से आरग्वध (Cassia fistula Linn.) का ग्रहण करना उपयुक्त है।

कलाय–त्रिपुट–खण्डिका–सतीन–हरेणु

सुश्रुत ने वैदलों में इन चारों का पृथक् उल्लेख किया है (सु० सू० ४६।२०) अतः इनकी पृथक्ता में कोई सन्देह नहीं। चरक ने खण्डिका, हरेणु तथा कलाय इन तीन का शमीधान्यवर्ग में पाठ किया है (च० सू० २७।२८,२९)। सतीन का भी प्रयोग हुआ है (च० चि० २४।१३९, सि० ३।८)। 'त्रिपुटक' शब्द का प्रयोग केवल सुश्रुतसंहिता में हुआ है।

चक्रपाणि ने सतीन तथा हरेणु को वर्त्तुल कलाय और खण्डिका तथा कलाय को त्रिपुटकलाय कहा है। डल्हण ने कलाय को त्रिपुट, त्रिपुट को इसीका स्वल्प भेद, सतीन को वर्त्तुलक तथा हरेणु को स्वल्पवर्त्तुलक कहा है। इसके आधार पर सतीन बड़ी मटर, हरेणु छोटी मटर, कलाय बडा त्रिपुट (खेसाड़ी या लतरी) तथा त्रिपुट उसी का छोटा भेद सिद्ध होता है।

चरक ने त्रिपुट के लिए 'खण्डिका' शब्द का प्रयोग किया है। 'कलाय' शब्द आगे चलकर सतीन का पर्याय बन गया। इसका कारण सम्भवतः सतीन की एक जाति कलाय (त्रिपुट) से मिलती-जुलती (कोणीय) तथा उसमें कलाय में खञ्जत्वजनक घटक की उपस्थिति होना है[2]।

हरेणु के सम्बन्ध में बड़ी भ्रान्ति है। कुछ लोग हरेणु (का) और रेणुका को एक तथा कुछ लोग भिन्न मानते हैं। डल्हण ने इन्हें एक ही माना है (सु० चि० २।७५)। कुछ लोग इसे निर्गुण्डीबीज मानते हैं ('देखें निर्गुण्डी)। सुश्रुत ने एलादिगण में हरेणु का पाठ किया है। वाग्भट ने एलाद्वय में इसका समावेश किया है। इस आधार पर हरेणुका या रेणुका से स्थूलैला का ग्रहण किया जा सकता है (देखें एलाद्वय)।

कलायवल्ली

इसका उल्लेख केवल सुश्रुतसंहिता में अर्श में उपयोगी शाकों में हुआ है (सु० चि० ६।८। इसकी व्याखया डल्हण ने नहीं की है।

---

१. इनका बिवरण द्रव्यगुणविज्ञान, भाग ३ में देखें।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

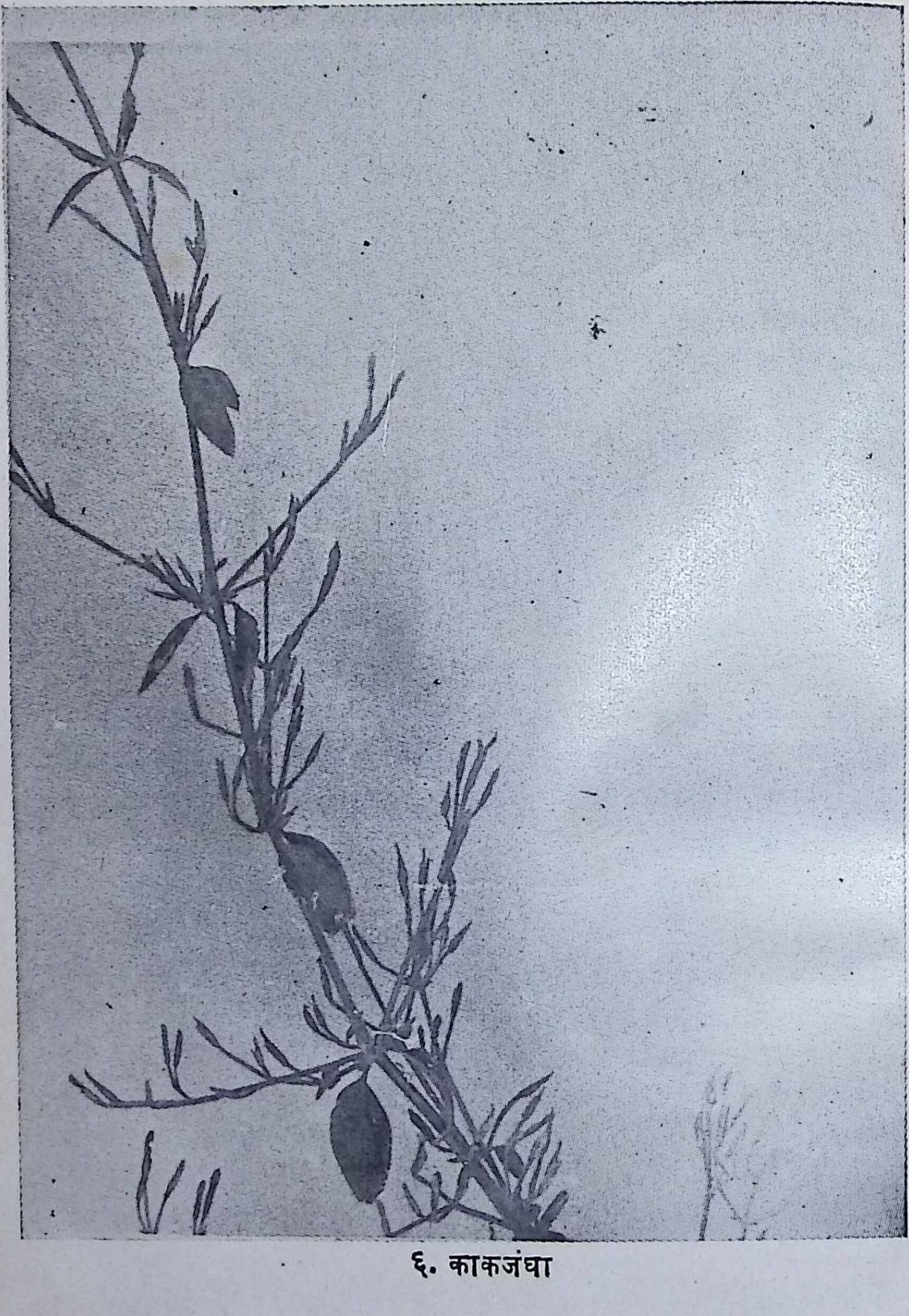

६. काकजंघा

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

७. काकजंघा ?

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

मेरे विचार से मसूरविदला (त्रिवृत्) का पर्याय हो या गिरिकर्णिका का। गिरिकर्णिका का पर्याय 'सतीना' भी आया है। त्रिवृत् को शाक अर्श में विहित भी है।

काकजंघा

चरकसंहिता में नहीं है। सुश्रुत में एक ही स्थल (चि० १९।६३) पर इसका क्षार बना कर श्लीपद में सेवन कराने का विधान है। अष्टाङ्गहृदय में क्षारकल्प, सिध्म, बालग्रह में इसका प्रयोग है।

डल्हण में 'एतन्नाम्ना प्रसिद्धैव' लिख दिया। इससे पता चलता है कि उस काल में यह वनस्पति असन्दिग्ध थी। अरुणदत्त ने इसपर अपना कोई मन्तव्य नहीं दिया।

धन्वन्तरिनिघण्टु ने इसे काकमाचीविशेष कर लिखा है। पारावतपदी, तस्करस्नायु आदि इसके पर्याय दिये हैं। काकमाची के साथ प्राचीबल सुरसादिगण में निर्दिष्ट है। प्राचीबल काकजंघा ही प्रतीत होता है।

काकजंघा के नाम पर निम्नांकित वनस्पतियाँ प्रचलित हैं :—

1. Peristrophe bicalyculata Nees.
2. Leea acquata Linn.
3. Vitex peduncularis Wall.

अधिकांश विद्वान् प्रथम वनस्पति को ही काकजंघा मानने के पक्ष में है। यह 'मसी' नाम से प्रसिद्ध है और इस नाम का उल्लेख भावमिश्र ने भी किया है। द्वितीय वनस्पति हस्तिकर्ण की एक प्रजाति तथा तृतीय पारावतपदी का भेद है।

Peristrophe bicalyculata Nees.

यह वासा–कुल (Acanthaceae) की वनस्पति है। इसका शिथिल-शाखायुक्त क्षुप ३–६ फीट ऊँचा होता है। काण्ड षट्कोण तथा स्फीतपर्व ग्रन्थियुक्त होते हैं। पत्र–४·२५ इञ्च लम्बे, २·७५ इञ्च चौड़े, रोमश, लट्वाकार, तीक्ष्णाग्र या लम्बाग्र होते हैं। ऊपर की पत्तियाँ कुछ छोटी होती हैं। पुष्प–चमकीले गुलाबी या बैंगनी रङ्ग के, शिथिल बहुविभक्त मञ्जरियों में होते हैं। फली–·३ इञ्च लम्बी, आयताकार, नोकदार तथा ग्रन्थियुक्त होती है। दिसम्बर से मार्च तक पुष्प–फल लगते हैं।

काकनासिका

चरक में काकनासिका मधुरस्कन्ध में पठित है। च्यवनप्राश के घटकों में भी यह है। मण्डलकुष्ठ के लेप में इसका विधान है। इसके अतिरिक्त, अपस्मार में धूपनार्थ, कासहर त्र्यूषणाद्य घृत, योनिव्यापद्, वातघ्न अनुवासन बस्ति में इसका

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

प्रयोग है। बस्ति के अतियोगजन्य उपद्रवों में राजकशेरुक और अश्वावरोहिका के साथ सिद्ध क्षीर का विधान है। सुश्रुत में केवल अनुवासन बस्ति में प्रयोग है। वाग्भट में कोई विशिष्ट प्रयोग नहीं है।

उपर्युक्त सन्दर्भों से काकनासा मधुर, वातहर, कासहर, गर्भस्थापन एवं मानसदोषहर सिद्ध होती है।

धन्वन्तरिनिघण्टु में यह कटु-तिक्त, उष्णवीर्य कही गई है किन्तु राजनिघण्टु में मधुर, शीत, पित्तशामक तथा रसायन कही गई है।

चक्रपाणि ने इस पर 'नासाफला, काकतुण्डक इत्यन्ये' कहा है। एक अन्य स्थल पर 'काकनासा वायसीफलम्, अन्ये तु नासाफलं 'कौआटोटी' इति ख्यातं द्रव्यान्तरमेवाहुः कहा। डल्हण ने भी केवल 'वायसफला' कहा।

आजकल Martynia annua Linn. नामक वनस्पति काकनासा के नाम पर ली जाती है। लोक में इसे कौआठोढ़ी कहते भी हैं।

गुजरात में कौआदोड़ी pentatropis spiralis Decne को कहते हैं। Asclepias curassavica Linn. भी काकतुण्डी के नाम से प्रचलित है। P. spiralis को काकनासिका मानने की ओर विद्वानों का अधिक झुकाव है।

Martynia anuna Linn.

यह तिलकुल (Pedaliaceae) की वनस्पति है। इसका दृढ रोमश क्षुप ३-४ फीट ऊँचा होता है। पत्ते त्रिकोणीय-लट्वाकार, हृद्वत् तथा दन्तुर ६-९ इञ्च लम्बे-चौड़े होते हैं। पुष्प २·५ इञ्च लम्बे, डिजिटेलिस के समान, गुलाबी या गहरे बैंगनी रङ्ग के, अन्त्य उत्थित ३-४ इञ्च लम्बी मञ्जरियों में लगते हैं। पुष्प वर्षाऋतु में तथा फल उसके बाद लगते हैं। यह मेक्सिको का मूल निवासी कहा जाता है।

Asclepias curassavica Linn.

यह अर्ककुल (Asclepiadaceae) की वनस्पति है। इसका क्षुप लगभग २ फीट ऊँचा होता है। पत्ते-२-३ इञ्च लम्बे, भालाकार या भालाकार-आयताकार होते हैं। नारङ्गी लाल रङ्ग के सुन्दर पुष्प बहुपुष्पी छत्रकों में लगते हैं। यह पश्चिमी द्वीपसमूह का निवासी कहा जाता है। इसका मूल तीक्ष्ण वामक होने के कारण इपीकाक का प्रतिनिधि माना जाता है।

Pentatropis spiralis Decne.

यह भी अर्ककुल की लता है। पत्र-मांसल, लट्वाकार, भालाकार या अण्डाकार-आयताकार होते हैं। पुष्प-हरितपीत, पार्श्विक छत्राभ मञ्जरियों में होते हैं। फली-भालाकार तथा बीज लट्वाकार चपटे होते है। इसके मधुर कन्द खाये जाते हैं और मूल का औषध में प्रयोग होता है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

P. capensis (Linn.f.) Bullock भी सिगरौटी या कौआदोड़ी के नाम से प्रचलित है। यह प्रायः सारिवा से मिलती-जुलती है।

काकाण्ड—काकाण्डोला

चरक ने शमीधान्य-प्रकरण में काकाण्ड के बीजों का वर्णन किया है, इसके बीज उड़द के तुल्यगुण कहे गये हैं। इसीमें 'काकाण्डोला' पाठान्तर है। विषों में अगद के रूप में इसका बहुशः प्रयोग है (च. चि. २३।४६. ५१, ५२, २१६)। सुश्रुत ने भी शमीधान्यों में चरक के समान काकाण्डफल का वर्णन किया है।

चक्रपाणि ने काकाण्ड को शूकरशिम्बी कहा है। एक स्थल (च. चि. २३।४६) पर इसे 'शिम्बीभेदः' कहा। डल्हण ने काकाण्डफल को 'अश्वक' कहा है संभवतः इस कारण कि ये बीज कपिकच्छू के समान वाजीकरण में व्यवहृत होते हैं। काकाण्ड का परिचय देते हुए कहा है कि यह लोक में शूकरशिम्बी कही जाती है और इसकी शिम्बी (फली) कपिकच्छू के सदृश होती है[1]। अरुणदत्त ने काकाण्डोला से कटभी लिया है। शिवदाससेन ने इसका स्पष्टीकरण देते हुए कहा है कि कुछ विद्वान् वाग्भट में 'काकाण्डोमात्मगुप्तयोः' यह द्विवचन देख कर काकाण्डोमा से कटभी का ग्रहण करते हैं। शिवदास सेन काकाण्ड से शूकरशिम्बी लेते हैं[2]।

वाग्भट के वर्णन से काकाण्डोला तथा आत्मगुप्ता एक ही जाति के बड़े-छोटे पौधे प्रतीत होते हैं। इस दृष्टि से Mucuna monosperma DC. का ग्रहण काकाण्ड या काकाण्डोला से करना चाहिए।

M. monosperma की बड़ी काष्ठीय वल्ली होती है। पत्र त्रिपत्रक, पत्रक लट्वाकार-आयताकार या अण्डाकार होते हैं। पुष्प-बैंगनी रंग के, अक्षीय मंजरियों में लगते हैं। फलियाँ वृत्ताकार, समक्ष, सघनरोमश एकबीजी होती हैं। बीज प्रायः वृत्ताकार, कुछ चपटे, गहरे भूरे रंग के होते हैं।

काकादनी

यह शब्द चरकसंहिता में नहीं है। सुश्रुत में यह श्लेष्मसंशमन वर्ग में परिगणित है। करवीर, गुञ्जा के साथ काकादनी का मूल दूष्योदर में पिलाने का विधान है। इससे स्पष्ट है कि यह विषाक्त द्रव्य है। गुञ्जा के साथ पुनः कफज ग्रन्थि में इसका लेप विहित है। कफज अर्बुद में भी इसके मूल का लेप प्रयुक्त हुआ है। इसका पानीय क्षार श्लीपद में लाभकर कहा गया है। विष-चिकित्सा में काकमाची

१. कपिकच्छूसदृशशिम्बः 'शूकरशिम्बी' इति लोके। (सु. सू. ४६।३६)

२. 'शूकशिम्बासदृशशिम्बः काकाण्डः शूकरशिम्बीति लोके' 'अन्ये' तु 'फलानि माषवद् विद्यात् काकाण्डोमात्मगुप्तयो'रिति वाग्भटे द्विवचनं दृष्ट्वा काकाण्डोमा कटभीति व्याचक्षते। (शिवदास, द्र. सं. १।३४)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

के साथ इसके स्वरस का विधान है। बालग्रह में इसका उद्धूपन एवं धारण विहित है। पाण्डु और श्वास में भी इसका प्रयोग है।

वाग्भट ने स्पष्टतः इसे स्थावर विष लिखा है :—

'मूलं काकादनीगुञ्जाकरबीरकसंभवम्।
पानभोजनसंयुक्तं दद्याद्वा स्थावरं विषम्॥ —अ. हृ. चि. १५।७८

इसके अतिरिक्त, 'स्थूलकाकादनी' शब्द का प्रयोग भी वाग्भट ने किया है (अ. हृ. चि. १७।२६) इससे बृहत् काकादनी या काकादनी के स्थूल मूल का तात्पर्य हो सकता है।

संहितोक्त विवरण से काकादनी का यह स्वरूप उभरता है :—

१. यह गुञ्जा, करवीर के स्थान स्थावर विष है।

२. इसके मूल का विशेष प्रयोग होता था। अतः यह क्षुप, लता या गुल्म होना चाहिए। वृक्ष होने की संभावना कम है।

३. गुञ्जा के साथ इसका प्रयोग अनेक बार हुआ है (सु. चि. १४, १८, उ. ३२, ३४)। इससे यह अनुमान हो सकता है कि यह गुञ्जा की ही कोई जाति हो।

डल्हण ने इस पर निम्नांकित व्याख्या दी है :—

१. काकादनी हिंस्रा (सु. सू. ३९।९)
२. काकादनी वायसतिन्दुका (सु. चि. १४।८)
३. काकादनी वायसतिन्दुका, अहिंस्रेत्यन्ये (सु. चि. १८।१३)
४. ,, ,, (सु. चि. १८।३६.)
५. काकादनी काला हिंस्रेत्यर्थः (सु. चि. १९।६३)
६. काकादनी कृष्णश्रीफलिका (सु. क. ७।३१)
७. काकादनी काकजंघा (सु. उ. २८।६)
८. काकादनी काकतिन्दुकः, काला इत्यन्ये (सु. उ. ३२।८)
९. ,, ,, (सु. उ. ३४।७)
१०. ,, ,, (सु. उ. ४४।१९)
११. ,, वायसतिन्दुकः (सु. उ. ५१।२४)

शार्ङ्गेष्टा के प्रकरण में डल्हण ने काकादनी को गुञ्जा कहा है—'काकादनीत्यपरे सा च गुञ्जेति प्रसिद्धा' (सु. सू. ३८।६)

इस प्रकार डल्हण ने काकादनी से हिंस्रा, काकतिन्दुक, काकजंघा, गुञ्जा और कृष्णश्रीफलिका लिया है।

धन्वन्तरिनिघण्टु ने काकादनी का वर्णन काकमाचीविशेष के रूप में किया है।

मेरे विचार से यह Anamirta cocculus W. & A. नामक वनस्पति है जो काकमारी के नाम से प्रसिद्ध है। इसके फल पकने पर नखाकृति, रक्तवर्ण

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

होते हैं अतः ध्वांङ्क्षनखी, रक्तिका, रक्तला आदि पर्याय सार्थक हैं। रक्तिका पर्याय के कारण ही संभवतः काकादनी को गुञ्जा माना जाने लगा।

Anamirta cocculus गुडूचीकुल (Menispermaceae) की एक विस्तृत आरोहिणी लता है जिसके काण्ड ३ इञ्च तक मोटे हो जाते हैं। पत्र-बड़े, चमकीले, प्रायः लट्वाकार ४-१० इञ्च लम्बे, ४-८ इञ्च लम्बे वृन्त पर लगे होते हैं। पुष्प-·२५ इञ्च व्यास के तथा फल २-३ इञ्च लम्बे वृक्काकार होते हैं जो पकने पर रक्तवर्ण हो जाते हैं। पुष्प-अप्रिल-मई तथा फल जून में लगते हैं। यह वनस्पति बंगाल, उड़ीसा, आसाम तथा दक्षिण भारत में विशेषतः पाई जाती है।

काकोदुम्बर-मलयू-भद्रोदुम्बर-फल्गु

प्रायः विद्वान् इन चारों को पर्यायवाचो मान कर इनसे कठगूलर (Ficus hispida Linn. f.) का ग्रहण करते हैं[1] किन्तु प्रसंगों का अध्ययन करने पर यह स्थिति प्रमाणित नहीं होती। काकोदुम्बर चरक के तिक्तस्कन्ध में पठित है और लेखन है जबकि फल्गु श्रमहर महाकषाय में और वृंहण है[2]। इससे तनिक भी सन्देह नहीं रहता कि काकोदुम्बर और फल्गु भिन्न द्रव्य हैं। काकोदुम्बर या काकोदुम्बरिका कठगूलर (Ficus hispida) है जबकि फल्गु अंजीर (Ficus carica Linn) है। अंजीर अफगानिस्तान, ईरान तथा सीरिया से काकेशस तक के भूमध्यसागरवर्त्ती भूभाग में मूलतः होता है। Ficus palmata Forsk. (फाग या फगवाड़ा) इसका भारतीय प्रतिनिधि है।

मलयू या मलपू काकोदुम्बर का तथा भद्रोदुम्बरी फल्गु का पर्याय है। काकोदुम्बर का विशेष प्रयोग श्वित्र में है। उस कार्य के लिए फल्गु का मूल भी प्रयुक्त होता है। फल्गु के प्रवाल (कोमल पत्ते) अश्मरी-शर्करा में विहित हैं[3]।

काण्डीर-गण्डीर-जलपिप्पली

काण्डीर केवल चरकसंहिता (चि. ३।२६६, क. १।२८) में है, कुछ निघण्टुओं में भी यह शब्द मिलता है, किन्तु प्रसंग को देखने से काण्डीर और गण्डीर एक ही सिद्ध होता है। उदाहरणार्थ, चरकसंहिता में प्रायः सर्वत्र 'सुमुखसुरस-

---

१. डल्हण फल्गु से काकोदुम्बरिका या काष्ठोदुम्बरिका का ग्रहण करते हैं और लौकिक नाम 'कटुम्बरी' देते हैं (सु. सू. ४६।१६३, चि. ९।२९, उ. ५९।२४, ६१।३४)। मलयू को इसका स्वरूप भेद (सु. चि. ९।५) तथा भद्रोदुम्बरी को 'महती काकोदुम्बरिका' (सु. चि. ९।१५) कहते हैं।

२. तर्पणं बृंहणं फल्गु गुरु विष्टम्भि शीतलम्। (च. सू. २७।१२८) देखें बृंहणी गुटिका। (च. चि. २।१।२७)

३. च. चि. २६।६३

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कुठेरकगण्डीरकालमालकपर्णासक्षवकफणिज्जक' इन द्रव्यों का एक साथ पाठ हुआ है (नि. २।४, वि. ७।१७, २१, ८।१४२, चि. ३।२६७), कल्पस्थान (१।२५) में भी ये ही द्रव्य हैं अतः वहाँ भी 'गण्डीर' ही अभिप्रेत होगा। चि. ३।२६६ में भी इसी प्रकार गण्डीर होगा क्योंकि ये ही द्रव्य वहाँ भी हैं। इस प्रकार काण्डीर और गण्डीर एक ही है।

काण्डीर का पाठ चरकसंहिता के क्रिमिघ्न तथा शूलप्रशमन महाकषायों में हुआ है। शाकवर्ग में गण्डीर और चित्रक के शाक कफशामक कहे गये हैं—'कफं गण्डीरचित्रकौ (सु. २७।१०६)। पुनः हरितवर्ग में गण्डीर का उल्लेख जलपिप्पली, तुम्बुरू आदि के साथ है जहाँ वह तीक्ष्ण, उष्ण, कटु, रूक्ष तथा कफवातहर कहा गया है[1]। इसके अतिरिक्त गण्डीर का उल्लेख रक्तपित्तनिदान (नि. ३।४), क्रिमिचिकित्सा (वि. ७।१७, २१), कटुकस्कन्ध (वि. ८।१४२), अगुर्वादि उष्णवीर्य द्रव्य (चि. ३।२६७), शोथचिकित्सा (चि. १२।२६), अर्शचिकित्सा (चि. १४।११४), कासचिकित्सा (चि. १८।१८२), वमनकल्प (क. १।२५) में किया गया है। जैसा ऊपर कहा गया है, इसका उल्लेख प्रायः सुरसादि गण के द्रव्यों के साथ किया गया है। इन संदर्भों से गण्डीर के स्वरूप, गुणकर्म तथा प्रयोग पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

सुश्रुतसंहिता में इसका विशेष उपयोग नहीं है। तैलवर्ग (सु० सू० ४५।१२३) में सरल, देवदारु आदि के साथ इसके सार के स्नेह का उल्लेख है[2]। इसके अतिरिक्त, पिप्पल्यादि शाक (सू० ४६।२२१) में तथा कल्याणकलवण (चि० ४।३२) में इसके क्षार का प्रयोग है।

वाग्भट ने केवल शूलप्रशमन के रूप में वत्सकादि गण में इसका पाठ किया है।

चक्रपाणि ने प्रायः इसे शमठ, शमठभेद या शमठशाक कहा है। एक स्थल पर इसे पर्णासभेद कहा[3]। एक अन्य स्थल पर यह लिखा कि गण्डीर दो प्रकार का है रक्त और श्वेत, जो रक्त है वही कटु होने के कारण हरितवर्ग में पठित है और जो श्वेत है वह जलज है तथा शाकवर्ग में पठित है[4]। इस प्रकार चक्रपाणि

---

१. गण्डीरो जलपिप्पल्यस्तुम्बरु शृङ्गबेरिका।
तीक्ष्णोष्णकटुरूक्षाणि कफवातहराणि च ॥ (च. सू. २७।१७१)

२. सरलदेवदारुशिंशपागुरुगण्डीरसारस्नेहास्तिक्तकटुकषायाः दुष्टव्रणशोधनाः क्रिमिकफकुष्ठानिलहराश्च।

३. सुमुखादयः फणिज्जकान्ताः पर्णासभेदाः। (च. नि. २।४)

४. गण्डीरो द्विविधो रक्तः शुक्लश्च; तत्र यो रक्तः स हि कटुत्वेन हरितवर्गे पठ्यते; यस्तु शुक्लो जलजः स शाकवर्गे पठति इति नैकस्य वर्गद्वये पाठः।
(च. सू. २७।१७१)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

शाकवर्ग तथा हरितवर्ग में पठित गण्डीर को भिन्न द्रव्य मानते हैं यद्यपि इसका पूर्ण विवेचन नहीं किया।

डल्हण ने तैलवर्ग के प्रकरण में 'सार' शब्द देखकर इसे 'सारप्रधानस्तरुविशेषः' (सु० सू० ४५।१२३) कहा। अन्यत्र यह लिखा कि 'गण्डीर दो प्रकार का होता है—स्थलज और जलज। स्थलज हरितशाक में पठित है और जलज जलपिप्पली गण्डीर है।' (सु० सू० ४६।२२१, चि० ४।३२)।

अरुणदत्त ने इससे स्नुही का ग्रहण किया है। निघण्टुओं में यह स्नुही के पर्यायों में आया है। धन्वन्तरिनिघण्टु में सुमुख, राजिका आदि द्रव्यों के साथ काण्डीर का वर्णन किया है[1]। यही श्लोक सोढलनिघण्टु में 'गण्डीर' शब्द से है। पर्यायरत्नमाला में गण्डीर से जलापामार्ग का ग्रहण किया गया है[2]। निघण्टुशेष में इसका स्पष्ट उल्लेख है। उसमें गण्डीर दो प्रकार का जलज और स्थलज माना है; जलज गण्डीर जलापामार्ग है जिसे शमठ या समष्ठिला भी कहते हैं। स्थलगण्डीर कर्बुर होता है तथा प्रायः टक्कदेश में उपलब्ध होता है।[3] इसी जलज गण्डीर या समष्ठिल का वर्णन राजनिघण्टु ने किया है (रा० नि० ४।१) जिसके पर्याय नद्याम्र, काकाम्र आदि दिये गये हैं। निघण्टुशेष में 'गण्डीरक' तण्डुलीयक पर्याय भी दिया है।

आधुनिक विद्वान् टीकाकारों के अनुसार गण्डीर के स्थलज और जलज ये दो भेद मान कर दो वनस्पतियों का ग्रहण करते हैं। स्थलज से Coleus barbatus (पर्णयवानी) तथा जलज से Amaranthus mangostanus (तण्डुलीयकभेद) लेते हैं[4]। ठा० बलवन्त सिंह पर्णयवानी के स्थान पर देवकांडर (Ranunculus sceleratus Linn) का ग्रहण उपयुक्त समझते हैं किन्तु विकल्प में पर्णयवानी या पुदीनाभेद को स्वीकार करते हैं। इन दो के अतिरिक्त, डल्हण के 'सारप्रधान तरुविशेष' से वह एक तीसरा द्रव्य शिरीष या इसका कोई भेद लेते हैं।[5]

---

१. काण्डीरः काण्डकटुकः नासासंवेदनः पटुः।
उग्रकाण्डस्तोयवल्ली कारवल्ली सुकाण्डकः॥
काण्डीरः कटुतिक्तोष्णः सरो दुष्टव्रणार्त्तिजित्।
लूतागुल्मोदरप्लीहशूलमन्दाग्निनाशनः ॥ (ध. नि. ४।६१–६३)

२. समष्ठी तोयवृन्तश्च गण्डीरोऽम्बुमयूरकः। (प. र., ३७२)

३. शमठे तु तोयवृत्तिर्गण्डीरस्तोयमञ्जरी।
समष्ठिला शोषहरी जलापामार्ग ओलकः॥
अन्यस्तु स्थलगण्डीरः कर्बुरष्टक्कदेशजः। (नि. शे. ३५३–३५४)

४. Bapalal, J. R. I. M., 6 : 1, P. 97.

५. G. V. D., 133–134.

'सारप्रधान तरुविशेष से Heynea trijuga Roxb. नामक निम्बकुल के वृक्ष की ओर भी ध्यान जाना चाहिये। इसे कहीं-कहीं 'गण्डीर' कहते भी हैं।

८ द्र० वि० पं०

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

प्रथम प्रश्न विचारणीय है कि क्या 'गण्डीर' शब्द दो या तीन भिन्न द्रव्यों का वाचक है? चरक या सुश्रुत में कहीं भी गण्डीर द्विविध या त्रिविध नहीं कहा गया है, इससे स्पष्ट है कि गण्डीर शब्द अन्य शब्दों के समान एक द्रव्य का ही वाचक है। आचार्य ने कहीं भी एक शब्द से दो द्रव्यों का ग्रहण नहीं किया क्योंकि इससे उत्पद्यमान अनवस्था की आशंका से वह परिचित थे।

गुणकर्म की दृष्टि से भी उपर्युक्त सन्दर्भों में कहीं भी असामञ्जस्य नहीं है। केवल एक सन्दर्भ विचारणीय है। रक्तपित्तनिदान में गण्डीर रक्तपित्तकोपक कहा गया है जबकि रक्तपित्तचिकित्सा में इसका शाक विहित है (च. चि. ४।३८)। चक्रपाणि ने इसकी व्याख्या में लिखा है कि गण्डीर स्वतः रक्तपित्त में पथ्य है किन्तु सुरा-सौवीरक आदि से युक्त होने पर रक्तपित्तकोपक हो जाता है। इससे स्वयं भी व्याख्याकार सन्तुष्ट नहीं हुए अतः दूसरी युक्ति 'किंवा' करके दी कि गण्डीर स्थलज और जलज दो प्रकार का होता है, स्थलज हरितवर्ग में पठित है जो रक्त-पित्तकारक है किन्तु जलज शाकवर्ग में पठित है वह कफाधिक रक्तपित्त में हितकर है। किन्तु वस्तुतः दोनों स्थलों में पठित गण्डीर के गुणकर्म समान ही हैं अतः यह व्याख्या सन्तोषजनक नहीं है। दूसरे, चरक का यह प्रसंग कफाधिक रक्तपित्त का न होकर सामान्यतः रक्तपित्तशामक द्रव्यों का है। सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि शाकवर्ग में रक्तपित्तशामक शाकों में गण्डीर का जब उल्लेख होता तभी वह रक्तपित्त में पथ्य कहा जाता। एक ही द्रव्य रक्तपित्त का कारण तथा निवारण दोनों कैसे हो सकता है। अतः मेरी दृष्टि में, रक्तपित्तचिकित्सा का वह पाठ अशुद्ध है, वहाँ 'गण्डीरं' के स्थान पर कोई अन्य द्रव्य होना चाहिए। शाकवर्ग में 'केबूकं सकठिल्लकं' है, वही यहाँ भी हो सकता है।

यदि गण्डीर से कोई एक द्रव्य लेना हो तो क्या लिया जा सकता है?

१. सुरसादि गण के द्रव्यों के साथ निरन्तर उल्लेख होने के कारण यह तुलसी-कुल का कोई पौधा हो जैसा कि चक्रपाणि ने भी इसे पर्णासभेद करके लिखा है। इसमें पर्णयवानी (Coleus amboinicus Lour.) का विचार किया जा सकता है।

२. निघण्टुओं के अनुसार कोई जलज पौधा यथा शमठ (समष्ठिल या जलापा-मार्ग Achyranthes acquatica Br. या देवकांडर–Ranunculus sceleratus) का ग्रहण कर सकते हैं।

मेरे विचार से, इससे जलापामार्ग (Achyranthes acquatica Br.) का ग्रहण करना चाहिए क्योंकि प्रायः जलपिप्पली के साथ इसका वर्णन मिलता है।

जलापामार्ग का पौधा २–४ फीट ऊँचा, दृढकाण्ड एवं स्थूलमूल होता है। पत्र–२–६ इञ्च लम्बे, रोमश, भालाकार होते हैं। मञ्जरी ८–१८ इञ्च लम्बी

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

होती है। फल भूरे रंग का, अण्डाकार होता है। पुष्प–शरद् तथा फल हेमन्त में लगते हैं। यह तालाबों और झीलों में होता है। यह नेपाल तराई तथा आसाम में मिलता है।

काम्बोजी

सुश्रुतसंहिता में केवल एक बार इसका उल्लेख हुआ है (सु. चि. १६।४२)। वाग्भट में भी एक स्थल पर है (अ. हृ. उ. ३४।२) दोनों स्थलों पर इसके पूर्व 'श्वेत' है। डल्हण ने श्वेत को पृथक् द्रव्य मान कर इससे 'श्वेत स्यन्दन' लिया है। डल्हण काम्बोजिका से कूविका का ग्रहण करते हैं तथा एकीय मत से माषपर्णी का उल्लेख करते हैं[1]। निघण्टुओं में यह माषपर्णी का पर्याय है। राजनिघण्टु में इसके अतिरिक्त, यह वाकुची का भी पर्याय है।

माषपर्णी का एक पर्याय 'हयपुच्छिका' भी आता है। मेरे विचार से इससे Aristida setacea Retz., जो घोड़ालेञ्जी (Horse's Tail) के नाम से प्रचलित है, का ग्रहण करना चाहिए।

कायस्था–वयःस्था

सुश्रुत में 'कायस्था' नहीं है किन्तु चरक में कायस्था और वयःस्था साथ-साथ मिलते हैं। अपस्मार, उन्माद, श्वास तथा हृद्रोग में इनका प्रयोग है। वयःस्था का पाठ संज्ञास्थापन महाकषाय में है (च. सू. ४।४८)। टीकाकारों ने वयःस्था से ब्राह्मी या गुडूची तथा कायस्था से सूक्ष्मैला, सुरसा या आमलक का ग्रहण किया है।

वयःस्था का पाठ संज्ञास्थापन महाकषाय में होने तथा मानस रोगों में विशेष उपयोग के कारण इसका अर्थ 'ब्राह्मी' करना अधिक उपयुक्त है। ब्राह्मी के साथ-साथ बहुशः प्रयुक्त द्रव्य ऐन्द्री है अतः यदि वयःस्था से ब्राह्मी लिया जाय तो कायस्था से ऐन्द्री का ग्रहण करना चाहिए। परवर्ती निघण्टुओं में 'कायस्था' हरीतकी का पर्याय है कारण कि हरीतकी शरीर का शोधन करने के साथ-साथ रसायन भी है।

कार्मुका

कार्मुका केवल अष्टांगहृदय में प्राप्त होता है (अ. हृ. सू. १५।३०)। अरुणदत्त इसका अर्थ रक्तमञ्जरी करते हैं। अष्टांगनिघण्टु में इससे अतिमुक्तक का ग्रहण किया गया है।

सुरसादि गण के द्रव्यों की दृष्टि से सुश्रुत तथा वाग्भट की तुलनात्मक समीक्षा करने पर यह स्पष्ट होता है कि वाग्भट ने सुश्रुतोक्त कुछ द्रव्यों यथा अर्जक, सुगन्धक, सुमुख और कुठेरक को छोड़ दिया है और कुछ द्रव्यों के पर्याय नाम व्यवहृत किये

---

१. काम्बोजिका कूबिका, गयी तु माषपर्णीमाह।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

हैं यथा उन्दुरुकर्णी के लिए वृषकर्णी, फञ्जी के लिए भार्ङ्गी, निर्गुण्डी के लिए भूतकेशी तथा प्रचीबल के लिए कार्मुका। अतः इससे यह भी स्पष्ट है कि कार्मुका प्रचीबल है। प्रचीबल से काकजंघा (Peristrophe bicalyculata) का ग्रहण किया गया है जो रक्तमञ्जरी होती भी है (देखें काकजंघा)।

काला–कालानुसारिवा–कालानुसार्य

चरकसंहिता में काला चन्दनादि शीतवीर्य द्रव्यों में पठित है तथा अमृताद्य तैल (वातव्याधिचिकित्सा) का एक घटक है। सुश्रुतसंहिता में इसका प्रयोग कफज-शोफहर प्रलेप, व्रणशोधन वर्ति, कफज विसर्प में प्रदेह, कफज ग्रन्थि में लेप, गलगण्ड में प्रदेह तथा बलातैल के घटक रूप में किया गया है। वाग्भट ने इसका विशेष प्रयोग व्रण के सवर्णकरण में किया है।

चक्रपाणि ने एक स्थल (चि. ३।२५८) पर काला से काकोली का ग्रहण किया है और दूसरे स्थल (चि. २८।१६१) पर इसका अर्थ कालानुसारिवा किया है। डल्हण ने अधिकांश काला से हिंस्रा का ग्रहण किया है (सु. सू. ३७।६, चि. ८।३०, १८।१३, ४५)। एक स्थल (चि. १७।१४) पर इससे कासमर्द तथा अन्यत्र (उ. ५८।५९) कालानुसारिवा लिया है और एकीय मत से श्रीपर्णिका का उल्लेख किया है।

संहिताओं के आधार पर काला शीतवीर्य, शोथहर तथा बृंहण है। चक्रपाणि के अनुसार यह काकोली नहीं हो सकती क्योंकि अमृताद्य तैल में काला से पृथक् काकोली–क्षीरकाकोली का पाठ है। हिंस्रा उष्णवीर्य होने के कारण काला से उसका ग्रहण नहीं हो सकता। अतः काला से कालानुसारिवा का ही ग्रहण करना चाहिए जिसका उल्लेख चक्रपाणि और डल्हण दोनों ने किया है।

कालानुसारिवा

चरक ने कालानुसारिवा (चि. २६।२४३), कालानुसार्या (चि. ४।१०३) तथा कालानुसार्य (चि. ३।२५८) शब्दों का प्रयोग किया है। कालानुसार्या रक्तपित्तचिकित्सा में व्यहृत हुआ है, कालानुसार्य चन्दनादि शीत द्रव्यों में पठित है अतः ये दोनों एक ही प्रतीत होते हैं। कालानुसारिवा भी सम्भवतः वही है। इस प्रकार तीनों एक ही द्रव्य के वाचक हैं।

सुश्रुत ने कालानुसारिवा भग्नसाधक तैल, बलातैल, स्नैहिक धूम, तार्क्ष्य अगद, महासुगन्धि अगद, नेत्रवर्त्ति, चूर्णाञ्जन, मनःशिलादि गुटिका, चित्रकादि घृत में पठित है। चित्रकादि घृत में बला, सारिवा आदि के साथ; महासुगन्धि अगद में तगर, कालेयक आदि के साथ; तार्क्ष्य अगद में स्थौणेयक, ध्यामक, शैलेय, तगर आदि गन्धद्रव्यों के साथ; स्नैहिक धूम में गुग्गुलु, ध्यामक, मांसी आदि गन्धद्रव्यों के

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

साथ; बलातैल में शैलेय, तगर, सारिवा आदि के साथ, भग्नसाधक तैल में सारिवा, तगर आदि के साथ पठित है। इससे स्पष्ट है कि यह कालेयक, तगर, शैलेय से भिन्न द्रव्य है तथा प्रायः गन्धद्रव्यों के साथ पठित होने से सम्भवतः कोई गन्धद्रव्य है। इसी प्रकार कालानुसार्य प्रायः अगुरु के साथ आया है (सु. सू. ३७।२६, चि. २।६८, १७।१५)। सुश्रुत ने 'कालानुसारी' शब्द का भी प्रयोग किया है जो चन्दन और अगुरु के साथ आया है। वाग्भट ने 'कालानुसारी' का प्रयोग विशेष किया है। इन सन्दर्भों से निम्नांकित निष्कर्ष निकलते हैं :—

१. कालानुसारिवा, कालानुसार्या, कालानुसारी, कालानुसार्य ये सब एक ही द्रव्य के वाचक हैं।
२. प्रायः गन्धद्रव्यों के साथ पठित होने से कोई गन्धद्रव्य है।
३. तगर शैलेय, कालेयक के साथ पृथक् पठित होने से यह इन सबसे भिन्न है।
४. प्रायः चन्दन और अगुरु के साथ पठित होने से यह चन्दन या अगुरु का कोई भेद प्रतीत होता है। चरक के पाठ 'चन्दन–भद्रश्रिय–कालानुसार्य–कालीयक' (चि. ३।२५८) से भी इस अनुमान की पुष्टि होती है।

चक्रपाणि कालानुसार्या का अर्थ 'शीतल' करते हैं। डल्हण ने इससे अधिकांश तगर और कहीं-कहीं कृष्णसारिवा या कालवल्ली लिया है। अरुणदत्त ने उत्पल-सारिवा का ग्रहण किया है।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, यह तगर नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त, कालानुसार्य शीतवीर्य तथा तगर उष्णवीर्य द्रव्यों में निर्दिष्ट है। तब या तो यह कृष्णसारिवा[1] हो या चन्दन या अगुरु का कोई भेद। गन्धद्रव्यों के साथ पठित होने अधिक सम्भावना गन्धद्रव्य होने की है, कृष्णसारिवा में ऐसी गन्ध नहीं होती। दूसरे, आचार्य ने प्रायः सारिवा का ही प्रयोग किया है और जहाँ द्वितीय सारिवा अभिप्रेत हो वहाँ द्विवचन में 'सारिवे' प्रयोग किया है। अगुरु उष्णवीर्य है और कालानुसार्य शीतवीर्य है अतः अगुरुभेद नहीं हो सकता। अतः यह कोई चन्दन का ही भेद है। इसीको चक्रपाणि ने 'शीतल' लिखा है। कालानुसार्य से पत्तंग (Caesalpinia sappan. Linn.) का ग्रहण किया जा सकता है।

कालीयक–कालेयक

संहिताओं में इन दोनों शब्दों का प्रयोग दृष्टिगत होता है। सन्दर्भों के आधार पर इनसे एक ही द्रव्य अभिप्रेत है ऐसा निश्चित होता है। उदाहरणार्थ, चरक ने निर्वापण (दाहप्रशमन) द्रव्यों में कालेयक का तथा चन्दनाद्य शीतवीर्य द्रव्यों में कालीयक का पाठ किया है। सुश्रुत ने भी श्लेष्मसंशमन वर्ग में कालेयक का पाठ

---

१. कैयदेवनिघण्टु में 'कालानुसारी' कृष्णसारिवा का पर्याय है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

किया तथा सालसारादि गण तथा अन्य सम्बद्ध स्थलों में कालीयक लिखा। अतः इन दोनों की अभिन्नता निःसन्देह है। 'कालिका' से भी कालेयक लिया गया है।

चरक ने उपर्युक्त प्रकरणों के अतिरिक्त, इसका प्रयोग रक्तपित्त, प्रमेह, कामला विसर्प, मदात्यय (रस का प्रलेप दाहशमनार्थ), सवर्णीकरण, पैत्तिक नेत्ररोग, वातरक्त तथा पैत्तिक प्रदर की चिकित्सा में किया है। इससे स्पष्टतः इसके पित्त-शामक कर्म पर प्रकाश पड़ता है।

सुश्रुत में इसका थोड़ा भिन्न स्वरूप मिलता है। यद्यपि रक्तपित्त और कामला में (सम्भवतः चरक के आधार पर) कालीयक का प्रयोग है तथापि अधिकांश प्रयोग कफशामक के रूप में है। चरक से इसका मौलिक भेद है कि यह कालेयक का अगुरु के साथ श्लेष्मसंशमन वर्ग में पाठ करते हैं जबकि चरक ने इसे चन्दन के साथ शीतवीर्य (पित्तशामक) द्रव्यों में रखा है। अन्यत्र भी यह अगुरु के साथ आया है (सु. चि. २०।३५, ३७।२६)। सालसारादि गण में अगुरु के अतिरिक्त, कालीयक चन्दन, कुचन्दन के साथ पठित है।

वाग्भट असनादि गण में चन्दनत्रय में इसका समावेश करते हैं[1]। मुखालेप में कालीयक का विशेष प्रयोग है। एक मुखालेप में 'चन्दनयुग तथा कालीयक' का उल्लेख है (अ. हृ. उ. ३२।३१)। यही चन्दनत्रय है। इसके अतिरिक्त, वाग्भट ने स्पष्ट रूप से कालीय को चन्दनभेद स्वीकार किया है[2]।

चक्रपाणि कालेयक से कालियाकाष्ठ या कालेयकाष्ठ का ग्रहण करते हैं। डल्हण ने इससे निम्नांकित द्रव्य लिये हैं :—

१. कृष्णवर्णचन्दनविशेषो 'मलयाद्रिचन्दनम्' इति लोके। (सू. ३९।९)
२. दारुहरिद्रानुकारि द्रव्यम्। (उ. १२।७, ४४।३१, ४५।३९)
३. दारुहरिद्रा (क. १।५४)
४. पीतचन्दनम् (क. ६।१५)

अरुणदत्त, जैसा पहले कहा गया, दारुहरिद्रा लेते हैं।

आधुनिक विद्वान इससे (Coscinium fenestratum (Gaertn.) Colebr.) लेने के पक्ष में हैं।

कालीयक या कालेयक का दारुहरिद्रा के साथ कामला में प्रयोग है। पीतवर्ण का यह काष्ठ था ही। यही कारण है कि टीकाकारों में इतनी भ्रान्ति फैली। चरक और सुश्रुत की वर्णनशैली में भिन्नता देख कर निघण्टुकारों ने भी इसका चन्दन और अगुरु दोनों के भेदों में वर्णन किया है।

---

१. अरुणदत्त 'त्रिहिमं' शब्द से 'चन्दनत्रयं मलयज-रक्तचन्दन-दारुहरिद्राभेदेन' लेते हैं।

२. कालीयाख्यं चन्दनं यच्च रक्तम्। (अ. हृ. उ. ३७।८६)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

चरक ने चन्दनाद्य शीतवीर्य द्रव्यों में चन्दन, भद्रश्रिय, कालानुसार्य और कालीयक इन चार द्रव्यों का प्रथम उल्लेख क्रमशः किया है। चरकानुसार वस्तुतः ये चन्दन के चार भेद (चन्दनचतुष्टय) हैं। चन्दन ही वर्णविशेष के आधार पर इन भेदों में विभाजित हुआ होगा। वाग्भट ने इसी आधार पर चन्दनत्रय में कालीयक का समावेश किया है। सुश्रुत के एक योग में भी श्वेत एवं रक्तचन्दन तथा कालीयक तीनों हैं (सु. चि. २५।३९)। इस प्रकार मूलतः कालीयक चन्दनभेद हैं। यह दारुहरिद्रा नहीं है क्योंकि दार्वी तथा कालीयक का पाठ एकत्र पृथक् मिलता है (च. चि. १६।५४)।

सुश्रुत ने श्लेष्मसंशमन में कालेयक का पाठ किया है जबकि चन्दन, कुचन्दन पित्तसंशमन वर्ग में हैं। अगुरु के साथ होने से निघण्टुकारों ने इसे अगुरुभेद माना। सालसारादि गण में तीनों साथ हैं। यह गण कफमेदोहर है। पटोलादि और सारिवादि गणों में भी चन्दन-कुचन्दन हैं किन्तु वहाँ कालीयक नहीं है। इससे स्पष्ट है कि सुश्रुत इसके कफसंशमन कर्म पर विशेष वल देते थे। चन्दन् तिक्तरस होने के कारण कफमेदोहर है ही, अतः इससे कोई विरोध नहीं पड़ता। केवल इससे चरक और सुश्रुत के प्रयोगात्मक दृष्टिभेद का संकेत मिलता है। इस प्रकार सुश्रुत के विवरण से भी कालीयक के चन्दनभेद होने का समर्थन ही होता है। वाग्भट तो कण्ठरवेण कालीयक को चन्दनत्रय में रखते ही हैं।

भावमिश्र ने भी इसका वर्णन तो चन्दन के भेदों में किया किन्तु कोष्ठक में 'कलम्बक इति लोके' लिख कर भ्रम उत्पन्न कर दिया। वस्तुतः कालीयक कलम्बक से भिन्न है। कलम्बक दारुहरिद्रा-कुल का होने से दार्वी, गुडूची आदि के समान उष्णवीर्य द्रव्य है जबकि कालीयक शीतवीर्य है। अन्य प्रयोग भी कालीयक के कलम्बक से नहीं मिलते। अतः कालीयक कलम्बक (Coscinium fenestratum) नहीं हो सकता।

कुङ्कुम–केशर

चरकसंहिता में शोणितस्थापन महाकषाय में 'रुधिर' है जिसका अर्थ चक्रपाणि ने कुङ्कुम किया है। पुनः वाजीकरण-प्रकरण में 'संकोच' आया है जिसका अर्थ भी कुङ्कुम किया है। 'कुङ्कुम' शब्द स्पष्टतः दृढबलप्रतिसंस्कृत अंश में (चि. २३ से) मिलता है। इसका विषघ्न प्रयोग विशेष है। इसके अतिरिक्त, मूत्रकृच्छ्र, वातव्याधि, वातरक्त में विहित है। पुष्यानुग चूर्ण में 'वाह्लीक' है जिसका अर्थ कुङ्कुम किया गया है।

सुश्रुत में इसका अधिक स्पष्ट विधान एवं विस्तृत प्रयोग उपलब्ध होता है। एलादि गण में नागपुष्प तथा पुन्नागकेशर के साथ कुङ्कुम का पाठ है। शाकवर्ग के पुष्प–प्रकरण में नागपुष्प के समान इसके गुणधर्म (कफपित्तविषघ्न) कहे गये हैं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

इसका विधान नेत्राञ्जन, त्रिफलादि घृत (ज्वर) मूत्राघात एवं मूत्रकृच्छ्र में किया गया है। मूत्राघात में इसके कषाय का प्रयोग है तथा मूत्रकृच्छ्र में मधूदक से एक कर्ष कुङ्कुम लेने का विधान है[1]।

वाग्भट में इसका प्रयोग और बढ़ा है। अनुलेपन में कर्पूर, चन्दन आदि के साथ इसका विधान है। धूमपान में भी इसका प्रयोग है। रक्तपित्तज शिरोरोग में शर्कराकुंकुमश्शृत घृत के नस्य का विधान है। 'काश्मीरज' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम यहीं मिलता है।

डल्हण ने अधिकांश इस पर कोई टिप्पणी नहीं की है। कहीं-कहीं 'कुङ्कुमं प्रसिद्धम्' लिखा है। शाकवर्ग में नागपुष्प के साथ इसका वर्णन भी इसकी प्रसिद्धि को सूचित करता है। कुङ्कुम उष्णवीर्य होने से शोणितस्थापन तथा रक्तपित्तज विकारों में कैसे विहित है यह विचारणीय है।

केशर—कुङ्कुम को लोकभाषा में केशर कहते हैं किन्तु संहिताओं में केशर शब्द नागकेशर का वाचक है, 'केसर' शब्द से बकुल का ग्रहण भी होता है। शोणितस्थापनार्थ तथा रक्तपित्तज विकारों में आजकल प्रायः नागकेशर का व्यवहार होता है।

कुटज

चरकसंहिता में कुटज दो प्रकार का कहा गया है—पुरुष और स्त्री। बड़ा फल, सफेद फूल तथा स्निग्ध पत्र वाला पुरुष तथा छोटे फल और श्यावारुण (कृष्ण-रक्ताभ) फूल वाला स्त्रीकुटज कहा गया है[2]। गुणधर्म की दृष्टि से दोनों समान हैं। डल्हण ने भी इसीको दुहराया है (सु. सू. ११।११)। पुंकुटज Holarrena antidysenterica (Linn.) Wall तथा स्त्रीकुटज Wrightia tomentosa Roem. & Schult. है[3]।

कुटज के पर्याय इन्द्रवृक्ष तथा वत्सक इनका अर्थ अभी तक स्पष्ट नहीं हो पाया था। वस्तुतः ये दोनों पर्याय भौगोलिक आधार पर निर्धारित हैं। कुटज को कलिङ्ग कहा गया है, इन्द्रवृक्ष उसी संदर्भ में हैं। कलिङ्गदेश में एक महेन्द्रपर्वत है, वहाँ पर विशेष रूप से होने के कारण इसे इन्द्रवृक्ष कहा गया। इसी प्रकार वत्स देश (आधुनिक विन्ध्यप्रदेश) में प्रचुरता से होने के कारण यह 'वत्सक' कहलाया।

---

१. पिबेत् कुङ्कुमकर्षं वा मधूदकसमायुतम्।
रात्रिपर्युषितं प्रातस्तथा सुखमवाप्नुयात्॥ (सु. उ. ५८।३१)

२. बृहत्फलः श्वेतपुष्पः स्निग्धपत्रः पुमान् भवेत्।
श्यामा चारुणपुष्पा स्त्री फलवृन्तैस्तथाणुभिः॥ (च. क. ५।५)

३. विशेष द्वितीयभाग में देखें।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कुन्तलिका

यह सुश्रुत के शाकवर्ग में पठित है। (सु. सू. ४६।२७४)। अष्टांगहृदय (सू. ६।७६) में यह कुन्तली है।

डल्हण इसे 'चुच्चूसदृशा दीर्घपत्रा' कहते हैं। इससे यह Corchorum sp. प्रतीत होती है। अरुणदत्त इससे सूक्ष्मतिलजाति का ग्रहण करते हैं इसका कारण कहीं-कहीं 'कुतिली' पाठ होना है। यदि 'कुतिली' पाठ स्वीकार किया जाय तो अरुणदत्त के अनुसार यह Sesamum sp. होनी चाहिए।

कुरुण्टिका—शितिवारक—इन्दीवर—सुनिषण्णक

'कुरुण्टिका' केवल सुश्रुतसंहिता में है तथा शितिवारक चरकसंहिता और अष्टांगहृदय में है। अ. हृ. के वीरतर्वादि गण में 'कुरण्ट' है। कहीं कोरण्ट (अ. हृ. उ. २४।३५) भी है। प्रसंगों के अवलोकन से निम्नांकित तथ्य स्पष्ट होंगे :—

१. चरक का शितिवारक ही सुश्रुत की कुरण्टिका है।

२. कुरुण्टिका या कुरण्ट (कोरण्ट) कुरुण्टक (सहचर या सैरेयक) से भिन्न है क्योंकि उसी गण में वह पृथक् पठित है।

चरक में शितिवारक मूत्रकृच्छ्र एवं अश्मरी में विहित है। सुश्रुत में कुरुण्टिका वीरतर्वादिगण, शाकवर्ग, अश्मरीचिकित्सा में पठित है।

इस प्रकार कुरुण्टिका (शितिवारक) Calosia argentea Linn. है।

इन्दीवर उसीका भेद माना गया है। वाग्भट ने इन्दीवर के लिए 'करम्भ' शब्द का प्रयोग किया है। इसी प्रसंग में पत्तूर का भी नाम आता है। डल्हण इन तीनों (कुरुण्टिका, इन्दीवर, पत्तूर) का सम्बन्ध शितिवारक से जोड़ते हैं। वीरतर्वादि गण के प्रसंग में वह लिखते हैं कि कुरंण्टिका 'सिरवालिका' (लोकनाम) है जिसके छोटे काले फल (बीज) होते हैं। इन्दीवर उसीका भेद है जिसके पत्ते तथा फूल बड़े होते हैं जिसे कर्णपूरक (कनफूल ?) कहते हैं। कुछ लोग इन्दीवर से नीलोत्पल लेते हैं। एक स्थल (सु. चि. ७।१०) पर कुरुण्टिका को लाल फूल वाला शरबालिकाभेद कहा। पत्तूर को शरबालिकाभेद (महापत्र) या शरब्रालिका कहा। इस प्रकार तीनों एक ही जाति के द्रव्य प्रतीत होते हैं। मेरे विचार से पत्तूर और इन्दीवर एक ही है (देखें पत्तूर)। यह Celosia argentea var. cristata Voss. है। गहरे लाल या बैंगनी रंग का इसका बड़ा पुष्प होता है। इसे 'जटाधारी' कहते हैं। राजनिघण्टु में रुद्रजटा संभवतः यही है।

अष्टांगहृदय के करम्भ से अष्टांगनिघण्टु ने युग्मफला उत्तमकन्यका लिया है। इसीका राजनिघण्टु में इन्दीवरी नाम से वर्णन किया है जिसका पर्याय उत्तमारणी दिया है। युग्मफला, उत्तमारणी ये पर्याय वृश्चिकाली (Pergularia extensa)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

की ओर इंगित करते हैं। संभवतः जहाँ 'करम्भा' हो वहाँ इस पर विचार किया जा सकता है।

सुनिषण्णक—चरकसंहिता में यह शाकवर्ग में पठित है। यह ग्राही और त्रिदोषघ्न कहा गया है। इसके अतिरिक्त, अर्शचिकित्सा (सुनिषण्णकचांगेरीघृत), वातिक कास, विष, ऊरूस्तम्भ तथा वातरक्त में इसका शाक पथ्य बतलाया गया है।

सुश्रुतसंहिता में सुनिषण्णक व्रणित के लिए पथ्य तथा सामान्यतः पथ्यतम शाकों में पठित है। इसके अतिरिक्त, यह कषायवर्ग, शाक (त्रिदोषघ्न, संग्राही, अविदाही), चक्षुष्य शाक तथा रक्तपित्त में पथ्य शाकों में पठित है।

अष्टांगहृदय में सुनिषण्णक शाक अग्निकर एवं वृष्य कहा गया है।

चक्रपाणि ने इस पर कोई टिप्पणी नहीं दी संभवतः इस कारण कि यह बंगाल में एक अत्यन्त प्रचलित शाक है। डल्हण इसे कहीं शिरिबालिका और कहीं चतुष्पत्री कहते हैं। इस सम्बन्ध में उन्होंने श्रीब्रह्मदेव का एक वचन भी उद्‌धृत किया है[1]। चतुष्पत्री इसका नाम ठीक है, लोकभाषा में इसे चौपतिया कहते हैं। यह Marsilea minuta Linn. है। बंगाल में यह सुसनी साग करके प्रसिद्ध है[2]। निघण्टुओं में इसके पर्यायों में शितिवारक देकर भ्रम उत्पन्न किया गया हैं। संभवतः डल्हण भी इसीसे भ्रान्त हो गये। वस्तुतः शितिवारक से यह नितान्त भिन्न द्रव्य है।

कुलक

सुश्रुतसंहिता में यह नहीं है। चरकसंहिता में यह तिक्तशाकों में तथा तिक्त-स्कन्ध में पटोल के साथ पृथक् पठित है। अतः यह पटोल से भिन्न है। अष्टांगहृदय में यह कारवेल्लक के साथ पठित है अतः उससे भी भिन्न है।

चक्रपाणि ने कुलक से कारवेल्लक लिया है और एकीय मत से पटोलभेद का निर्देश किया है। अरुणदत्त ने इसका अर्थ काकतिन्दुक किया है। अमरकोष में कुलक काकतिन्दुक और पटोल का पर्याय है। भावप्रकाश में भी वही स्थिति है।

कुलक से पटोलभेद (Trichosanthes sp.) का ग्रहण करना चाहिए।

कुलहल

कुलहल या कुलाहल सुश्रुतसंहिता के सुरसादि गण तथा पिप्पल्यादि शाकों में पठित है। अष्टांगहृदय में भी सुरसादि गण में है। चरकसंहिता में इसका उल्लेख नहीं मिलता।

---

१. चांगेरीसदृशैः पत्रैः सुनिषण्णश्चतुर्दलः।
शाको जलान्विते देशे चतुष्पत्रीति कथ्यते॥ (सु. सू. ४६।२६२)

२. सुनिषण्णकं सुसुनिया इति ख्यातम्। शिवदास (द्र. सं., शाक. १४)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

डल्हण ने इसका अर्थ मुण्डितिका किया है (सु. सू. ४६।२२१)। अरुणदत्त ने 'भूकम्बकः अलम्बुषाख्यः' कहा है। इससे भी उपर्युक्त अर्थ ही निकलता है।

अतः कुलहल से मुण्डी (Sphaeranthus sp.) का ग्रहण करना चाहिए।

कुश—दर्भ

चरक, सुश्रुत आदि संहिताओं में कुश तथा दर्भ का एक साथ पृथक्-पृथक् उल्लेख है[1] जिससे उनकी भिन्नता स्पष्ट है। वाग्भट ने कुशद्वय[2] तथा द्विदर्भ[3] का उल्लेख किया है जिसमें कुश के साथ दर्भ एवं दर्भ के साथ कुश समाविष्ट है। इसी प्रकार सुश्रुत (चि. ३८।५०) ने 'कुशादि पञ्चमूल' कहा तो अष्टांगहृदय (चि. ६।७३) ने 'दर्भपञ्चक' कहा। इससे पता चलता है कि वाग्भटकाल से कुश तथा दर्भ आवश्यकतानुसार एक दूसरे के प्रतिनिधिरूप में व्यवहृत होते रहे हैं। आगे चल कर कुश एवं दर्भ की एकता का भ्रम इसी कारण उत्पन्न हुआ। अधिकांश निघण्टुओं में दर्भद्वय करके इन दोनों का वर्णन किया गया है[4] और कहीं ये पर्यायवाचक कहे गये हैं[5]।

अनुसन्धान द्वारा यह स्पष्ट हो गया है कि कुश Desmostachya bipinnata Stapf. तथा दर्भ Imperata cylindrica Beauv. है[6]।

कुष्ठ—पुष्करमूल

कुष्ठ अत्यन्त प्राचीन द्रव्य है। अथर्ववेद में इसका विस्तृत वर्णन तथा प्रयोग मिलता है[7]। बृहत्त्रयी में भी इसके अत्यधिक प्रयोग है जिनका उल्लेख करना यहाँ सम्भव नहीं। इस तुलना में पुष्करमूल का प्रयोग कम है। वैदिक वाङ्मय में तो यह मिलता ही नहीं, बृहत्त्रयी में भी इसके प्रयोग इने-गिने हैं। महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है चरक के महाकषायों तथा सुश्रुत के गणों में कुष्ठ तो अनेक बार आया है किन्तु पुष्करमूल का उल्लेख कहीं नहीं हुआ। चरक के अग्र्यप्रकरण में पुष्करमूल का उल्लेख है, यह हिक्का, श्वास, कास, पार्श्वशूलहर द्रव्यों में श्रेष्ठ माना गया है जबकि कुष्ठ वातहर अभ्यंग, उपनाह आदि में श्रेष्ठ कहा गया है। इससे संकेत मिलता है

---

१. च. सू. ४।१७, ३५; शा. ८।८८; चि. ८।१४६, सि. ९।१३
   सु. सू. ३८।१०, ७५;
   अ. सं. सू. १५।२२, ३५,
   अ. हृ. चि. ११।२२
२. अ. हृ. सू. १५।२४
३. अ. सं. चि. १४।१९, अ. हृ. चि. १३।४१
४. ध. नि., रा. नि., भा. प्र.
५. शिवकोष, अयरकोष, अष्टांगनिघण्टु, निघण्टुकोष; म. पा.
६. K. C. chuneker : Pharmacognostical stndrs of some Indian medicisul Plants (Ph. D. Thesis, B. H. U., 1975)
७. देखें द्रव्यगुणविज्ञान, भाग ४

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

जि कुष्ठ का अधिक प्रयोग बाह्य होता था जबकि पुष्करमूल आभ्यन्तर प्रयोग में प्रचलित था।

बाजार में कुष्ठ और पुष्करमूल के मूल मिलते हैं और वे प्रायः मिले-जुले होते हैं। उनका उपलब्धिस्थान भी एक ही (कश्मीर) है। अतः दोनों के सापेक्ष निर्णय में बड़ी भ्रान्ति रही है। डल्हण लिखते हैं कि जिन योगों में पौष्कर तथा कुष्ठ दोनों पठित हों वहाँ पौष्कर से मूल तथा कुष्ठ से उसकी शाखाओं का ग्रहण करना चाहिए[1]। वनौषधियों के परम ज्ञाता आचार्य डल्हण की जब ऐसी स्थिति है तब और की तो कहना ही क्या है? भावमिश्र ने कुष्ठ और पुष्करमूल का वर्णन तो पृथक् किया किन्तु वह भी पुष्करमूल को कुष्ठ का भेद मानते हैं।

अन्य निघण्टुओं में कुष्ठ और पुष्करमूल का वर्णन पृथक्-पृथक् है किन्तु कुष्ठ में वाप्य और उत्पल पर्याय तथा पुष्करमूल में पौष्कर और पद्मपत्रक पर्याय बिलकुल मिलते-जुलते हैं जिससे भ्रान्ति स्वाभाविक है।

आजकल Saussurea lappa C. B. Clarke. को निर्भ्रान्त रूप से कुष्ठ मानते हैं। किन्तु पुष्करमूल में अभी कुछ कठिनाई है। प्रायः Inula racemosa Hook. f. को पुष्करमूल मानते हैं किन्तु Inula racemosa. को अनेक विद्वान् रास्ना भी मानते हैं। इसके अतिरिक्त, कुष्ठ के पर्यायों तथा स्वरूप, गुणधर्म आदि में समानता से इंगित होता है कि यह कुष्ठप्रजाति (Saussurea sp.) की ही कोई वनस्पति हो। पुष्कर कमल को कहते हैं। कुष्ठ की अनेक प्रजातियाँ कमल (ब्रह्मकमल आदि) के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनमें से भी कोई पौष्कर हो सकता है। मेरे विचार से ब्रह्मकमल के मूल का परीक्षण होना चाहिए और यदि उसमें पुष्कर-मूल के चरकोक्त कर्म मिलें तो उसे पुष्करमूल मानना चाहिए यद्यपि Inula racemosa. में पार्श्वशूलहर कर्म मिलता है।

कृष्णगन्धा—श्वेतमरिच

चरकसंहिता में कृष्णगन्धा कुष्ठ आदि में लेपार्थ प्रयुक्त किया गया है। इसके अतिरिक्त, यह मूलासव, विरुद्धाहार, यक्ष्मातीसार, वातश्लैष्मिक अर्श में पोट्टलीस्वेद तथा वातव्याधि (त्रिफलादि महास्नेह) में विहित है। सुश्रुतसंहिता में कृष्णगन्धासव, कल्याणकलवण, विसर्पग्रन्थि में लेप आदि में प्रयुक्त हुआ है। वाग्भट में भी ये ही प्रयोग हैं।

चक्रपाणि ने कृष्णगन्धा से शोभाञ्जन का ग्रहण किया है (च. चि. १४।४२, २८।१३०)। डल्हण ने भी प्रायः इससे शोभाञ्जन लिया है और एकीय मत से शमी का भी निर्देश किया है।

---

१. यत्र शट्यादौ पौष्करं कुष्ठं च पठ्यते तत्र पौष्करं मूलं, तद्विटपशाखाश्च कुष्ठमिति ज्ञेयम्। (सु. चि. ३७।८)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

'कृष्णगन्धा' का अर्थ होगा कि जिसमें कृष्ण (मरिच) के समान गन्ध हो (कृष्णस्य मरिचस्येव गन्धो यस्यां सा)। शोभाञ्जन के बीज मरिच के तुल्य गुण या उससे अधिक गुणकारी कहे गये हैं। केवल वर्ण में श्वेत होने से श्वेतमरिच कहे जाते हैं जब कि मरिच कृष्णमरिच (काली मिर्च) के नाम से आज भी प्रसिद्ध है। वास्तविक श्वेत मरिच तो मरिच का छिलका उतार कर बनाया जाता है किन्तु यह सर्वत्र उपलब्ध न होने के कारण प्रतिनिधि रूप में शिग्रुबीज श्वेत मरिच के नाम से व्यवहृत होने लगे। अमरकोष में इसका उल्लेख है[1]। चरक के दृढबल-प्रतिसंस्कृत अंश में ही श्वेत मरिच का उल्लेख होने से प्रतीत होता है कि चरकोत्तर काल (प्रायः गुप्तकाल) में इसका प्रचलन हुआ। चरकसंहिता में इसका प्रयोग सर्पदंश तथा दृक्प्रसादनी वर्त्ति में हुआ है। सुश्रुत में शाकवर्ग में मरिच के प्रकरण में श्वेत मरिच का वर्णन है (सु. सू. ४६।२२५)। इससे यह स्पष्ट है कि उस काल में यह मरिच के एक भेद के रूप में प्रचलित था। डल्हण ने इस पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि श्वेत मरिच शोभाञ्जनबीज है, कुछ लोग मरिच भी श्वेत होता है ऐसा मानते हैं"। इससे भी संकेत मिलता है कि वास्तविक श्वेत मरिच का ज्ञान भी लोगों को था किन्तु विशेष प्रचलन शिग्रुबीज का श्वेत मरिच के नाम से हो रहा था। वाग्भट में भी इसके उपर्युक्त प्रयोग मिलते हैं।

निघण्टुओं में भी कृष्णगन्धा शोभाञ्जन के पर्यायों में आया है और शिग्रुबीज श्वेत मरिच कहा गया है[2]।

केलूट

चरकसंहिता के शाकवर्ग में केलूट का वर्णन है। इसका शाक विशद, गुरु, शीत और अभिष्यन्दी कहा गया है। वाग्भट ने भी इसका वर्णन जलज शाकों में किया है।

चक्रपाणि ने इस सन्दर्भ में हारीत का एक वचन उद्धृत किया है जिससे पता चलता है कि केलूट एक मधुर पौधा है जिसका कन्द मधुर शीतल होता है[3]। सुश्रुत ने तो केलूट का वर्णन नहीं किया किन्तु शाकवर्ग के कन्दप्रकरण में 'प्रभृति' शाक पर टिप्पणी करते हुए डल्हण ने लिखा है—'प्रभृतिग्रहणात् केलूटमुञ्जातकादयः' (सु. सू. ४६।२९८)।

---

१. शिग्रुजं श्वेतमरिचम्। (अ. को. २।१०।११०)

२. देखें—पर्यायरत्नमाला, ३१६, ४१९
सोढलनिघण्टु, I-503-504
कैयदेवनिघण्टु—१।७४०, ७४३

३. केलुटे हारीतवचनं—'केलुटं स्वादु विटपं तत्कन्दः स्वादुशीतलः इति। (च. सू. २७।११४)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

निघण्टुओं में सोढल ने जलज शाकों में इसका वर्णन किया है। सिद्धमन्त्र में यह पित्तघ्नवर्ग में शृंगाटक, कशेरुक आदि के साथ पठित है। बोपदेव ने इसकी व्याख्या में एक श्लोक उद्धृत कर इसका स्वरूप बतलाया है तथा एकीय मत से जलोदुम्बर कहा है[1]। कैयदेवनिघण्टु में भी उपर्युक्त श्लोक के साथ केलूट का वर्णन मिलता है।

उपर्युक्त तथ्यों से यह स्पष्ट है कि यह कोई कन्दमय जलज वनस्पति है। सम्भवतः कशेरु का कोई भेद हो।

कोशातकी–चतुष्टय

सुश्रुतसंहिता के क्षारप्रकरण (सू. ११।११) में चार कोशातकी का उल्लेख उल्लेख है। डल्हण ने इसकी टीका में लिखा है :—

'कोशातकी घोषकः, सा चतुर्विधा बृहत्फला, अल्पफला, पीतपुष्पा, श्वेतपुष्पा इति।'

अर्थात् बृहत्फल, अल्पफल, पीतपुष्प तथा श्वेतपुष्प यह चार प्रकार की कोशातकी यहाँ अभिप्रेत है। इन शब्दों से डल्हण विभिन्न चार द्रव्य लेना चाहते हैं या एक ही द्रव्य के चार प्रकार यह स्पष्ट नहीं होता।

मेरे विचार से कोशातकी-कुल की चार वनस्पतियाँ यहाँ अभिप्रेत हैं। पर्यायरत्नमाला में इन चारों वनस्पतियों का क्रम से उल्लेख है। ये हैं :—

१. देवदाली (घोषा)
२. हस्तिकोशातकी (हस्तिघोषा)
३. धामार्गव (पीतघोषा)
४. कोशातकी (श्वेतघोषा)

सम्भवतः डल्हण का अभिप्राय भी इन्हीं चार वनस्पतितों से है। ये चारों Luffa sp. हैं।

क्रमुक–तिल्वक–लोध्र

क्रमुक और तिल्वक सुश्रुत के श्यामादि गण में पठित हैं। इससे इनके रेचन कर्म का निर्देश मिलता है। क्रमुक सालसारादि गण में है अतः यह कोई सारवान् वृक्ष है। चरक ने त्वगासव (सू. २५) के सन्दर्भ में तिल्वक, लोध्र तथा क्रमुक तीनों का उल्लेख किया है जिससे इन तीनों के पार्थक्य का पता चलता है। अतः जो टीकाकार या कोषकार क्रमुक और लोध्र तथा तिल्वक और लोध्र को पर्यायवाची मानते हैं उनका कथन इससे खण्डित हो जाता है।

---

१. केलूटं स्वल्पविटपं कन्दे तत् स्वादुशीतलम्।
कोविदेन तु लोकेन केलूट इति भण्यते॥
इत्युक्तं केलूटं जलोदुम्बर इत्येके।
अरुणदत्त ने इसे हिंस्यकसंज्ञक उदुम्बरभेद माना है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

क्रमुक

चरक ने त्वगासव के अतिरिक्त रक्तपित्त, प्रमेह, कुष्ठ, अर्श, ग्रहणी, पाण्डु-कामला में इसका प्रयोग किया है। बस्ति के प्रतिलोम होने पर क्रमुक का कल्क पिलाने का विधान किया है जो उष्णता, तीक्ष्णता तथा सरत्व के कारण अनुलोमन करता है (सि. ७।३७)। इससे क्रमुक के गुणकर्म पर प्रकाश पड़ता है। ये गुणकर्म लोध्र के नितान्त विपरीत पड़ता है अतः क्रमुक और लोध्र की एकता नहीं हो सकती।

सुश्रुत ने सालसारादि तथा श्यामादि गण में उल्लेख के अतिरिक्त क्षौद्रमेह, सर्पविष में इसका प्रयोग किया है। वाग्भट ने प्रमेहोक्त लोध्रासव में क्रमुक का पाठ किया है।

उपर्युक्त उल्लेखों से क्रमुक के दो मुख्य कर्म प्रकाश में आते हैं एक रेचन तथा दूसरा मधुमेहघ्न।

'क्रमुक' शब्द वैदिक वाङ्मय में भी बहुशः मिलता है। 'क्रमुक' भी इसके लिए प्रयुक्त हुआ है। यह सारवान् वृक्षविशेष है जिसकी लचीली शाखाओं से धनुष बनता था। यज्ञ में इसके काष्ठ के यूप बनते थे अतः यह 'यूपदारु' भी कहा जाता है।

टीकाकारों ने क्रमुक से लोध्र या पूग लिया है[1] किन्तु जैसा कि कहा जा चुका है लोध्र और क्रमुक का एक साथ उल्लेख होने से तथा गुणकर्म में भिन्नता के कारण क्रमुक लोध्र नहीं हो सकता। क्रमुक से पूग का ग्रहण भी उचित नहीं है क्योंकि त्वगासव तथा सालसारादि में सारवान् वृक्ष होना चाहिए जिसकी त्वचा पर्याप्त निकलती हो। पूग में ऐसा सम्भव नहीं है।

इस प्रकार क्रमुक ऐसा कोई वृक्ष होना चाहिए जो सारवान्, प्रभूतवल्कल हो तथा रेचन एवं मधुमेहघ्न हो।

क्रमुक से तूद लेने का विचार प्रस्तुत किया गया है क्योंकि इसे पार्वत्य क्षेत्रों में 'कीमू' (क्रमुक ?) कहते हैं तथा इसमें रेचन कर्म भी है किन्तु मधुमेह में उसके कर्म का उल्लेख नहीं मिलता।

---

१. **क्रमुकं गुवाकम्।** (चक्र. च. सू. २५।४९)
क्रमुकं पट्टिकालोध्रम्। (चक्र. च. चि. ४।७४)
क्रमुकं पट्टिकालोध्रं पूगं वा (चक्र. च. चि. ६।४१)
क्रमुकं ह्रस्वपूगफलम्। (चक्र. च. चि. ७।८१)
क्रमकं पूगः पट्टिकारोध्रो वा। (चक्र. च. चि. १४।१५९)
क्रमुकं पूगफलम्। (चक्र. च. सि. ७।३७)
क्रमुकः पूगफलम्। (ड. सु. सू. ३८।२९, चि. १९।९, क. ५।७०)
क्रमुकः पूगः, वृत्तरोध्र इत्यन्ये साराधिकारात्। (ड. सु. सू. ३८।८)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

अतः मेरा विचार है कि क्रमुक से जारुल (Lagerstroemia speciosa Pers.) का ग्रहण करना चाहिए। इसका स्थानीय नाम 'जारुल' मेरे विचार से (यूप) दारु का अवशिष्ट रूप है। इसमें रेचन और मधुमेहघ्न कर्म भी पाये जाते हैं। इसकी लकड़ी भी दृढ होती है और वृक्ष सारवान् होता है। फल पूगवत् होते हैं।

Lagerstroemia speciosa Pers. (Fam. Lythraceae.)

इसका वृक्ष ७०–८० फीट तक ऊँचा तथा ८–१० फीट परिधि का होता है। छाल चिकनी, धूसरवर्ण होती है। पत्र–आयताकार-भालाकार, ४–८ इञ्च लम्बे होते हैं। पुष्प गुलाबी रंग के, बड़े, बड़ी मञ्जरियों में आते हैं। फल–लगभग १½ इञ्च लंबे, अंडाकार या कुछ गोलाकार, स्थूल, काष्ठीय, त्रिखण्डयुक्त बाह्यकोष से युक्त होते हैं। सूखने पर ये फट जाते हैं। बीज हलके भूरे रंग के होते हैं। फूल वसन्त में आते हैं। फल उसके बाद प्रायः बराबर देखे जाते हैं।

यह प्रायः समस्त भारत में होता है विशेषतः पूर्वी तथा दक्षिण भारत में मिलता है।

वृक्ष के अनेक अंगों में इनुलिन के समान घटक पाया जाता है जिसके कारण मधुमेहघ्न क्रिया होती है। पत्र और फल में यह क्रिया विशेष होती है। पत्र रेचन भी हैं।

यह ज्ञातव्य है कि संहितोत्तर काल में 'क्रमुक' शब्द प्रायः पूग के लए प्रयुक्त हुआ है। चक्रदत्त, शार्ङ्गधर आदि ग्रन्थों में देखा जा सकता है। संहिताओं में 'पूग' का प्रयोग अत्यल्प है। चरक में केवल मुखशुद्ध्यर्थ प्रयोग हुआ है। सुश्रुत में इसके अतिरिक्त, विरेचन में प्रयोग हुआ है।

लोध्र और तिल्वक

दृढबल ने लोध्र और तिल्वक को पर्याय कहा है किन्तु लोध्र ग्राही है जबकि तिल्वक रेचन है और चरक के त्वगासव एवं सुश्रुत के श्यामादि गण में निर्दिष्ट है। इसके अतिरिक्त, चरक के त्वगासव (सू. २५) में ये दोनों एक साथ पृथक् पठित हैं। अतः ये दोनों भिन्न द्रव्य हैं।

तिल्वक Viburnum nervosum. D. Don. माना गया है।

लोध्र Symplocos racemosa Roxb. है।

लोध्रद्वय या रोध्रयुग्म का उल्लेख भी मिलता है। इसके किन दो वनस्पतियों का ग्रहण किया जाय यह विचारणीय है। लोध्र और तिल्वक के साहचर्य के कारण इन्हें लोध्रद्वय माना जा सकता था किन्तु इन दोनों के गुणकर्म परस्परविरोधी हैं जबकि लोध्रद्वय समानगुण कहे गये हैं। ऐसी परिस्थिति में लोध्रदय से Symplocos की ही दो प्रजातियों का ग्रहण करना चाहिए :—

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

१. Symplocos racemosa Roxb.[1]
२. S. paniculata Miq.
S. Paniculata Miq.

इसका ३०–४० फीट ऊँचा वृक्ष होता है। पत्र–अभिलट्वाकार, ६·२५ सें. मी. लम्बे और २·५–३·७५ सें. मी. चौड़े होते हैं। पुष्प–श्वेत, सुगन्धित, अन्त्य मञ्जरियों में लगते हैं। फल–नीलवर्ण प्रायः एकबीजी होते हैं।

यह हिमालय प्रदेश में पंजाब से आसाम तक २–८ हजार फीट की ऊँचाई पर होता है।

Viburnum nervosum D. Don. (Fam—Caprifoliaceae.)

इसका वृक्ष छोटा होता है। पत्र–२½–३ इञ्च लम्बे, १⅞ इञ्च चौड़े, अण्डाकार-आयताकार, तीक्ष्णाग्र, दन्तुर, ह्रस्ववृन्त होते हैं। पुष्पमञ्जरियाँ पत्तियों से पहले निकल आती हैं। फल–अण्डाकार, छोटे होते हैं।

यह हिमालय प्रदेश में १०–१३ हजार फीट की ऊँचाई पर कश्मीर से सिक्किम तक होता है।

क्रौञ्चादन

चरक ने जलज शाकों में क्रौञ्चादन का वर्णन किया है (च. सू. २७।११६)। पुनः चन्दनाद्य शीतवीर्य द्रव्यों में (च. चि. ३।२५८) तथा अर्श के निदान में (च. चि. १४।९) इसका पाठ है। वाग्भट ने भी इसी प्रकार जलज शाकों में इसका उल्लेख किया है (अ. हृ. सू. ६।९२)।

चक्रपाणि ने इससे 'घिञ्चुलिका' का ग्रहण किया है। अरुणदत्त ने भेद (भेंट ?) अर्थ किया है। सुश्रुत में कौञ्चादन नहीं है अतः डल्हण का अभिप्राय सूचित नहीं होता।

क्रौञ्चादन का अर्थ है कि क्रौञ्च पक्षी जिसे खाते हों। उत्पलकन्द इससे लिया जा सकता था किन्तु वाग्भट में क्रौञ्चादन से पृथक् 'उत्पलकन्द' का पाठ है। अतः इससे उत्पलबीज लेना चाहिए जिसे लोकभाषा में भेंट कहते हैं। सम्भवतः अरुणदत्त का यही अभिप्रेत है।

क्लीतक

चरकसंहिता में फलिनी ओषधियों में क्लीतक का उल्लेख है। वहाँ क्लीतक दो प्रकार का कहा गया है :—आनूप तथा स्थलज[2]। पुनः विरेचन ओषधियों में क्लीतक के क्वाथ का प्रयोग है (च. वि. ८।१३६)।

---

१. इसका वर्णन द्वितीय भाग में देखें।
२. आनूपं स्थलजं चैव क्लीतकं द्विविधं स्मृतम्। (च. सू. १।८१)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

सुश्रुत ने पित्तार्बुद एवं जठररोग में क्लीतकसिद्ध घृत का विधान किया है (चि. १८।३४)। यहाँ भी रेचन कर्म ही अभीष्ट प्रतीत होता है। मूल विषों में भी क्लीतक की गणना है, उनमें यह प्रथम द्रव्य है (क. १।५)।

वाग्भट में क्लीतक नहीं है, सम्भवतः उस समय तक इसका प्रयोग लुप्त हो गया हो। इसका कारण द्रव्य की विषाक्तता हो सकता है।

उपर्युक्त तथ्यों से निम्नांकित निष्कर्ष निकलते हैं :—

१. क्लीतक के फल (बीज) का प्रयोग रेचनार्थ होता था।

२. इसका मूल विषाक्त था।

३. सम्भवतः यह विदेश से आता था।

४. देश में उपलब्ध न होने के कारण इसका प्रयोग अत्यल्प था। अतः वाग्भट के काल तक इसका प्रयोग छूट गया।

चक्रपाणि ने क्लीतक से यष्टीमधु का ग्रहण किया है। उसने कहा है कि यद्यपि यष्टीमधु का मूल व्यवहृत होता है तथापि रेचन कर्म के लिए उसका फल प्रशस्त माना गया है[1]।

डल्हण ने भी इससे मधुयष्टी का ही ग्रहण किया है किन्तु विषप्रकरण में वह मौन रह गये हैं।

'क्लीतक' से नीली की ओर कुछ विद्वानों ने संकेत किया है किन्तु यह सम्भव नहीं है क्योंकि नीली के लिए 'क्लीतनिका' पर्याय है, 'क्लीतक' नहीं। दूसरी बात यह है कि चरक विमानस्थान में क्लीतक के साथ नीलिनी पृथक् पठित है।

इससे यष्टीमधु का ग्रहण भी उचित नहीं है क्योंकि एक तो इसके फलों का व्यवहार नहीं है, दूसरे यह विषाक्त तथा (तीव्र) रेचन भी नहीं है।

'क्लीतक' शब्द से सामान्यतः उन ओषधियों का ग्रहण किया जाता है जो बाहर से खरीद (क्रय) कर लाई जाती हैं। इस प्रकार क्लीतक विदेश से आयातित कोई विषाक्त द्रव्य था जिसका सम्प्रति निर्धारण सम्भव नहीं है।

संहिताग्रन्थ

चरकसंहिता में क्लीतक की दो जातियों का उल्लेख मिलता है। एक आनूप और दूसरा स्थलज[2]। इस ग्रन्थ में द्रव्यों के व्यवहार्य अंग की दृष्टि से वर्गीकरण किया है जिसमें मूलिनी औषधियों के मूल और फलिनी औषधियों के फलों का

१. क्लीतकं यष्टीमधु, अस्य तु यद्यपि सुश्रुते मूलं प्रशस्तं, मूलेनैव व्यवहारः, तथापि विरेचनं प्रति यष्टीमधुद्वयस्यापि फलमेव प्रशस्तं ज्ञेयम्। (च. सू. १।८१)
क्लीतकं यष्टीमधु (च. वि. ८।१३६)

२. च. सू. १।८२

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

प्रयोग कहा गया है। इस संहिता में क्लीतक फलिनी औषधियों के अन्तर्गत पठित है और दोनों प्रकार के क्लीतक स्थलज और जलज का विरेचन कर्म (संशोधन कर्म) के लिए प्रयोगार्थ निर्देश किया गया है। इससे स्पष्ट होता है कि चरक ने इसके फलों को ही श्रेयस्करमान कर चिकित्साकर्म में इसका विधान बतलाया है। पुनश्च विमानस्थान में भी विरेचन कर्म के लिए क्लीतक के प्रयोग को उत्तम माना गया है[१]। इस ग्रन्थ में इसके अतिरिक्त और कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता।

सुश्रुतसंहिता में क्लीतक दो स्थानों (कल्प और चिकित्सा) में वर्णित है। इस संहिता में चरक की अपेक्षा दो विशेषतायें दृष्टिगोचर होती हैं। प्रथम तो क्लीतक स्थावर मूलविषों के अन्तर्गत वर्णित है[२] और दूसरा यह कि इसके मूल को प्रयोज्य माना गया। पित्तार्बुद और पित्तोदरी रोगों की चिकित्सा में इसका प्रयोग श्रेयस्कर माना है[३]।

अष्टांगसंग्रह में क्लीतक का उल्लेख विरेचन द्रव्यों के अन्तर्गत है तथा इसके फलों को ही विरेचन कर्म के लिए उपयोगी माना है[४]। स्पष्टतः इसमें चरकसंहिता का अनुसरण किया गया है।

अष्टांगहृदय में क्लीतक का उल्लेख प्राप्त नहीं होता।

निघण्टु और कोष

अष्टांगनिघण्टु :—सारिवादिगण के अन्तर्गत मधुयष्टी के पर्यायों में क्लीतक का निर्देश किया गया है यथा यष्टीमधु, यष्ट्याह्व, मधुक, क्लीतक इत्यादि।

धन्वन्तरिनिघण्टु :—इस ग्रन्थ में क्लीतक मधुयष्टीविशेष के लिए आया है तथा इसके दो भेद स्थलज और जलज बतलाये गये हैं।

निघण्टुशेष :—इस ग्रन्थ में क्लीतक जलज मधुयष्टी के लिए आया है तथा नीलिनी के लिए क्लीतक का शब्द आया है।

मदनपालनिघण्टु :—इस ग्रन्थ में क्लीतक जलजा मधुयष्टी का पर्याय माना गया है। नीलिनी के पर्याय में क्लीतक या क्लीतनिका नहीं दिया है।

राजनिघण्टु :—क्लीतक (मधूयष्टीविशेष) के पर्याय में क्लीतनक, मधुवल्ली, मधूलिका, मधुरलता, मधुपर्णी, मधुरसा, अतिरसा और शोषापहा कहे गये हैं। इसके दो भेद हैं स्थलज और जलज। यह अधिक स्वादिष्ट और मधुररसयुक्त होता है। यह शीत, गुरु, बल्य, वृष्य, चक्षुष्य, रक्तपित्त और व्रणशामक है।

---

१. च. वि. ८।१३६
२. सु. क. २।५
३. सु. चि. १८।३४
४. अ. सं. सू. १४।४

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

भावप्रकाशनिघण्टु :—इस ग्रन्थ में मधुयष्टी के पर्याय रूप में क्लीतक का प्रयोग किया गया है।

शालिग्रामनिघण्टु :—इस ग्रन्थ में क्लीतका मधुयष्टी का पर्याय दिया है।

निघण्टुरत्नाकर के श्लोक इस प्रसंग में उद्धृत हैं जिसमें मधुवल्ली दो प्रकार की बतलायी गयी है, जलज और स्थलज। शालिग्राम ने इसका विवरण देते हुए देते हुए लिखा है कि मुलेठी का क्षुप होता है और दूसरी बेलवाली मुलेठी होती है। जलज यष्टी के अर्क का गुण भी लिखा है। नीलिनी का पर्याय क्लीतकिका दिया है।

अमरकोष :—इसमें मधुक का पर्याय क्लीतक है। भानुजीदीक्षित ने व्याख्या में लिखा है :—क्लीं क्लीबत्वं तकति। वृष्यत्वात्। क्रीतकं क्रयोऽस्त्यस्याः। क्रीतकं विनिमयः इति स्वाभिमुकुटौ।

जो क्लैब्य को दूर करे और जिसका क्रय-विक्रय किया जाता रहा हो या विनिमय होता रहा हो उसे क्लीतक संज्ञा दी गयी है।

आचार्य चक्रपाणि ने क्लीतक को मधुयष्टी मान कर उसके फलों के प्रयोग का विरेचन कर्म के लिए निर्देश किया है[1]। इनका विचार है कि सुश्रुत ने यद्यपि इसके मूल को ही श्रेयस्कर माना किन्तु विरेचन कर्म के लिए उसके फल ही उत्तम हैं।

आचार्य डल्हण ने एक स्थान पर क्लीतक को मधुयष्टी माना है[2] किन्तु कल्प स्थान में मूलविषों की चर्चा करते हुए कहा है कि इन द्रव्यों का प्रयत्न करने पर भी ज्ञान संभव नहीं है अतः इनके सम्बन्ध में जानकारी हिमवत् प्रदेश में रहने वाले किरातादि लोगों से करनी चाहिए[3]।

अरुणदत्त ने यष्ट्याह्व से क्लीतिका का ग्रहण किया है[4]। इसी प्रकार सारिवादिगण में यष्टी क्लीतकसंज्ञा कहा गया है[5]।

विमर्श

चरकसंहिता में क्लीतक का उल्लेख फलिनीगण में विरेचन कार्य के लिए हुआ है। इससे पता चलता है कि चरकोक्त क्लीतक विरेचन द्रव्य हैं जिसके फलों का प्रयोग विहित था। सुश्रुत में इसके विरेचन कार्य का संकेत तो किया है किन्तु उसकी गणना मूल-विषों में की गयी है। इससे स्पष्ट है कि इसके मूलों का प्रयोग

१. क्लीतकं यष्टीमधु, अस्य तु यद्यपि सुश्रुते मूलं प्रशस्तं, मूलेनैव व्यवहारः, तथापि विरेचनं प्रति यष्टीमधुद्वयस्यापि फलमेव प्रशस्तं ज्ञेयम्। (च. सू. १।८२)

२. सु. चि. १८।२६

३. मूलादिविषाणां यत्नपरैरपि ज्ञातुमशक्यत्वात् तानि हिमवत्प्रदेशे किरातशबरादिभ्यो ज्ञेयानि। (सु. क. २।५)

४. अ. हृ. सू. १५।३५

५. अ. हृ. सू. १५।११

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

होता था जिनसे विषाक्त प्रभाव उत्पन्न होता था। यह संभव है कि इसके फल और मूल दोनों ही विरेचन होते हैं जैसे-दन्ती, इन्द्रायण आदि के होते हैं और उनके उपयोग-व्यतिक्रम से विषाक्त लक्षण उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार चरक और सुश्रुत का क्लीतक एक हो सकता है किन्तु सुश्रुत ने मूलविषों के लक्षण में प्रलाप, मोह, उद्वेष्टन लिखे हैं किन्तु विड्भेद या अतिसार नहीं लिखा है, इससे संदेह होता है कि यह क्षोभक विष न होकर मादक विष हो और इस प्रकार चरकोक्त क्लीतक से सुश्रुतोक्त क्लीतक भिन्न हो। एक और संभावना यह भी हो सकती है कि इसके फल विरेचक हों जिनका गुल्म आदि रोगों में प्रयोग होता हो और मूल मादक विष हो।

मध्यकालीन निघण्टुओं में क्लीतक मधुयष्टी का पर्याय माना गया किन्तु प्राचीन मान्यता ऐसी नहीं हो सकती, इसमें निम्नांकित प्रमाण दिये जा सकते हैं:—
(१) मधुयष्टी एक उत्तम रसायन कहा गया है और मेध्य भी है जबकि क्लीतक विष की श्रेणी में आता है और मादकता उत्पन्न करता है, इसके अतिरिक्त क्लीतक तीव्र विरेचक है। जब कि मधुयष्टी मधुर स्निग्ध होने के कारण अनुलोमन है। इस प्रकार गुण और कर्म की दृष्टि से दोनों विरुद्ध हैं।

(२) चरक ने क्लीतक के फलों का प्रयोग बतलाया है किन्तु मधुयष्टी के मूलों का ही प्रयोग होता है। चक्रपाणि ने जो इस सम्बन्ध में यह तर्क दिया है कि विरेचन में मधुयष्टी के फलों का ही प्रयोग प्रशस्त है, यह परम्परा विरुद्ध होने के कारण स्वीकार्य नहीं हो सकता। निघण्टुओं में क्लीतकिका या क्लीतनिका आदि शब्द नीलिनी के पर्याय के रूप में प्रयुक्त हुए हैं किन्तु चरक और अष्टांगसंग्रह में नीलिनी और क्लीतनिका का एकत्र पाठ होने से दोनों के ऐक्य का निराकरण हो जाता है और यह स्पष्ट है कि क्लीतनिका और नीलिनी भिन्न द्रव्य हैं।

कुछ आधुनिक विद्वानों ने गुंजा की ओर संकेत किया है किन्तु सुश्रुत में मूल विषों के अन्तर्गत क्लीतक के साथ गुंजा भी पठित है। अतः क्लीतक गुंजा से भिन्न द्रव्य है।

इस प्रकार प्राचीन संहिताओं के आधार पर स्पष्ट होता है कि क्लीतक या क्लीतनिका मधुयष्टी, नीलिनी और गुंजा से भिन्न द्रव्य है। संभवतः प्राचीन काल का अंत होते-होते संदिग्धता के कारण इसका प्रचलन अवरुद्ध हो गया। संभवतः इसी कारण वाग्भट ने अष्टांगसंग्रह में चरक का केवल अनुसरण मात्र किया और अष्टांगहृदय में इसका नामोल्लेख तक नहीं किया। अब यह प्रश्न विचारणीय है कि क्लीतक का सम्बन्ध मधुयष्टी के साथ किस प्रकार सम्बन्धित हुआ।

क्लीतक का अर्थ कोषों के टीकाकारों ने किया है कि एक तो क्लैब्य को दूर करे और दूसरा जिसका क्रय-विक्रय में महत्त्व हो। चूंकि यह शब्द नीलिनी का भी पर्याय

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

है जो वृष्य नहीं है इससे हमारी धारणा ऐसी बनती है कि इस शब्द का गुणकर्म से कोई सम्बन्ध न होकर यह केवल व्यापारिक सम्बन्ध का सूचक है। ऐसे द्रव्य जो आयात और निर्यात की दृष्टि से व्यापारिक महत्त्व रखते थे उनको यह संज्ञा दी जाती थी। मधुयष्टी और नीलिनी ऐसे द्रव्यों में प्रमुख थे। इस आधार पर क्लीतक एक सामान्य संज्ञा हो जाती थी। संभवतः प्राचीनकाल में चरकोक्त क्लीतक एक ऐसा ही द्रव्य था जो बाहर से आता था। यह भी संभव है कि जिन प्रदेशों से मधुयष्टी आती हो उन्हीं प्रदेशों से क्लीतक भी आता हो और इसी प्रकार आगे चलकर क्लीतक शब्द मधुयष्टी के लिए प्रयुक्त होने लगा हो।

यह स्मरणीय है कि सभी टीकाकारों ने मधुयष्टी के लिए क्लीतक का प्रयोग किया है। सुश्रुतोक्त क्लीतक भी ऐसा ही रहा होगा। वनस्पतिवेत्ता डल्हण ने इसी कारण मध्यकालीन विचारों का अनुसरण करते हुए इसके परिचय में सन्देह व्यक्त किया है। यदि क्लीतक स्पष्टतः मधुयष्टी होता तो डल्हण जैसे व्याख्याकार इसका उल्लेख अवश्य करते। ऐसा प्रतीत होता है कि संहितोक्त क्लीतक दन्तीकुल या इन्द्रायणकुल का कोई द्रव्य रहा होगा जो बाहर से आता था और जो मध्यकाल में दूसरे द्रव्यों के प्रचलन के कारण दब गया हो। जयपाल का उल्लेख प्राचीन काल में नहीं मिलता मध्यकाल से ही इसका उल्लेख मिलता है। क्या यह संभव है कि क्लीतक जयपाल का ही कोई भेद हो?

जहाँ तक स्थलज और अनूपज भेदों का प्रश्न है यह इनके उद्भव या भौगोलिक वितरण से सम्बन्ध रखता है। एक ही द्रव्य शुष्क प्रदेश में होने के कारण स्थलज कहा जाता है।

निष्कर्ष

संहितोक्त क्लीतक मधुयष्टी, नीलिनी तथा गुंजा से भिन्न द्रव्य है जिसका निर्धारण सम्प्रति सम्भव नहीं है।

क्षवक–राजक्षवक

क्षवक—क्षवक चरकसंहिता के शिरोविरेचनोपग महाकषाय, रक्तपित्तनिदान, क्रिमिचिकित्सा, कटुकस्कन्ध, शिरोविरेचन, अगुर्वादि उष्णवीर्य द्रव्य, कुष्ठघ्न तैल, शिरोरोग तथा मदनकल्प में पठित है। प्रायः यह सुरसादि गण के द्रव्यों—सुमुख, सुरस, कुठेरक, कालमालक, पर्णास आदि के साथ आया है।

सुश्रुतसंहिता में क्षवक सुरसादि गण, पिप्पल्यादि शाक, प्रवाहिका एवं विषूची चिकित्सा में विहित है। उद्भिद शाकों में भी क्षवक है जो सम्भवतः कवक है और छत्रक का वाचक है।

अष्टांगहृदय में क्षवक कासचिकित्सा में निर्दिष्ट है।

चक्रपाणि ने क्षवक का अर्थ छिक्काकारक, पर्णासभेद माना है। डल्हण ने इसे फणिज्जक के आकार का, क्षवथुकारक, चिह्लरियाक या छिकनी लोकनाम से

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

प्रसिद्ध तथा प्रायः पारियात्र में उपलब्ध बतलाया है (क्षवथुकारः फणिज्जकाकारः चिल्लरियाक इति पारियात्रे प्रसिद्धः, छिङ्क्नीति लोके—सु. सू. ३८।१८)।

क्षवक से Centipeda minima (Linn.) A. Br. & Aschers. (नकछिकनी) का ग्रहण करते हैं।

राजक्षवक—यह चरकसंहिता में बृंहणीय महाकषाय का द्वितीय द्रव्य है। इसके अतिरिक्त मधुरस्कन्ध में है। इसका शाक लघु, त्रिदोषहर, ग्राही तथा विशेषतः ग्रहणी एवं अर्श में प्रशस्त कहा गया है। सुश्रुत एवं वाग्भट ने भी ऐसा ही वर्णन किया है। इससे यह मधुर, शीत प्रतीत होता है जबकि क्षवक कटु एवं उष्ण है।

चक्रपाणि ने राजक्षवक से दुग्धिका लिया है। डल्हण ने इससे कृष्णराजिका का ग्रहण किया है तथा एकीय मत से बड़े पत्र वाली नकछिकनी का उल्लेख किया है[1]। किन्तु इसके मधुर, शीत तथा बृंहणीय स्वरूप को देखते हुए डल्हण का मत ग्राह्य नहीं प्रतीत होता। चक्रपाणि का मत ठीक है और तदनुसार राजक्षवक से सम्भवतः अर्ककुल की कोई क्षीरिणी वनस्पति उपर्युक्त गुणधर्मयुक्त होनी चाहिए। स्मरणीय है कि बृंहणीय महाकषाय का प्रथम द्रव्य 'क्षीरिणी' भी इसी प्रकार की वनस्पति है।

क्षीरपलाण्डु—क्षीरपुष्पी

क्षीरपलाण्डु—क्षीरपलाण्डु का वर्णन केवल एक स्थल पर सुश्रुतसंहिता में पलाण्डु के रूप में मिलता है (सु. सू. ४६।२४७)। डल्हण अपनी व्याख्या में लिखते हैं कि पलाण्डु ही क्षीरयुक्त एवं मधुररस होने पर क्षीरपलाण्डु कहा जाता है[2]।

यह Allium wallichii Kunth. है जो स्थानीय नाम 'लादू' के नाम से प्रचलित है। हिमालय प्रदेश में ८–१३ हजार फीट की ऊँचाई पर कुमाऊँ से सिक्किम तक होता है।

क्षीरपुष्पी—चरकसंहिता में इसका उल्लेख हिमवत्प्रभव दिव्य औषधियों में हुआ है (चि. १।४।६) कुछ लोग इसे शंखपुष्पी का एक भेद मानते हैं।

क्षीरीवृक्ष

पञ्च क्षीरीवृक्षों में न्यग्रोध, उदुम्बर, अश्वत्थ, प्लक्ष ये चार असंदिग्ध रूप से हैं

---

१. राजक्षवकशाकं कृष्णराजिका, अन्ये तु राजक्षवको बृहत्पत्रः क्षवथुकाकर इत्याहुः। (सु. सू. ४६।२७६)

२. स्निग्धो रुचिष्यः स्थिरधातुकारी बल्योऽथ मेधाकफपुष्टिदश्च।
स्वादुर्गुरुः शोणितपित्तशस्तः सपिच्छिलः क्षीरपलाण्डुरुक्तः॥
पलाण्डुः स्थूलनालाग्रपत्रो गुन्द्रालिकाभेदः, स एव सक्षीरो मधुररसः क्षीरपलाण्डुरित्युच्यते। (डल्हण)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

किन्तु पाँचवे द्रव्य के सम्बन्ध में मतभेद है। कुछ लोग पारीष, कुछ मधूक तथा कुछ वेतस का ग्रहण करते हैं।

चरक ने मूत्रसंग्रहणीय महाकषाय में वट, प्लक्ष, कपीतन, उदुम्बर और अश्वत्थ इन पाँच का एक साथ उल्लेख किया है। ये ही द्रव्य फलासव (च. सू. २५।४९), कषायस्कन्ध (च. वि. ८।१४४), शीतवीर्य द्रव्य (च. चि. ३।२५८) तथा चन्दनाद्य घृत (च. चि. १५।१२६)। में इसी प्रकार एकत्र पठित हैं। अतः ये ही पाँच क्षीरीवृक्ष चरकसंमत हैं इसमें कोई संशय नहीं रहता।

सुश्रुत ने न्यग्रोधादि गण में उपर्युक्त चार द्रव्यों के साथ मधुक का पाठ किया है, कपीतन उसके बाद छठा द्रव्य है। इससे स्पष्ट है कि कपीतन को सुश्रुत पञ्च क्षीरीवृक्षों में नहीं लेते[1]। 'मधुक' और 'मधूक' में भी भ्रान्ति है, कारण कि दोनों ही न्यग्रोधादि गण में है। पञ्चक्षीरी वृक्षों में 'मधूक' है यह इससे प्रमाणित होता है कि चार क्षीरीवृक्षों में मधूक का समावेश है, डल्हण ने भी ऐसी ही व्याख्या की है[2]।

वाग्भट ने न्यग्रोध, उदुम्बर, अश्वत्थ तथा प्लक्ष इन चार का उल्लेख दो स्थलों पर किया है (अ. हृ. सू. २१।१६, चि. ३।८८) तथा प्रथम तीन का उल्लेख दो स्थलों पर किया है (अ. हृ. चि. ८।१२६, ९।१००)। एक स्थल पर स्पष्ट रूप से पाँच का उल्लेख किया है[3]। अतः वाग्भट के ये ही पाँच क्षीरी वृक्ष हैं यह मानना चाहिए। इस प्रकार वाग्भट के अनुसार न्यग्रोध, उदुम्बर, अश्वत्थ, प्लक्ष और वेतस ये पाँच क्षीरीवृक्ष हैं। वाग्भट ने इसके अतिरिक्त क्षीरिचतुष्टय तथा क्षीरित्रय का भी प्रयोग किया है जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है।

स्पष्ट है कि पञ्च क्षीरीवृक्षों के सम्बन्ध में बृहत्त्रयी के तीनों आचार्य भिन्न-भिन्न मत रखते हैं जो इस प्रकार हैं :—

१. चरक—न्यग्रोध, उदुम्बर, अश्वत्थ, प्लक्ष, कपीतन
२. सुश्रुत ,, ,, ,, ,, मधूक
३. वाग्भट ,, ,, ,, ,, वेतस।

गजलेण्ड

सुश्रुतसंहिता (चि. ९।२१) में इसके क्षार का प्रलेप श्वित्र में विहित है। गजमूत्र का भी इसमें प्रयोग होने के कारण गजलेण्ड से गजपुरीष ही अभिप्रेत है।

---

१. 'राजादनक्षीरिकपीतनेषु' (सु. उ. ४८।२६) से भी स्पष्ट है कि कपीतन क्षीरिवृक्षों के बाहर है (देखें कपीतन)।

२. चतुर्णां वा क्षीरिवृक्षाणां (न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थमधूकानां) (सु. सू. २।४)

३. न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थप्लक्षवेतसवल्कलैः ।
प्रदेहो भूरिसर्पिर्भिः शोफनिर्वापणः परम् ॥ (अ. हृ. उ. २५।२९)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कहीं-कहीं 'जलगण्ड' पाठान्तर है, वहाँ इससे जलगण्डीर (जलपिप्पली) का ग्रहण करना चाहिए। (देखें गण्डीर–जलपिप्पली)।

गांगेरुकी–गुडशर्करा

गांगेरुकी का उल्लेख चरकसंहिता (सू. २७।१३९) तथा सुश्रुतसंहिता (सू. ४६।१६३, १७०) में फलवर्ग में हुआ है। इसका फल मधुर, सकषाय, रूक्ष, शीत, कफपित्तहर तथा संग्राहक कहा गया है।

चक्रपाणि तथा डल्हण ने गांगेरुकी से नागबला लिया है। निघण्टुओं में भी ये पर्यायवाची हैं।

मेरे विचार से इससे गंगेरन (Grewia tenax (Forsk.) Aschers & Schwf.) का ग्रहण करना चाहिए। नागबला इससे भिन्न है।

गुडशर्करा नागबला का पर्याय है। इसका उल्लेख एक बार सुश्रुतसंहिता (उ. ४२।७०) और चरकसंहिता (चि. ८।१००, १०१) में हुआ है। इससे Grewia hirsuta Vahl. का ग्रहण करते हैं जिसके स्थानीय नाम 'गुडखण्डी' 'गुडभेली' 'गुडशर्करा' के परिवर्तित रूप हैं। (देखें नागबला)।

गिरिकर्णिका–अपराजिता

बृहत्त्रयी में यह गिरिकर्णिका, अद्रिकर्णी, गिरि, गिरिह्वा, गिर्यह्वा आदि शब्दों से पठित है। 'अपराजिता' शब्द बृहत्त्रयी में नहीं मिलता, निघण्टुओं में गिरिकर्णिका के पर्याय के रूप में निर्दिष्ट है। वहाँ विष्णुक्रान्ता भी इसका एक पर्याय दिया है। भावप्रकाश में अमरकोष का ही वचन उद्धृत कर दिया है (आस्फोता गिरिकर्णी स्याद् विष्णुक्रान्ताऽपराजिता)।

चरकसंहिता में गिरिकर्णिका एक ही बार सर्पदष्टचिकित्सा में पठित है (चि. २३।१९५)।

सुश्रुतसंहिता में यह शिरोविरेचन (सू. ३९।६), भगन्दरशोधन (चि. ८।३९), प्रमेहचिकित्सा (चि. ११।१०), पित्तार्बुद में शोधन घृत (चि. १८।३४), स्थावरविषचिकित्सा (क. २।४५), सर्पविषचिकित्सा (क. ५।७५), मूत्रकृच्छ्र में बस्ति (उ. ५९।१७), अपस्मारचिकित्सा में सिद्धार्थक घृत (उ. ६१।३२) में विहित है।

अष्टांगहृदय में यह महाभूतराव घृत (उ. ५।२०) तथा सर्पविषचिकित्सा (उ. ३६।६०) में पठित है।

चक्रपाणि ने इससे श्वेत अपराजिता का ग्रहण किया है और एकीय मत से स्यन्दना का निर्देश किया है। डल्हण ने गिरिकर्णिका का सेफन्द, श्वेतस्यन्द या अपराजिताभेद अर्थ किया है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

गिरिकर्णिका से अपराजिता के नाम से प्रचलित द्रव्य (Clitoria ternatea Linn) का ग्रहण करना चाहिए। यह दो प्रकार की होती है—श्वेतपुष्पा और नीलपुष्पा।

विष्णुक्रान्ता भिन्न द्रव्य है। (देखें शंखपुष्पी)।

गुन्द्रा—एरका—गुण्ठ

गुन्द्रा चरक, सुश्रुत और वाग्भट तीनों में है किन्तु एरका केवल चरक और वाग्भट तथा गुण्ठ केवल वाग्भट में है। चरकसंहिता में एरका केवल तीन स्थलों पर बाह्य प्रलेपार्थ प्रयुक्त हुआ है (सू. ३।२४, २७; चि. २९।१३४)। प्रायः अन्य सुगन्धित द्रव्यों के साथ पठित होने से यह सुगन्धित तृण प्रतीत होती है।

गुन्द्रा का प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक है। चरकसंहिता में अन्य तृणों के साथ यह स्तन्यजनन एवं मूत्रविरेचनीय महाकषायों, मधुरस्कन्ध, चन्दनाद्य शीतवीर्य द्रव्यों तथा रक्तपित्तचिकित्सा में पठित है। इससे इसके तृणजातीय स्वरूप, मधुर रस, शीतवीर्य, पित्तशामक, स्तन्यजनन तथा मूत्रविरेचनीय कर्मों का परिचय मिलता है। इसका प्रयोग आभ्यन्तर हुआ है।

सुश्रुतसंहिता में गुन्द्रा वीरतर्वादि गण एवं पित्तसंशमन वर्ग में पठित है तथा अश्मरी, विसर्प (लेप), उपदंश (लेप), पित्तहर बस्ति, पित्ताभिष्यन्दहर बस्ति में प्रयुक्त है। इस प्रकार यहाँ गुन्द्रा का बाह्य एवं आभ्यन्तर दोनों प्रयोग हैं।

अष्टांगहृदय में सुश्रुतानुसार गुन्द्रा का उल्लेख है। विशेषता यह है कि उसमें गुन्द्रा के अतिरिक्त गुण्ठ का पाठ वीरतर्वादि गण में हुआ है तथा अश्मरीचिकित्सा में भी गुण्ठ का प्रयोग दो योगों में हुआ है। सुश्रुत के एक योग (चि. ७।९) में गुन्द्रा के स्थान पर वाग्भट ने गुण्ठ पाठ दिया है। स्पष्ट है कि वाग्भट ने एक नये तृणद्रव्य गुण्ठ का समावेश किया।

विचारणीय है कि गुन्द्रा, एरका और गुण्ठ तीनों एक ही द्रव्य के पर्याय हैं या भिन्न द्रव्य हैं। वाग्भट ने वीरतर्वादि गण में गुन्द्रा से पृथक् गुण्ठ का पाठ किया है अतः इन दोनों की भिन्नता में सन्देह नहीं। निघण्टुओं में गुन्द्रा और एरका पर्यायवाची हैं[1] किन्तु चरक ने एरका का केवल बाह्य प्रयोग दिया है जबकि गुन्द्रा का बाह्य एवं आभ्यन्तर दोनों प्रयोग हैं। इसके अतिरिक्त, गुन्द्रा की अपेक्षा एरका का उल्लेख अत्यल्प है। सुश्रुत ने तो इसका नाम ही नहीं लिया। अतः एरका गुन्द्रा से भिन्न द्रव्य प्रतीत होता है। कैयदेव ने इसका एक पर्याय 'गन्धमूली' दिया है जिससे इसकी सुगन्ध का संकेत मिलता है। अष्टांगनिघण्टु ने गुन्द्रा और गुण्ठ का परिचय दिया है। गुन्द्रा को गुच्छपुष्पिका तथा गुण्ठ को वृत्ततृण एवं शृङ्गवेराभमूलक

---

१. देखें—हृदयदीपक, कैयदेवनिघण्टु, भावप्रकाशनिघण्टु।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कहा[1]। अन्य निघण्टुओं में भी गुण्ठ वृत्ततृण कहा गया है। कैयदेव ने गुन्द्रा को गुच्छमूला कहा।

डल्हण ने गुन्द्रा को पट्टेरकभेद, एरकाभेद 'गोंदर' इति लोके लिखा है तथा अन्य मत से गवेधुका का निर्देश किया है[2]। इससे भी गुन्द्रा एरकावत् किन्तु इससे भिन्न सिद्ध होता है। अरुणदत्त ने एरका को पट्टेरकभेद तथा गुण्ठ को वृत्ततृण (गुण्ठी वृत्ततृणं, कुन्द्रगुण्ठकापरसंज्ञः) कहा है।

इस प्रकार गुन्द्रा, एरका तथा गुण्ठ तीनों भिन्न द्रव्य हैं तथा Typha sp. हैं।

१. गुन्द्रा—Typha elephantina Roxb.

२. एरका— ,, laxmannii Lepech.

३. गुण्ठ— ,, australis Schum. & Thom.

निघण्टुओं में गुन्द्रा एवं एरका को एक मान कर गुन्द्रा तथा गुण्ठ दो द्रव्यों का वर्णन किया है। धन्वन्तरिनिघण्टु में गुण्ठ का वर्णन है। राजनिघण्टु में गुण्ठ और गुण्डकन्द है।

चरक ने जो 'दण्डैरका' का प्रयोग किया है (चि. २६।५१, क. १।२५) वह सम्भवतः एरकाभेद (गुन्द्रा) के लिए है[3]।

गृञ्जन (क)

चरकसंहिता के शाकवर्ग के हरित-प्रकरण में गृञ्जनक, पलाण्डु और लशुन का क्रम से वर्णन किया गया है। गृञ्जनक ग्राही, तीक्ष्ण तथा वातश्लैष्मिक अर्श में पथ्य और पित्तप्रकृति एवं पैत्तिक विकारों में स्वेदन तथा आहार के रूप में हितकर कहा गया है। इसके अतिरिक्त, शोथहर एवं अर्शोघ्न शाक, हिक्का, पुरीषक्षय; तथा वमनकल्प में गृञ्जनक का विधान है। हिक्काहर योग में लशुन, पलाण्डु तथा गृञ्जनक तीनों हैं (चि. १७।१३१)। सुश्रुत ने केवल एक ही बार पथ्यादि योग में विसूची एवं शूल की चिकित्सा में गृञ्ज का प्रयोग किया है। वाग्भट ने भी चरकानुसार तीन स्थलों में गृञ्जनक का उल्लेख किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि चरकोत्तर काल के गृञ्जनक का प्रयोग क्रमशः कम होने लगा और आगे जाकर बिलकुल ही लुप्त हो गया, केवल पलाण्डु और लशुन रह गये। यही कारण है कि गृञ्जनक सन्दिग्ध हो गया। इसे कोई गाजर, कोई सलगम भी कहने लगा।

चक्रपाणि ने गृञ्जनक के विषय में निम्नांकित टिप्पणी दी है :—

१. गृञ्जनकः स्वल्पनालपत्रः पलाण्डुरेव (च. सू. २७।१७४)

---

१. अ. नि. १०८, ११०

२. पर्यायरत्नमाला में भी गुन्द्रा का पर्याय गवेधुका दिया है।

३. 'दण्डैरका' होग्गल 'इति ख्याता'
'दण्डैरका गुन्द्राख्यगुल्मः, नलो वा'। चक्र०

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

२. गृञ्जनकं रसोनसदृशं, किं वा गृञ्जनकं शोभाञ्जनम् । (च. चि. १२।६३)
३. गृञ्जनकः पलाण्डुभेदः (च. चि. १४।२०२)
४. गृञ्जनकं लोहितपलाण्डुः (च. चि. १७।१३१)

डल्हण ने 'गृञ्जनो रसोनभेदः लिखा है। अरुणदत्त ने गृञ्जनक का अर्थ हरितक-विशेष किया है।

धन्वन्तरिनिघण्टु में मूलकभेद करके गृञ्जन या गर्जर का वर्णन है तथा पुनः रसोन के बाद गृञ्जर (गर्जर) का वर्णन है। मूल पाठ अशुद्ध प्रतीत होता है। सम्भवतः एक गुञ्जन तथा दूसरा गर्जर (गाजर) का वर्णन है। पर्यायरत्नमाला में रसोन का बृहत्पत्र भेद गृञ्जन है। सोढलनिघण्टु में रसोन, पलाण्डु के बाद गृञ्जन का वर्णन है, यह महारक्त और अरुणकन्दक कहा गया है। निघण्टुशेष में भी बृहत्पत्र रसोन गृञ्जन कहा गया है। कैयदेवनिघण्टु में गृञ्जन का वर्णन दो बार है एक गाजर के अर्थ में और दूसरा रसोनभेद के रूप में। भावमिश्र ने गृञ्जन से गाजर का ही वर्णन किया है।

धर्मशास्त्र में पलाण्डु और लशुन के समान यह निषिद्ध भक्ष्य है। याज्ञवल्क्य-स्मृति की मिताक्षरा टीका में गृञ्जन को लशुनसदृश रक्तवर्ण सूक्ष्मकन्द (गृञ्जनं लशुनानुकारि लोहितसूक्ष्मकन्दम्) कहा है।

उपर्युक्त तथ्यों पर विचार करने से गृञ्जन लशुनभेद प्रतीत होता है। यह Allium ascalonicum Linn. हैं जो गन्दन या एकपुतिया लहसुन के नाम से प्रसिद्ध है। गाजर बाद में आया है, अतः संहिताओं का गृञ्जन यह नहीं हो सकता। इसी कारण सलजम भी नहीं है।

गोचन्दना

इसका केवल एक बार सुश्रुतसंहिता के रसायन-प्रकरण में उल्लेख है (सु. चि. २८।२२)। डल्हण ने इसका अर्थ प्रियंगु किया है। पर्यायरत्नमाला में सहदेवा (दण्डोत्पला) का पर्याय है। चन्दना उत्पलसारिवा का पर्याय प्रायः निघण्टुओं में है, इस आधार पर गोचन्दना का अर्थ पशुओं की सारिवा होता है। ठा० बलवन्त सिंह पशुओं के नाम से जुड़ा चंदवा (गापचंदवा, भैंसचंदवा आदि) की ओर ध्यान आकर्षित करते हैं। यह Tylophora fasciculata Ham. ex Wight. नामक वनस्पति है। इस पर और खोज की आवश्यकता है।

गोजिह्वा—गोजी

चरक ने गोजिह्वा का पाठ मण्डूकपर्ण्यादि शाक के अन्तर्गत किया है। ये शाक तिक्त, कटुविपाक, शीतवीर्य तथा कफपित्तहर हैं। इसके अतिरिक्त, वीसर्प, विष तथा व्रण में इसके लेप का विधान है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

सुश्रुतसंहिता में भी यह शाकवर्ग में पठित है। इसका शाक मण्डूकपर्णी के समान लघु, मधुरकषाय, मधुरविपाक, शीतवीर्य तथा पित्तशामक कहा गया है। इसका शाक ज्वर में पथ्य बतलाया गया है। नाडीव्रण में इससे सिद्ध तैल का प्रयोग विहित है।

वाग्भट ने भी शाकवर्ग में इसका उल्लेख किया है तथा एक विषघ्न प्रयोग चरकानुसार दिया है।

चक्रपाणि ने गोजिह्वा का अर्थ दार्विपत्रिका दिया है (च. सू. २७।९७)। डल्हण ने भी इसे 'दार्विपत्रिका कर्कशा दीर्घपत्रा 'गोजीभी' इति लोके' लिखा है। इसे गोजीशाक भी कहा है। गोजी का अर्थ भी गोजिह्वा, दार्विपत्रिका किया है, एकीय मत से शाखोटक का निर्देश किया है।

गोजी केवल सुश्रुतसंहिता में है। इसके कर्कश पत्रों का लेखन, विस्रावण लेप आदि में व्यवहार किया गया है।

गोजिह्वा और गोजी एक ही है यह कहना कठिन है किन्तु डल्हण के अनुसार ये पर्यायवाची हैं।

धन्वन्तरिनिघण्टु में गोजिह्वा का वर्णन धान्यविशेष करके किया है और आगे गवेधु का पर्याय दिया है। पर्यायरत्नमाला में यह गवेधुका के पर्याय में तथा दार्विपत्रिका के लिए आता है। भावप्रकाश में गोभी, दार्विका, खरपर्णिनी इसके पर्याय दिये गये हैं।

मेरी दृष्टि में गोजिह्वा और गोजी भिन्न प्रतीत होते हैं। इसका उल्लेख प्रायः शाक के साथ हुआ है। गोजिह्वा का शाकवर्ग में पाठ है, गोजी का नहीं।

संहितोक्त गोजिह्वा Launaea sp. है जिसे बनगोभी कहते हैं। इसी आधार पर भावप्रकाश ने गोभी पर्याय दिया है।

सम्प्रति गोजिह्वा से यूनानी हकीमों द्वारा प्रयुक्त एवं प्रचालित गावजबाँ का व्यवहार वैद्यों द्वारा किया जा रहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि सुश्रुत का 'गोजी' सम्भवतः इसी द्रव्य के लिए है। प्रारम्भ में इसका केवल बाह्य प्रयोग होता था; कालान्तर में आभ्यन्तर प्रयोग भी होने लगा।

गावजबाँ से सामान्यतः Onosma bracteatum Wall. लेते हैं[1] किन्तु इसके अतिरिक्त, निम्नांकित पौधे भी इस नाम से लिये जाते हैं :—

१. Coccinia glauca Savi.
२, Auchusa strigosa Lebill.
३. Macrotomia benthamii DC.

---

१. विवरण द्वितीय भाग में देखें।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

चण्डा—चोरक—चोरकपत्र

चण्डा चरकसंहिता के श्वासहर महाकषाय में पठित है, चोरक संज्ञास्थापन महाकषाय में है। सुश्रुत ने दोनों का पाठ एलादि गण में किया है।

चक्रपाणि ने चण्डा को चोरहुली (चोरपुष्पी) कहा है। डल्हण भी इसे चोरकभेद मानते हैं[1]। डल्हण के अनुसार चोरक ग्रन्थिपर्ण के सदृश ग्रन्थिपर्ण का कोई भेद है[2]।

चोरक से Angelica glauca Edgew. तथा चण्डा से A. archangelica Linn. लेते हैं[3]।

चोरक की जड़ का प्रयोग 'चोरा' नाम से होता है। डल्हणोक्त वर्णन से प्रतीत होता है कि चण्डा के अजमोदाकार फलों का प्रयोग अभीष्ट है।

चोरकपत्र का उल्लेख सुश्रुत ने एक ही बार न्यग्रोधादि गण में किया है। डल्हण ने इसका अर्थ लाक्षावृक्ष किया है। यह Ficus cunia Ham. या Ficus altissima Blume. प्रतीत होता है जिस पर लाक्षा लगती है।

चन्दनभेद

चरकसंहिता ने महाकषाय-प्रकरण में केवल चन्दन (Santalum album Linn.) का पाठ किया है। सुश्रुत ने गणों के प्रकरण में प्रायः चन्दन और कुचन्दन का साथ-साथ प्रयोग किया है। वाग्भट ने इसे शिशिरद्वय (चन्दनद्वय) तथा सुश्रुत ने सालसारादि गण में पठित चन्दन, कुचन्दन और कालीयक इन तीनों को त्रिहिम (चन्दनत्रय) कहा। चन्दनद्वय से आज भी व्यवहार में चन्दन और रक्तचन्दन लेते हैं। कालीयक को पीतचन्दन कहा है (देखें कालीयक)। अरुणदत्त ने शिशिरद्वय से श्वेत और रक्तचन्दन लिया है तथा वह चन्दनत्रय में इनके अतिरिक्त दारुहरिद्रा लेते हैं।

डल्हण ने प्रसंगानुसार 'चन्दन' से श्रीचन्दन (श्रीखण्ड या श्वेतचन्दन), रक्तचन्दन या कुचन्दन का ग्रहण किया है।

कुचन्दन से डल्हण ने रक्तचन्दन और मलयाद्रिचन्दन का ग्रहण किया है। चरक ने रक्तचन्दन और कुचन्दन का एक साथ पृथक् पाठ किया है (चि. ५।१०२–१०३)। अतः ये दोनों भिन्न द्रव्य हैं। कुछ लोग पत्तंग या कालीयक का ग्रहण कुचन्दन से

---

१. चण्डा स्वनामख्यातेषत्कृष्णा चोरकभेदः अजमोदाकारा (सु. सू. ३८।२४)
चण्डा अजमोदाकारा सुगन्धि द्रव्यम् (सु. सू. ४२।११)

२. चोरकः स्वनामख्यातः ग्रन्थिपर्णकभेदो ग्रन्थिपर्णाकार एव (सु. सू. ३८।२४)
चोरकः ग्रन्थिपर्णानुकारी (सु. क. ५।८४)

३. विवरण द्वितीय भाग में देखें।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

करना चाहते हैं। मेरे विचार से, इससे पत्तंग (Caesalpinia sappan Linn.) का ग्रहण अधिक उपयुक्त है क्योंकि रक्त होने के कारण भ्रान्तिवश या प्रतिनिधिरूप में इसके स्थान पर रक्तचन्दन लिया जाने लगा। धन्वन्तरिनिघण्टु ने भी कुचन्दन और पत्तंग को पर्यायवाची कहा है। हरिचन्दन लवंगवृक्ष है (देखें हरिचन्दन) और कालीयक भी एक चन्दनभेद है (देखें कालीयक)।

निघण्टुओं में चन्दन के अनेक भेद उसके वर्ण, गन्ध तथा उत्पत्तिस्थान के भेद से किये गये हैं।

धन्वन्तरिनिघण्टु में चन्दन के भेदों में एक बर्वरिक है। बर्वरिक नामक एक नगर एवं बन्दरगाह था जो सिन्धु नदी के मध्यवर्त्ती मुहाने पर स्थित था। इस प्रदेश के रहने वाले बर्बर कहलाते थे। द्वीपान्तर से सिन्धुमार्ग से जो चन्दन बर्वरिक पहुँचता था उसे देश में 'नर्वरिक' की संज्ञा से जानते थे जैसे केशर और हींग 'बाह्लीक' से जाने जाते थे। यह चन्दन श्वेत और निर्गन्ध कहा गया है।

इस प्रकार चन्दनभेदों की पहचान इस प्रकार स्थिर की जा सकती है :—

१. चन्दन—Santalum Linn.
२. रक्तचन्दन—Pterocarpus santalinus Linn. f.
३. कुचन्दन (पतंग)—Caesalpinia sappan Linn.
४. कालीयक (पीतचन्दन)
५. हरिचन्दन (भद्रश्रिय)—Syzygium aromaticum (Linn.) Merr. & L. M. Perry.

चर्मवृक्ष या चर्मिवृक्ष

इस वृक्ष का उल्लेख केवल सुश्रुतसंहिता में ही दो बार हुआ है। प्रमेहचिकित्सा (सु. चि. ११) में चर्मिवृक्ष पाठ है तथा कल्पस्थान (५।४१) में चर्मवृक्ष है। सर्पदष्टचिकित्सा में रोगी के शिर में शस्त्र से काकपदाकार क्षत बना कर उसमें चर्मवृक्ष का कषाय या चूर्ण रखने का विधान है। इससे इसके विषघ्न कर्म का संकेत मिलता है।

डल्हणने प्रथम संदर्भ की व्याख्या करते हुए लिखा है—'लकुचद्रुमाकारो महावृक्षः चर्मिलोह इति प्रसिद्धः' तथा दूसरे संदर्भ की व्याख्या में लिखा है—'चर्मवृक्षः पूर्वदेशे नौवृक्षः'। इन दोनों स्थलों को मिला कर देखने से डल्हण का अभिप्राय यह स्पष्ट होता है—चर्मिवृक्ष लकुच (बड़हल) के वृक्ष के आकार का बड़ा वृक्ष होता है जो लोक में 'चर्मिलोह' (चमरोर) के नाम से प्रसिद्ध है। पूर्वदेश में यह नौकावृक्ष के रूप में प्रसिद्ध है (क्योंकि इसकी लकड़ी से नावें बनती रहीं)।

समीक्षक विद्वानों ने इस संबंध में अगुरु तथा भूर्ज (भोजपत्र) की ओर संकेत किया है। किन्तु इसका कोई निर्णय नहीं हो सका। वैद्य बापालाल जी ने

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

अपने नवप्रकाशित ग्रन्थ (वनस्पतिओं ने विवरण सह कोश, १६७७, पृ. ८२) में लिखा है—चर्मिवृक्ष अगुरु का पर्याय है या भूर्ज का यह सन्दिग्ध ही रह जाता है।

एक और ध्यान देने की बात है कि चरक ने इसी विषघ्न प्रयोग में चर्मवृक्ष के स्थान पर 'चर्मंकषा' का उल्लेख किया है (च. चि. २३।६५)। अतः सुश्रुत में जो चर्मवृक्ष है वही चरक का चर्मकषा है इसमें संदेह नहीं रहता। चर्मकारवट का भी कहीं-कहीं उल्लेख आता है। डल्हण ने 'शुकनासा' की व्याख्या में 'चर्मकारवट' एक विकल्प के रूप में दिया है (देखें—सु. चि. १–११४; २–६०; १७–३७; १८–३६; १६–६५; क. ७–३४; उ. ४४–१६, ५१–२३)। इस प्रकार चर्मवृक्ष, चर्मिवृक्ष, चर्मकषा, चर्मकारवट, चर्मिलोह ये सब एक ही वृक्ष के नाम हैं जो 'चमरोर' के नाम से लोक में विदित है। इसका वानस्पतिक विवरण यहाँ दिया जा रहा है।

लैटिन नाम—**Ehretia laevis Roxb.**

हिन्दी नाम—चमरोर, दतरंगा, बं.–तंबोली, मल.–चबन्दी, पं.–सकर, मध्य-प्रदेश–चिनोर, भूई उम्बर।

स्वरूप—इसका छोटा या मध्यम प्रमाण का वृक्ष ४० फीट तक ऊँचा और ४ फीट तक मोटा होता है। उसका काण्ड विषमाकार होता है। छाल चिकनी, सफेद या हलके भूरे रंग की होती है। पत्र—बड़हल के सदृश, लट्वाकार-अंडाकार, ·७ इंच लंबे और ४ इंच चौड़े, ऊपर की ओर स्निग्ध तथा नीचे की ओर रोमश होते हैं। पत्रवृन्त—·५–१·२ इञ्च लम्बा होता है। पुष्प–सफेद, ·३–·४ इञ्च व्यास के, कक्षीय या पार्श्विक मंजरियों में लगते हैं। फल–किंचित् गोलाकार, नारंगी-लाल रंग के होते हैं जिनके भीतर १–४ बीज होते हैं।

इसकी छाल चबाने से दाँत लाल हो जाते हैं इसी कारण इसका एक नाम 'दन्तरंगा' पड़ा। फल आवश्यकतानुसार खाये जाते हैं। लकड़ी का फर्नीचर, कृषि-उपकरण आदि बनते हैं।

पुष्पकाल—फरवरी-मार्च, पत्तियों, के झड़ने पर या नई पत्तियों के साथ पुष्प निकलते हैं।

फलकाल—अप्रिल-मई।

उत्पत्तिस्थान—यह भारत के उष्ण जंगलों में तीन हजार फीट की ऊंचाई तक पाया जाता है। विशेषतः नदियों के किनारों पर होता है।

इसका एक प्रकार (Var. aspera C. B. Clarke) कुछ छोटे आकार का होता है। यह उत्तर प्रदेश, पंजाब तथा दक्षिण भारत में शुष्क प्रदेशों में पाया जाता है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

८. चर्मवृक्ष

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

चमरोर के मूल का प्रयोग विषों तथा रतिज रोगों (गनोरिया, सिफिलिस आदि) में परम्परा से प्रचलित हैं।

निष्कर्ष

चर्मवृक्ष या चर्मिवृक्ष चमरोर (Ehretia laevis Roxb.) नामक वृक्ष है। चरक का चर्मकंषा भी यही है।

चव्य–गजपिप्पली

निघण्टुओं में चव्य का फल गजपिप्पली कहा गया है किन्तु संहिताओं में ऐसा कोई संकेत नहीं मिलता। अतः इसकी और मीमांसा अपेक्षित है।

चरक ने दीपनीय, शूलप्रशमन, तृप्तिघ्न तथा अर्शोघ्न महाकषायों में चव्य का पाठ किया है। प्रथम दो गणों में वह पञ्चकोल के अन्य द्रव्यों के साथ है। इसके अतिरिक्त भी अनेक प्रसंगों में वह पञ्चकोल के घटक के रूप में पठित है (चि. १३।११२, वि. ७।१९, ८।१३५, शा. ८।४८, चि. ५।१४७, ८।१६९; १८।३६)। कटुकस्कन्ध (वि. ८) में भी वह इन्हीं द्रव्यों के साथ है किन्तु इनके अतिरिक्त हस्तिपिप्पली का भी पृथक् उल्लेख है। अन्य स्थलों (चि. १३।१४८; १५।११३) में भी ऐसा है। कई स्थलों में हस्तिपिप्पली चव्य के स्थान पर पठित प्रतीत होता है यथा ग्रहणीचिकित्सा (चि. १५।८२) में पञ्चकोल के सभी द्रव्य हैं केवल चव्य के बदले हस्तिपिप्पली है। इसी प्रकार अन्यत्र (क. १।३२, ७।१५–१६) भी है।

अनेक स्थलों पर 'चविका' भी पाठ है (चि. १८।१५८, २६।१६७, १६८, सि. ४।१४)। कोलवल्ली (चि. ३।२१०) को भी लोग चविका का ही पर्याय मानते हैं।

अधिकांश 'हस्तिपिप्पली' का उल्लेख है, 'गजपिप्पली' बहुत कम (चि. १२।४१)

कुछ स्थलों पर 'पिप्पली-हस्तिपिप्पली' पाठ आया है (शा. ८।३४, क. ७।४०)। इससे प्रतीत होता है कि चरक पिप्पलीद्वय[1] में इन दो का समावेश करते थे यद्यपि इसका स्पष्ट निर्देश नहीं है।

इससे निम्नांकित निष्कर्ष निकलते हैं :—

१. 'हस्तिपिप्पली' मौलिक शब्द है, 'गजपिप्पली' इसके पर्याय रूप में प्रचलित हुआ।
२. हस्तिपिप्पली और चव्य एक साथ पृथक् पठित होने से यह स्पष्ट है कि दोनों भिन्न द्रव्य हैं।

---

१. डल्हण ने उपकुल्याद्वय लिखा है—'पिप्पली गजपिप्पली चेत्युपकुल्याद्वयं बोद्धव्यम्'। (सु. चि. ९।८)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

३. चव्य के स्थान पर हस्तिपिप्पली के प्रयोग से यह भी स्पष्ट है कि दोनों एक दूसरे के प्रतिनिधिरूप में प्रयुक्त होते थे।
४. पिप्पली-हस्तिपिप्पली का युग्म-पाठ होने से यह प्रतीत होता है कि प्राचीन काल का पिप्पलीद्वय यही था।
५. पञ्चकोल में पिप्पली के अतिरिक्त अन्य चार द्रव्यों के मूल का प्रयोग है। अतः 'चव्य' से उस वनस्पति के मूल का ग्रहण होता है। वनस्पति का नाम 'चविका' (कोलवल्ली) है। चविका का मूल 'चव्य' कहलाया।

सुश्रुत ने पिप्पल्यादि गण में चव्य तथा हस्तिपिप्पली का पृथक् उल्लेख किया है। अन्यत्र भी चव्य का पञ्चकोल के घटकों में पाठ है (चि. ६।१३)। हस्तिपिप्पली का प्रयोग चव्य के स्थान पर भी हुआ प्रतीत होता है (शा. १०।१६)।

'चविका' का भी प्रयोग है (उ. ३९।२४७) पिप्पलीद्वय का स्पष्ट रूप से उल्लेख है जो चव्य से पृथक् पठित है (चि. ३७।३६)। 'गजपिप्पली' शब्द का प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक हुआ है।

वाग्भट ने अनेक स्थलों पर 'पिप्पलीद्वय' का प्रयोग किया है (अ. हृ. चि. ३।१३१, ८।४५, ९।१०४, १२।२१)।

पञ्चकोल के साथ गजपिप्पली का उल्लेख किया है (अ. हृ. चि. ८।५०) तथा चव्य के साथ गजपिप्पली का पृथक् निर्देश भी है (अ. हृ. चि. २१।५८)।

'चविका' शब्द का अपेक्षाकृत अधिक प्रयोग वाग्भट में मिलता है।

डल्हण ने चव्य को हस्तिपिप्पली का मूल कहा है[1]। इससे प्रतीत होता है कि डल्हण चव्य और हस्तिपिप्पली एक ही वनस्पति को मानते थे। धन्वन्तरिनिघण्टु ने गजपिप्पली का चविका-विशेष के रूप में वर्णन किया है और इसे चव्य का फल कहा है। सोढलनिघण्टु में भी गजपिप्पली को चविका का फल कहा गया है।

पर्यायरत्नमाला में गजपिप्पली और चव्य का पृथक् वर्णन है। वहाँ गजपिप्पली को चव्य का फल नहीं कहा। अमरकोष में भी ऐसा ही है। अष्टांगनिघण्टु में गजपिप्पली को 'चविकाफला' कहा है जिसका अर्थ यह हो सकता है कि 'जिसके फल चविका के सदृश हो'।

उपर्युक्त तथ्यों पर विचार करने से पता चलता है कि प्राचीन काल में चव्य और हस्तिपिप्पली भिन्न द्रव्य थे। सम्भवतः हस्तिपिप्पली बड़ी पिप्पली थी जो सिंहल आदि द्वीपों से आती थी और पिप्पली इस देश के भूभागों में होने वाली थी। विशेषतः नेपाल की तराई में मिलने से वैदेही, मागधी आदि इसके पर्याय हैं। चविका का मूल 'चव्य' नाम से औषध में प्रयुक्त होता था जो पञ्चकोल के अन्तर्गत था। कालान्तर में हस्तिपिप्पली के प्रतिनिधिरूप में चविका का फल प्रयुक्त होने

१. चव्यं हस्तिपिप्पलीमूलं स्वनामख्यातम्। (सु. सू. ३८।२२)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

लगा अतः उसे 'चविकाफल' के रूप में लोग जानने लगे। चविका (चई) की लता आसाम में विशेष मिलती है। आसाम के जंगलों में पाये जाने वाले हाथी चई की लता और फल को बड़े चाव से खाते हैं। अतः हस्तियों की प्रिय होने के कारण चविका की पिप्पली हस्तिपिप्पली कहलाई। आकृति में भी यह बड़ी होगी।

Piper retrofractum Vahl (syn. P. chaba Hunter) का पौधा मूलतः मोलक्कस का निवासी है जिसकी खेती भारत तथा इण्डोनेशिया में होती है। चव्य के स्थान पर इसे लेते हैं तथा इसके फलों को गजपिप्पली मानते हैं[1]। किन्तु प्राचीन 'चविका' Piper की कोई अन्य भारतीय प्रजाति होगी जो वन्य रूप में आसाम के जंगलों में पाई जाती हो[2]।

कुछ लोग पिप्पलीसदृश तालपुष्प या Scindapsus प्रजाति के फल को गजपिप्पली मानते हैं किन्तु वे द्रव्य पिप्पली प्रजाति से बाहर हैं अतः उनका ग्रहण उचित नहीं है। पिप्पली प्रजाति का ही द्रव्य लेना चाहिए।

चारटी–पद्मचारटी–पद्मचारिणी

चारटी का उल्लेख चरकसंहिता में मानस रोगों में उपयुक्त महापैशाचिक घृत के घटकों में हुआ है। विषप्रकरण में पद्मचारटी है।

चक्रपाणि ने 'चारटी कुम्भी, ब्रह्मयष्टिका इत्यन्ये' लिखा है। अरुणदत्त ने पद्मचारिणी कहा है।

चारटी का उल्लेख प्रायः गन्धद्रव्यों के साथ हुआ है। धन्वन्तरिनिघण्टु ने 'गन्धमूला' पर्याय दिया है तथा 'सुपुष्करा' पर्याय से पुष्कर (मूल) की ओर संकेत किया है। कैयदेवनिघण्टु ने 'पद्मपत्रा' गन्धमूला, काश्मीरा पर्याय दिये हैं जिनसे यह पुष्करमूलवत् कश्मीर में उत्पन्न होने वाली वनस्पति सूचित होती है। इसके अनुसार यह inula की कोई प्रजाति हो सकती है।

भावप्रकाश तक आते-आते इसका अर्थ विस्मृत हो गया और उन्होंने इससे स्थलकमल का वर्णन किया।

पद्मा और फञ्जी भी इसीके नाम प्रतीत होते हैं। (देखें पद्मा, फञ्जी)।

छत्राद्वय

छत्रा और अतिच्छत्रा प्रायः साथ-साथ आते हैं। चरक में ये मधुरस्कन्ध में पठित हैं। रसायन ओषधियों में इनकी गणना की गई है। मेध्य होने के कारण महापैशाचिक घृत में इनका प्रयोग है।

---

१. विवरण द्वितीय भाग में देखें।

२. श्री मायाराम उनियाल ने अपने सिक्किम क्षेत्र में सर्वेक्षण के दौरान प्राप्त Piper boehmeriaefolium Wall तथा P. brachystachyum Wall. के चव्य होने की संभावना व्यक्त की है। (सचित्र आयुर्वेद अप्रिल. ८०)।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

सुश्रुत ने व्रणितोपासनीय प्रकरण में रक्षाकर्म के निमित्त अन्य ओषधियों के साथ शिर पर इनके धारण का विधान किया है। इस वर्ग में छत्रा-अतिच्छत्रा का सर्वप्रथम उल्लेख है। पुनः रसायनप्रकरण के अन्तर्गत दिव्यौषधियों में इनका वर्णन है। इसका स्वरूप बतलाते हुए कहा है कि ये दोनों कन्द से उत्पन्न, रक्षोघ्न, जरामृत्युनिवारिणी तथा श्वेतकापोती के सदृश आकृति वाली होती हैं। ये कश्मीर के क्षुद्रक मानस नामक झील में होती है[1]।

वाग्भट ने व्रणितोपासनीय में सुश्रुत का तथा महापैशाचिक घृत में चरक का अनुसरण किया है।

चक्रपाणि ने निम्नांकित टिप्पणी की है :—

१. छत्रा कोकिलाक्षः, अतिच्छत्रा अरुणकोकिलाक्षः। (च. वि. ८।१३९)

२. अतिच्छत्रा मधुरिका। (च. चि. १।४।६)

३. छत्रा मधुरिका, अतिच्छत्रा शतपुष्पा, किंवा छत्रातिच्छत्रे द्रोणपुष्पीद्वयम्। (च. चि. ९।४६)

डल्हण ने इनसे द्रोणपुष्पीद्वय का ग्रहण किया है (सु. सू. १९।२९)। अरुणदत्त ने इनका अर्थ एक स्थल (अ. हृ. सू. २९।३१) पर शतपुष्पा और विषाणिका तथा दूसरे स्थल (अ. हृ. उ. ६।३५) पर धान्यक और शतपुष्पा किया है।

'छत्रा' 'अतिच्छत्रा' नाम इसके छत्राकार पुष्पों के आधार पर हैं। अतः यह शतपुष्पाकुल (Umbelliferae) की कोई वनस्पति हो सकती है। डल्हणोक्त द्रोणपुष्पी' के आधार पर ठा० बलवन्त सिंह का ध्यान Arisaema sp. की ओर भी गया है। परवर्त्ती निघण्टुओं में 'छत्रा' धान्यक या शतपुष्पा के पर्यायों में आया है किन्तु संहितोक्त छत्राद्वय हिमवत्प्रभव दिव्यौषधि होने के कारण इनसे भिन्न है।

जटिला—नलद—मांसी—पलङ्कषा—भूतकेशी—मुरा

जटिला और पलंकषा संज्ञास्थापन महाकषाय में पठित हैं (च. सू. ४।४८)। जटिला शुक्रजनन महाकषाय[2] में भी है (च. सू. ४।१९)। नलद का पाठ चरक के कण्डूघ्न महाकषाय (च. सू. ४।१४) तथा सुश्रुत के अञ्जनादि गण (सु. सू. ३८।४१) में हैं। मांसी एलादि गण में है (सु. सू. ३८।२४)। संज्ञास्थापन महाकषाय के अतिरिक्त धूपन द्रव्यों में भी जटिला और पलंकषा साथ-साथ आये हैं (च. शा. ८।६१)। इस प्रसंग में गुग्गुलु भी पठित है अतः पलंकषा गुग्गुलु नहीं

१. 'छत्रातिच्छत्रके विद्याद्रक्षोघ्ने कन्दसंभवे।
जरामृत्युनिवारिण्यौ श्वेतकापोतिसंस्थिते॥' (सु. चि. ३०।१४)
'काश्मीरेषु सरो दिव्यं नाम्ना क्षुद्रकमानसम्।
करेणुस्तत्र कन्या च छत्रातिच्छत्रके तथा॥ (सु. चि. ३०।३२)

२. यहाँ चक्रपाणि जटिला से उच्चटा लेते हैं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

है यद्यपि टीकाकार और निघण्टुकार इसे गुग्गुलु का पर्याय मानते हैं। धूमवर्त्ति के गन्धद्रव्यों में भी गुग्गुलु के साथ मांसी का पृथक् उल्लेख है (च. सू. ५।२१)। इस प्रकार जटिला और पलंकषा सजातीय द्रव्य प्रतीत होते हैं। इन दोनों का मानस रोगों में विशेष प्रयोग है[1]। अतः मेरी दृष्टि में पलंकषा मांसी है और जटिला उसीका भेद है। 'पलंकषा' में 'पल' मांस का पर्याय है जो मांसी में भी है। सम्भवतः उस काल में इसका प्रयोग स्थौल्यनाशन के लिए किया जाता हो। बाद में स्थौल्यहर के रूप में गुग्गुलु का प्रचलन होने पर उसे 'पलंकषा' कहा जाने लगा। डल्हण ने 'मांसीद्वय' करके मांसी और जटिला को रक्खा है। जटिला को द्वितीया मांसी कहा है इससे भी यह मांसीभेद सिद्ध होता है। जटिला का पर्याय 'जटा' आज तक 'मांसी' के साथ लगा हुआ है। नलद जटिला से भिन्न प्रतीत होता है क्योंकि इसका एकत्र पृथक् पाठ है (सु. क. ६।१४, १५)। सुश्रुत के अनुसार एलादि गण में पठित मांसी कफवातशामक (उष्णवीर्य) है जबकि अञ्जनादि गण में पठित नलद रक्तपित्तशामक (शीतवीर्य) है। अतः नलद और मांसी की भिन्नता स्पष्ट है।

मांसी Nardostachys jatamansi है तथा जटिला Valeriana sp. हो सकती है, नलद भी कोई Valeriana sp. है।

'भूतकेशी' से उसकी केशवत् रचना तथा भूतबाधा में उसके प्रयोग का संकेत मिलता है। 'पूतनाकेशी' से भी इसका अभिधान किया गया है जतूकर्ण के आधार पर चक्रपाणि ने इससे गोलोमी का ग्रहण किया है। यह Selinium sp. है।

मुरा का उल्लेख संहिताओं में अत्यल्प है। सुश्रुतसंहिता में एक स्थल पर पाठान्तर से तथा अष्टांगहृदय में एक बार आया है। यह Selinum tenuifolium Wall. है।

जातुक

चरकसंहिता के विरुद्धाहार-प्रकरण में जातुकशाक का उल्लेख है और शाकवर्ग में यातुक है। इससे स्पष्ट होता है कि जातुक और यातुक एक ही है। सुश्रुतसंहिता में भी इन्हीं दो प्रकरणों में जातुक है।

चक्रपाणि ने यातुक को शुक्ल शालपर्णी कहा है। डल्हण ने एक स्थल (सु. सू. २०।१३) में जातुकशाक को पौष्कर शाक कहा है और दूसरे स्थल (सु. सू. ४६।२७४) में उसे शुक्ल शालपर्णी कहा। शुक्ल शालपर्णी या पौष्कर शाक से क्या अभिप्राय है यह पता नहीं चलता।

---

१. च. चि. ९।४५, ४६, १०।३४; सु. उ. ६१।२७, २८

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

जातुकन्द

पाठान्तर में डल्हण ने इसका उल्लेख किया है (सु. सू. ३७।१६)। इसका प्रयोग व्रणशोधन घृत में किया गया है। डल्हण ने इसकी व्याख्या में 'जातुकन्दो गुग्गुलुक उत्तरापथे प्रसिद्धः' लिखा है।

उत्तरापथ (हिमालय प्रदेश) में अनेक सुगन्धित पौधे धूप या गूगल नाम से प्रचलित हैं। इनमें प्रमुख Jurinea macrocephala Benth. है जिसका प्रस्तुत सन्दर्भ में 'गुग्गुलक' से ग्रहण किया जा सकता है। यह हिमालय प्रदेश में कश्मीर से कुमाऊँ तक १०–१४ हजार फीट की ऊँचाई पर होने वाला एक बहुवर्षायु क्षुप है जिसका सुगन्धित मूल धूपार्थ व्यवहृत होता है।

जीवन्ती–जीवन्त–कुमारजीव

जीवन्ती—जीवन्ती चरकसंहिता के जीवनीय महाकषाय एवं मधुरस्कन्ध में तथा सुश्रुतसंहिता के काकोल्यादि गण में पठित है। इससे द्रव्य की सार्थकता सिद्ध होती है। इसे शाकश्रेष्ठा कहते हैं और यह डोडीशाक के नाम से प्रसिद्ध है। यह Leptadenia reticulata W. & A. है।

अष्टांगसंग्रह (सू. ७।१३१) में जीवन्ती दो प्रकार की कही गई है। यही बात निघण्टुओं में दुहराई गई है। राजनिघण्टु में 'हेमा' शीर्षक से स्वर्णजीवन्ती का वर्णन किया है। राजस्थान में प्रसिद्ध खींप नामक वनस्पति (Leptadenia pyrotechnica Forsk–Decne.) जीवन्ती का द्वितीय भेद हो सकती है। एक दूसरा सुनहला बन्दाक-कुल का पौधा (Dendrobium macraei Lindl.) भी जीवन्ती या स्वर्णजीवन्ती नाम से विशेषतः बंगाल में प्रचलित है।

जीवन्त—जीवन्त अष्टांगहृदय (सू. ६।९४) में है। निघण्टुओं में इसे 'रक्तनाल' पर्याय दिया गया है। कैयदेवनिघण्टु में जीवन्त का वर्णन पत्रशाक में किया है। राजनिघण्टु में भी इसका वर्णन है। यहाँ लिखा है कि 'जीवशाकं मालवे प्रसिद्धम्'। अरुणदत्त ने जीवन्त को 'बृहद्गान्धार' कहा है।

कुमारजीव—चरकसंहिता के शाकवर्ग में पठित है (च. सू. २७।९८)।

चक्रपाणि ने कुमारजीव को जीवशाक कहा है। इससे जीवन्त तथा कुमारजीव एक ही द्रव्य है यह सिद्ध होता है।

अरुणदत्त ने इसका परिचय ठीक दिया है। 'गेंधारी' का शाक सामान्यतः प्रचलित है।

Amaranthus paniculatus Linn. का ग्रहण कुमारजीव या जीवन्त से करना चाहिए। आदिवासियों में यह 'लरका-बहा' नाम से प्रचलित है जो सम्भवतः 'कुमारजीव' का अर्थ रखता है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

टङ्क

चरक (सू. २७।१३३) तथा सुश्रुत (सू. ४६।१९२) के फलवर्ग में एक ही बार टङ्क का उल्लेख हुआ है। चरक ने टङ्क को कषाय-मधुर, गुरु, शीतल तथा वातल कहा है। सुश्रुत का भी वर्णन ऐसा ही है।

चक्रपाणि ने 'टङ्कं काश्मीरप्रसिद्धम्' कहा और डल्हण ने भी इतना ही कहा कि—'टङ्कं काश्मीरे स्वनामप्रसिद्धं बहुप्रकारम्'।

टङ्क नासपाती Pyrus communis Linn. है। काश्मीर में यह 'तङ्ग' कहा भी जाता है।

तरुणी–रामतरुणी

चरक ने इसका उल्लेख कषायस्कन्ध में किया है तथा सांग्राहिक के रूप में प्रियंगु, लोध्र आदि के साथ प्रयोग किया है (सि. १०।३१)। चक्रपाणि ने 'आरामतरुणी, नवमालिका वा' अर्थ किया है। सुश्रुत में कषाय–मधुर शाकों में यूथिका आदि के साथ पाठ है जहाँ डल्हण ने केवल 'स्वनामप्रसिद्धा' व्याख्या की है (सु. सू. ४६।२४९)। चरक ने 'युवती' नाम से इसका उल्लेख रसायन-प्रकरण (चि. १–१–५८) में उत्पल, पद्म, मालती, यूथिका इन द्रव्यों के साथ किया है।

इससे स्पष्ट है कि तरुणी पुष्पवर्ग की वनस्पति है। यह सर्वत्र यूथिका के साथ पठित है, अतः Jasminum. की कोई प्रजाति प्रतीत होती है। मेरे विचार से J. flexile Vahl. का ग्रहण करना चाहिए जिसमें श्वेत सुगन्धित पुष्प प्रायः वर्ष भर लगे रहते हैं। इस कारण नित्य पुष्पित रहने से 'तरुणी' नाम सार्थक है।

तरुणी से सम्प्रति गुलाब ले रहे हैं, किन्तु प्राचीन काल में उपर्युक्त द्रव्य ही गृहीत था।

तालीशपत्र–स्थौणेयक

तालीशपत्र के नाम पर पहले निम्नांकित तीन द्रव्य लिये जाते थे :—

१. Abies webbiana Lindle.

२. Taxus baccata Linn.

३. Rhododendron anthopogon. D. Don.

किन्तु दशाब्दियों के विचारविमर्श के बाद अब निश्चित हो गया है कि तालीश Abies webbiana है। स्थौणेयक (थुनेर) Taxus baccata है। तीसरा द्रव्य एक सीमित क्षेत्र में तालीश के प्रतिनिधि रूप में व्यवहृत होता है।

डल्हण ने स्थौणेयक का अर्थ 'थुणेरक' और ग्रन्थिपर्ण किया है। थुणेरक या थुनेर इसका स्थानीय नाम है जो स्थौणेयक से निष्पन्न है। ग्रन्थिपर्ण स्वरूपबोधक संज्ञा है। डल्हण चोरक को भी ग्रन्थिपर्णभेद कहते हैं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

तिण्डिश

अष्टांगहृदय में वल्लीफलों में इसका वर्णन है (अ. हृ. सू. ६।८७)। इससे ढेढस (Hibiscus ficulnans (Linn.) या टिण्डा (Citrullus vulgaris var. fistulosus (Stocks) Duthie and Fuller) का ग्रहण करना चाहिए। वल्लीफल का प्रसंग होने से द्वितीय द्रव्य अधिक उपयुक्त है।

तिन्तिडीक–वृक्षाम्ल

तिन्तिडीक और वृक्षाम्ल दोनों पृथक्-पृथक् अम्लस्कन्ध (च. वि. ८) में पठित है[1] अतः दोनों भिन्न द्रव्य हैं तथापि इस सम्बन्ध में शास्त्रकार की वर्णनशैली तथा टीकाकारों के मतों पर विचार करने से इस पर सन्देह उत्पन्न होता है।

चरक ने फलवर्ग में वृक्षाम्ल का वर्णन किया, तिन्तिडीक का नहीं जबकि सुश्रुत में ठीक इसके विपरीत तिन्तिडीक का वर्णन है, वृक्षाम्ल का नहीं। वाग्भट ने फलवर्ग में केवल वृक्षाम्ल का वर्णन किया। इससे तिन्तिडीक और वृक्षाम्ल के ऐक्य का सन्देह होता है। डल्हण ने भी तिन्तिडीक अर्थ वृक्षाम्ल किया (सु. सू. ४६।१३६) और वृक्षाम्ल का अर्थ तिन्तिडीक (सु. उ. ४२।२९)। इससे उपर्युक्त सन्देह की पुष्टि होती है। अमरकोष ने भी दोनों को पर्यायवाची कहा है। 'तिन्तिडी' (स्त्रीलिंग में) अम्लिका का वाचक है।

वृक्षाम्ल चरक के हृद्य महाकषाय, फलवर्ग तथा अम्लस्कन्ध में पठित है जबकि सुश्रुतसंहिता में यह केवल उत्तरतन्त्र में निर्दिष्ट है। चक्रपाणि ने वृक्षाम्ल का अर्थ बृहदम्ल या महार्द्रक किया है। चक्रपाणि ने अपने द्रव्यगुणसंग्रह में वृक्षाम्ल का वर्णन नहीं किया है किन्तु उस ग्रन्थ में वर्णित तिन्तिडीक का अर्थ शिवदास सेन ने महार्द्रक किया है जो चक्रपाणि का वृक्षाम्ल है।

सुश्रुतसंहिता में प्रायः वृक्षाम्ल के स्थान पर तिन्तिडीक का पाठ है। उत्तरतन्त्र (४२।२९, ३२) में अम्लवेतस के साथ वृक्षाम्ल है जबकि एक अन्य स्थल (उ. ३९।२९२) में वृक्षाम्ल के बदले तिन्तिडीक है। तिन्तिडीक और वृक्षाम्ल एक साथ कहीं पठित भी नहीं हैं। गुणधर्म की दृष्टि से भी चरक का वृक्षाम्ल और सुश्रुत का तिन्तिडीक समान है। इन्हीं कारणों से सम्भवतः डल्हण ने भी तिन्तिडीक और वृक्षाम्ल दोनों को एक माना।

वंगीय व्याख्याकारों ने जो महार्द्रक का ग्रहण किया है वह कोई आर्द्रक या हरिद्रा का भेद है। चक्रपाणि का बृहदम्ल सम्भवतः किसी बड़े वृक्ष से उपलब्ध अम्ल द्रव्य है। वृक्षाम्ल का अर्थ भी वृक्ष से प्राप्त होने वाला अम्ल (फल) है।

---

१. अष्टांगसंग्रह (सू. १८।२१) के अम्लवर्ग में केवल वृक्षाम्ल है, तिन्तिडीक नहीं। अतः चरकसंहिता का उपर्युक्त पाठ विचारणीय है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

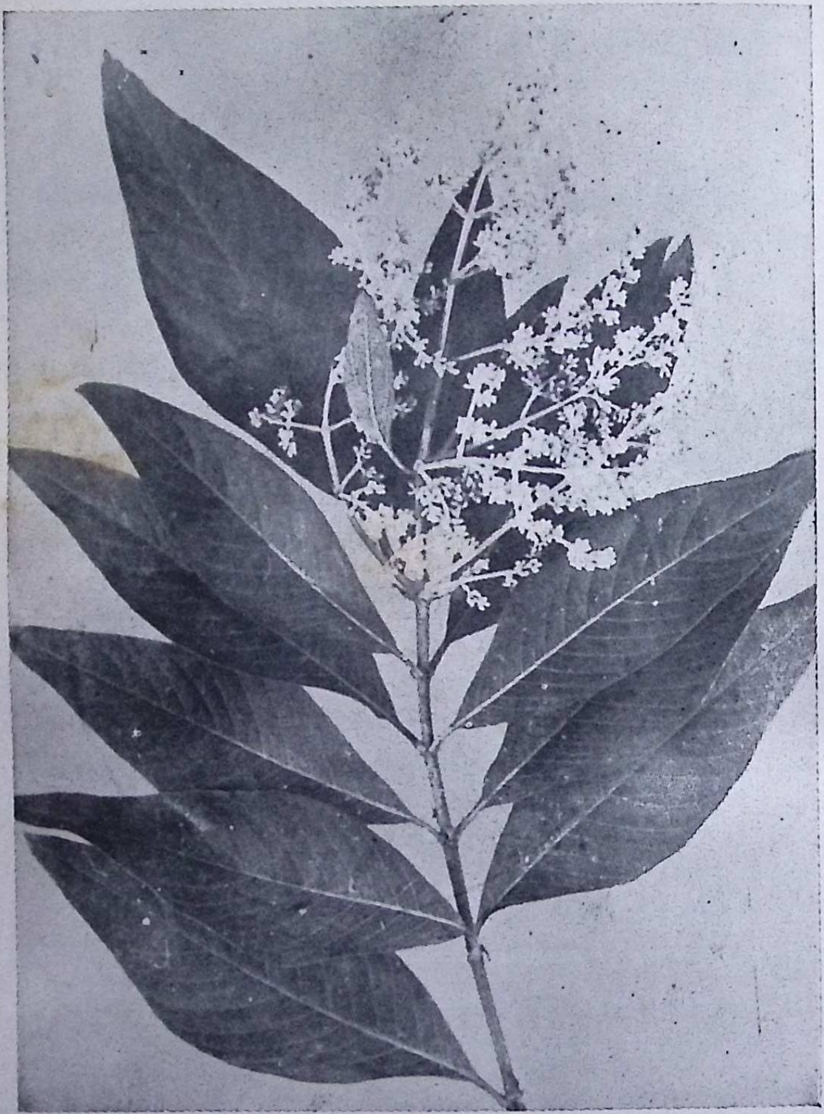

९. तिलक

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

अतः आर्द्रक या हरिद्रा जाति के किसी द्रव्य की सम्भावना निरस्त हो जाती है। वृक्षाम्ल कोकम (Garcinia indica Chois) माना जाता है। तिन्तिडीक से आजकल एक भिन्न द्रव्य समाकदाना (Rhus parviflora Roxb.) लेते हैं।

मेरे विचार से अभी इस पर और अध्ययन अपेक्षित है। यदि चरक का उपर्युक्त पाठ प्रामाणिक नहीं है तथा अन्य कोई स्थल इन दोनों की भिन्नता का साधक नहीं होता तब इन्हें उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर एक ही मानना होगा।

तिमिर

तिमिर का उल्लेख एक ही बार सुश्रुत में हुआ है (सु. उ. ५१।३२)। कासश्वास में तिमिर के बीजों का चूर्ण अन्य द्रव्यों के साथ देने का विधान है। आगे केवल नृत्तकोण्डक के बीजों का चूर्ण विहित है। सम्भवतः इसीसे संकेत पाकर ठा० बलवन्त सिंह ने इससे मर्कटतृण (Eleusine aegyptiaca Desf.) का ग्रहण किया जो मकड़ा नाम से प्रसिद्ध है।

डल्हण ने इसे 'नखरागिपत्रः[1] तिवरिया इति प्रसिद्धः' कहा है। इसका अर्थ हुआ कि इसके पत्र (मेंहदी के समान) नख रँगने के काम में आते थे। डल्हण का क्या अभिप्राय है, स्पष्ट नहीं होता। वैद्य बापालाल जी तिवरिया से Avicenna officinalis Linn. लेते हैं। यह वृक्ष समुद्रतट पर होता है। मेरे विचार से यह कोई भिन्न वनस्पति है जिसके पत्र नखरञ्जक होते हैं।

तिलक–तिल्वक

तिल्वक का वर्णन एवं प्रयोग चरकसंहिता में आद्योपान्त उपलब्ध होता है। यह एक उत्तम विरेचन द्रव्य के रूप में प्रयुक्त है। कल्पस्थान में इसका एक स्वतन्त्र अध्याय (तिल्वककल्प) है। किन्तु तिलक का उल्लेख स्पष्ट रूप से केवल अष्टांगहृदय में मिलता है (अ. हृ. उ. ३८।२९)। मूषकविष के निवारणार्थ तिलक के मूल एवं मञ्जरी का प्रयोग किया गया है[2]। परवर्त्ती निघण्टुओं में इसका विवरण मिलता है। तिलक एवं तिल्वक भिन्न द्रव्य हैं। तिलक Wendlandia exerta DC. तथा तिल्वक Viburnum sp. है[3]। संहिताओं का प्राचीन 'तिल्वक' शब्द जब लोध्र का पर्याय बन गया और अपना मौलिक अर्थ खो चुका

---

१. निर्णयसागर संस्करण के इस स्पष्ट पाठ को दोनों महारथियों ने कैसे 'नवरागिपत्रः' पढ़ा यह समझ में नहीं आता। ठा० बलवन्त सिंह जी इसी (रागी) के आधार पर इसे मधूलिका (मडुआ) की ओर खींच ले गये।

२. कपित्थमध्यतिलकतिलाङ्कोलजटाः पिबेत्।
गवां मूत्रेण पयसा मञ्जरीं तिलकस्य वा॥

३. G. V., D.

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

तब 'तिलक' प्रचलित किया गया। तिलक भी रेचक है, फिर भी तिल्वक की सन्दिग्ध स्थिति के कारण तिलक भी औषधद्रव्य के रूप में लोकप्रियता न प्राप्त कर सका, केवल कवियों का दोहदवृक्ष ही बना। वस्तुतः दृढबल ने तिल्वककल्प में जो 'तिलकस्तु मतो लोध्रो बृहत्पत्रस्तिरीटकः' लिखा उसका अर्थ इतना ही है इसकी त्वक् लोहिताभ होती है तथा इसके पत्र लोध्र से बड़े होते हैं[1]। यह परिचयमात्र दिया गया किन्तु परवर्त्ती टीकाकारों एवं निघण्टुकारों ने उन्हें पर्याय बना दिया।

वैदिक वाङ्मय में भी तिल्वक और तिलक भिन्न वनस्पतियाँ हैं और वहाँ भी तिल्वक का प्रयोग तिलक से प्राचीन है[2]।

तुगाक्षीरी—तवक्षीरी

तुगाक्षीरी का उल्लेख बृहत्त्रयी की तीनों संहिताओं में मिलता है किन्तु सन्दर्भों की संख्या की तुलना करने पर स्पष्ट होता है कि उत्तरोत्तर इसका प्रयोग कम होता गया और इसके स्थान पर 'तवक्षीरी' नाम से एक नये द्रव्य का समावेश हुआ। टीकाकारों ने भी इस द्रव्य का 'वंशरोचनानुकारि पार्थिवं द्रव्यम्' से उल्लेख किया है[3]। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि यद्यपि तुगाक्षीरी वंशलोचन का बोधक है तथापि (दुर्लभता के कारण) उसके स्थान पर तत्सदृश किसी अन्य पार्थिव द्रव्य का प्रयोग प्रचलित था। वाग्भट ने 'तवक्षीरी' का ही प्रायः प्रयोग किया है। अष्टांगसंग्रह में वंशरोचना के बाद तवक्षीरी के गुणों का वर्णन पृथक् किया है[4]।

इस प्रकार मूल द्रव्य तुगाक्षीरी वंशलोचन है किन्तु उसकी दुर्लभता के कारण उसके प्रतिनिधिरूप में तवक्षीरी (तिखुर) का प्रयोग होने लगा। यह Curcuma angustifolia Roxb. के कन्द से प्राप्त स्टार्च है।

तुरुष्क—सिल्हक

चरकसंहिता के दृढबलकृत अंश में केवल एक स्थल (चि. २८।१५१) पर तुरुष्क है। सुश्रुत ने एलादि गण में इसका पाठ किया है तथा श्वासचिकित्सा में

---

१. डल्हण ने दो स्थलों (सु. सू. ३८।२९, चि. ३।५) पर तिल्वक का परिचय ठीक दिया है—'रोध्राकारो बृहत्पत्रो रक्तत्वक्को वैरेचनिकः।' अन्य स्थलों पर इसे पट्टिकारोध्र या स्वल्परोध्र कहा।

२. देखें—द्रव्यगुणविज्ञान, भाग ४

३. वंशरोचना तुगाक्षीरी, अन्ये वंशरोचनानुकारिपार्थिव-द्रव्यं ताळधीति वदन्ति।
चक्र०—(च. चि. २१।१३०)
तुगाक्षीरी वंशरोचना, अन्ये तु वंशरोचनानुकारि पार्थिवं द्रव्यम्।
ड. (सु. सू. १२।२३)

४. कषाया मधुरा रूक्षा कासघ्नी वंशरोचना।
तवक्षीरी क्षयश्वासकासघ्नी मधुरा हिमा॥ (अ. सं. १२।२९)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

इसके धूम का प्रयोग किया है। वाग्भट में एलादि गण तथा वातव्याधिचिकित्सा में इसका उल्लेख है।

सिल्हक का उल्लेख बृहत्त्रयी में नहीं है।

तुरुष्क (Solid Storax) Styrax officinalis Linn. नामक वृक्ष का निर्यास है। यह वृक्ष एशिया माइनर के आसपास होता है। हेनबरी ने यह सिद्ध किया है कि (प्राचीन) तुरुष्क ठोस होता था और बहुत थोड़ा निकलने के कारण बहुमूल्य था अतः क्रमशः बाद में इसके स्थान पर तरल शिलारस (liquid storax) प्रचलित हुआ। यही सिल्हक है। सिल्हक (शिलारस) एक भिन्न वृक्ष Liquidamber orientalis Miller. का तरल निर्यास है। यह वृक्ष एशिया माइनर में होता है। एक भारतीय वृक्ष Altingia excelsa Noronha. से भी शिलारस प्राप्त किया जाता है किन्तु यह हीन कोटि का होता है।

धन्वन्तरिनिघण्टु में तुरुष्क का वर्णन है। यह यावन, कल्क और पिण्डक (ठोस) कहा गया है। सिल्हक भी इसका पर्याय है। सोढलनिघण्टु में तुरुष्क और सिल्हक का पाठ पृथक् है। भावप्रकाश में 'कपितैल' पर्याय इसके वर्ण एवं सान्द्रता का बोधक है। इससे स्पष्ट है कि प्रारम्भ में तुरुष्क था, बाद में भिन्न द्रव्य सिल्हक का प्रचलन हुआ, पुनः दोनों पर्यायवाची बन गये। इसी कारश मध्यकालीन टीकाकारों ने तुरुष्क का अर्थ सिल्हक किया है[१]।

तुलसी

'तुलसी' शब्द वैदिक संहिताओं, ब्राह्मण ग्रन्थों में नहीं पाया जाता। आयुर्वेद की बृहत्त्रयी में भी यह नहीं है। इसके स्थान पर 'सुरसा' या 'सुरस' है जिसका अर्थ तुलसी किया गया है। सुश्रुतसंहिता के सुरसादि गण में सुरसा तथा इस कुल के अन्य द्रव्यों की गणना की गई है। डल्हण ने सुरस, सुरसा तथा सुरसी इनसे तुलसी का अर्थ लिया है[२]। सुरसाद्वय से श्वेतपुष्पा तथा कृष्णपुष्पा तुलसी ली गई है[३]। चक्रपाणि[४] तथा अरुणदत्त[५] ने भी इसी प्रकार सुरसा से तुलसी अर्थ किया है।

अष्टांगनिघण्टु में तुलसी सुरसा के पर्यायों में है। पर्यायरत्नमाला, धन्वन्तरिनिघण्टु, सोढलनिघण्टु तथा हृदयदीपक में भी यह सुरसा के पर्याय रूप में है।

---

१. तुरुष्कः सिल्हकः। (चक्र.)
तुरुष्कः सिल्हकः। (ड.)
तुरुष्कः कृत्रिमो निर्यासविशेषः। (अरुण.)

२. सु. उ. ४२।२८, ९४; क. ५।७०

३. सु. सू. ४६।२५५

४. सु. सू. ३८।१६ (भानुमती)

५. अ. हृ. सू. १५।३०

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

मदनपाल ने सर्वप्रथम 'तुलसी' का प्रयोग मुख्य शीर्षक के रूप में तथा सुरसा का पर्याय रूप में किया। भावमिश्र ने भी इसी का अनुसरण किया। 'संभवतः इसका कारण यह हुआ कि 'सुरसा' कालक्रम से निर्गुण्डी, रास्ना आदि अनेक वनस्पतियों का पर्याय बन गई फलतः इसका मुख्य अर्थ छूट गया अतः परवर्त्ती ग्रन्थकारों ने इसके स्थान पर 'तुलसी' शब्द प्रचलित किया जो एकार्थक एवं असन्दिग्ध था।

अमरकोष में तुलसी नहीं है, सुरसा नाकुली या रास्ना का पर्याय है। त्रिकाण्डशेष में न सुरसा है, न तुलसी। मेदिनीकोष में सुरस पर्णास के लिए तथा सुरसा रास्ना के लिए है। निघण्टुशेष में सुरसा तुलसी का पर्याय है किन्तु शेफालिका के पर्यायों में भी सुरसा पठित है। वैजयन्तीकोष में श्वेतसुरसा तुलसी के लिए आया है।

इससे स्पष्ट है कि प्राचीन काल में 'सुरसा' या 'सुरस' शब्द तुलसी के लिए प्रसिद्ध था किन्तु आगे चल कर क्रमशः 'तुलसी' शब्द की प्रधानता हो गई जो निघण्टुशेष तथा मदनपालनिघण्टु में दृष्टिगत होती है।

तुवरक

तुवदक का प्रवेश चरकोत्तर काल में हुआ। सुश्रुत ने उसका वर्णन विस्तार से किया है। (चि. १३।२०–३४)। वाग्भट ने भी इसका प्रयोग किया है।

डल्हण ने इसका परिचय देते हुए लिखा है :—

'तुवरकं पश्चिमार्णवतीरजातमाहुः, तदुक्तम्—

'पत्रैस्तु केशराकारैः कपित्थसदृशैः फलैः।
वृक्षस्तुवरको नाम पश्चिमार्णवतीरजः॥ (सु. सू. ४५।१२२)

इसमें तुवरक का परिचय ठीक दिया गया है। इसके पत्र केशर (नागकेशर या पुन्नाग) तथा फल कपित्थ के सदृश होते हैं। कहीं-कहीं 'कलायसदृशैः फलैः' पाठ मिलता है, इसका अर्थ समझ में नहीं आता। उपर्युक्त पाठ ठीक है।

सिद्धमन्त्र में तुवर का पाठ कफघ्नवर्ग में है, वोपदेव ने इसकी व्याख्या में उपर्युक्त श्लोक परिवर्त्तित रूप में उद्धृत किया है—'पत्रैस्तु बकुलाकारैः कलाय-सदृशैः फलैः।' पता नहीं इन लोगों की दृष्टि में कौन सा द्रव्य था। कैयदेवनिघण्टु में भी प्रायः इसी प्रकार का वर्णन है।

तुवरक चालमोगरा Hydnocarpus laurifolia (Dennst) Sleumer. है[1]। इसकी अन्य प्रजाति H. kurzii (King) Warb. भी तुवरक नाम से चलती है।

कुछ लोग तिवरिया (Avicenna officinalis Linn) को तुवरक से लेते हैं किन्तु वह ठीक नहीं है।

१. वर्णन द्वितीय भाग में देखें।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

तुवरी

तुवरी वाग्भट में प्रयुक्त है। यह निम्नांकित अर्थों में व्यवहृत हुआ है :—

१. आढ़की (Cajanus cajan (Linn.) Mill sp.

२. सौराष्ट्री (मृत्तिका)

३. स्फटिका

४. तोरी (Eruca sativa Mill)

'तुवर' शब्द कषाय रस का बोधक है अतः ये सभी द्रव्य कषाय प्रधान है। भावप्रकाश ने 'तुवरी' से तोरी का वर्णन किया है। इसके तैल के गुणों का भी उल्लेख किया है। इससे भावमिश्र के काल में इसके प्रचलित व्यवहार का संकेत मिलता है।

'तुवरी' नानार्थक होने से इसका अर्थ प्रसंगानुसार करना चाहिए।

तृणपञ्चमूल

तृणपञ्चमूल या पञ्चतृण के घटक द्रव्यों के सम्बन्ध में आचार्यों में मतभेद है। चरक इसे शरादि पञ्चमूल कहते हैं और इसमें शर, इक्षु, दर्भ, काश और शालि को रखते हैं (च. चि. १।१।४४)। सुश्रुत तृणपञ्चमूल में कुश, काश, नल, दर्भ और काण्डेक्षु की गणना करते हैं (सु. सू. ३८।७५)। वाग्भट दर्भ, काश, इक्षु, शर और शालि को तृणपञ्चमूल मानते हैं (अ. हृ. सू. ६।१७१)। इस प्रकार वाग्भट चरक का ही अनुसरण करते हैं। धन्वन्तरिनिघण्टु में भी यही है। कैयदेवनिघण्टु में शालि, इक्षु, दर्भ, काण्डेक्षु तथा शर ये पञ्चतृण हैं। भावप्रकाश में तृणपञ्चमूल के अन्तर्गत कुश, काश, शर, दर्भ तथा इक्षु हैं।

तृणजातीय अनेक वनस्पतियाँ हैं जिनमें से सुविधानुसार पाँच तृणों को आचार्यों ने रक्खा है, अतः मतभेद स्वाभाविक है। कुछ आचार्य कुश और दर्भ को समान मान कर इनमें से एक को रखते हैं और दूसरे के स्थान पर अन्य द्रव्य लेते हैं।

चरकसंहिता के स्तन्यजनन महाकषाय में सब तृणद्रव्य ही हैं जिनमें दर्भ, कुश, काश, गुन्द्रा और उत्कट ये पाँच द्रव्य क्रम से व्यवस्थित हैं। ये ही पाँचों द्रव्य इसी क्रम से मूत्रविरेचनीय महाकषाय में भी हैं। इससे पता चलता है कि प्रसंगानुसार तृणपञ्चमूल के घटक द्रव्यों में परिवर्तन भी किया गया है।

तेजोवती–तुम्बुरु

तेजोवती, तेजोह्वा, तेजिनी शब्दों से इस द्रव्य का पाठ किया गया है। चरकसंहिता में इसका उल्लेख कटुकस्कन्ध (चव्य के साथ), शिरोविरेचन (तुम्बुरु और ज्योतिष्मती के साथ), मुखशोधन, मध्वरिष्ट, तेजोवत्यादि घृत, अरुचि में कवलग्रह, ऊरुस्तम्भचिकित्सा, श्यामात्रिवृत्-कल्प में हुआ है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

सुश्रुत ने कफज सद्योव्रण, नाडीव्रण, कुष्ठ, मूढगर्भ, मुखरोग, दन्तविशोधन, प्रतिश्याय, जीर्णज्वर, आमातीसार, श्वासरोग (तालीशादि घृत) में तेजोवती का निर्देश किया है।

चक्रपाणि ने तेजोवती को प्रायः चविका कहा है। इसी प्रकार डल्हण ने इसे काकमर्दनिका लिखा है जो ज्योतिष्मती है।

चरक के कटुकस्कन्ध में चव्य और तेजोवती का एक साथ पृथक् उल्लेख है, अतः तेजोवती चविका (चव्य) नहीं हो सकती। तेजोह्वादि चूर्ण (च. चि. २६।१९०–१९१) में तेजोह्वा और ज्योतिष्मती दोनों पृथक् पठित है अतः यह ज्योतिष्मती भी नहीं हो सकती। शिरोविरेचन द्रव्यों में तुम्बुरु के फल, ज्योतिष्मती के मूल तथा तेजोवती की त्वचा का विधान है। सुश्रुत ने ज्योतिष्मती के क्षीर का विधान किया है जबकि अद्यतन प्रचलित द्रव्य क्षीरी नहीं है[1]। परंपरानुसार तेजोवती Zarthoxylum armatum DC. है, उसी के फल तुम्बुरु नाम से प्रचलित हैं। यह भी सम्भव है कि उपर्युक्त द्रव्य तुम्बुरु हो और उसी की कोई अन्य प्रजाति तेजोवती है। दन्तशोधन चूर्ण में इसका विशिष्ट विधान है।

तोदन

तोदन चरक और सुश्रुत के फलवर्ग में है। दोनों में यह धन्वन के साथ पठित है।

डल्हण इसे राजप्रिय तथा चक्रपाणि धन्वनभेद कहते हैं।

यह तूद नहीं हो सकता क्योंकि चरक ने इससे पृथक् तूद का वर्णन किया है। कैयदेवनिघण्टु में तोदन मृगलिण्डिक का पर्याय किया है। वाग्भट ने तोदन का वर्णन न कर मृगलिण्डिक का किया है। अतः तोदन मृगलिण्डिक हो सकता है (देखें मृगलिण्डिक)। यदि धन्वन का कोई भेद मानना हो तो Grewia की कोई प्रजाति विशेषतः G. optiva Drummond. पर विचार किया जा सकता है। यह भीमल के नाम से प्रसिद्ध है, कहीं-कहीं धामन भी कहते हैं। इसकी लकड़ी से धनुष आदि बनाते हैं। 'तोदन' का अर्थ है जिससे पीड़ा पहुँचाई जाय, इससे धनुष का ही अर्थ निकलता है।

त्रिवृत्–श्यामा–महाश्यामा–छगलान्त्री

ये चारों द्रव्य सुश्रुत के श्यामादि गण में पृथक्-पृथक् पठित हैं अतः ये भिन्न वनस्पतियाँ हैं। चरक ने भी श्यामा और त्रिवृत् का एक साथ पृथक् उल्लेख किया है (च. सू. १।७७, वि. ८।१३६, क. ७ आदि)। कल्पस्थान (अ. ७) में त्रिवृत् का गुण-वर्णन करने के बाद यह लिखा कि इसका मूल दो प्रकार का होता

१. सुश्रुत का यह पाठ विचारणीय है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

है श्याम और अरुण किन्तु 'श्यामा' का वर्णन पृथक् से नहीं किया। इससे स्पष्ट है कि उपर्युक्त कथन का अभिप्राय यह है कि श्यामा का मूल श्यामवर्ण तथा त्रिवृत् का मूल अरुणवर्ण होता है। यह मात्र उनसे वनस्पतियों के मूल के भेदक स्वरूप का परिचय है। कर्म में भी इनमें भिन्नता बतलाई गई कि त्रिवृत् सुखविरेचन है जबकि श्यामा तीक्ष्णविरेचन है।

त्रिवृत् (Operculina turpethum (Linn.) Silva Manso[1])

यह प्रसिद्ध द्रव्य है जो निशोथ के नाम से प्रचलित है। इसका मूल अरुणवर्ण होता है। डल्हण ने प्रायः इससे रक्तमूला त्रिवृत् लिया है।

श्यामा

'श्यामा' पर्याय प्रियंगु तथा कृष्णसारिवा के लिए भी आता है किन्तु यहाँ श्यामा उनसे भिन्न द्रव्य है जो तीक्ष्ण विरेचन के काम आता है। डल्हण ने श्यामा से कहीं श्वेत त्रिवृत् (सु. सू. ३८।२९), कहीं अरुणमूला त्रिवृत् (सु. उ. ४२।९४); कहीं कृष्णमूला त्रिवृत् (सु. सू. ३९।४) और कहीं वृद्धदारक (सु. सू. ४४।१९ आदि) लिया है अतः स्पष्ट है कि वह इस सम्बन्ध में पूर्णतः भ्रान्त थे। मेरे विचार से, श्यामा से Ipomoea petaloidea Chois का ग्रहण करना चाहिए जो काली निशोत या विधारा नाम से बाजारों में आती है।

Ipomoea petaloiodea Chois (fam. convolvulacae)

इसकी बड़ी प्रसरणशील लता होती है। काण्ड चिकना ५–४ उत्थित रेखाओं या पक्षों से युक्त होता है। पत्र–५-६ इञ्च लम्बे, ३½–५ इञ्च चौड़े, लट्वाकार, तीक्ष्णाग्र होते। पत्रवृन्त १½ इञ्च लम्बा होता है। पुष्प–पीतवर्ण, बड़े होते हैं। फल–½ इञ्च लम्बे, अण्डाकार होते हैं। बीज मखमली होते हैं। मूल कृष्णवर्ण होता है। यह उत्तरी भारत में विशेष होता है।

इसके अभाव में काला दाना (Ipomoea nil (Linn.) Roth.) का व्यवहार कर सकते हैं। इसके बीज उत्तम रेचन है जो कृष्णबीज के नाम से सम्प्रति प्रयुक्त होते हैं।

महाश्यामा

सुश्रुत में केवल एक बार श्यामादि गण में पठित है। डल्हण ने इसका अर्थ वृद्धदारक किया है। इसी प्रकार चरक में श्यामा और त्रिवृत् के साथ 'अधोगुडा' (च. सू. १) का एक ही बार उल्लेख हुआ हैं। वहाँ भी चक्रपाणि ने उसका अर्थ वृद्धदारक किया है। इससे प्रतीत होता है कि डल्हण महाश्यामा और अधोगुडा को एक ही मानते थे। एक बार ही उल्लेख होने से यह भी संकेत मिलता है कि यह

१. विवरण द्वितीय भाग में देखें।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

प्रचलित द्रव्य नहीं था, कभी-कभी आत्ययिक स्थिति में प्रयुक्त होता था। इस प्रकार महाश्यामा और अधोगुडा को पर्यायवाची माना जा सकता है[1]।

सुश्रुत में भी संशोधन-संशमनीय अध्याय में जहाँ द्रव्यों के प्रयोज्य अंग का उल्लेख है वहाँ श्यामा-त्रिवृत् हैं, महाश्यामा नही है। इसकी व्याख्या दो प्रकार से हो सकती है—एक तो यह कि सुश्रुत ने श्यामा के ही किसी भेद को महाश्यामा नाम से कहा और दूसरे यह कि संशोधन-संशमनीय अध्याय में जो महावृक्ष है वही महाश्यामा हो क्योंकि द्रव्यसंग्रहणीय अध्याय (श्यामादि गण) में महावृक्ष नहीं है। पहली स्थिति में यह Ipomoea की और दूसरी स्थिति में Euphorbia की कोई प्रजाति होगी।

छगलान्त्री—यह केवल सुश्रुत में ही है। छगलान्त्री से बंगाल की छागलखुरी Ipomoea pes-caprae (Linn.) Sw.) लेनी चाहिए। इसकी प्रसरणशील या आरोहिणी लता बकरे की आँत की तरह फैली और एक दूसरे से लिपटी होती है। इसका मूल लम्बा एवं स्थूल होता है। पत्र-वृत्ताकार द्विखण्डीय तथा मांसल होते हैं। पुष्प-बड़े, फनेल के आकार के, चमकीले गुलाबी-बैंगनी रंग के, अक्षीय सवृन्त मञ्जरियों में लगते हैं। फल-छोटा, अण्डाकार, चिकना होता है जिसमें चार गहरे भूरे रंग के, रोमश बीज होते हैं। यह विशेषतः समुद्रतट पर मिलता है।

दन्तशठ

दन्तशठ चरक और सुश्रुत में अम्लवर्ग तथा अम्लफलों में पठित है। चक्रपाणि इससे जम्बीर लेते हैं तथा एकीय मत से अम्लोटक का उल्लेख करते हैं। इसी प्रकार डल्हण भी इससे जम्बीर लेते हैं और एकीय मत से जम्बीरभेद का उल्लेख करते हैं। जम्बीर के बाद दन्तशठ का पृथक् उल्लेख होने के कारण यह जम्बीर तो हो नहीं सकता। जम्बीरभेद भी नहीं प्रतीत होता। (देखें ऐरावत)

इन सन्दर्भों से यह पता चलता है कि दन्तशठ जम्बीर से भिन्न मधुर अम्लरस का फल है।

धन्वन्तरिनिघण्टु में दन्तशठ कपित्थ और जम्बीर के लिए आया है। अमरकोष में भी इन्हीं अर्थों में है। वैजयन्तीकोष में कपित्थ, जम्बीर और कर्मरंग के लिए है। मेदिनीकोष में इनके अतिरिक्त नागरंग के लिए भी है। कपित्थ, जम्बीर तथा नागरंग का पृथक् वर्णन होने से दन्तशठ इनसे भिन्न है। तब एक ही द्रव्य बच जाता है कर्मरंग। सम्प्रति यह एक प्रचलित एवं विदित फल है किन्तु संहिताग्रन्थों में इसका नाम नहीं मिलता। प्राचीन कोषों में भी नहीं मिलता। डथी इसे अमेरिका से आयातित बतलाता है किन्तु बर्किल इसे नहीं मानता।

१. देखें—अधोगुडा।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

चक्रपाणि (११वीं शती) ने भव्य की व्याख्या में कर्मरंग का उल्लेख किया है (च. सू. २७।१३१)। इससे स्पष्ट है कि यह भारत में पहले से है। इसका प्राचीन नाम दन्तशठ रहा, बाद में कर्मरंग नाम प्रचलित हुआ। निघण्टुओं में माधवद्रव्यगुण, मदनपाल, भावप्रकाश तथा राजनिघण्टु में दृष्टिगत होता है। इस प्रकार दन्तशठ कर्मरंग (Averrhoa carambola Linn.) है।

कर्मरंग या कर्मार (Averrhoa carambola Linn.) छोटा, सदाहरित १५–३० फीट ऊँचा एक सुन्दर वृक्ष है। इसकी छाल से पुष्प निकलते हैं। फल–अण्डाकार ३–४ इञ्च लम्बे, तीक्ष्ण पञ्चकोणीय, पारभासक, सरस एवं सुगन्धित होते हैं। कच्ची अवस्था में फल हरे रंग का, कषाय–अम्ल होता है किन्तु पकने पर सुनहले रंग का, मधुराम्ल हो जाता है। पुष्प–जून-सितम्बर में तथा फल उसके बाद जनवरी तक लगते हैं। इसके दो प्रकार के फल मिलते हैं एक मधुर और दूसरा अम्ल। मधुर जाति बंगाल में होती है।

कर्मरंग समस्त भारत में होता है। उष्ण आर्द्र वातावरण इसे प्रिय है।

सुश्रुत और चरक के 'अम्लं शोणितपित्तकृत्' पर जोर देने से भी स्पष्ट है कि उस समय भी दन्तशठ की मधुर और अम्ल दो जातियाँ प्रचलित थीं।

दन्ती–द्रवन्ती–जयपाल

बृहत्त्रयी में दन्ती एवं द्रवन्ती का भूरिशः प्रयोग है। चरक के कल्पस्थान में दन्ती-द्रवन्ती का एक स्वतन्त्र अध्याय ही है। इससे स्पष्ट है कि ये प्रसिद्ध विरेचन-द्रव्य थे। दन्ती[1] तो सम्प्रति पूर्णतः ज्ञात द्रव्य है किन्तु द्रवन्ती तथा नागदन्ती चिरकाल से चर्चा के विषय रहे हैं।

चरक कल्पस्थान (अ. १२) में दन्ती के पर्याय उदुम्बरपर्णी, निकुम्भ तथा मुकूलक और द्रवन्ती के पर्याय चित्रा, न्यग्रोधी एवं मूषिका दिये गये हैं। दन्ती-द्रवन्ती इस युग्म से पता चलता है कि अर्क-अलर्क के समान ये भी एक ही जाति की वनस्पतियां हैं। 'दन्ती' शब्द इसके हस्तिदन्तवत् मूल का बोधक है[2] और 'द्रवन्ती' द्रवपुरीषरेचन के कारण है। पर्यायों पर यदि दृष्टि डालें तो दन्ती उदुम्बरपर्णी और द्रवन्ती न्यग्रोधी कही गई है। उदुम्बर के पत्ते न्यग्रोध (वट) के पत्तों से छोटे होते हैं अतः द्रवन्ती के पत्र से बड़े होने चाहिए। 'चित्रा' पर्याय इसके चित्रित (mottled) बीजों के लिए है। कुम्भ-निकुम्भ पर्याय कर्माधिष्ठान का बोधक है। कोष्ठ के लिए 'कुम्भ' शब्द प्रयुक्त हुआ है। जलपूर्ण कुम्भ के समान विवृद्ध एवं जलपूर्ण उदर (रोग) में उपयोगी होने के कारण 'कुम्भ-निकुम्भ' पर्याय सार्थक है। 'शम्वर' जल का पर्याय है अतः शम्वरी का भी यही अर्थ होगा। चरक ने

१. विवरण द्वितीय भाग में देखें।
२. तयोर्मूलानि···हस्तिदन्तप्रकाराणि। (च. क. १२।४)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

दन्ती का उल्लेख भेदनीय, मूलिनी एवं मूलासव गण में तथा सुश्रुत ने अधोभागहर एवं श्यामादि गण में किया है। द्रवन्ती का चरक ने विरेचन मूलिनी गण में किया है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि दन्ती-द्रवन्ती के मूल का ही प्रयोग होता था, बीज का नहीं।

चक्रपाणि ने द्रवन्ती को दन्ती का भेद माना है जिसके पत्र चीरित (खण्डयुक्त) होते हैं[1]। डल्हण ने भी ऐसा ही कहा है तथा 'शम्बरी' उसका लोकनाम एवं पर्याय दिया है[2]। दन्ती को भी उसने एक स्थल पर सम्बरी कहा है[3]। सम्भवतः दन्ती का बोध कराने के लिए 'दन्तिनी' शब्द का प्रयोग किया है[4]। एक स्थल पर द्रवन्ती का परिचय देते हुए 'अल्पविटप' तथा 'एरण्डसदृशफलपत्रा' (छोटा पौधा जिसके फल एवं पत्र एरण्ड के सदृश हों) कहा है[5]।

द्रवन्ती के लिए निघण्टुओं में 'मूषिकपर्णी' या आखुपर्णिका पर्याय 'मूषिकाह्वा' के अतिरिक्त दिये गये हैं जो भ्रामक हैं (देखें आखुपर्णी)। ठा० बलवन्त सिंह का विचार है कि 'उदुम्बरपर्णी' को 'उन्दुरुपर्णी' तथा 'मूलकपर्णी' को 'मूषकपर्णी' प्रमादवश कर दिया गया जिससे यह अनवस्था उत्पन्न हुई[7]।

धन्वन्तरिनिघण्टु में इस प्रसंग में दन्ती, दन्तीभेद, रेचक (जयपाल) तथा द्रवन्ती इन चार द्रव्यों का वर्णन किया है।

द्रवन्ती से कुछ लोग व्याघ्रैरण्ड (Jatropha glandulifera Roxb.) लेते हैं क्योंकि डल्हण ने जो 'एरण्डसदृशफलपत्राऽल्पविटपः' परिचय दिया है वह इसमें मिलता है। कुछ विद्वान इससे जयपाल (Croton tiglium Linn.) का ग्रहण करते हैं[6] क्योंकि जयपाल एक प्रचलित उपयोगी द्रव्य है किन्तु इसका कहीं उल्लेख नहीं मिलता जबकि यह एक भारतीय वनस्पति है। अतः सम्भवतः 'द्रवन्ती' शब्द से इसका वर्णन है, 'जयपाल' शब्द बंगीय प्रभाव के कारण प्रचलित हुआ क्योंकि यह नाम बंगाल में ही प्रसिद्ध है। किन्तु धन्वन्तरिनिघण्टु, भावप्रकाश आदि में द्रवन्ती से पृथक् जयपाल का वर्णन होने के कारण दोनों को एक मानना कठिन

---

१. द्रवन्ती दन्त्येव चीरितपत्रा। (च. सू. १।७७)
द्रवन्ती दन्तीभेदः। (च. सू. २।१०)

२. दन्तीभेदः सम्बरीति लोके। (सु. सू. ३९।४)
चीरितपत्रा दन्तीभेदः। (सु. चि. २३।११, उ. ४२।६३, ५२।२०)

३. सु. सू. ४४।४९

४. सु. सू. ३७।१०, ३८।२९, ३९।४, ४४।८४ इत्यादि।

५. द्रवन्ती एरण्डसदृशफलपत्राऽल्पविटपः शम्बरी इति लोके। (सु. सू. ३८।२९)

६. G. V. D., p. 208.

७. Bapalal : some controversial drugs in indian medicine, J. R. I. M., VI, 1 (1971)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

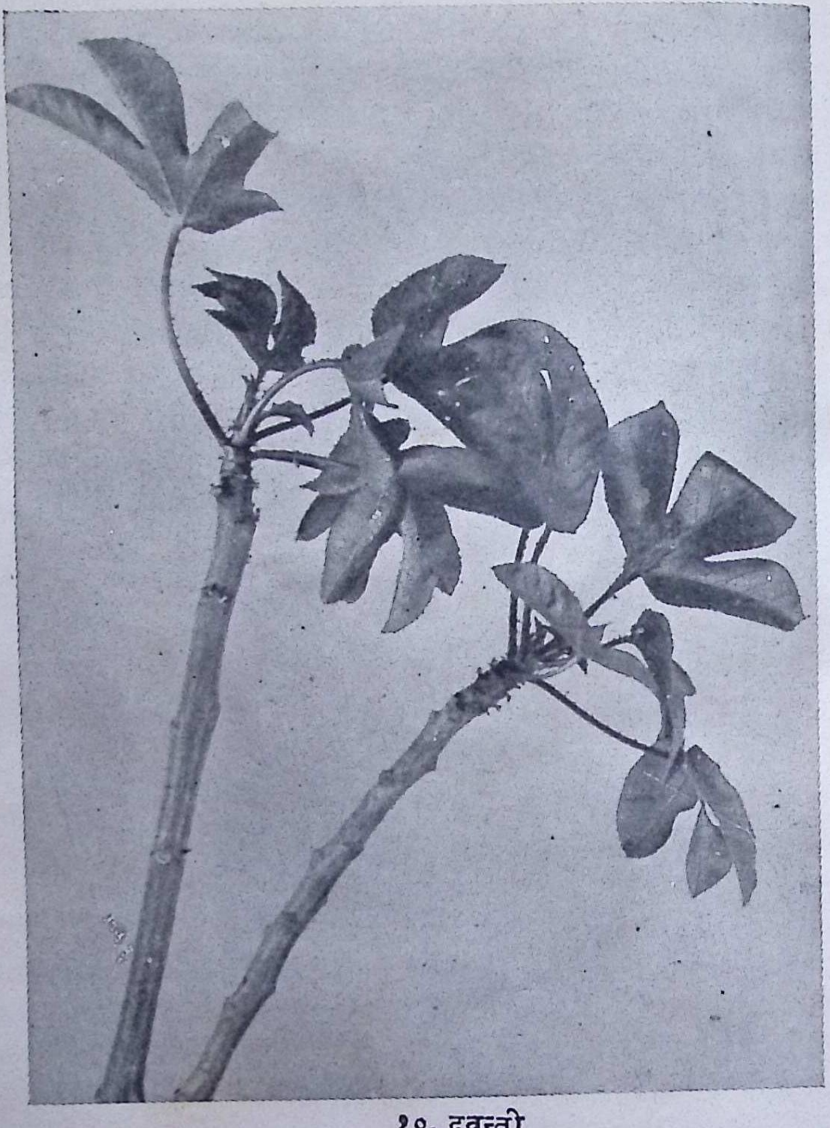

१०. द्रवन्ती

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

है। इसके अतिरिक्त, द्रवन्ती का मूल प्रयुक्त है जबकि जयपाल का फल विहित है। जहाँ तक व्याघ्रैरण्ड का प्रश्न है, डल्हणोक्त उपर्युक्त द्रव्य हो सकता है किन्तु 'चीरितपत्रा दन्तीभेद' नहीं हो सकता। इसके लिए तो दन्ती (Baliospermum) की अन्य प्रजातियों का पर्यवेक्षण करना होगा। इसकी छः प्रजातियाँ भारत में होती हैं[1]। इनमें B. sinuatum Muell-Arg. का स्वरूप 'चीरितपत्रा दन्तीभेदः' तथा 'एरण्डसदृशफलपत्राऽल्पविटपः' दोनों से मिलता है। अतः प्राचीन द्रवन्ती यही हो सकती है। इसकी अन्य कोई प्रजाति धन्वन्तरिनिघण्टु का दन्ती हो सकता है। किन्तु कालक्रम से इस दन्तीभेद का प्रचलन कम हो गया और मध्यकाल में इसके स्थान पर जयपाल के बीजों का प्रचलन होने लगा। इसमें दन्ती के बीज मिलाये जाते थे या प्रतिनिधिरूप में दन्तीबीज भी प्रयुक्त होते थे अतः जयपाल का एक पर्याय 'दन्तिबीज' हो गया। समाकदाना के फलों के सदृश बीज होने से 'तित्तिडी-फल' पर्याय है[2]। इस प्रकार मध्यकाल से आज तक दन्ती और जयपाल ये दो द्रव्य प्रयुक्त हो रहे हैं। दन्ती-द्रवन्ती युग्म के स्थान पर दन्ती-जयपाल युग्म निर्धारित हुआ। अतः व्यावहारिक आधार पर आजकल द्रवन्ती के स्थानापन्न जयपाल (Croton tiglium Linn.) का ग्रहण द्रवन्ती[3] से करते हैं।

उपर्युक्त वनस्पतियों का परिचय यहाँ दिया जा रहा है :—

१. Baliospermum sinuatum Muell-Arg.

इसका अद्विधैकलिंगी अल्प विटप ६ फीट ऊँचा होता है। पत्र—६-८ इञ्च लम्बे, २-३ इञ्च चौड़े, चिकने, ह्रस्ववृन्त, अभिलट्वाकार—आयताकार, दन्तुर, प्रायः मध्य भाग से ऊपर त्रिकोणाकार, लम्बाग्र खण्डों में विभक्त होते हैं जिससे एरण्ड पत्रवत् दिखते हैं। पुष्पमञ्जरी लम्बी होती है। फल एवं बीज दन्ती के सदृश होते हैं। यह आसाम की पहाड़ियों में होता है।

२. Jatropha glandulifera Roxb.

इसे व्याघ्रैरण्ड (हि. बघरेंड) कहते हैं। इसका पौधा ४—८ फीट ऊँचा होता है। पत्र—३-५ इञ्च लम्बे-चौड़े, प्रायः ३-५ तीक्ष्णाग्र खण्डों से युक्त होते हैं। इसके पृष्ठभाग पर ग्रन्थिमय रोम होते हैं जिनके कारण यह चिपचिपा रहता है। पुष्प—हरिताभ पीत, मञ्जरियों में लगते हैं। फल—६ खण्डों का होता है। यह विशेषतः दक्षिण भारत में पाया जाता है।

---

१. Hooker : F. B. I., V, 561

२. रेचको जयपालश्च सारकस्तिन्तिडीफलम्।
दन्तिबीजं मलद्रावी निकुम्भो बीजरेचकः॥ ध. नि.

३. विवरण द्वितीय भाग में देखें।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

उत्तर भारत में पाई जाने वाली इसकी प्रजातियाँ J. curcas Linn. तथा J. gossipifolia Linn. (रक्त व्याघ्रैरण्ड) हैं। दूसरा पौधा ब्राजिल का आदिम निवासी कहा जाता है।

हस्तिदन्ती–नागदन्ती-पुत्रश्रेणी

हस्तिदन्ती दन्ती-द्रवन्ती के साथ चरकसंहितोक्त मूलिनी विरेचन ओषधियों में पठित है[१]। नागदन्ती का मूल शिरोविरेचन के लिए विहित है जबकि दन्ती-द्रवन्ती विरेचन द्रव्यों में पठित है[२]। अपस्मार में वचा, ज्योतिष्मती आदि के साथ इसके नस्य का प्रयोग है[3]। इसका विषघ्न प्रयोग भी है[४]।

सुश्रुत में हस्तिदन्ती तथा पिप्पली का कल्क आमज शूल में निर्दिष्ट है[५]। नागदन्ती अर्कादि गण में पठित है जबकि दन्ती-द्रवन्ती श्यामादि गण में है[६]। नागदन्ती का व्रण में लेपार्थ,[७] क्षारागद में,[८] शकुनिग्रह में धारणार्थ[९] किया गया है।

उपर्युक्त वर्णन से निम्नांकित तथ्य स्पष्ट होते हैं :—

१. हस्तिदन्ती विरेचन है तथा उसका मूल व्यवहृत होता है।
२. नागदन्ती शिरोविरेचन, व्रणशोधन तथा विषघ्न है। इसका भी मूल प्रयुक्त होता है।

इससे सन्देह होता है कि हस्तिदन्ती और नागदन्ती दो भिन्न द्रव्य हैं।

चक्रपाणि ने हस्तिदन्ती को बृहत्फला गोडुम्बा (बड़ी इन्द्रायण) कहा है और एकीय मत से नागदन्ती का निर्देश किया है। इससे स्पष्ट है कि चक्रपाणि हस्तिदन्ती और नागदन्ती को भिन्न मानते थे। अन्यत्र (च. चि. १०।४२) नागदन्ती से काष्ठपाटला और पुनः (च. चि. २३।२४१) दन्तीभेद माना है।

डल्हण ने हस्तिदन्ती की व्याख्या नहीं की है किन्तु नागदन्ती को दन्ती और एक स्थल (सु. क. ६।३) पर इन्द्रवारुणीभेद माना है तथा एकीय मत से दन्ती का निर्देश किया है। इन्द्रवारुणी से दन्ती का कोई सम्बन्ध नहीं तथा दन्ती के लिए नागदन्ती शब्द का प्रयोग आवश्यक था। अतः ये विचार युक्तिसंगत नहीं हैं।

---

१. च. सू. १।७७
२. च. वि. १५१, १३६
३. च. चि. १०।४२
४. च. चि. २३।२४१
५. सु. उ. ४०।५२
६. सु. सू. ३८।१६, २९
७. सु. चि. ८।४०, १७।२१
८. सु. क. ६।३
९. सु. उ. ३०।६

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

नागदन्ती दन्ती या द्रवन्ती नहीं हो सकती क्योंकि दन्ती-द्रवन्ती के साथ पृथक् इसका उल्लेख है (च. चि. २३।२४१)। सम्भवतः इसी कारण उस सन्दर्भ में चक्रपाणि ने इसे दन्तीभेद कहा। किन्तु इतना स्पष्ट है कि ये सब दन्ती की ही बड़ी प्रजातियाँ हैं।

'नागविन्ना' नागदन्ती का ही पर्याय है क्योंकि अष्टांगहृदय (उ. ६।३६) में यह प्रायः उसी सन्दर्भ में नागदन्ती के स्थान पर पठित है। दूसरे, सुश्रुत (उ. ६२।३१) में जो पाठान्तर दिया है उसकी व्याख्या नागदन्ती के समान की गई है।

द्रवन्ती के सन्दर्भ में दन्ती (Baliospernum.) की अनेक प्रजातियों का निर्देश किया है। मेरे विचार से, इन्हीं प्रजातियों में से हस्तिदन्ती और नागदन्ती हो सकती हैं। ज्ञातव्य है कि B. calycinum Muell-Arg. के फल दन्ती से छः गुने बड़े होते हैं। 'नाग' या 'हस्ती' का विशेषण प्रायः उस द्रव्य की बृहत् जाति का बोधक होता है।

पुत्रश्रेणी का उल्लेख दो बार केवल सुश्रुतसंहिता में हुआ है जिसका अर्थ डल्हण ने द्रवन्ती किया है। यह विषघ्न[1] एवं विरेचन[2] के रूप में प्रयुक्त है। मेरे विचार से, यह पुतरी (बं.) या पुतेर (वि.) (Croton oblongifolius Roxb.) है। इसके मूल विरेचन से रूप में व्यवहृत भी होते हैं।

Croton oblongifolius Roxb.

इसका छोटा वृक्ष होता है। पत्र—चर्मवत्, प्रायः दन्तुर, आयताकार या अण्डाकार, ४—१२ इञ्च लम्बे, चिकने होते हैं। ऊपरी भाग में अनेक अक्षीय ५—१२ इञ्च लम्बी मञ्जरियाँ होती हैं जिनके मूल भाग में अनेक रेखाकार या अभि-भालाकार कोणपुष्पक होते हैं। पुष्प ·३ इञ्च व्यास के होते हैं। फल लगभग ½ इञ्च लम्बे, द्विकोष्ठीय, अनेक कंचुकों से आवृत होते हैं। बीज चिकने भूरे रंग के होते हैं। पुष्प हेमन्त में तथा फल वसन्त में लगते हैं। पुष्पागम के समय पत्ते प्रायः लाल होकर गिर जाते हैं। यह बिहार (छोटा नागपुर), बंगाल, मध्यभारत तथा दक्षिण भारत में होता है।

दिव्य ओषधियाँ

दिव्य ओषधियों का वर्णन चरक और सुश्रुत में मिलता है। 'दिव्य' शब्द के दो अर्थ हैं :—

१. देवभूमि (हिमालय) में होने वाली।

२. चमत्कारी प्रभावयुक्त

---

१ सु. क. ६।३

२. सु. ३८।२९ (श्यामादि गण)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

उपर्युक्त दोनों संहिताओं के रसायन-प्रकरण में इन दिव्यौषधियों का वर्णन मिलता है।

चरकसंहिता में निम्नांकित दिव्यौषधियों का वर्णन है :—

१. ब्रह्मसुवर्चला
२. आदित्यपर्णी (सूर्यकान्ता)
३. नारी (अश्वबला)
४. काष्ठगोधा
५. सर्पा
६. सोम
७. पद्मा
८. अजा
९. नीला

अन्त में यह लिखा है कि इनमें से जो मिल जाय उसी का प्रयोग करे[1]। इससे स्पष्ट है कि उस काल में भी ये ओषधियाँ सुलभ नहीं थीं।

सुश्रुत ने एक स्वतन्त्र अध्याय में सोम एवं उसके भेदों का वर्णन किया है (सु. चि. २९) तथा अगले अध्याय में दिव्यौषधियों का वर्णन है जिन्हें 'सोमसमवीर्या महौषधियाँ' कहा है। इनमें कुछ क्षीरिणी और कुछ अक्षीरिणी थी। ये ओषधियाँ निम्नांकित हैं :—

१. अजगरी
२. श्वेतकापोती
३. कृष्णकापोती
४. गोनसी
५. वाराही
६. कन्या
७. छत्रा
८. अतिच्छत्रा
९. करेणु
१०. अजा
११. चक्रका
१२. आदित्यपर्णी
१३. ब्रह्मसुवर्चला
१४. श्रावणी
१५. महाश्रावणी
१६. गोलोमी
१७. अजलोमी
१८. महावेगवती

इनका स्वरूप, उत्पत्तिस्थान तथा उपलब्धिकाल विस्तार से वर्णित हैं[2]। स्पष्टतः इनमें अनेक ओषधियाँ चरकोक्त हैं।

कालक्रम से ये औषधियाँ दुर्लभ होने के कारण प्रयोग से छूट कर अज्ञात हो गईं। अत एव वाग्भट आदि परवर्त्ती आचार्यों ने व्यावहारिक दृष्टि से उपयोगी न होने के कारण दिव्यौषधियों का परित्याग ही कर दिया।

चक्रपाणि ने इस तथ्य को अपनी व्याख्या में स्पष्ट कर दिया है[3]।

---

१. च. चि. १।४।७
२. सु. चि. ३०
३. 'ब्रह्मसुवर्चलाप्रभृतयो यथोक्तलक्षणा दिव्यौषधयो नातिप्रसिद्धाः।'
'ज्ञायत इति ऋषिभिरेवानेन नाम्ना ज्ञायते, न लौकिकैः, लोकाप्रसिद्धत्वात्।
(च. चि. १।७)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

दुग्धिका–क्षीरिणी–क्षीरिका

दुग्धिका का उल्लेख चरक और वाग्भट ने किया है।

चरकसंहिता में सांग्राहिक (चि. ८।१३१), रक्तार्श (चि. १४।१९८), विसर्प में लेप (चि. २१।८३) तथा पलित में लेप (चि. २६।२६६) में दुग्धिका विहित है। वाग्भट में ये ही प्रयोग है, एक विशिष्ट प्रयोग दुग्धिनीका का लूताविष में है (अ. हृ. उ. ३७।८६)।

चक्रपाणि और अरुणदत्त ने इस पर कोई टिप्पणी नहीं की।

क्षीरिणी चरकसंहिता में मूलिनी विरेचन ओषधियों (सू. १।७८, २।९), बृंहणीय महाकषाय (सू. ४।२), विरेचनद्रव्य (वि. ८।१३६), रक्तार्श (चि. १४।२०२), प्रवाहिका (चि. १९।३१), सप्तलाशंखिनी–कल्प (क. ११।१४); पक्वाशयविशोधन (सि. १०।२६) में पठित है।

सुश्रुतसंहिता में केवल एक ही स्थल (चि. ९।२७) में श्वित्र में लेपार्थ प्रयुक्त हुआ है।

वाग्भट ने मधुर गण में क्षीरिणीद्वय का उल्लेख किया है (सू. १०।२४)। इसके अतिरिक्त, प्रवाहिका (चि. ९।२१) तथा वातरक्त में लेपार्थ (चि. २२।६) प्रयोग हुआ है।

क्षीरिका केवल एक ही स्थल (च. चि. २।३।८) पर वाजीकरण योग में प्रयुक्त है।

चक्रपाणि ने क्षीरिणी का अर्थ दुग्धिका या क्षीरलता किया है। डल्हण ने क्षीरिणी से अर्कपुष्पी लिया है। अरुणदत्त ने 'क्षीरिण्यौ' का 'क्षीरिणी' करके काञ्चनक्षीरी अर्थ किया है। संभवतः 'क्षीरिणी' उनका संमत पाठ था।

उपर्युक्त तथ्यों पर विचार करने से दो प्रकार की क्षीरिणी का स्वरूप प्रस्तुत होता है एक विरेचन और दूसरी सांग्राहिक। बृंहणीय महाकषाय में सांग्राहिक ही उपयुक्त होगी, विरेचन नहीं।

डल्हण ने क्षीरिणी का अर्थ अर्कपुष्पी किया है, पयस्या को भी वह अर्कपुष्पी कहते हैं। इस प्रकार उनके मत में क्षीरिणी और पयस्या एक हो जाती है किन्तु चरक के बृहणीय महाकषाय में दोनों स्वतंत्र पठित होने से दोनों भिन्न हैं इसमें कोई सन्देह नहीं।

यह विचारणीय है कि एक ही द्रव्य विरेचन और सांग्राहिक दोनों रूपों में कैसे विहित होगा? सम्भवतः इसी द्वैधता के कारण वाग्भट ने 'क्षीरिण्यौ' पाठ किया। विरेचन के सन्दर्भ में क्षीरिणी से स्वर्णक्षीरी लेने का सुझाव दिया गया है। मेरी दृष्टि में दुग्धिका, क्षीरिणी तथा क्षीरिका तीनों एक ही प्रतीत होती हैं। क्षीरिका से राजादन लेने का भी सुझाव है किन्तु वाजीकरण-सन्दर्भ में उसकी

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कोई उपयोनिता नहीं है। फलवर्ग में भी उसका उल्लेख नहीं है। दुग्धिका अनुलोमन होने से अर्श तथा प्रवाहिका में भी लाभकर होगी।

दुग्धिका (Euphorbia thymifolia Linn) है[1]।

नदीभल्लातक

सुश्रुतसंहिता में कषाय–मधुर शाकों में इसका उल्लेख है (सू. ४६।२४९) तथा शीतपूतना के उपचारार्थ परिषेक में इसका प्रयोग है (उ. ३४।३)।

डल्हण ने इससे ली (लोजनक) या नदीपिप्पलिका लिया है जिसे गण्डोपली भी कहते हैं। जलगण्ड (सु. चि. ६।२१) की व्याख्या में भी एकीय मत से 'नदीपिप्पलिका' का निर्देश किया है।

यदि डल्हणोक्त विचार माना जाय तो नदीभल्लातक जलपिप्पली का ही कोई भेद प्रतीत होता है। सम्भवतः यह Lantana प्रजाति की नदियों के किनारे होने वाली कोई वनस्पति हो। शाकों के सन्दर्भ से भी यह कोई क्षुप ही प्रतीत होता है।

नदीमाषक

चरकसंहिता में शाकवर्ग में इसका वर्णन है। यह विशद, गुरु, शीत तथा अभिष्यन्दी कहा गया है[2]।

चक्रपाणि ने इसका अर्थ उदीमानक किया है। यह कोई जलीय कन्द प्रतीत होता है। 'औदक कन्द' (सु. शा. १०।५७) की व्याख्या में डल्हण इसका उल्लेख करते हैं[3]।

नन्दीवृक्ष–पारीष–नन्दीतक–कपीतन

सुश्रुत के अम्बष्ठादि गण तथा न्यग्रोधादि गण में नन्दीवृक्ष का पाठ है। प्रथम सन्दर्भ में डल्हण इसे काश्मरी मानते हैं तथा एकीय मत से गर्दभाण्ड का उल्लेख करते हैं और दूसरे सन्दर्भ में इससे प्ररोही गर्दभाण्ड लेते हैं जिसे लोग में पार्श्वपिप्पल (पारस पीपल) कहते हैं[4]। इस प्रकार गर्दभाण्ड दो प्रकार का हुआ—एक प्ररोही (प्ररोह-वायव्यमूल युक्त) और दूसरा अप्ररोही। पहला

---

१. विवरण द्वितीय भाग में देखें।
२. केलुटं च कदम्बं च नदीमाषकमैन्दुकम्।
   विशदं गुरु शीतं च समभिष्यन्दि चोच्यते॥ (च. सू. २७।११४)
३. औदकाः कन्दाः कशेरुशालुकनदीमाषकादयः।
४. नन्दीवृक्षः काश्मरी, अन्ये गर्दभाण्डमाहुः। (सु. सू. ३८।४६)
   नन्दीवृक्षोऽत्र प्ररोही गर्दभाण्डः 'पार्श्वपिप्पल' इति लोके। (सु. सू. ३८।४८)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

नन्दीवृक्ष और दूसरा पारीष कहलाता है। नन्दीवृक्ष Ficus altissima Blume तथा पारीष Thespasia populnea Soland ex Correa. है।

नलिका

नलिका का उल्लेख चरकसंहिता के दृढबलकृत अंश (चि. २८।१५२) में केवल एक ही बार हुआ है। सुश्रुत ने भी एलादि गण में इसका पाठ नहीं किया। इससे स्पष्ट है कि इसका प्रवेश वाग्भटकाल में हुआ। वाग्भट ने दो स्थलों पर इसका प्रयोग किया है।

चक्रपाणि ने 'नलिका स्वनामख्याता' लिख कर छोड़ दिया।

निघण्टुओं ने विद्रुमलता, कपोतचरणा, सुषिरा आदि पर्याय दिये हैं। प्रायः सभी निघण्टुओं में इसका वर्णन होने पर भी इसका परिचय सन्दिग्ध है यह खेद की बात है।

उपर्युक्त वर्णनों से प्रतीत होता है कि यह रक्तवर्ण कोई गन्धद्रव्य है।

नाकुलीद्वय—सर्पगन्धा

नाकुली और गन्धनाकुली यह नाकुलीद्वय है। ये दोनों अगुर्वाद्य उष्णवीर्य द्रव्यों में पठित हैं (च. चि. ३।२६७)। महापैशाचिक घृत में भी नाकुलीद्वय है (च. चि. ९।४६)। इससे इसकी मानस रोगों में उपयोगिता सिद्ध होती है। इसके अतिरिक्त पलंकषादि तैल (अपस्मार), मृतसंजीवन अगद तथा वचादि अगद में निर्दिष्ट है। इससे इसके विषघ्न कर्म पर प्रकाश पड़ता है। विषघ्न सन्दर्भों में केवल नाकुली है।

सुश्रुतसंहिता में नाकुली केवल एक ही बार आया है (क. ८।१०२)। शेष स्थलों में गन्धनाकुली या सर्पगन्धा है। स्मरणीय है कि सर्पगन्धा का उल्लेख चरक में नहीं है। अतः यह अनुमान स्वाभाविक है कि नाकुली के स्थान पर ही सुश्रुत ने 'सर्पगन्धा' का प्रयोग किया है। नाकुली-गन्धनाकुली के विषघ्न एवं रक्षोघ्न प्रयोग हैं। सर्पगन्धा का भी अमानुषोपसर्ग तथा विष में प्रयोग है।

वाग्भट ने इन प्रयोगों के अतिरिक्त शोथ तथा ग्रन्थि में नाकुली का लेप एवं मर्दन बतलाया है। 'सर्पसुगन्धा' गुल्म रोग में प्रयुक्त है।

इनके अतिरिक्त, सुगन्धा एवं सुगन्धिका शब्दों का भी प्रयोग हुआ है जिससे नाकुली या गन्धनाकुली का ग्रहण किया जाता है।

चक्रपाणि ने नाकुली और गन्धनाकुली पर निम्नांकित टिप्पणी की है :—

१. नाकुली चविका, गन्धनाकुली रास्नाभेदः। (च. चि. ३।२६७)

२. नाकुलीद्वयं रास्नाद्वयम्। (च. चि. ९।४६)

३. नाकुली रास्ना। (च. चि. २३।५७, २१२)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

इस प्रकार चक्रपाणि नाकुली से प्रायः रास्ना लेते हैं, एक स्थान पर चविका लिया है।

डल्हण ने निम्नांकित अर्थ किया है :—

१. गन्धनाकुली सुगन्धमूला रास्ना। (सु. क. ६।२२)

२. रास्ना गन्धनाकुली। (सु. क. ८।१०४)

३. गन्धनाकुली सुगन्धा रास्ना। (सु. उ. ३२।७)

नाकुली का प्रयोग एक ही बार हुआ है जिस पर डल्हण ने कोई टिप्पणी नहीं की। सर्पगन्धा को नाकुली (सु. क. ५।८४), सर्पच्छत्रिका (सु. क. ७।२९) तथा 'वर्षासु छत्राकारा' (सु. उ. ६०।४७) कहा है।

अरुणदत्त ने नाकुलीद्वय से सर्पाक्षी और सर्पसुगन्धा लिया है (अ. हृ. उ. ६।३६)। इसी प्रकार सर्पगन्धा एवं सर्पसुगन्धा दोनों का नाकुली अर्थ किया है (अ. हृ. उ. ५।३, चि. १४।१०३)

सुश्रुत ने प्रायः गन्धनाकुली का पाठ सर्पाक्षी के साथ किया है और वाग्भट ने नाकुली के साथ सर्पलोचना का।

निघण्टुओं में भी नाकुलीद्वय से सर्पगन्धा तथा महासुगन्धा का वर्णन किया है।

उपर्युक्त तथ्यों पर विचार करने से निम्नांकित निष्कर्ष प्रस्तुत होते हैं :—

१. सुश्रुत के अनुसार नाकुली सर्पगन्धा है।

२. प्रायः सभी टीकाकार नाकुली और रास्ना को पर्यायवाची मानते हैं।

३. अरुणदत्त के अनुसार सर्पाक्षी और सर्पसुगन्धा नाकुलीद्वय है।

ठा० बलवन्तसिंह ने नाकुली से सर्पगन्धा (Rauwolfia serpentina Benth. ex Kurz.) तथा गन्धनाकुली से ईश्वरी (Aristolochia indica Linn.) का ग्रहण किया है। ईश्वरी (ईश्वरमूल) नाकुली के पर्यायों में निघण्टुओं में मिलता है। सर्पगन्धा को स्थानीय भाषा में 'इसरौल' कहते भी हैं जो 'ईश्वरमूल' का अपभ्रंश है।

अरुणदत्त के अनुसार यदि सर्पसुगन्धा से सर्पगन्धा लें तो सर्पाक्षी से ईश्वरी का ग्रहण किया जायगा।

डल्हण ने दो स्थलों पर सर्पगन्धा का सर्पच्छत्रिका अथ किया है। यह Rauwolfia serpentina न होकर कोई कवक जाति का पौधा है। चरक ने शाकवर्ग में सर्पच्छत्रक को छोड़ कर अन्य छत्रक जाति (Mushroom) के शाक का व्यवहार विहित किया है।

नागकेशर

नागपुष्प, नाग आदि पर्यायों से इसका उल्लेख बृहत्त्रयी में हुआ है। 'केशर' शब्द से भी यह अभिप्रेत है। डल्हण ने 'केशर' से वकुल और नागकेशर दोनों अर्थ

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

लिया है किन्तु मेरे विचार से 'केशर' से नागकेशर और 'केसर' से बकुल का ग्रहण करना चाहिए।

नागकेशर जाति के निम्नांकित तीन वृक्ष हैं, जिनका नागकेशर के समान ही प्रयोग है :—

१. नागकेशर (Mesua ferrea Linn.)
२. पुन्नाग (Calophyllum inophyllum Linn.)
३. सुरपुन्नाग (Mammea longifolia Planch & Triana.)

अतः टीकाकार भी इसमें भ्रान्त हो गये हैं। डल्हण नागपुष्प से नागकेशर लेते हैं किन्तु एकीय मत से नागकेशर के सदृश अन्य वृक्ष का निर्देश करते हैं (जो पुन्नाग या सुरपुन्नाग हो सकता है)। 'पुन्नाग' की व्याख्या में डल्हण ने उपर्युक्त तीनों द्रव्यों का उल्लेख किया है :—

१. तुङ्गः पूर्वदेशे प्रसिद्धः। (सु. क. २।४०)
२. सुरपर्णिका सुगन्धिपुष्पा दक्षिणापथे 'सुरपति' (सुरङ्गी) नाम्ना प्रतीता। (सु. सू. ३८।२४)
३. नागकेशरम्। (सु. सू. ६।२३)

आजकल सुरपुन्नाग (सुरंगी) वृक्ष की कलिकायें नागकेशर के नाम से बाजार में बिकती हैं। लाल नागकेशर के रूप में भी यह प्रसिद्ध है। काला नागकेशर (नट्टु नागकेशर) तेजपत्र (Cinnammum wightii Meism.) वृक्ष की कलिकायें हैं। यह दक्षिण भारत में विशेष प्रचलित है। दक्षिण भारत में इसके अतिरिक्त मलाबार नागकेशर के रूप में Dilienia pentagyna Roxb. के फल प्रचलित हैं[१]।

निचुल–विदुल–वञ्जुल–वेतस–वानीर

निघण्टुओं में ये शब्द वेतस या जलवेतस के पर्याय में आते हैं। डल्हण ने भी इन सबका वेतस या जलवेतस अर्थ किया है। अतः यह विषय विचारणीय है।

निचुल—चरकसंहिता में निचुल विरेचनार्थ (सू. २।१०, चि. १०।२०, १३।१२७), अनुवासनबस्ति में (सि. ४।१३), वर्ण्य (चि. २५।११७) तथा शोथहर (चि. १२।५३) के रूप में प्रयुक्त हुआ है। इसके फलों (बीजों) तथा मूल का प्रयोग है। निचुल के क्षार का कुष्ठ में निर्देश है (चि. ७।८९)।

सुश्रुत ने औत्तरापथिक फलों में निचुल की गणना की है (सू. ४६।१८७)। इसका प्रयोग प्रमेह (चि. ११।१०, १२।५), व्रण (त्वक्–चि. १६।१८), उपदंश में लेप (बीज–चि. १९।२९), विषघ्न (क. ६।३, ८।५०) तथा श्वासरोग (उ. ५१।२३) में है।

---

१. Usman Ali : J. R. I. M., Vol. II, No.-1 (1976)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

वाग्भट ने इसे स्रोतः शोधन (अ. हृ. उ. २।४९), शोथहर (उ. २२।५७) तथा विषघ्न (उ. ३७।८४) के रूप में लिखा है।

चक्रपाणि ने निचुल का अर्थ हिज्जल किया है और विदुल का भी यही अर्थ किया है। इस प्रकार वह निचुल और विदुल को पर्यायवाची मानते हैं। डल्हण ने निचुल का अर्थ कहीं वेतस और कहीं जलवेतस किया है।

सुश्रुत ने निचुल का वञ्जुल के साथ (क. ६।३) तथा वाग्भट ने वेतस के साथ (अ. हृ. उ. ३७।८४) उल्लेख किया है अतः निचुल इन दोनों से भिन्न है। निचुल विदुल से भी भिन्न प्रतीत होता है क्योंकि निचुल रेचन है जबकि विदुल वामक द्रव्यों में पठित है।

सुश्रुत ने स्पष्ट रूप से निचुल का उल्लेख अधोभागहर (विरेचन) के रूप में नहीं किया है। इसके अतिरिक्त, सवर्णीकरण-प्रकरण में चरक ने जहाँ निचुलमूल का प्रयोग किया है (चि. २५।११७) वहाँ सुश्रुत ने विदुलमूल का प्रयोग किया है (चि. १।९६)। इससे सन्देह होता है कि शायद सुश्रुत निचुल और विदुल को एक ही मानते हों और इसी कारण चक्रपाणि ने भी इन दोनों का अर्थ एक ही (हिज्जल) किया। किन्तु सभी तथ्यों पर विचार करने से निचुल और विदुल भिन्न प्रतीत होते हैं।

सुश्रुत ने फलवर्ग में अंकोठ का पाठ न कर निचुल का किया है। वाग्भट ने इस वर्ग में निचुल को हटा कर अंकोल रक्खा है। इससे प्रतीत होता है कि निचुल अंकोल[1] या तज्जातीय कोई अन्य द्रव्य है।

विदुल—विदुल चरक के वमनोपग महाकषाय में पठित है। इसके अतिरिक्त अन्यत्र भी वमनार्थ इसका प्रयोग है (च. वि. ८।१३५, क. १।१४)। इससे यह मुख्य रूप से वामक द्रव्य सिद्ध होता है।

सुश्रुत ने भी इसका ऊर्ध्वभागहर द्रव्यों में पाठ किया है। मदात्यय में वमनार्थ भी इसका प्रयोग है (उ. ४७।२८)।

वाग्भट ने भी वामक द्रव्यों में इसकी गणना की है। इन उद्धरणों से भी विदुल का वामक कर्म सम्पुष्ट होता है।

चक्रपाणि ने विदुल से हिज्जल लिया है जबकि डल्हण ने विदुल से वेतस का ग्रहण किया है। वेतस का प्रायः क्षीरीवृक्षों में उल्लेख है जो शीत एवं छर्दिनिग्रहण है अतः गुणकर्म विपरीत होने से विदुल और वेतस की एकता नहीं हो सकती।

विदुल से हिज्जल (समुद्रफल) का ग्रहण करना चाहिए। यह Barringtonia acutangula Gaertn. है[2]।

---

१. इसका विवरण द्वितीय भाग में देखें।
२. ,, ,, ,, ,, ,, ।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

वञ्जुल–वेतस–वानीर

वञ्जुल वेदनास्थापन महाकषाय में पठित है। वेतस तिक्तस्कन्ध, शीतवीर्य तथा निर्वापण द्रव्यों में निर्दिष्ट है। यह रक्तपित्त, प्रमेह, कुष्ठ, अतिसार (पल्लव), पैत्तिक शोथ, रक्तार्श, विसर्प, तृष्णा, व्रणशोफ तथा वातरक्त की चिकित्सा में विहित है। इससे भी इसके पित्तशामक कर्म की पुष्टि होती है।

चरक में एक स्थल पर वेतस–वानीर (चि. ३।२५८) तथा अन्य स्थलों पर वञ्जुल–वानीर इस युग्म का पाठ हुआ है (क. १।८, सि. १०।२१)। इससे संकेत मिलता है कि निघण्टुओं का 'वेतसद्वय' यही है। चरक के अनुसार वेतस और वञ्जुल पर्याय होते हैं और वानीर इसका दूसरा भेद है जो सम्प्रति जलवेतस के नाम से प्रसिद्ध है। जलवेतस शब्द बृहत्त्रयी में नहीं मिलता। 'वानीर' शब्द भी केवल चरकसंहिता में है। दूसरी बात यह है कि वेतस अनेक स्थलों पर पञ्चक्षीरी-वृक्षों में पठित है (चि. २५।४६, २१।८५)।

सुश्रुत ने भी वञ्जुल का पाठ न्यग्रोधादि गण में किया है जिससे वञ्जुल और वेतस की एकता सिद्ध होती है। सुश्रुत में प्रायः नल के साथ वञ्जुल या वेतस का उल्लेख हुआ है (चि. ५।८, क. ८।१०४, उ. २६।१३, ३९।२०४)। यह भी सिद्ध करता है कि बञ्जुल और वेतस एक हैं। अन्तर यह है कि चरक में इसका युग्म वानीर के साथ बना है जब कि सुश्रुत में समानधर्मी नल के साथ हुआ है।

चक्रपाणि ने वञ्जुल को वेतस तथा वानीर को उसका भेद कहा है[1]। डल्हण ने वञ्जुल को कहीं वेतस[2] और कहीं जलवेतस[3] कहा है।

धन्वन्तरिनिघण्टु में भी वेतस और वञ्जुल पर्यायवाची हैं।

वेतस या वञ्जुल से Salix caprea Linn. तथा वानीर से Salix tetrasperma Roxb.[4] का ग्रहण करना चाहिए।

निर्गुण्डी–सिन्धुवार–हरेणुका–शेफाली

चरकसंहिता में निर्गुण्डी कृमिघ्न महाकषाय में पठित है। इसके अतिरिक्त इसका उल्लेख कृमिचिकित्सा (वि. ७।२१), राजयक्ष्मचिकित्सा (शिरःपार्श्वांश-शूल में प्रलेप—चि. ८।८४), वातव्याचिकित्सा (चि. २८।१३४), विडंगादि तैल (सि. ४।१८) तथा उत्तरबस्ति (सि. ९।५८) में है। वातव्याधि में इसके मूल

१. वेतसः सुगन्धिमूलं, वानीरस्तद्भेदोऽप्यसुगन्धिमूलः। (च. चि. ३।२५८)
वञ्जुलः वेतसः, वानीरस्तद्भेदः। (सि. १०।२१)

२. सु. सू. ३८।४८, चि. ५।८, उ. २६।१३

३. सु. क. ८।१०८

४. इनका विवरण द्वितीय भाग में देखें।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

एवं पत्र के स्वरस से सिद्ध तैल के प्रयोग का विधान है। इन सन्दर्भों से निर्गुण्डी के कृमिघ्न तथा वातघ्न कर्म प्रमुख सिद्ध होते हैं।

सुश्रुत में निर्गुण्डी सुरसादि गण में निर्दिष्ट है। इसके अतिरिक्त अपची में वमन (चि. १८।२१), उत्तरबस्ति (चि. ३७।१२०), बलासग्रथित नेत्ररोग में अञ्जन (उ. ११।११), पूतिकर्ण में पूरणार्थ (उ. २१।५०) तथा कास (उ. ५२।३०) में निर्गुण्डी का प्रयोग है। कास में निर्गुण्डीपत्र स्वरस से सिद्ध घृत विहित है। इस प्रकार सुश्रुत में शालाक्य रोग तथा कास में इसका प्रयोग विशेष है।

वाग्भट ने महावज्र तैल (कुष्ठचिकित्सा—अ. हृ. चि. १९।८१) में इसका पाठ किया है।

सिन्धुवार चरक के विषघ्न महाकषाय में पठित है। विष में प्रलेप (सु.३।२८), वैश्रवण अगद (चि. २३।७९), सर्पविषचिकित्सा (चि. २३।१९५), स्तन्यशोधन (चि. ३०।२७१) में भी इसका निर्देश है।

सुश्रुत में पुष्पशाकों में सिन्धुवार का उल्लेख है। सिन्धुवारपुष्प शीत तथा पित्तशामक कहा गया है। इसके अतिरिक्त तार्क्ष्य अगद (सितसिन्धुवार क. ५।६६) सर्पविषघ्न आगद (क. ५।७७), एकसर गण (क. ५।८४), महासुगन्धि अगद (क. ६।२६), मूषिकविषघ्न योग (क. ७।२१), रेवती (उ. ३१।७), रक्तपित्त में हितकर शाकों (उ. ४५।१६) में इसका निर्देश है।

वाग्भट ने, इनके अतिरिक्त, आमाशयगत विष की चिकित्सा में अन्य द्रव्यों के साथ सिन्दुवार का निर्देश किया है (अ. हृ. सू. ७।२५)।

इन सब सन्दर्भों के आधार पर सिन्धुवार का विषघ्न कर्म प्रमुख सिद्ध होता है। इस प्रकार कर्म की दृष्टि से निर्गुण्डी और सिन्धुवार दो भिन्न द्रव्य प्रतीत होते हैं।

टीकाकारों ने निर्गुण्डी और सिन्धुवार को प्रायः पर्यायवाची माना है और प्रायः नीलपुष्पा को निर्गुण्डी तथा श्वेतपुष्पा को सिन्धुवार कहा है। अनेक सन्दर्भों में 'सिन्धुवार' के आगे 'सित' विशेषण से ऐसा प्रतीत होता है कि सिन्धुवार दो प्रकार का है सित और असित तथा प्रस्तुत सन्दर्भों में सित सन्दर्भ अभिप्रेत है। सम्भवतः ये ही सन्दर्भ सिन्धुवार को निर्गुण्डी की श्वेतपुष्पा जाति कहने के आधार रहे हों। किन्तु यदि निर्गुण्डी को सिन्धुवार से भिन्न माना जाय तो यह मानना होगा कि सिन्धुवार के ही श्वेत और कृष्ण दो भेद होते हैं, निर्गुण्डी के नहीं क्योंकि निर्गुण्डी के साथ सित या असित विशेषण कहीं नहीं मिलता।

प्राचीन काल में इस सम्बन्ध में जो विचार थे उसका उल्लेख किया गया किन्तु आजकल नीलपुष्पा को निर्गुण्डी तथा श्वेतपुष्पा को सिन्धुवार मानते हैं। इस प्रकार सिन्धुनार निर्गुण्डी का ही भेदविशेष हो जाता है। Vitex negundo

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

Linn. में ये दोनों प्रकार होते हैं किन्तु निर्गुण्डी और सिन्धुवार में जो कर्मभेद संहिताओं में कहा गया है वह इनमें है या नहीं परीक्षण के बाद ही कहा जा सकता है। दूसरा विकल्प यह है कि दोनों को Vitex की ही दो प्रजातियाँ मानें या एक को Vitex मान कर दूसरे को कोई अन्य वनस्पति मानें जैसा ठा० बलवन्त सिंह ने किया है किन्तु फिर भी निर्णय गुणकर्मात्मक परीक्षण के बाद ही किया जा सकता है।

हरेणुका

हरेणुका (हरेणु) और रेणुका पर्यायवाची माने गये हैं। आजकल निर्गुण्डीबीज का ग्रहण रेणुका नाम से करते हैं किन्तु संहिताओं के अध्ययन के बाद दूसरा ही चित्र उपस्थित होता है।

सुश्रुतसंहिता के पिप्पल्यादि तया एलादि गणों में हरेणुका का पाठ है। यह ध्यान देने की वात है कि दोनों स्थलों पर हरेणुका एला के साथ पठित है। चरकसंहिता में भी शिरोविरेचनद्रव्यों में एला के साथ हरेणुका है (च. वि. ८।१५१)।

वाग्भट ने एलादि गण में हरेणुका का उल्लेख न कर 'एलायुग्म' पाठ किया है। इसी प्रकार चरकोक्त अगुर्वादि तैल (चि. ३) में हरेणुका और एला का पृथक् पाठ है किन्तु वाग्भट ने वहाँ भी एलाद्वय में इन दोनों का समावेश किया है (चि. १।१३६)। इसी प्रकार कल्याणघृत (च. चि. ८।३५–३६) में कौन्ती (हरेणुका) का पाठ है जिसे वाग्भट ने भद्रैला कर दिया है (अ. हृ. उ. ६।२६)। इससे स्पष्ट है कि वाग्भट हरेणुका से भद्रैला या बृहदेला (बड़ी इलायची) का ग्रहण करते थे। यह Amomum subulatum Roxb. है[1]।

शेफालिका

शेफालिका या शेफाली को निघण्टुओं में निर्गुण्डी का एक भेद कहा है जिससे भ्रम उत्पन्न हो गया है किन्तु संहिता में इसका स्वरूप स्पष्ट है।

सुश्रुतसंहिता में शेफालिका का उल्लेख अनुशस्त्रों में गोज़ी और शाक के साथ हुआ है जिनके पत्र खर होते हैं (सु. सू. ८।१५, १८)। डल्हण ने इसकी व्याख्या में कहा है कि यह 'रक्तवृन्ता शारदकुसुमा' है पत्र और पुष्प इन दोनों के उपर्युक्त लक्षण हरसिंगार या परजाता (Nyctanthes arbor-tristis Linn.) में मिलते हैं[2]। अतः शेफालिका या शेफाली से उसीका ग्रहण करना चाहिए।

---

१. विवरण द्वितीय भाग में देखें।
२. ,, ,, ,,

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

पत्तूर

चरक ने शाकवर्ग (सू. २७।१००) में पत्तूर का शाक लिखा है। यह उष्णवीर्य द्रव्यों में भी पठित है (चि. ३।२६७)। वातज मूत्रकृच्छ्र में इसका प्रयोग पाषाणभेद, पुनर्नवा आदि के साथ है (चि. २६।४६)।

सुश्रुत ने वातसंशमन गण में इसका पाठ किया है (सू. ३९।७)। शाकवर्ग में भी कुरण्टिका आदि के साथ पठित है (सू. ४६।२७४)। इसका प्रयोग अश्मरी (चि. ७।१०), उपदंश (चि. १९।३५), नेत्ररोग (उ. ९।१९, ११।५) तथा कृमिरोग (उ. ५४।२६) में विहित है।

वाग्भट ने पत्तूर को तिक्त, दीपन तथा प्लीहा, अर्श एवं कफवात का शामक कहा है (अ. हृ. सू. ६।१००)। शेष प्रयोग उपर्युक्त ही हैं।

चक्रपाणि ने पत्तूर को शालिञ्च कहा है। डल्हण ने शरबालिका या बृहत्पत्र शरबालिकाभेद लिखा है। शालिञ्च बंगाल में मत्स्याक्षी (Alternanthera sessilis Br.) को कहते हैं। शरबालिका शितिवार (Celosia argentia Linn.) है अतः डल्हण के अनुसार पत्तूर शितिवार का पर्याय या भेद हो सकता है।

ध्यान देने की बात है कि सुश्रुन ने वीरतर्वादि गण में कुरुण्टिका और इन्दीवर का पाठ किया है। ये दोनों शब्द चरक में नहीं हैं। उधर चरक ने 'शितिवारक' का प्रयोग किया है जो सुश्रुत में नहीं है। सुश्रुत में अश्मरी-चिकित्सा में पत्तूर और इन्दीवर का प्रयोग है जबकि चरक में पत्तूर और शितिवारक का है।

कुरुण्टिका से शितिवारक का ग्रहण किया गया है और इन्दीवर उसीका भेद माना गया है। डल्हण ने पत्तूर को शरबालिकाभेद लिखा है इस प्रकार पत्तूर इन्दीवर का पर्याय हो जाता है। चरक के मूत्रकृच्छ्र-प्रकरण में पत्तूर इन्दीवर का प्रतिनिधि है और सुश्रुत ये दोनों पर्यायरूप में व्यवहृत हुए हैं।

पत्तूर एक वातनाशक तथा अश्मरीभेदक द्रव्य होने के कारण वीरतर्वादि गण में स्थान पाने का अधिकारी हैं किन्तु इस शब्द से उल्लेख नहीं होने पर यह अनुमान करना स्वाभाविक है कि इसका कथन शब्दान्तर से हुआ हो। यह शब्द 'इन्दीवर' हो सकता है। इसके अतिरिक्त, सुश्रुत के शाक-प्रकरण में कुरुण्टिका के साथ इन्दीवर नहीं देकर पत्तूर का पाठ किया है। यह भी उपर्युक्त अनुमान को पुष्ट करता है।

इस प्रकार पत्तूर शितिवारकभेद (Celosia argentea var. cristata Voss.) प्रतीत होता है। ठा० बलवन्त सिंह पत्तूर से गोरक्षगञ्जा[1] (Aerva lanata Juss.) का ग्रहण करते हैं।

शितिवारक तथा शितिवारक भेद का परिचय यहाँ दिया जा रहा है।

---

१. इसका विवरण द्वितीय भाग में देखें।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

शितिवारक (Celosia argentia Linn.) Fam. Amaranthaceae

इसका सीधा चिकना वर्षायु क्षुप १–३ फीट ऊंचा होता है। पत्र–रेखाकार या भालाकार, लम्बाग्र, प्रायः १–२ इञ्च लम्बे (कभी-कभी ६ इञ्च तक) होते हैं। पुष्पमंजरी सफेद या गुलाबी चमकदार प्रायः १–२ इञ्च लम्बी (कभी-कभी ८ इञ्च तक), बेलनाकार या भालाकार कभी-कभी शाखायुक्त होती है। कोणपुष्पक तीक्ष्णाग्र बहिर्दलों से बहुत छोटे होते हैं। बीज-छोटे, चमकदार काले रंग के होते हैं। पुष्प–फल अगस्त–दिसम्बर में लगते हैं।

यह समस्त भारत में ४ हजार फीट की ऊंचाई तक पाया जाता है।

शितिवारकभेद (C. argentea Var. cristata Voss.)

पौधा बड़ा एवं शाखायुक्त होता है। इसके पत्ते बड़े कभी-कभी ९ इञ्च लम्बे और ३ इञ्च चौड़े होते हैं। पुष्प छोटे होते हैं। इसकी पुष्पमंजरी गहरे लाल रंग की (कभी-कभी पीतवर्ण), चौड़ी जटा के सदृश होती है। अतः इसे 'जटाधारी' या 'रुद्रजटा' भी कहते हैं।

इन दोनों के बीज का प्रयोग अश्मरी, मूत्रकृच्छ्र तथा कास में होता है।

पद्मा

चरक ने पुरीषसंग्रहणीय महाकषाय, कषायस्कन्ध तथा चन्दनाद्य शीतवीर्य द्रव्यों में पद्मा का पाठ किया है। दिव्य ओषधियों में भी पद्मा है जो कमल के सदृश आकृतिवाली, रक्तवर्ण तथा कमलगन्धि है[1]।

सुश्रुत ने इसका प्रयोग गर्भस्राव, व्रणरोपण, प्रमेह, रक्तातीसार में किया है।

वाग्भट ने प्रियंग्वादि गण में इसका पाठ किया है।

उपर्युक्त उद्धरणों से पद्मा एक सौम्य, कषाय, स्तम्भन ओषधि सिद्ध होती है।

चक्रपाणि ने ब्राह्मणयष्टिका अर्थ किया है। डल्हण ने भी प्रायः भार्ङ्गी अर्थ किया है, केवल एक स्थल (सु. का. १०।६०) पर पद्मचारिणी लिया है किन्तु यहाँ भी एकीय मत से भार्ङ्गी का उल्लेख किया है। अरुणदत्त ने पद्मचारिणी लिया है।

धन्वन्तरिनिघण्टु में पद्मा पद्मचारिणी, फञ्जिका, भार्गी तथा मञ्जिष्ठा का पर्याय है।

टीकाकारों ने भार्ङ्गी से इसका सम्बन्ध कैसे स्थापित किया यह बुद्धिगम्य नहीं होता क्योंकि पद्मा शीत है जबकि भार्ङ्गी उष्णवीर्य है और श्वासरोग में बहुशः प्रयुक्त है। यह सम्भव है कि वास्तविक पद्मा की दुर्लभता के कारण उसके अभाव ये भार्ङ्गी की किसी जाति का प्रयोग प्रचलित हुआ हो। तथापि गुणकर्मभेद के आधार पर दोनों की भिन्नता स्पष्ट है।

---

१. पद्मा नामौषधिः पद्माकारा पद्मरक्ता पद्मगन्धा च। (च. चि. १।४।७)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कुछ टीकाकारों ने जो पद्मा से पद्मचारिणी का ग्रहण किया है वह मेरी दृष्टि में उपयुक्त हैं। इसके अतिरिक्त, भार्ङ्गी के साथ विवेचित फञ्जी भी पद्मा का ही नाम है। इस प्रकार चारटी, पद्मचारिणी, पद्मा, फञ्जी ये चारों पर्यायवाची हो जाते हैं।

पर्णास

पर्णास केवल चरकसंहिता में मिलता है। यह प्रायः सर्वत्र सुरसादि गण के अन्य द्रव्यों—सुमुख, सुरस, कुठेरक, गण्डीर, कालमालक, क्षवक और फणिज्जक—के साथ पठित है। चक्रपाणि ने इनके सम्बन्ध में लिखा है कि 'सुमुखादयः फणिज्जकान्ताः पर्णासभेदाः' अर्थात् सुमुख से लेकर फणिज्जक तक सब पर्णास के भेद हैं (च. नि. २।४, वि. ८।१५१)।

चरकसंहिता में अधिकांश 'सुरस' शब्द प्रयुक्त है जबकि सुश्रुतसंहिता में प्रायः 'सुरसा' शब्द आया है। सुरसादि गण में सुरसा और श्वेतसुरसा दो द्रव्य हैं। सुरसा कृष्णतुलसी तथा श्वेतसुरसा श्वेततुलसी है। चरक में सुरस के साथ 'पर्णास' का पाठ है अतः पर्णास सुरस से भिन्न है किन्तु सुरसा के साथ यह कहीं नहीं मिलता। सुश्रुत ने भी सुरसादि गण में पर्णास नहीं दिया। ऐसा प्रतीत होता है कि चरक-काल में पर्णास तुलसी (सुरसा) का प्रचलित नाम हो अतः चरकसंहिता में इसका प्रयोग प्रचुर मिलता है। इसी कारण चक्रपाणि ने तुलसी-कुल के इन सभी पौधों को 'पर्णासभेद' कहा। अमरकोष में कुठिञ्जर और कुठेरक के लिए पर्णास पर्याय दिया है किन्तु चरक में कुठेरक के साथ पठित होने से पर्णास कुठेरक नहीं है। कुठिञ्जर विचारणीय है। अर्जक को श्वेत पर्णास कहा है।

मेरे विचार से पर्णास से सुरसा (Ocimum sanctum Linn.) का ग्रहण करना चाहिए।

पर्पट

पर्पट चरकसंहिता के तृष्णानिग्रहण महाकषाय, तिक्तशाक आदि में पठित हैं। यह अत्युपयोगी द्रव्य है किन्तु सन्दिग्ध हो जाने के कारण अब इसका प्रयोग कम हो गया है।

सम्प्रति पर्पट नाम से निम्नांकित द्रव्य लिये जाते हैं :—

१. Fumaria vaillantii Loisel.
२. Oldenlandia corymbosa Linn.
३. Mollugo oppositaefolia Linn.
४. Polycarpaea corymbeosa Linn.
५. Rungia repens Nees.
६. Glossocardia bosvallia DC.
७. Justicia procumbens Linn.

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

इनमें प्रथम द्रव्य को प्रायः वैद्यों एवं हकीमों ने अपनाया है।

यह पैत्तिक विकारों के लिए उत्तम औषध है। शास्त्र में निर्धारित स्वरूप तथा गुणधर्म की दृष्टि से इस पर अनुसन्धान कर वास्तविक पर्पट का निर्णय करना चाहिए।

पर्पटकी–पर्पोटिका

चरकसंहिता के फलवर्ग (सू. २७।१६२) में पर्पटकी फल का वर्णन है। वहाँ पर्पटकीफल वातल तथा कफपित्तशामक कहा गया है। इसके अतिरिक्त, इसका उल्लेख न तो अन्यत्र कहीं चरकसंहिता में और न सुश्रुत तथा वाग्भट में मिलता है। चक्रपाणि ने भी इस पर कोई टिप्पणी नहीं की।

पर्पोटिका का वर्णन सोढल ने अपने निघण्टु में लक्ष्मणादि वर्ग में किया है। नामसंग्रह में रक्तहन्त्री, फलाम्ला और ज्वरकारिणी इसके पर्याय दिये गये हैं (श्लो. ६६४), प्रारम्भिक द्रव्यावली-प्रकरण में इसका प्रयोग रक्तपित्त और ज्वर में बताया है (श्लो. ७३)। पुनः दूसरे स्थल पर इसे रक्तविद्रावणी कहा गया है तथा इसके फल को पित्तश्लेष्मल एवं ज्वरकारी कहा है (श्लो. ५७१)।

केवल दोषों पर इनके फलों के प्रभाव की तुलना करें तो पर्पटकी तथा पर्पोटिका दोनों एक दूसरे से भिन्न प्रतीत होते हैं। पर्पटकी कफपित्तशामक है जबकि पर्पोटिका कफपित्तवर्धक है। इससे क्रमशः इसके कषायतिक्त एवं मधुराम्ल रसों का संकेत मिलता है।

विचार करने पर पर्पटकी Gardenia latifolia Ait. तथा पर्पोटिका Physalis minima Linn. प्रतीत होती है। इनका परिचयात्मक बिवरण यहाँ दिया जा रहा है।

पर्पटकी

ले. नाम—Gardenia latifolia Ait.

हि०—पापड़ा, मार.—थोगरो, उड़िया—दमकुर्दु।

स्वरूप—इसका छोटा सुन्दर वृक्ष होता है। यह कभी-कभी वाताशी (Epiphyte) भी होता है। इसकी छाल धूसर वर्ण की छोटे-छोटे पतले पर्तों के छूटती रहती हैं अतएव इसका नाम पापड़ा पड़ा है। काण्ड–१२-१४ फीट ऊँचा तथा २-४ फीट मोटा होता है। पत्र–बड़े, कभी-कभी १५ इञ्च तक लम्बे और ६ इञ्च तक चौड़े, अण्डाकार या लट्वाकार, शाखाओं के अग्रभाग पर समूहबद्ध होते हैं। पुष्प–बड़े, पीताभ, ३–४ इञ्च व्यास के, सुगन्धित होते हैं। बहिर्दल–विषम तथा रोमों में परिणत होते हैं। अन्तर्दल-नलिका २–५ इञ्च लम्बी, फनेल के आकार की, रोमश तथा ५–९ खण्डों में विभक्त होती है। परागकोष प्रायः बहिर्निर्गत होते हैं

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

फल—गोलाकार, १—२ इञ्च व्यास के, रोमश होते हैं। मार्च—अप्रिल में इसकी पत्तियाँ झड़ जाती हैं। नई पत्तियाँ निकलने के साथ इसमें फूल लगते हैं। फल—दिसम्बर से जून तक पाये जाते हैं। फल प्रायः ८ महीनों लगभग बरसात में पकते हैं।

इसके फल खाये जाते हैं तथा लकड़ी से कंघी, हलके बक्से आदि बनते हैं।

यह शुष्क एवं पथरीले जंगलों में समस्त भारत में पाया जाता है। कभी-कभी यह दूसरे वृक्षों पर भी उग जाता है। प्रायः इसके वीज चट्टानों की दरारों के बीच से उग जाते हैं।

पर्पोटिका

यह वही द्रव्य है जिसका डल्हण ने चिरपोटिका के नाम से चित्रण किया है—'गौरवर्त्तुलावगुण्ठितफला चिरपोटिका इति प्रसिद्धा' (सु. सू. ३८।६)। गुजरात में इसे पर्पोटो या पोपटो कहते भी हैं। सोढल ने गुजराती होने के कारण स्वभावतः इसका वर्णन इसी नाम से किया।

ले० नाम—Physalis minima Linn.

Fam.—Solanaceae.

हि० तुलतीपतो, बं०—बनतिपरिया, मार चिरबोटो, गु०—पर्पोटो, पोपटो।

स्वरूप—यह एक वर्षायु कोमल क्षुप, १५—३० सें. मी. ऊँचा, रोमश होता है। पत्र—लट्वाकार, दन्तुर या खण्डित, लम्बाग्र, ·७ से २·५ इञ्च लम्बे होते हैं। पुष्प—एकाकी, पीतवर्ण, ·२—·२५ इञ्च लम्बे—चौड़े, अन्तर्दल के मूल पर भीतर की ओर प्रायः छोटे धब्बे होते हैं। फल ८—१२ मि. मि. व्यास के, गोल, हरे, अनेक बीजयुक्त होते हैं। फल—बहिर्दल के बढ़े हुए झिल्लीदार आवरण में अवगुण्ठित रहते हैं। अवरण पर ५ या १० रेखायें या कोण होते हैं। फल खाये जाते हैं। पुष्प और फल अगस्त से दिसम्बर तक आते हैं।

यह प्रायः भारत में सर्वत्र ७ हजार फीट की ऊँचाई तक होते हैं।

रसभरी (Physalis peruviana Linn.) महाराष्ट्र में चिरबोटी के नाम से तथा गुजरात में मोटी पोपटी के नाम से व्यवहृत होती है। किन्तु यह मूलतः अमेरिका का निवासी पौधा है जो भारत में पुर्त्तगालियों द्वारा १६वीं शती में प्रविष्ट हुआ। अतएव सोढल (१२वीं शती) द्वारा वर्णित पर्पोटी यह नहीं हो सकती। संभवतः इसी कारण मूल पर्पोटी से भेद करने के लिए गुजरात में इसे मोटी पोपटी कहने लगे। अतः रसभरी को पर्पोटिकाभेद करके ग्रहण किया जा सकता है।

पर्वणी—पर्वपुष्पी

ये चरकसंहिता के शाकवर्ग में हैं। इनका शाक वातपित्तहर कहा गया है

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

(च. सू. २७।१०८)। चक्रपाणि ने पर्वणी को पर्वशाक और पर्वपुष्पी को कुक्कुटी लिखा है।

ये Polygonum sp. प्रतीत होती हैं जिनमें पर्व स्पष्ट होते हैं।

पाटली–कुबेराक्षी–मुष्कक

चरकसंहिता में 'पाटलि' पाटला के पर्याय रूप में व्यवहृत हुआ है। इसका प्रमाण यह है कि दशमूल में पाटला के लिए 'पाटलि' शब्द का प्रयोग किया गया है (च. चि. १।१।६२; सि. १०।१९)। वाग्भट ने भी सुश्रुतोक्त आरग्वधादि गण में पठित पाटला को पाटलि के रूप में कहा है (अ. हृ. सू. १५।१७)। इससे स्पष्ट है कि वह भी दोनों को पर्याय ही मानते थे। क्षारप्रकरण में भी पाटलि से मुष्कक लेने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि पाटला के क्षार का भी बहुशः प्रयोग हुआ है तथा क्षारवृक्षों में इसका भी उल्लेख है (सु. सू. १०।११, उ. ५८,४६)।

वाग्भट ने 'कृष्णपाटलि' का उल्लेख किया है अ. हृ. उ. ५।४२)। इससे यह संकेत मिलता है कि पाटलि (पाटला) के श्वेत और कृष्ण दो भेद किये गये थे, कम से कम वाग्भट-काल में ये प्रचलित थे। परवर्त्ती निघण्टुकारों ने भी सित-पाटला का वर्णन किया है जिसे काष्ठपाटला या कुबेराक्षी भी कहा है। कुबेराक्षी का उल्लेख केवल सुश्रुतसंहिता में मिलता है (सू. ३९।७, उ. ३५।३)। डल्हण ने इसका अर्थ काष्ठपाटला और एकीय मत से पेटिका किया है।

'पाटला' से सामान्यतः कृष्णपाटला का ग्रहण होता है जिसके पुष्प श्यामाभ बैंगनी रंग के होते हैं। यह Stereospermum suaveolens DC. (Fam. Bignoniaceae.) है[१]। श्वेतपाटला (काष्ठपाटला या कुबेराक्षी) Radermachera xylocarpa (Roxb.) K. Schum. (Fam. Bignoniaceae.) है। इसके पुष्प श्वेतवर्ण तथा फल काष्ठवत् , बीज कुबेराक्षवत् (?) होते हैं।

मुष्कक को घण्टापाटल कहा है[२]। इसके फल मुष्कवत् या घण्टावत् प्रलम्बित होते हैं अतः ये संज्ञायें सार्थक हैं। पाटलि के समान मुष्कक से भी सामान्यतः कृष्णमुष्कक का बोध होता है,[३] अन्य भेद के लिए स्पष्टतः 'श्वेतमुष्कक' का प्रयोग हुआ है[४]। पुष्पभेद से मुष्कक दो प्रकार का है—श्वेत और कृष्ण। ठा० वलवन्त सिंह ने इनका निर्धारण निम्नांकित रूप में किया है :—

कृष्णमुष्कक—Elaeodendron glaucum Pers. (Fam. celastraceae.)

१. इसका वर्णन द्वितीय भाग में देखें।
२. मुष्ककं घण्टापाटलकम्। चक्र. (चि. चि. १५।१८९)
३. मुष्ककः कृष्णपुष्पमुष्ककः। ड. (सु. चि. ४।३०, क. १।७१)
४. सु. चि. ४।३२

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

श्वेतमुष्कक—Schrebera swietenioides Roxb. (Fam. oleaceae.)!

कुबेराक्षी, श्वेतपाटला या काष्ठपाटला (Radermachera xylocarpa)

इसका संग्रह हमने अमरकण्टक के जंगलों से किया था। वहाँ इसे 'गरुड़फल' कहते हैं। सम्भवतः विषघ्न प्रयोग होने से यह संज्ञा प्रचलित हुई। कहीं इसे 'पाड़ल' या 'जयमंगल' भी कहते हैं।

इसका वृक्ष मध्यम प्रमाण का ४० फीट ऊँचा और ७–८ फीट मोटा होता है। छाल भूरे रंग की पर्त्तयुक्त होती है। पत्तियाँ १ मीटर या अधिक लम्बी द्वि-त्रिपक्ष-वत्, पक्षक अण्डाकार या लट्वाकार, २–३ इञ्च लम्बे होते हैं। पुष्प–बड़े, सुगन्धित, श्वेतवर्ण, पीत या गुलाबी आभा लिए सघन मञ्जरियों में होते हैं। फल–बेलनाकार, काष्ठीय, स्पष्ट ग्रन्थियुक्त, कुछ मुड़ा हुआ, ३ फीट तक लम्बा और १$\frac{1}{4}$ इञ्च चौड़ा होता है। बीज लगभग १$\frac{1}{2}$ इञ्च लम्बे, सपक्ष होते हैं। मार्च–मई में जब वृक्ष निष्पत्र रहता है तब पुष्प लगते हैं और फल उसके बाद अप्रिल या मई में लगते हैं।

इसकी छाल पाटला के प्रतिनिधि रूप में व्यवहृत होती है।

यह मध्यप्रदेश, गुजरात, बिहार, उड़ीसा तथा दक्षिण भारत में ५ हजार फीट की ऊँचाई तक पाया जाता है।

मुष्कक (कृष्णमुष्कक)—(Elaeodendron glaucum.)

इसे मोरवा या रतनगरूर कहते हैं। इसका मध्यमप्रमाण वृक्ष होता है। छाल–धूसर या कृष्णाभ होती है। पत्र–अभिमुख, अण्डाकार, चर्मवत्, दन्तुर प्रायः ५ इञ्च लम्बे, २$\frac{1}{2}$ इञ्च चौड़े होते हैं। पुष्प–पीताभ, भूरे रंग के, पार्श्विक द्विधा-विभक्त मञ्जरियों में लगते हैं। फल–शुष्क, लम्बगोल या अभिलट्वाकार, $\frac{1}{2}$ इञ्च लम्बे होते हैं जो प्रायः वर्ष भर दिखाई पड़ते हैं।

काण्ड में क्षत करने पर प्रभूत जलीय स्राव निकलता है।

यह प्रायः समस्त भारत में ६ हजार फीट की ऊँचाई तक पाया जाता है।

श्वेतमुष्कक—(Schrebera swietenioides.)

इसे घण्ट, एकसिरा या मोखा कहते हैं। इसका पर्णपाती वृक्ष ६०–७० फीट ऊँचा होता है। छाल मोटी धूसर या भूरे रंग की, कुछ रुखड़ी, काष्ठीय पर्त्तें छूटती हुई होती हैं। पत्र–विषमपक्षवत् ९–१५ इञ्च लम्बे, पत्रक–लट्वाकार, लट्वाकार–भालाकार या आयताकार संख्या में ५ से ९ होते हैं। पुष्प–श्वेतवर्ण, भूरे धब्बों से युक्त, सुगन्धित; अन्त्य मञ्जरियों में होते हैं। फल–काष्ठीय, मुष्कवत् लटकते हुए, २–३ इञ्च लम्बे होते हैं जिनमें २–८, पक्षयुक्त, कोणीय, बड़े बीज प्रत्येक कोष्ठ में होते हैं। फरवरी–मार्च में इसके पत्ते झड़ जाते हैं। मई–जून में नये पल्लवों के साथ पुष्प निकलते हैं। फल–अक्टूबर से मार्च तक रहते हैं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

यह हिमालय प्रदेश, राजस्थान, बिहार, बंगाल तथा दक्षिण भारत में ४ हजार फीट की ऊँचाई तक होता है।

क्षारयुक्त होते के कारण मुष्कक को क्षारवृक्ष, क्षारश्रेष्ठ आदि पर्याय दिये गये हैं।

पाठाद्वय

चरकसंहिता (चि. १८।३९) में 'पाठे द्वे' आया है जिससे पाठाद्वय का संकेत मिलता है। चक्रपाणि लिखते हैं :—

"द्वे पाठे इत्यनेन स्वल्पपत्रां द्वितीयां पाठां ग्राहयन्ति।"

अर्थात् दो पाठा में एक बड़ी पत्ती वाली और दूसरी छोटी पत्ती वाली होती है। इससे यह भी संकेत मिलता है कि प्रथम पाठा बड़ी पत्ती वाली है और इसी का विशेष व्यवहार होता हैं। डल्हण इससे 'अविद्धकरणी 'पाढ़' इति लोके' लेते हैं। पाढ़ Cissampelos pareira Linn. है। इसीका ग्रहण पाठा से आजकल करते हैं।

दूसरी जाति Cyclea arnotii Miers. या Stephania glabra Miers (या Stephania japonica Miers.) हो सकती है। इनकी पत्तियाँ तथा कन्द बड़े होते हैं।

पारावत–पालेवत

पारावत का उल्लेख चरक और सुश्रुत में उपलब्ध हैं। दोनों के फलवर्ग में इसका वर्णन दिया हैं जिसमें इसके स्वाद और गुणकर्म का विवरण है। इससे स्पष्ट होता है कि यह उस काल में एक प्रचलित फल था। चरक के अम्लस्कन्ध में इसका पाठ नहीं हैं किन्तु अन्यत्र (सू. २६।८४) अम्लफलों के साथ परिगणित है। पुनः फलवर्ग (सू. २७।१३४) में इसका वर्णन इस प्रकार किया है :—

'द्विविधं शीतमुष्णं च मधुरं चाम्लमेव च।
गुरु पारावतं ज्ञेयमरुच्यत्यग्निनाशनम्॥'

अर्थात्—मधुर पारावत शीतवीर्य और अम्ल पारावत उष्णवीर्य होता है। यह गुरु तथा अरुचि और अत्यग्नि का नाशक है। सुश्रुत ने इसका परिगणन अम्लवर्ग (सू. ४२।११) में और पुनः फलवर्ग (सू. ४६।१३९, १५८) में किया है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि यह मुख्यतः अम्लरस द्रव्य है। चरक के कथनानुसार यह अम्ल है किन्तु पकने पर इसमें माधुर्य आ जाता है। सुश्रुतसंहिता में इसके गुणकर्म इस प्रकार मिलते हैं :—

'पारावतं सुमधुरं रुच्यमत्यग्निवातनुत्।'

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

अर्थात्—पारावत मधुरतायुक्त, रुचिकर, अत्यग्नि और वात का शामक होता है।

इससे यह भी स्पष्ट है कि फल में पकने पर कुछ माधुर्य आ जाता है।

अष्टांगसंग्रह (सू. ७।२०१) में पारावत का वर्णन चरकानुसारी है।

अष्टांगहृदय (सू, १०।२६) में पालेवत नाम से इसका पाठ अम्ल द्रव्यों के साथ है। चक्रपाणि ने इसे कामरूप में प्रसिद्ध बतलाया है (पारावतः कामरूपप्रसिद्धः—च. सू. २७।१३४)। डल्हण ने इसे कामरूप का मधुराम्लरस फल कहा है (पारावतः कामरूपे मधुराम्लरसफलं—(सु. सू. ४२।११)। पुनः कहा कि यह पाकावस्था में धवललोहित और मधुराम्ल हो जाता है (पारावतः कामरूपे फलं पाककाले धवललोहितं मधुराम्लं च—सु. सू. ४६।१३९)। इससे यह अर्थ निकलता है कि कच्ची अवस्था में यह हरा और अम्ल होता है।

इससे ज्ञात होता है कि यह आसाम आदि पूर्वोत्तर क्षेत्रों में होता है अतः स्वभावतः इसका व्यवहार उन्हीं प्रदेशों में अधिक होता रहा।

अरुणदत्त ने 'पालेवतं रैवतकाख्यं, द्विधा मधुरमम्लञ्च' लिखा है (अ.हृ.६।१३४)

पारावत के लिए 'पालेवत' शब्द तो वाग्भट ने दिया ही, परवर्त्ती ग्रन्थों में 'आरेवत' शब्द भी इसके पर्यायरूप में प्रयुक्त हुआ है। हेमचन्द्र ने निघण्टुशेष में आरेवत और कृतमाल पारावत के पर्याय कहे गये हैं। धन्वन्तरिनिघण्टु में आरेवत आरग्वध और प्रालेवत का पर्याय कहा गया है। इससे यह पता चलता है कि पारावत के कुछ पर्याय आरग्वध में चले गये हैं यथा आरेवत कृतमाल इनमें आरेवत मुख्य है। प्रश्न है कि पारावत और आरेवत में क्या सादृश्य है? दो प्रकार के इसके समाधान विचार में आते हैं—एक ध्वन्यात्मक और दूसरा निर्वचनात्मक। भाषाविज्ञान की दृष्टि से 'पारावत' शब्द क्रमशः 'आरेवत' में इस प्रकार परिणत हुआ होगा :—

पारावत—>पारे(ले)वत—>आरेवत। अब 'पारावत' पद की निरुक्ति पर विचार करें। अमरकोष की व्याख्या में भानुजी दीक्षित ने 'परं जीवमवति' यह निरुक्ति दी है किन्तु मेरी दृष्टि से दो प्रकार से इसकी अर्थमूलक निरुक्ति की जा सकती है :—

१. 'पार्वत' शब्द से भी लोक में उच्चारणसौविध्य से 'पारावत' निष्पन्न हो सकता है। इसका अर्थ होगा 'पार्वत्य प्रदेशों में होने वाला'। 'रैवतक' भी एक प्रसिद्ध पर्वत है अतः इसी आधार पर 'रैवतक' या 'आरेवत' शब्द इसके लिए प्रचलित हुआ होगा। पारावत के प्रसंग में पार्वत्यवाचक ही हैं।
२. वाचस्पत्यम् में 'पारे पतति' से 'पारावत' बनाया है। इससे दूर देश में इसके होने की सूचना मिलती है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

३. पारावत का दूसरा अर्थ होता है 'कपोत'। हेमचन्द्र ने निघण्टुशेष में लिखा है कि इसके फल कपोताण्ड के सदृश होते हैं। इस आधार पर इसकी निरुक्ति का संकेत मिलता है।

इन निरुक्तियों से पारावत के उद्भवस्थल तथा फल की आकृति का पता चलता है। चक्रपाणि और डल्हण की व्याख्याओं से यह भी पता चलता है कि कामरूप (आसाम) के पार्वत्य अञ्चल में यह होता है।

स्वरूप-परिचय—धन्वन्तरिनिघण्टु, सोढलनिघण्टु तथा राजनिघण्टु ने पारावत का वर्णन आम्रादि वर्ग में किया है अतः यह आम्र आदि के समान बड़ा वृक्ष है। धन्वन्तरिनिघण्टु ने लिखा है कि इसके पुष्प श्वेत तथा फल तिन्दुकाकृति होते हैं। डल्हण ने जैसा लिखा है, इसके फल मधुर-अम्ल तथा पकने पर किंचित् रक्ताभ होते हैं। निघण्टुओं में पारावत या पारेवत दो प्रकार का बतलाया गया है—पारावत और महापारावत। राजनिघण्टु में महापालेवत को स्वर्णपारेवत, रक्तपारेवत और द्वीपज भी कहा है। इससे पता चलता है कि इसके फल का वर्ण सुनहला (पीताभ) या रक्ताभ होता है तथा भारत के अतिरिक्त अन्य द्वीपों में भी यह होता है।

मधुर फल शीतवीर्य और अम्ल फल उष्णवीर्य कहा गया है। इसका फल गुरु होता है तथा गुरुपाकी होने के कारण अत्यग्नि का शमन करता है। निघण्टुओं का वर्णन इस प्रकार है :—

धन्वन्तरिनिघण्टु—पालेवतं रैवतकं ज्ञेयमारेवतं तथा।
महापालेवतं चोक्तं रक्तपालेवतं तथा॥
पालेवतं सितं पुष्पैस्तिन्दुकाभफलं यतम्।
अन्यन् माणवकं ज्ञेयं महापालेवतं तथा॥
पालेवतं तु मधुरं स्निग्धं हृद्यं समीरजित्।

निघण्टुशेष—'पारावते तु साराम्लः कृतमालः परावतः।
आरेवतः सारफलः महापारावतो महान्॥
कपोताण्डतुल्यफल :—वृक्षकाण्ड, १४०–१४१

राजनिघण्टु—पारेवतं तु रैवतमारेवतकं च किं च रैवतकम्।
मधुफलममृतफलाख्यं पारेवतकं च ससाह्वम्॥
पारेवतं तु मधुरं कृमिवातहारि
वृष्यं तृषाज्वरविदाहहरं च हृद्यम्।
मूर्च्छाभ्रमश्रमविशोषविनाशकारि
स्निग्धं च रुच्यमुदितं बहुवीर्यदायि॥

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

महापारेवतं चान्यत् स्वर्णपारेवतं तथा ।
साम्राणिजं खारिकं च रक्तरैवतकं च तत् ॥
बृहत् पारेवतं प्रोक्तं द्वीपजं द्वीपखर्जुरी ।

सोढलनिघण्टु—पारेवते रैवतकं ज्ञेयमारेवतं तथा ।
महारैवतकं चैव रसनास्रावकं मतम् ॥
पालेवतं द्विधा प्रोक्तं मधुरं चाम्लमेव च ।
शीतमुष्णं रुचिकरमत्यग्निशमनं गुरु ॥

निघण्टुओं के अतिरिक्त कोषों के सर्वेक्षण से पता चलता है कि अमरकोष में पारावत नहीं है और आरेवत आरग्वध का पर्याय है । मध्यकालीन कोषों हलायुध, वैजयन्ती, मंख—में यही स्थिति है । मंखकोष में तो न आरेवत है और न पारावत ।

विमर्श—यद्यपि संहिताओं में पारावत का स्पष्ट वर्णन है और परवर्त्ती निघण्टुओं में भी इसका उल्लेख मिलता है तथापि यह द्रव्य शनैः-शनैः प्रयोग से छूटता गया और अज्ञात हो गया । चक्रपाणि और डल्हण के वर्णनों से ज्ञात होता है कि ११-१२ वीं शती में इसका परिचय स्पष्ट था और कामरूपक्षेत्र (आसाम) में यह सामान्यतः व्यवहृत था । इसी आधार पर निघण्टुओं ने इसका विस्तृत वर्णन किया होगा ।

मेदिनीकोष ने 'पारावत' शब्द का कलरव (कबूतर) और मर्कटतिन्दुक (मकरतेंदू) के अर्थ में प्रयोग किया है ।

'पारावतः कलरवे तथा मर्कटतिन्दुके ।' —तान्तवर्ग, श्लो. २१४

शिवकोष में भी यह कपितिन्दुक तथा जम्बीर के अर्थ में लिया गया है :—

'पारावती श्यामले ना जम्भीले कपितिन्दुके ।' —श्लो. ५१६

इन वर्णनों से ऐसा अनुमान होता है कि मध्यकाल में जब पारावत प्रयोग से छूट गया तो उससे जम्बीर और मर्कटतिन्दुक लिये जाने लगे । इसका आधार सम्भवतः यह रहा होगा कि पारावत अम्लवर्ग का फल है अतः इसका प्रतिनिधि जम्बीर तथा इसका फल तिन्दुकाभ कहा गया है अतः इससे मर्कटतिन्दुक लिया जाने लगा । यह कहना कठिन है कि धन्वन्तरिनिघण्टु जब इसे 'तिन्दुकाभफल' लिखता है तो उसकी दृष्टि में मर्कटतिन्दुक था या अन्य कोई द्रव्य ?

इसके उद्भवस्थल (कामरूप) को देखते हुए दो द्रव्यों की ओर ध्यान जाता है । एक गार्सिनिआ कोआ (Garcinia cowa) नामक वृक्ष तथा दूसरा रुद्राक्ष (Elaeocarpus sp.) । रुद्राक्ष का संकेत मिलने का कारण यह है कि अभिधानरत्नमाला में पारावत, रुद्राक्ष और ऐरावत पर्यायवाची कहे गये हैं :—

'पारावतं तु रुद्राक्षमैरावतमुदीरितम् ।'

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

किन्तु निघण्टुशेष तथा राजनिघण्टु में पारावत और रुद्राक्ष दोनों का पृथक् वर्णन होने से दो भिन्न द्रव्य हैं। संहिताओं में ऐरावत भी पारावत से पृथक् पठित है।

मेरी समझ से, पारावत के उद्भवस्थान, वृक्षस्वरूप, फलाकृतिवर्ण आदि के आधार पर यह गार्सिनिया कोआ (Garcinia cowa Roxb.) नामक वृक्ष है। यह स्मरणीय है कि अम्लवर्ण के फलों में वृक्षाम्ल तथा अम्लवेतस भी गार्सिनिया जाति के हैं।

अब सम्यक् परिज्ञान के लिए गार्सिनिआ कोआ का वानस्पतिक विवरण देखना चाहिए।

Garcinia cowa Roxb.

असमिया भाषा में इसे कउगाछ, कउठेकरा तथा कुजीठेकरा कहते हैं। यह मध्यमपरिमाण वृक्ष लगभग ४० फीट तक ऊंचा होता है। इसका शीर्षभाग अण्डाकार तथा वृक्ष गहरी हरी पत्तियों से आच्छादित होता है। छाल–बाहर की ओर भूरे रग की तथा भीतर रक्तवर्ग होती है। इससे पीले रंग का निर्यास निकलता है। पत्तियां—२–७ इञ्च लम्बी और १–३ इञ्च चौड़ी, अण्डाकार-भालाकार, लम्बाग्र, मांसल होती हैं। पत्र–सिरायें, स्पष्ट, लगभग १२ की संख्या में दोनों ओर किनारे की ओर मिलती हुई होती है। पत्रवृन्त–·२५–·६ लम्बा होता है। पुष्प द्विलिंगी, पीतवर्ण होते हैं। पुंपुष्प—·२–·३ इञ्च व्यास के सघन अक्षीय या शाखाग्र गुच्छों में होते हैं। पुष्पदण्ड–·३५ इञ्च लम्बा दृढ़ होता है। बहिर्दल—·१५–·२५ इञ्च चौड़े, लट्वाकार या उपवृत्ताकार, विषम हलके पीले रंग के होते हैं। अन्तर्दल—इससे लगभग दूने आयताकार तथा कपिश लोहित वर्ण के होते हैं। परागकोष चतुष्कोष्ठी होते हैं। स्त्रीपुष्प-पुंपुष्प से बड़े, शाखाग्रोद्भूत, एकाकी या ३–५ एक साथ होते हैं। कुक्षि ६–८ गोलदन्तुर खण्डो में विभक्त होता है। फल–लगभग २ इञ्च व्यास के, गोलाकार, अग्रभाग किंचित् नुकीला और टेढ़ा, बाहर धवललोहित तथा भीतर नारंगी रंग के (पक्वावस्था में) प्रत्येक फल में ४–८ बीज होते हैं। फल पर स्थायी कुक्षिवृन्त लगा रहता है।

यह समस्त आसाम में होता है। खासिया पहाड़ियों पर ३ हजार फीट की ऊँचाई तक पाया जाता है। इसमें मार्च–अप्रिल में पुष्प तथा जून-अगस्त में फल लगते हैं।

इसके खट्टे फल खाये जाते हैं तथा इसकी खटाई धूप में सुखा कर रखते हैं जिनका प्रयोग ग्रामीण लोग प्रवाहिका में करते हैं।

यह अण्डमन द्वीप में भी प्रचुरता से पाया जाता है। अत एव 'द्वीपज', 'द्वीपखर्जुरी' आदि इसके पर्याय सार्थक हैं।

Garcinia xanthochymous Hook f. को आसाम में डेफल कहते हैं और उत्कल में सतम्बा या कुली थैकल कहा जाता है। पुरी आयुर्वेदिक कालेज के

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

उद्यान में इसका एक वृक्ष लगा है। वहाँ से लाकर मैंने अपने यहाँ उद्यान में लगाया है। इसका प्रयोग वहाँ आम की तरह होता है। फल देखने में आम के ही समान होता है और वहाँ के लोग इसे आम का ही एक भेद जानते हैं। इसका फल पकने पर स्वर्णाभ पीला हो जाता है। राजनिघण्टु का स्वर्णरैवतक सम्भवतः यही हो। पालेवत और महापालेवत यह भेद इन्हीं वृक्षों में से फल की आकृति के आधार पर किया गया होगा।

निष्कर्ष

पारावत भारत का एक प्राचीन फल है। यह Garcinia cowa Roxb. है जो आसाम आदि पूर्वी क्षेत्र तथा अण्डमन द्वीप में होता है।

पारावतपदी

अमरकोष में कटभी पारावतपदी का पर्याय दिया है। पारावतपदी चरक (क. १।२६) तथा सुश्रुत (चि. १।३२) में एक ही बार पठित है। चरक में मदनफल-कल्प में तथा सुश्रुत में कुष्ठचिकित्सा में निर्दिष्ट है। चक्रपाणि ने इसे ज्योतिष्मती कहा है जैसा अमर आदि कोषकारों ने भी लिखा है। डल्हण ने इसे हंसपदीभेद माना (ईषल्लोहितो हंसपदीभेदः)।

मेरे विचार से, पारावतपदी नाम से Vitex leucoxylon Linn. f. नामक वनस्पति लेनी चाहिए। इसे आदिवासी चिरई-गोड़ी कहते हैं। इसके प्रयोग भी वही है।

Vitex lencoxylon Linn. f.

इसका बड़ा गुल्म या मध्यमप्रमाण वृक्ष होता है जिसकी शाखायें रोमश या रेशमी होती हैं। पत्र-प्रायः चिकने, ३-५ पत्रकयुक्त, पत्रक-अंडाकार-भालाकार, १-४·५ इञ्च लम्बे, ·३-१·५ इञ्च चौड़े, तीक्ष्णाग्र या लम्बाग्र, अखण्ड या दन्तुर; ऊपर चमकीले और नीचे पाण्डुरवर्ण होते हैं। पुष्प-श्वेत, ½ इञ्च व्यास के, अक्षीय दीर्घवृन्त मंजरियों में आते हैं। फल-अंडाकार, ½-¾ इञ्च लम्बे, लगभग ½ इञ्च व्यास के, बाह्यदल पर स्थित होते हैं। पुष्प-ग्रीष्म और शरद् में आते हैं तथा फल-फरवरी में लगते हैं। दक्षिणभारत में होता है किन्तु लगाये हुये पेड़ यत्र तत्र मिलते हैं।

कुछ लोग Vitex pedunculalaris Wall. को भी पारावतपदी मानने के पक्ष में हैं।

पारिजात-पारिभद्र

पारिजात और पारिभद्र निघण्टुओं में पर्यायवाची कहे गये हैं। आजकल पारिजात से परजाता (हरसिंगार) का ग्रहण किया जाता है। कहीं-कहीं रोहीतक

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

के लिए भी पारिजात पर्याय आया है। पारिभद्र निम्ब, कुष्ठ आदि के पर्याय रूप में भी पठित है। इसी प्रकार शेफालिका को निघण्टुओं में निर्गुण्डीविशेष लिखा है जबकि कुछ टीकाकारों ने इससे हरसिंगार का ग्रहण किया है। अत एव इस पर विमर्श आवश्यक है।

यह ज्ञातव्य है कि उपर्युक्त तीनों शब्दों मे से कोई भी चरकसंहिता में पठित नहीं है। सुश्रुतसंहिता तथा अष्टांगहृदय में इनका प्रयोग है। 'पारिजात' शब्द अष्टांगहृदय में भी नहीं है। इसका अर्थ यह हुआ कि इन तीनों शब्दों का प्रयोग चरक के बाद ही प्रारम्भ हुआ।

डल्हण ने पारिजात से पारिभद्रक का ग्रहण किया है (सु. चि. ११।६) तथा पारिभद्र से फलभद्र (फरहद) नामक वृक्ष लिया है जिसमें काँटे तथा रक्तवर्ण पुष्प होते हैं[1]। कहीं-कहीं इससे पर्वतनिम्ब, निम्ब तथा देवदारु का भी ग्रहण किया है[2]।

'पारिजात' शब्द सुन्दर पुष्पवाचक है जो पहले पारिभद्र के लिए, बाद में रोहीतक के लिए और फिर हरसिंगार के लिए प्रयुक्त हुआ। यह स्मरणीय है कि इन तीनों वनस्पतियों के पुष्प रक्तवर्ण या रक्ताभ सुन्दर होते हैं तथा प्रयोग भी प्रायः समान हैं। पारिभद्र से निम्ब का ग्रहण सम्भवतः गुणकर्मसाम्य के कारण किया गया है।

निघण्टुओं में शेफालिका या शेफाली को जो 'निर्गुण्डीविशेष' माना जाता है वह कोई भिन्न द्रव्य है।

सारांश—'पारिजात' और 'पारिभद्र' पर्यायवाची हैं जिससे फलभद्र या फरहद (Erythrina variegata Linn. var. orientalis (Linn.) Merill.) का ग्रहण करना चाहिए। शेफालिका से हरसिंगार (Nyctanthes arbortristis Linn.) लेना चाहिए (देखें शेफालिका)

पाषाणभेद

प्राचीन संहितोक्त स्वरूप

प्राचीन संहिताओं में पाषाणभेद की रचनात्मक विशेषताओं का कोई उल्लेख नहीं है। यदि पाषाणभेद शब्द ही को आधार मानें तो उससे इतना ही संकेत मिलता है कि यह वनस्पति सम्भवतः पार्वत्य देशों में होती थी और पत्थरों को तोड़ कर बाहर निकलती थी। अश्मभित्, पर्वतभिद् आदि पर्याय इसके द्योतक हैं।

---

१. पारिभद्रः फलभद्रो रक्तकुसुमः कण्टकी रोहिणीसदृशपत्र पूर्वदेशे प्रसिद्धः। (सु. क. ३।९)

पारिभद्रः रक्तकुसुमः कण्टकी फलभद्राख्यः। (सु. क. ६।३)

२. सु. सू. ११।११, २९।६४, उ. ५४।२६, ५८।४८

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

इसके गुण-कर्मों में इसका प्रभाव अश्मरीभेदन कहा गया है जिसके लिए यह द्रव्य प्रसिद्ध रहा है और अद्यावधि चिकित्सा-जगत् में व्यवहृत हो रहा है। आयुर्वेद में यदि औषधियों के गुण-कर्म के इतिहास को देखें तो पता चलता है कि अनेक औषधियों के गुणकर्मों एवं प्रयोगों का निरूपण आकृति-साधर्म्य (doctrine of signature) के आधार पर हुआ है। रक्ताशोक का प्रदर में, मञ्जिष्ठा का रक्त-विकार में, मरोड़फली का प्रवाहिका एवं उदरशूल में प्रयोग इसके उदाहरण हैं। पाषाणभित् के संबंध में भी ऐसा ही अनुमान होता है। प्राचीन महर्षियों ने उत्पत्ति काल में ही इसके पाषाणभेदन कर्म को देख कर शरीरस्थ विकारभूत पाषाण के लिए, इसका प्रयोग किया गया होगा। आकृति-साधर्म्य के अतिरिक्त द्रव्यों के लौकिक प्रयोग तथा कर्म के आधार पर शरीर के भीतर उसके प्रभाव का अनुमान किया जाता था। इस आधार पर इसका प्रयोग भी प्रचलित हो जाता था। उदाहरण के लिए, कुलत्थ का प्रयोग लोक में पत्थर तोड़ने के लिए किया जाता रहा है। सम्भवतः इसी आधार पर इसका प्रयोग शरीरस्थ अश्मरी के भेदन के लिए किया जाने लगा हो। वराहमिहिरकृत बृहत् संहिता (६वीं शती) में शिला भेदन के लिए कुलत्थ का प्रयोग मिलता है[1]।

इसके प्रयोज्य अंग का कोई निर्देश नहीं मिलता।

पाषाणभेद के गुणकर्मों का जहाँ तक प्रश्न है, संहिताओं में इसके निम्नांकित तीन प्रमुख कर्म उपलब्ध होते हैं :—

१. मूत्रविरेचनीय—चरक ने दश मूत्रविरेचनीय द्रव्यों में इसका उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त अन्य परवर्ती निघण्टुओं में यह मूत्रल एवं बस्तिशोधन कहा गया है।

२. वातसंशमन—सुश्रुत ने वातसंशमन गण में इसका उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त वीरतर्वादि गण में इसका उल्लेख है जो वातविकारनुत् कहा गया है।

३. अश्मरीभेदन—चरक ने अश्मरीभेदन तथा अश्मरीपातन जो प्रयोग बतलाए हैं उनमें पाषाणभेद का प्रमुख स्थान है। सुश्रुत ने भी वीरतर्वादिगण को अश्मरी, शर्करा, मूत्रकृच्छ्र तथा मूत्राघात का नाशक बतलाया है।

परवर्त्ती वाङ्मय में इसका स्वरूप

बाणभट्टकृत कादम्बरी (७वीं शती) में पाषाणखण्डों पर फैले हुए मञ्जरीयुक्त

---

१. तक्रकाञ्जिकसुराः सकुलत्था योजितानि बदराणि च तस्मिन्।
सप्तरात्रमुषितान्यभितप्तां दारयन्ति हि शिलां परिषेकैः॥ ११४॥
—दकार्गलाध्यायः

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

पाषाणभेद का उल्लेख है[1]। माधव-कृत पर्यायरत्नमाला में पाषाणभेद का अत्यन्त संक्षिप्त उल्लेख है। इसके पर्यायों में अश्मभेद, अश्मभित्, शिलाभेद, तथा पाषाणभित् पर्याय हैं जो पाषाण का भेदन करने का विशेष रूप से बोध कराते हैं। वटपत्री का भी पृथक् वर्णन किया है जिसमें मल्लिकाख्या एक पर्याय है।

अमरकोष में पाषाणभेद का उल्लेख नहीं है। अभिधानचिन्तामणि में भी ऐसा ही है।

धन्वन्तरिनिघण्टु में पाषाणभेद तिक्त, शीतवीर्य, बस्तिशोधन, शूलहर तथा शर्करा (अश्मरी) और शिश्नशूल (या अश्मरीजन्य शिश्नशूल) में उपयोगी कहा गया है[2]।

संहिताओं में मध्यकालीन प्रसिद्ध टीकाकार चक्रपाणि (११वीं शती) और डल्हण (१२वीं शती) ने भी पाषाणभेद के स्वरूप पर कोई प्रकाश नहीं डाला। विशेषकर डल्हण ने जबकि अनेक औषध द्रव्यों के स्वरूप पर विस्तृत एवं महत्त्वपूर्ण प्रकाश डाला है उनके द्वारा पाषाणभेद के प्रति उदासीनता यह सूचित करती है कि या तो उस काल में इसका कोई विशेष महत्त्व चिकित्सा में न रहा हो या यह संदिग्धता की इस कोटि में पहुँच गया हो कि उसका निर्णय करना ही कठिन हो। निघण्टुशेष जो हेमचन्द्र (१२वीं शती) द्वारा रचित एक महत्त्वपूर्ण औषधि कोष है, में पाषाणभेद का जो वर्णन उपलब्ध होता है उसमें एक पर्याय चित्रपर्णक है[3]। इससे स्पष्टतः ग्रन्थकार का अभिप्राय ऐसी वनस्पति से है जिसके पर्ण चित्रित हों।

सोढलनिघण्टु (१२वी शती) में पाषाणभेद के अतिरिक्त वटपत्री का स्वतंत्र वर्णन उपलब्ध होता है[4]। इससे भी स्पष्ट होता है कि वटपत्री का प्रयोग पाषाणभेद के अतिरिक्त स्वतन्त्र रूप से चिकित्सा में होने लगा था।

मदनपालनिघण्टु (१४वीं शती) ने भी पाषाणभेद के अतिरिक्त वटपत्री का पृथक् वर्णन किया है। पुरुषोत्तमदेवकृत त्रिकाण्डशेष (१४वीं शती) जो अमरकोष का एक परिशिष्ट भाग है उसमें भी पाषाणभेद का उल्लेख नहीं है।

कैयदेवनिघण्टु (१५वीं शती) में पाषाणभेद को तिक्त-कषाय, शीतवीर्य,

---

१. आभङ्गिनीभिरुत्कीर्णाभिरिव पत्रभङ्गकुटिलाभिः पाषाणभेदमञ्जरीभिर्जटिलीकृत-शिलातलेन—कादम्बरी, पृ० २६९
अश्मभेदसंगृहीतवराहदंष्ट्रेन—वही, पृ० ६४३

२. पाषाणभेदकः शूलकृच्छ्रमेहत्रिदोषजित्।
हृद्रोगप्लीहगुल्मार्शोबस्तिशुद्धिकरः परः ॥
अश्मभेदो हिमस्तिक्तः शर्कराशिश्नशूलजित्।—ध. नि., गुडूच्यादिवर्ग, १५७-१५८

३. पाषाणभेदे वृषभः शिलाभित चित्रपर्णकः—२६९

४. वटपत्री कषाया च शीता रक्तातिसारनुत्-करवीरादि वर्ग

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

बस्तिशोधन, (अश्मरी) भेदन तथा मूत्रकृच्छ्र, अश्मरी, व्रण आदि में उपयोगी बताया है। वटपत्री का भी पृथक् वर्णन किया है।

भावप्रकाश (१६वीं शती) ने पाषाणभेद का इसी प्रकार का वर्णन दिया है किन्तु एक अतिरिक्त पर्याय 'भिन्नयोजनी' दिया है जिससे इसका संधानीय कर्म सूचित होता है। वटपत्री का भी वर्णन पृथक् किया है।

राजनिघण्टु (१६-१७ वीं शती) में सर्वप्रथम पाषाणभेद के प्रकारों में तीन अन्य वनस्पतियों का वर्णन हुआ है। ये वनस्पतियां हैं—१—वटपत्री, २—श्वेतशिला और ३—चतुष्पत्री। वटपत्री के पर्यायों में ऐरावती, श्यामा इत्यादि दिए गए हैं। श्वेतशिला को शिलावल्का शिलंजा आदि तथा चतुष्पत्री को क्षुद्र पाषाणभेद कहा गया है। वटपत्री तथा क्षुद्रपाषाणभेद को अश्मरी और मूत्रकृच्छ्र के अतिरिक्त व्रण में भी उपयोगी कहा गया है। पाषाणभेद और श्वेत शिला में इन गुणों का उल्लेख नहीं है।

आयुर्वेदविज्ञानम् (१९वीं शती) में पाषाणभेद और वटपत्री का पृथक्-पृथक् वर्णन किया है। पाषाणभेद के अन्तर्गत पर्णयवानी का चित्र दिया है। इससे पता चलता है कि बंगाल में विशेष पर्णयवानी का ही पाषाणभेद के रूप में प्रचलन था।

सिद्धभेषजमणिमाला (१९वीं शती), जो श्रीकृष्णरामभट्ट द्वारा रचित ग्रंथ है, में भी व्रण में पाषाणभेद का प्रयोग किया गया है किन्तु आश्चर्य की बात है कि अश्मरी-चिकित्सा में 'पाषाणभेद' का कोई योग नहीं दिया गया है। उसमें केवल एक ही योग पाषाणभेदन के लिए शरमूल का दिया हुआ है। पाषाणभेद का कोई प्रयोग नहीं है। इससे प्रतीत होता है कि संदिग्धता के कारण या अन्य किसी भी कारण से चिकित्सा में इसका प्रयोग कम होने लगा। अश्मरीभेदन कर्म के लिए लोक में कुलत्थ का विशेष व्यवहार देखने में आता है। वीरतर्वादि गण में वीरतरु भी धीरे-धीरे संदिग्ध हो गया। वृन्दमाधव की व्याख्या में श्रीकण्ठदत्त ने वीरतरु से शर का ग्रहण किया है[1]। भावमिश्र ने वीरतरु के अभाव में शर लेने का उल्लेख किया है[2]। इन प्रतिनिधि द्रव्यों में भी पाषाणभेद का कोई उल्लेख नहीं है। इसके अतिरिक्त, माधवद्रव्यगुण तथा शिवकोष में भी पाषाणभेद अनुपस्थित है। आढमल्ल ने शार्ङ्गधर की टीका में 'पाषाणभेदः प्रतीतः वजेति लोके' लिखा है[3]।

पाषाणभेद के नाम से गृहीत द्रव्य

पाषाणभेद के नाम से निम्नांकित द्रव्य देश के विभिन्न क्षेत्रों में प्रयुक्त हो रहे हैं :—

१. वृ. मा. अश्मर्यधिकार
२. भा. प्र. अश्मर्यधिकार
३. शा., मध्य: २।१०१

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

१. Aerva lanata Juss. (गोरक्षगञ्जा) ×
२. Northosaerva brachiata Wight.
३. Ammania baccifera Linn.
४. Rotula aquatica Lour.
५. Bergenia ligulata (Wall.) Engle. ×
६. Coleus amboinicus Lour. (पर्णयवानी) ×
७. Bryophyllum pinnatum (Lam.) Kurz. (पर्णबीज) ×
८. Iris sp.
९. Ocimum basilicum Linn. (बर्बरी) ×
१०. Bridelia retusa Spreng.
११. Homonoia riparia Lour.
१२. Didymocarpus pedicellata. R. Br.

१. Aerva lanata Juss.

दक्षिण भारत में यह (ता०–सिरुपिल्ले; ते०–पिण्डीकोण्डा; मल०–चेरूवुला) पाषाणभेद के नाम से प्रचलित हैं। इसकी एक अन्य प्रजाति A. javanica Juss. बृहत् पाषाणभेद (ता०–पेरुपिल्ले) नाम से प्रसिद्ध है जिसका प्रयोग उपर्युक्त द्रव्य के प्रतिनिधिरूप में होता है।

२. Northosaerva brachiata Wight. (Fam. Amaranthaceae.)

इसे राजस्थान में धौला फिन्दोरी कहते हैं और शाकार्थ प्रयोग करते हैं। इसका क्षुप १–२ फीट ऊँचा प्रसरी शाखाओं से युक्त होता है। मूल के बाद ही शाखाएं निकलने लगती हैं। पत्र–१–२ इञ्च लम्बे, झिल्लीवत्, प्रायः लट्वाकार, तीक्ष्णाग्र या कुण्ठाग्र होते हैं। पत्रवृन्त–०–$\frac{1}{4}$ इञ्च लम्बा होता है। पुष्प–अत्यन्त सूक्ष्म, श्वेत, अनेक, सघन, $\frac{1}{4}$–$\frac{1}{2}$ इञ्च लम्बी, अक्षीय मञ्जरियों में होते हैं। फल–सूक्ष्म, लम्बगोल, चपटे तथा बीज गहरे भूरे, चमकीले होते हैं।

यह राजस्थान, पञ्जाब तथा दक्षिण भारत में विशेष होता है। दक्षिण भारत के वैद्य पाषाणभेद के प्रतिनिधि के रूप में इसका प्रयोग करते हैं।

३. Ammania baccifera Lunn. (Fam.–Lythraceae.)

यह दादमारी के नाम से प्रसिद्ध है, क्योंकि दद्रु आदि चर्मरोगों में इसका लेप लगाते हैं। केरल में पाषाणभेद के रूप में इसका प्रयोग करते हैं। मलयालम में इसे कल्लुर वञ्चि (ता०–कल्लुरिवि) कहते हैं जिसका अर्थ पाषाणभेद होता है।

इसका उत्थित क्षुप $\frac{1}{2}$–२ फीट ऊँचा होता है। निचली पत्तियाँ तथा शाखायें प्रायः अभिमुख; काण्डीय पत्र १–२$\frac{1}{2}$ इञ्च लम्बे होते हैं। पुष्प–सघन गुच्छों में काण्ड

१. इसका विवरण द्वितीय भाग में देखें।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

पर ग्रन्थि बनाते हुए या बहुत छोटी अक्षीय मञ्जरियों में होते हैं। बाह्यदल-नलिका वृत्ताकार, दन्त चार, चौड़े एवं त्रिकोणीय होते हैं। अन्तर्दल–प्रायः अनुपस्थित या छोटे होते हैं। फल–गोलाकार, चपटे होते हैं जिनमें काले रंग के अर्धवृत्ताकार बीज होते हैं।

यह जलीय प्रदेशों में तथा धान के खेतों में खरपतवार के रूप में होता है।

इसके पत्तों का स्वाद कटु तथा लेप लगाने से स्फोटजनक होता है।

४. Rotula aquatica Lour. (Fam. Boraginaceae.)

इसका शाखाबहुल क्षुप २–४ फीट ऊँचा होता है। पत्र–स्रुवाकार, ३/४ इञ्च लम्बे, १/२ इञ्च चौड़े होते हैं। पुष्प–१/४ इञ्च लम्बे, गुलाबी या रक्ताभ, अक्षीय मञ्जरियों में होते हैं। फल–१/६ इञ्च लम्बे, अर्धगोलाकार, नारंगी-लाल रंग के होते हैं।

यह नदी-नालों की बालुकामय या पथरीली सतह में कुमाऊँ से आसाम तक तथा मध्य, पश्चिम एवं दक्षिण भारत में पाया जाता है।

कर्नाटक के वैद्य इसके मूल का प्रयोग पाषाणभेद के रूप में करते हैं। दृढ़ काण्ड रस्सी बनाने के काम आता है।

इसकी मूत्रल क्रिया अलंट्वायन (०·५%) की उपस्थिति के कारण होती है। मूलों में रैबडिओल (Rhabdiol) नामक एक स्टिरोल भी होता है।

५. Bergenia ligulata (Wall.) Engl. (Fam. Saxifragaceae.)

उत्तर भारत में पाषाणभेद के रूप में इसका प्रयोग होता है। इसकी रक्ताभ जड़ बाजारों में बिकता है।

६. Coleus amboinicus Lour. (Fam. labiatae.)

बंगाल में इसे पाथरचूर कहते हैं और पाषाणभेद के रूप में इसका व्यवहार करते हैं।

७. Bryophyllum pinnatum (Lam.) Kurz. (Fam. Crassulaceae.)

हिन्दी में यह पथरचूर या पथरचट तथा बंगाल में पाथरकूची कहलाता है जो इसके पाषाणभेदन स्वरूप का बोधक है।

८. Iris sp. (Fam. iridaceae.)

इसके भौमिक काण्ड के टुकड़े पाखानभेद के नाम से कहीं-कहीं उपलब्ध होते हैं। आइरिस की कुछ प्रजातियाँ हिमालय विशेषतः कश्मीर में होती हैं यथा I. ensata, I. nepalensis. इत्यादि।

I. nepalensis D. Don. ५–१० हजार फीट की ऊँचाई पर होता है। मूलस्तम्भ दृढ़, प्रसरी, सघन सूत्रीय कोषों से आवृत तथा अनेक मांसल अंगुलिवत् मूलों से युक्त होता है। काण्ड–कोमल लगभग १ फुट ऊँचा होता है। पत्र–रेखाकार

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

प्रायः २ फीट लम्बे होते हैं। पुष्प–हलके नीले रंग के, पुष्पकोष (Spathe) १½–२ इञ्च लम्बा होता है। फल–लम्बगोल, स्थायी पत्रकोषों के भीतर होते हैं।

इसका मूल मूत्रल होता है।

९. Ocimum basilicum Linn. (Fam. Libiatae.)

इसका प्रसिद्ध नाम बर्बरी है तथापि कुछ विद्वान इसे पाषाणभेद का प्रतिनिधि मानते हैं।

१०. Bridelia retusa Spreng. (Fam. Euphorbiceae.)

बंगाल में इसे पाथरफोड़ कहते हैं इस कारण कुछ विद्वान इसे पाषाणभेद का प्रतिनिधि मानते हैं। मुख्यतः इसकी लकड़ी फर्नीचर बनाने के काम में आती है।

इसका वृक्ष लगभग ३० फीट ऊँचा तथा ६–७ फीट घेरे का होता हैं। पत्र–३–५ इंच लंबे, कठिन चर्मवत्, अण्डाकार या लट्वाकार, १५–२० जोड़े सीधे समानान्तर स्पष्ट सिराओं से युक्त होते हैं। पुष्प–द्विधैकलिंगी, अक्षीय गुच्छों या लंबी मंजरियों में होते हैं। बाह्यदल–⅙ इंच व्यास का, नलिका रोमश, खण्ड प्रायः चिकने, लट्वाकार और तीक्ष्णाग्र होते हैं। आभ्यन्तर दल–पुंपुष्प में वृत्ताकार, दन्तुर तथा स्त्रीपुष्प में उप-स्रुवाकार होते हैं। फल–गोल, मटर के आकार का, बैंगनी–काले रंग का, बाह्यदल से युक्त होता है। फल खाये जाते हैं।

यह भारत के उष्ण प्रदेशों में होता है। इसकी छाल में १६–४०% टैनिन होता है।

११. Homonoia riparia Lour. (Fam. Euphorbiaceae.)

इसके मूल का क्वाथ अश्मरी में व्यवहृत होता है। इसका खर, सदाहरित अद्विधैकलिंगी गुल्म होता है। छाल रूक्ष, गहरे भूरे रंग की होती है। पत्र–२½–७ इंच लंबे, सूखने पर कड़े, पीछे की ओर रक्ताभ भूरे, वेतससदृश, भालाकार या रेखाकार–आयताकार, गंधयुक्त होते है। पुष्प–अवृन्त २–५ इंच लंबी मंजरियों में लगते हैं। फल–गोल, रोमश तथा बीज गोलाकार, रोमश, पीले–भूरे या बैंगनी रंग के होते हैं।

यह पथरीले नदीतटवर्त्ती प्रदेशों में उत्तर, पूर्व, मध्य तथा दक्षिण भारत में होता है।

१२. Didymocarpus pedicellata R. Br. (Fam. Gesnariaceae.)

हिन्दी में इसे पथरफोड़ी कहते हैं। इसका प्रयोग अश्मरीरोग में किया जाता है।

इसका छोटा क्षुप होता है जिसमें काण्ड नहीं के बराबर होता है। पत्तियाँ प्रायः मूलीय, अभिमुख, दन्तुर, गोल-लट्वाकार, चिकनी, ग्रन्थियुक्त, ३–६ इंच

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

व्यास की, २–३ जोड़ी होती हैं। पत्रवृन्त–२–५ इंच लंबा होता है। पुष्पध्वज–४ इंच लंबा होता है जिसमें अनेक पुष्प लगते हैं। बाह्यदल–$\frac{1}{4}$ इंच लंबा, फनेल के आकार का तथा आभ्यन्तर दल–१ इंच लंबा, बैंगनी रंग का होता है। फल–दीर्घवृन्त, १–२ इंल लंबा होता है।

यह पश्चिमी हिमालय में चम्बा से कुमाऊँ तक २$\frac{1}{2}$ से ५$\frac{1}{2}$ हजार फीट की ऊँचाई पर होता है।

विमर्श

प्राचीन संहिताओं में पाषाणभेद का कोई भेद नहीं कहा गया, इससे स्पष्ट है कि उस काल में असन्दिग्ध रूप से एक द्रव्य लिया जाता था। 'पाषाणभेद' शब्द का अर्थ 'पत्थर को विदीर्ण करने वाला है'। यह वनस्पति के उद्भव का बोधक तथा कर्म (पाषाण = अश्मरी का भेदन) का भी द्योतक हो सकता है। सम्भवतः यह पत्थरों (चट्टानों) को फोड़ कर निकलने वाली वनस्पति है (धन्वन्तरिनिघण्टु में 'नगभिद्' पर्याय आया है) जो रूपसाधर्म्य (doctrine of signature.) के अनुसार अश्मरीरोग में प्रयुक्त होने लगी।

निघण्टुओं में पाषाणभेद के अतिरिक्त 'वटपत्रा' या 'वटपत्री' का वर्णन भी पृथक् किया गया है। पर्यायरत्नमाला में वटपत्रा है जिसे 'मल्लिकाख्या' पर्याय दिया गया है। इससे यह मल्लिका (बेला) की कोई जाति प्रतीत होती है। धन्वन्तरि-निघण्टु में भी यह मल्लिका का पर्याय है। वटपत्री सर्वप्रथम सोढलनिघण्टु में दृष्टिगत होती है। यह कषाय, शीत और स्तम्भन कही गई है तथा रक्तस्राव एवं अतिसार आदि में प्रयुक्त है। पाषाणभेद के अतिरिक्त वटपत्री का पृथक् वर्णन मदनपाल, कैयदेव तथा भावमिश्र ने भी किया है। मदपाल ने इसे कषाय, उष्णवीर्य तथा योनिरोगनाशक कहा है। कैयदेवनिघण्टु में इसीके अनुसार कषाय, उष्ण एवं योनि-रोग तथा मूत्ररोगों का नाशक कहा गया है। साथ ही पाषाणभेद के आमयिक प्रयोगों में भी योनिरोग, मूत्ररोग तथा व्रण का समावेश किया गया।

भावप्रकाशनिघण्टु में इसी का अनुसरण किया गया है केवल पाषाणभेद में 'भिन्नयोजिनी' पर्याय विशिष्ट दिया है जिससे व्रण आदि में इसका विशेष प्रयोग सूचित होता है। राजनिघण्टु ने वटपत्री को पाषाणभेद का ही एक भेद मान लिया। इस प्रकार सोढलनिघण्टु से राजनिघण्टु तक के विकासक्रम को देखने से पता चलता है कि वटपत्री के कषाय, शीत, स्तम्भन आदि गुणकर्म क्रमशः पाषाणभेद में आरोपित होते चले गये और अन्ततः यह वनस्पति पाषाणभेद के एक भेद के रूप में परिणत हो गई। यह ध्यान देने की बात है कि प्राचीन ग्रन्थों एवं पूर्वमध्यकाल तक के निघण्टुओं में पाषाणभेद के आमयिक प्रयोगों में व्रण का उल्लेख नहीं है, यह कैयदेवनिघण्टु (१५वीं शती) से प्रारम्भ हुआ।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

ब्रायोफाइलम पिनेटम नामक वनस्पति कहीं-कहीं पथरचूर कही जाती है तथा वह विशेषतः रक्तस्राव, व्रण आदि में सन्धानीय के रूप में उपयोगी है जिस कारण वह 'जख्मे हयात' कही जाती है। सोढलनिघण्टु के वर्णन (कषाय, शीत, रक्त-स्तम्भन) के अनुसार यह वटपत्री के रूप में स्वीकृत हुई और आगे चल कर जब यह पाषाणभेद के प्रतिनिधि के रूप में व्यवहृत होने लगी तो वटपत्री के मौलिक गुणकर्म पाषाणभेद में आरोपित हो गये यद्यपि वटपत्री का अस्तित्व पृथक् बना रहा जिसे राजनिघण्टु ने स्पष्टतः एक प्रकार का पाषाणभेद मान लिया।

वटपत्रा तथा वटपत्री के अतिरिक्त 'वटपत्र' पर्याय कुठेरक या अर्जकभेद के लिए आता है। सम्भवतः वटपत्री से भ्रम होने के कारण वर्वरी को भी कुछ लोग पाषाणभेद मानने लगे।

राजनिघण्टुकार पण्डित नरहरि कश्मीरनिवासी थे। उन्होंने पाषाणभेद को चट्टानों के भीतर से निकलते देखा था अतः 'शिलगर्भजा' पर्याय दिया। अब विचारणीय है कि इस निघण्टु में पाषाणभेद के अन्तर्गत जिन चार वनस्पतियों (पाषाणभेद, वटपत्री, श्वेतशिला या शिलावल्का और चतुष्पत्री या क्षुद्रपाषाणभेद) का वर्णन किया वे क्या हैं ?, उद्भवस्थान की दृष्टि से पर्यायों के आधार पर यह स्पष्ट है कि इनमें तीन (पाषाणभेद, श्वेतशिला तथा चतुष्पत्री) चट्टानों पर होनेवाली वनस्पतियाँ हैं। वटपत्री में नगभित् या पाषाणभेद आदि विशेषण किसी ग्रन्थ में नहीं दिया गया है जिससे यह भी स्पष्ट होता है कि वटपत्री पाषाणभेद से भिन्न वनस्पति है। इसके गुणकर्म भी भिन्न बतलाये गये हैं। वटपत्री को कतिपय आचार्य पाषाणभेद (Berge nia.) की ही प्रजाति मानते हैं जिसके पत्र बड़े, वटपत्रवत् होते हैं किन्तु पाषाणभिद आदि पर्याय न होने से इसकी सम्भावना अत्यल्प है। मेरे विचार से, वटपत्री पर्णबीज (Bryophyllum sp.) है जो पाषाणभेद से भिन्न होते हुए भी उसके प्रतिनिधिरूप में कई प्रदेशों में व्यवहृत होता रहा फलतः कालान्तर में उसके गुणकर्म पाषाणभेद में आरोपित होते चले गये और स्वयं वटपत्री पाषाणभेद का एक भेद बन गयी।

राजनिघण्टु में वर्णित अन्य तीन बनस्पतियों पर विचार करने से यह पता चलता है कि ये ऊँचाई पर पहाड़ों पर होनेवाली वनस्पतियाँ हैं। पाषाणभेद Bergenia Ligulata है। श्वेता या शिलावल्का Didymocarpus की प्रजाति (D. pedicellata, R. Br.) जिसमें काण्ड शून्यप्राय होने के कारण यह चट्टानों पर वल्कलवत् फैली रहती है। इसमें पत्तियाँ चार या छः होती हैं। चतुष्पत्री इसीकी चार पत्तीवाली प्रजाति प्रतीत होती है जिसे क्षुद्र पाषाणभेद कहा गया है। चतुष्पत्री प्रजातियों में D. oblonga Wall., D. villosa Don, D. aromatica तथा D. podocarpa Clarke प्रमुख हैं जो नेपाल तथा सिक्किम में ७–११००० फीट की ऊँचाइयों पर होती हैं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

जहाँ तक सम्प्रति पाषाणभेद से गृहीत द्रव्यों का प्रश्न है, गुणकर्मात्मक अनुसन्धान द्वारा गोरखगाँजा (एर्वा लेनाटा) में अश्मरीभेदन तथा बर्जीनिया लेगुलाटा में मूत्रल कर्म अधिक पाया गया है[1]। किन्तु उपर्युक्त सभी तथ्यों पर समष्टि रूप से विचार करने पर बर्जीनिया लिगुलाटा के पक्ष में ही निर्णय जाता है। भारत भौगोलिक दृष्टि से विविध जलवायुसम्पन्न एक विशाल देश है। अतः बर्जीनिया लिगुलाटा को मूलतः पाषाणभेद स्वीकृत करने पर भी यह व्यवस्था की जा सकती हैं कि एर्वा लेनाटा का प्रतिनिधि रूप में प्रयोग किया जा सकता है क्योंकि अश्मरीघ्न कर्म इसमें विशिष्ट पाया गया है और दक्षिण भारत में इसका प्रचार भी है। भारत सरकार द्वारा नियुक्त सन्दिग्ध द्रव्यनिर्णयसमिति ने भी इस आधार पर ऐसा ही निर्णय दिया है।

पिचु–पिचुक

पिचु का उल्लेख सुश्रुतसंहिता के फलवर्ग में औत्तरापथिक फलों के अन्तर्गत हुआ है (सु. सू. ४६।१८७)। इसका पाठान्तर 'मुकूल' है तथा डल्हण ने भी इस पर कोई टिप्पणी नहीं की अतः पाठ सन्दिग्धप्राय है तथापि पिचु आरुक जाति (Prunus sp.) का कोई औत्तरापथिक फल हो सकता है। यह फल मधुर होता है। निम्ब तिक्त होने के कारण इसकी मधुरता को मर्दित (नष्ट) कर देता है अतः उसका एक पर्याय 'पिचुमर्द' है।

पिचुक पिचु से भिन्न द्रव्य प्रतीत होता है। डल्हण ने इससे करीर या कार्पास का फल लिया है (सु. चि. ७।१७) और अरुणदत्त ने शितिवार का ग्रहण किया है (अ. हृ. चि. ११।२७)। ठा० बलवन्तसिंह इस सम्बन्ध में Hibiscus cancellatus Roxb. (पिसका कान्दा) की ओर ध्यान आकृष्ट करते हैं।

पिण्डीतक–मदन

पिण्डीतक चरकसंहिता के दृढ़बलकृत अंश में उपलब्ध है। यह मदनफल के पर्यायरूप में पठित है। इसका प्रयोग वमनार्थ, कृष्णीकरणार्थ, निरूहवस्ति तथा सांग्राहिक योग में हुआ है। महानील तैल (च. चि. २६।२७२) में 'कृष्णौ पिण्डीतचित्रकौ' से कृष्ण पिण्डीतक तथा चित्रक का प्रयोग है।

सुश्रुत ने सान्निपातिक शोफहर लेप, गर्भसंग में योनिधूपन, नाडीव्रणहर तैल, केशकृष्णीकरण, पिण्डीतकस्नेह (कृष्णीकरणे) में पिण्डीतक का उल्लेख किया है।

वाग्भट ने रक्षोघ्न धूप एवं वमनार्थ इसका प्रयोग किया है।

चक्रपाणि ने पिण्डीतक का अर्थ मदन किया है (च. चि. २०।३४, सि. १०।३०)। डल्हण ने भी इसका अर्थ मदन किया है (सु. सू. ३७।७, चि. २५।३२,

---

१. झारखंडे ओझा : आयुर्वेद के कतिपय सन्दिग्ध द्रव्यों का अध्ययन, (पी. एच. डी. शोधप्रबन्ध, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, १९७१)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

३१।५) और पुष्पभेद से पिण्डीतक तीन प्रकार का बतलाया है—कृष्णपुष्प, श्वेतपुष्प और पीतपुष्प[1] (सु. चि. १७।४०)। अरुणदत्त ने इस पर कोई टिप्पणी नहीं की।

कुछ लोगों ने पिण्डीतक को पिण्डार मान कर Randia uliginosa DC. मानने का सुझाव दिया है। मेरी दृष्टि में, पिण्डीतक को मदन के पर्याय में ही रखना चाहिए, पृथक् द्रव्य मानने की आवश्यकता नहीं है। पिण्डार पिण्डीतक से भिन्न है, इसका उल्लेख बृहत् संहिता (५४।५०) में हुआ है। पिण्डार Randia uliginosa है जिसे लोकभाषा में पिंडार या पेण्ड्रा कहते हैं।

मदनफल (Randia dumetorum Lam.) में पुष्प का वर्ण अवस्थानुसार बदलता रहता है। मेरे विचार से इन्हीं पुष्पवर्णों को देख कर त्रिविध पिण्डीतक या मदन कहा गया है।

'मदन' शब्द भी विचारणीय है। इसमें मद उत्पन्न करने का संकेत है। सम्प्रति जो मदनफल लिया जाता है वह वामक तो है किन्तु मादक नहीं है। उसी कुल का एक अन्य वृक्ष Meyna laxifiora Robyns. है जो मदनफल से बिलकुल मिलता-जुलता है तथा मैनफल के नाम से प्रसिद्ध भी है। इसके फल मादक होते हैं। मेरे विचार से प्राचीन मदनफल यही होगा, बाद में इसके स्थान पर Randia dumetorum प्रचलित हुआ।

पिप्पली–पिप्पलीमूल

पिप्पली आयुर्वेद का प्रसिद्ध औषधद्रव्य है। यह दो प्रकार की कही गई है—पिप्पली और गजपिप्पली (देखें चव्य)। निघण्टुओं में देश एवं आकृतिभेद से पिप्पली के कई प्रकारों का वर्णन किया गया है। धन्वन्तरिनिघण्टु में पिप्पली, चविका, श्रेयसी (चविकाविशेष) सैंहली (पिप्पलीविशेष) तथा वनादिपिप्पली (पिप्पलीविशेष) का वर्णन किया है। ये सब Piper की प्रजातियाँ तथा देशभेद से उत्पन्न प्रकार हैं।

व्यापारिक दृष्टि से सिंगापुर, बंगाली, स्वाहिली तथा नवसारी (गुजराती) ये चार प्रकार की पिप्पली है। स्वाहिली आजकल नहीं आती।

पिप्पलीमूल के सम्बन्ध में वैद्य बापालालजी ने विस्तृत जानकारी दी है। भारत में पिप्पलीमूल की आपूर्ति आन्ध्रप्रदेश तथा उड़ीसा के सीमावर्ती पार्वत्य अञ्चल से होती है। आन्ध्र में मदुगुल्ला पिप्पलीमूल (पिप्पलीमोदि) का मुख्य व्यापारिक केन्द्र है।

---

१. सु. सू. ३७।७ में 'पिण्डीतकत्रयम्' इस पाठान्तर से भी इन भेदों का संकेत मिलता है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

पिप्पली का मूल सूत्रवत् बहुत पतला होता है; इसका प्रयोग पिप्पलीमूल के रूप में केरल की फार्मेसियों में होता है। बाजार में उपलब्ध पिप्पलीमूल मूल तथा तने का स्थूलतम भाग होता है[1]।

वैद्य बापालालजी ने अपने व्यक्तिगत पत्र (३०–४–७१) में सूचित किया :—

"At last I have come to know abont the पिप्पलीमूल, where it is growing and who supplies the whole country. I am preparing a separate article on this. After so many years I have found out the exact locality and also the various samples. As Asvagandha is supplied from a village near नीमच (Indore), this is also supplied from some south villages in Andhra pradesh."

पीलुपर्णी–मोरट–क्षीरमोरट

पीलुपर्णी चरकसंहिता में मधुर, शीत शाकों में पठित है किन्तु अगुर्वाद्य उष्ण-वीर्य द्रव्यों में भी है। ऊरुस्तम्भ में पीलुपर्ण्यादि तैल में यह मुख्य द्रव्य है। बलादि गर्भधारणयोग में भी पीलुपर्णी है। मोरट मधुरस्कन्ध में पठित है।

सुश्रुतसंहिता में पीलुपर्णी नहीं है, इसके बदले क्षीरमोरट है जो चरक में नहीं मिलता। वरुणादि गण में मोरट तथा वीरतर्वादि गण में मोरटा है। पैत्तिक अश्मरी में मोरट का प्रयोग है। क्षीरमोरट मधुरवर्ग तथा लूताविष में निर्दिष्ट है।

वाग्भट ने अपची में उपर्युक्त एक तैल में पीलुपर्णी का उल्लेख किया है। क्षीर-मोरट का प्रयोग रक्तार्श में है।

चक्रपाणि ने पीलुपर्णी से मोरट या मोरटा तथा एकीय मत से मूर्वा तथा रास्नाभेद का निर्देश किया है। मधुरस्कन्ध में पठित मोरट से मूर्वा का ग्रहण किया है।

डल्हण ने मोरट पर निम्नांकित टिप्पणी की है :—

१. मोरटः अङ्कोल्लपुष्पः 'मोइहर' इति लोके, हस्तिकर्णपलाश इत्यन्ये।
(सु. सू. ३८।१०)

२. मोरटः अङ्कोल्लपुष्पः, हस्तिकर्णपलाश इत्येके, इक्षुमूलमित्यपरे।
(सु. सू. ३८।१२)

३. मोरटः इक्षुमूलम्। (सु. चि. ७।६)

४. क्षीरमोरटं किलाटमस्तु; पीलुपर्णीत्यपरे। (सु. सू. ४२।११)

५. क्षीरमोरटं मोरट एव। (सु. क. ८।१३२)

---

१. Vaidya Bapalal : Some controversial drugs in Indian Medicine, p. 328–339, (choukhambha orientalia, varanasi)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

इस प्रकार डल्हण ने मोरट से मुख्यतः अंकोल्लपुष्प (मोइहर) का ग्रहण किया है तथा एकीय मत से हस्तिकर्णपलाश, इक्षुमूल का उल्लेख किया है। क्षीरमोरट को वह मोरट ही मानते हैं तथा दूसरे सन्दर्भ में एकीय मत से पीलुपर्णी का निर्देश किया है। इससे स्पष्ट है कि वह क्षीरमोरट, मोरट तथा पीलुपर्णी को एक ही द्रव्य मानते थे।

सुश्रुत ने मधुरवर्ग में क्षीरमोरट तथा चरक ने मधुरस्कन्ध में मोरट का पाठ किया है इससे भी मोरट तथा क्षीरमोरट की एकता स्पष्ट होती है। इसके अतिरिक्त, चरक ने पीलुपर्णी तथा सुश्रुत ने क्षीरमोरट का उल्लेख किवा है अतः इन दोनों की एकता भी संकेतित होती है। इस प्रकार मोरट-क्षीरमोरट-पीलुपर्णी एक ही द्रव्य है। बाद में इससे मूर्वा लिया जाने लगा, निघण्टुओं में पीलुपर्णी और मोरटा मूर्वा के पर्याय हैं (देखें मूर्वा)।

शाक में शीतवीर्य तथा औषध में उष्णवीर्य का समाधान यह हो सकता है कि पीलुपर्णी के पत्र शाकार्थ प्रयुक्त होते हों और उनका वीर्य शीत हो जबकि औषध में मूल का प्रयोग हो जो उष्णवीर्य हो किन्तु औषधीय प्रयोग भी प्रायः पित्तशामक होने से यह युक्ति रुचिकर नहीं प्रतीत होती। ऐसी स्थिति में चरक (चि. ३।२६७) का 'पीलुपर्णी' पाठ चिन्तनीय है।

मोरट (मोइहर या मुरहरी) Maerua arenaria Hook. f. and Th. है। इसका काष्ठीय गुल्म उत्तर प्रदेश, मध्यप्रदेश, पंजाब, राजस्थान, गुजरात तथा दक्षिण भारत के शुष्क क्षेत्रों में पाया जाता है। पत्र–अण्डाकार–आयताकार, पुष्प–श्वेत या हरितपीत मञ्जरियों में होते हैं। फल–लम्बे, मुड़े हुए, गाँठदार तथा बीजों के बीच में सिकुड़े होते हैं। इसकी जड़ मुलेठी के सदृश तथा तद्वत् मधुर होती है।

पुनर्नवा–वर्षाभू–वृश्चीव(र)–कठिल्लक

पुनर्नवा चरक के स्वेदोपग, अनुवासनोपग, कासहर तथा वयःस्थापन महाकषायों में तथा मधुरस्कन्ध एवं उष्णवीर्य द्रव्यों में पठित है। थह विशेष ध्यान देने योग्य है कि पुनर्नवा सर्वत्र वृश्चीर के साथ आया है, केवल वयःस्थापन महाकषाय और रसायन-प्रकरण को छोड़ कर। चरक ने पुनर्नवे (चि. ११।३६, १२।३४) से सम्भवतः इन्हीं दोनों का ग्रहण किया है।

सुश्रुत में यह विदारिगन्धादि गण, वातसंशमन तथा तिक्तवर्ग में है। तिक्त शाकों में भी पठित है। पुनर्नवाद्वय भी निर्दिष्ट है (क. २।४३) इससे चरकोक्त वृश्चीर और पुनर्नवा का ग्रहण किया जा सकता है। सुश्रुत में वृश्चीर के स्थान पर वर्षाभू के साथ पुनर्नवा पठित है (चि. १२।५)। चरक में भी कहीं-कहीं वृश्चीर के बदले वर्षाभू पुनर्नवा के साथ पठित है (चि. २६।६१)। इससे यह संकेत मिलता है कि

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

वर्षाभू वृश्चीर का पर्याय है। सुश्रुत ने वर्षाभू को कटु शाकों में गिना है। सम्भवतः इसके कटुत्व के कारण ही वृश्चीर को वयःस्थापन में नहीं रक्खा। एक स्थल पर वृश्चीव और वर्षाभू एकत्र पठित है (उ. ३९।२०२, ४२।४६)। वहाँ वृश्चीव से पुनर्नवा का ग्रहण करना चाहिए। वाग्भट ने भी विदारिगन्धादि में सुश्रुतोक्त पुनर्नवा के स्थान पर वृश्चीव का उल्लेख किया है। इससे भी पुनर्नवा और वृश्चीव पर्याय सिद्ध होते हैं। दूसरा तथ्य इससे यह निकलता है कि वृश्चीव और वृश्चीर भिन्न हैं[1]। वृश्चीव पुनर्नवा का तथा वृश्चीर वर्षाभू का पर्याय है। सुश्रुत ने अनेक स्थलों पर 'श्वेत पुनर्नवा' का उल्लेख किया है (क. ७।२४, ५२) वह वृश्चीर ही है। वाग्भट ने 'वर्षाभ्वौ' (अ. हृ. ६।९७) से सम्भवतः इन दोनों प्रकारों का ग्रहण किया है। 'वर्षाभू' उसने 'पुनर्नवा' का सामान्य पर्याय मान लिया जिसका अनुसरण परवर्त्ती लेखकों ने किया। टीकाकारों ने भी वृश्चीर को श्वेत पुनर्नवा तथा पुनर्नवा से रक्तपुनर्नवा का ग्रहण किया[2]।

वृश्चीर वर्षाभू Trianthema portulacastrum Linn. (Fam Aizoaceae) तथा पुनर्नवा (वृश्चीव) Boerhavia diffusa Linn.[3] (Fam. nyctaginaceae) है।

कठिल्लक तिक्तस्कन्ध तथा तिक्तशाकों में पठित है और शीतवीर्य एवं रक्तपित्तहर कहा गया है[4] जब कि पुनर्नवा उष्णवीर्य एवं वातहर है। चरक ने उसका पाठ भी मधुरस्कन्ध में किया है। इससे प्रतीत होता है कि कठिल्लक पुनर्नवा से भिन्न कोई द्रव्य है। यद्यपि चक्रपाणि और डल्हण ने उससे पुनर्नवा का ही ग्रहण किया है।

वृश्चीर का वर्णन यहाँ किया जा रहा है। वृश्चीर (Trianthema portulacastrum Linn.)

इसे लोकभाषा में 'बिसखपरा' कहते हैं। बरसात में यह सर्वत्र देखा जाता है। इसका वर्षायु, प्रसरी, मांसल एव चिकना क्षुप होता है। पत्र–पुनर्नवा के सदृश अभिलट्वाकार, किन्तु मांसल, एक बड़ा और दूसरा छोटा होता है। पुष्प–सफेद या गुलाबी रंग के, एकल होते हैं। फलियाँ–५ मि. मी. लम्बी और ३ मि. मी.

---

१. डल्हण ने दोनों को एक मान कर श्वेतपुनर्नवा अर्थ किया है।
(सु. उ. ३०।२०२, ४२, ४६)

२. वृश्चीरः श्वेतपुनर्नवा। चक्र. (च. सू. ४।२२, क. ०।१६, सि. ३।६५)
वृश्चीर· शुक्लपुनर्नवा। ड. (सु. उ. ५९।२४)
वर्षाभूः श्वेतपुनर्नवा। चक्र. (च. चि. २९।६१)
पुनर्नवे द्वे शुक्ललोहिते। ड. (सु. चि. २५।३२, उ. ४१।४३)

३. इसका विवरण द्वितीथ भाग में देखें।

४. च. सू. २७।९६, वि. ८।१४३, चि. ३।१९०, ४।१८; सु. उ. ३९।१५१

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

चौड़ी होती हैं। फल पकने पर अनुप्रस्थ दिशा में फटता है जिससे ऊपरी चर्मवत् आवरण में एक बीज और निचले प्यालानुमा भाग में ३–५ बीज होते हैं। बीज हलके काले रंग के होते हैं।

यह भारत में प्रायः सर्वत्र पाया जाता है।

पुल्लास

चरकसंहिता में 'करीरधवनिम्बार्कवेणुकोशाम्रजाम्बवैः' (चि. ३०।८२) का जेज्जटसम्मत पाठ 'करीरधवनिम्बार्कवूकपुल्लासजाम्बवैः' है।

जेज्जट ने इसकी व्याख्या में लिखा है—'पुल्लासः उत्तरापथे प्रसिद्ध एव।

पुल्लास, मेरे विचार से, बुरांस (Rhododendron arboreum Sm. है।

ठा० बलवन्त सिंह ने वूक को पुल्लास समझा है किन्तु वस्तुतः उपर्युक्त पद्य में वूक और पुल्लास पृथक् द्रव्य हैं।

पुष्करवर्त्ति

यह केवल सुश्रुतसंहिता (सू. ४६।१६३) में मिलता है। डल्हण ने इसे उत्तरापथ का आमोद कहा है। यह अज्ञात है।

प्रपौण्डरीक–मधुपर्णी–असनपर्णी

चरकसंहिता में प्रपौण्डरीक का उल्लेख प्रायः मधुक के साथ हुआ है। यह शीतवीर्य, मधुर, स्निग्ध तथा अन्य गुणकर्म में मधुक के समान है। इससे स्पष्ट होता है कि यह मधुक का कोई भेद हो। किन्तु इतना साहचर्य होने पर भी मधुक तथा मधूलिका (जलज मधुयष्टी) का तो उल्लेख है किन्तु प्रपौण्डरीक अनुपस्थित है। मधुरस्कन्ध में सुश्रुतोक्त काकोल्यादि गण के प्रायः सभी द्रव्य समाविष्ट है किन्तु प्रपौण्डरीक काकोल्यादि गण में होने पर भी यहाँ अनुपलब्ध है। अतः अधिक सम्भावना है कि इसका अभिधान किसी अन्य पर्याय द्वारा किया गया हो।

'मधुपर्णी' मधुरस्कन्ध में पठित है। सम्प्रति लोग इसे गुडूची का ग्रहण करते हैं किन्तु 'छिन्नरुहा' का पृथक् उल्लेख होने से इसका गुडूची अर्थ नहीं हो सकता। चरकसंहिता में मधुपर्णी मधुक के साथ सन्धानीय तथा स्नेहोपग महाकषायों में पठित है। इसके अतिरिक्त यह शुक्रज मूत्रकृच्छ्र (चि. २६।७०) तथा वातरक्त में विहित हैं। वातरक्त में एक मधुपर्ण्यादि तैल है (चि. २९।९१–९५) जिसमें मधुपर्णी के अतिरिक्त मधुक तथा प्रपौण्डरीक भी हैं। इसी प्रकार मधुकतैल (चि. २९।११९–११८) में भी मधुपर्णी है। उपर्युक्त सन्दर्भ में मधुपर्णी से पृथक् प्रपौण्डरीक का पाठ होने से वह मधुपर्णी भी नहीं हो सकता। सुश्रुतसंहिता में एक स्थल (सू. १६।१४) पर मधुक के साथ प्रपौण्डरीक और दूसरे स्थल (सू.

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

१६।१८) पर उसके साथ मधुपर्णी है। इसके अतिरिक्त, गर्भस्रावहर योगों में भी 'मधुपर्णिका' का पाठ है (शा. १०।६१)। इस प्रकार 'मधुपर्णी' से प्रपौण्डरीक का ग्रहण करना सम्भव नहीं है।

असनपर्णी केवल चरकसंहिता में है और दोनों स्थलों पर उसके साथ मधुपर्णी है (वि. ८।१३९, चि. २६।७०)। चक्रपाणि ने असनपर्णी का अर्थ अपराजिता किया है। मेरी दृष्टि में, असनपर्णी से प्रपौण्डरीक का ग्रहण कर सकते हैं।

'प्रपौण्डरीक' शब्द में 'पौण्डरीक' का अर्थ 'मधु' है (पुण्डरीके भवम्) अतः 'प्रपौण्डरीक' का अर्थ होगा 'प्रकृष्ट मधु'। 'मधु' शब्द मधुक का द्योतक है। इस प्रकार यह मधुक का ही भेद प्रतीत होता है। मधु(क)पर्णी तथा असनपर्णी भी मधुक की ही जातियाँ हैं। यह ज्ञातव्य है कि मधुक की अनेक जातियाँ देशविशेष में होती हैं और सम्भव है इन्हीं जातियों का कथन इन विभिन्न नामों से किया गया हो।

डल्हण ने प्रपौण्डरीक की जो व्याख्या की है उससे भी यही सिद्ध होता है। उसमें इसे यष्टीमधु से कुछ मोटा मधुर द्रव्य कहा है[1]।

आजकल कुछ लोग 'पुण्डरीक' से भ्रान्त होकर 'प्रपौण्डरीक' से कमल का ग्रहण करते हैं किन्तु इससे कमल नहीं लिया जा सकता क्योंकि प्रपौण्डरीक, कमल और उत्पल एक साथ पठित हैं (च. सि. ३।५०)। वाग्भट ने इसके लिए कुछ स्थलों पर 'पुण्ड्राह्व' शब्द का प्रयोग किया है जिसके कारण कुछ विद्वान प्रपौण्डरीक को तिलक की ओर खींचते हैं। इस सम्बन्ध में इतना ही कहना है कि चरक-सुश्रुत में 'पुण्ड्राह्व' शब्द नहीं मिलता। दूसरी बात यह है कि 'पुण्ड्र' या 'पुण्ड्राह्व' तिलक के पर्याय रूप में ही उपलब्ध होता है उसके आधार पर संहितोक्त द्रव्य का निर्णय करना उचित नहीं। तीसरी बात यह है कि चरक-सुश्रुत में तिलक केवल एक ही स्थान पर निर्दिष्ट है किन्तु वहाँ भी पाठान्तर होने से पाठ सन्दिग्ध ही है। अतः आधार ही खण्डित हो जाता है।

प्राचीबल

इसका उल्लेख केवल सुश्रुतसंहिता में हुआ है। उसके सुरसादि गण में प्राचीबल तथा उत्तरतन्त्र (३४।३) में प्रचीबल है। वाग्भट ने उसी गण के द्रव्यों की गणना करते हुए इसके लिए 'कार्मुका' पर्याय दिया है।

डल्हण ने इसका अर्थ मत्स्याक्षक किया है तथा एकीय मत से काकजंघा गण्ड-दूर्वा और नदीपिप्पली का उल्लेख किया है।

---

१. प्रपौण्डरीकं स्वनामख्यातं यष्टीमधुद्रव्यादीषत्स्थूलं मधुररसं नेत्राश्चोतनार्हं द्रव्यम्, अन्ये श्रीपुष्पमाहुः। (सु. सू. ३८।५)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

अष्टांगनिघण्टु में 'कार्मुका' से अतिमुक्तक (माधवी) अर्थ किया है। अन्य निघण्टुओं में भी 'कार्मुक' 'अतिमुक्तक का पर्याय है। सम्भवतः वसन्त में फूलने तथा कामदेव के कार्मुक (शर) के लिए उपयोगी होने के कारण कार्मुक पर्याय है।

अतिमुक्तक का उल्लेख सुश्रुत एवं वाग्भट में है। इसका तैल प्रमेहघ्न कहा गया है (सु. चि. ३१।५)। इसके अंकुर का शाक रक्तपित्त में लाभकर है (सु. उ. ४५।१६)। अतिमुक्तक का तैल मधुर, मधुरविपाक, शीतवीर्य तथा वातपित्त-शामक कहा गया है (सु. सू. ४५।१२०)। वाग्भट ने अतिमुक्तक के पल्लव घृतभृष्ट कर नेत्ररोगों में खाने का विधान किया है (अ. हृ. उ. १३।८९)।

किन्तु प्राचीबल सुरसादि गण में निर्दिष्ट होने से उष्णवीर्य और कफशामक होना चाहिए जबकि अतिमुक्तक शीतवीर्य तथा रक्तपित्तशामक है। अतः प्राचीबल इससे भिन्न होना चाहिए। प्रायः इससे काकजंघा लेते हैं। (देखें काकजंघा)

प्रियङ्गु—गन्धप्रियङ्गु—कान्ता

प्रियंगु चरक के सन्धानीय, मूत्रविरजनीय, पुरीषसंग्रहणीय तथा शोणितस्थापन महाकषायों में तथा सुश्रुत के प्रियंग्वादि और अञ्जनादि गणों में पठित है। गन्धप्रियंगु केवल चरकसंहिता में मिलता है। चक्रपाणि ने लिखा है कि 'गन्धप्रियंगुः प्रियंगुरेव' (च. चि. २१।९०)। डल्हण ने 'कंगुनिया इति लोके' कहा है (सु. सू. ४६।२१)।

धान्य में भी एक प्रियंगु (कंगु) होता है जिसे कंगुनी कहते हैं। यह Setaria italica Beauv. है। सम्भवतः धान्यप्रियंगु से भेद करने के लिए 'गन्धप्रियंगु' (गन्धयुक्त तथा गन्धद्रव्यों में प्रयुक्त होने वाला प्रियंगु) शब्द का प्रयोग चरक ने किया। अन्यत्र यह शब्द नहीं मिलता तथा चरक में भी प्रायः प्रियंगु शब्द ही मिलता है, अत एव चक्रपाणि तथा वैद्यसमाज गन्धप्रियंगु से प्रियंगु का ही ग्रहण करते हैं। किन्तु परवर्ती निघण्टुओं[2] में प्रियंगु से पृथक् गन्धप्रियंगु का वर्णन उपलब्ध होता है यद्यपि दोनों के गुणधर्म समान हैं। सम्भवतः उनके समक्ष दो द्रव्य थे। धान्यप्रियंगु और प्रियंगु में सम्भवतः प्रयोज्य अंग में आकृतिसाम्य तथा गुणधर्म में समानता रही हो। स्मरणीय है कि प्रियंगु तथा धान्यप्रियंगु दोनों रक्तपित्त में प्रशस्त कहे गये हैं (च. चि. ४)।

धान्यप्रियंगु के अतिरिक्त, औषधीय प्रियंगु के नाम पर निम्नांकित तीन द्रव्य प्रचलित हैं :—

---

१. प्राचीना बोधकी कान्ता कार्मुका रक्तमञ्जरी।
माधवी स्यादमुक्तश्च सुवसन्तोऽतिमुक्तकः॥ (अ. नि. १३६)

२. देखें कैयदेवनिघण्टु, भावप्रकाश।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

१. डइया (दयिता ?)—Callicarpa macrophylla Vahl.
२. घउंला—Prunus mahaleb Linn.
३. Aglaia roxburghiana Miq. (निम्बकुल का एक वृक्ष)

प्रियंगु का व्यवहार प्राचीन काल से भारतवर्ष की महिलायें प्रसाधन–अंगराग–अनुलेपन आदि में करती रही हैं[1]। दयिता, कान्ता, महिला आदि पर्यायों का तात्पर्य यही है। स्मरणीय है कि घउला कराची और बम्बई के बाजारों में प्राचीन काल से उपलब्ध है और वहाँ की स्त्रियाँ गन्धद्रव्य के रूप में इसका प्रयोग करती हैं। वे इसकी माला गूँथ कर भी पहनती हैं।

आजकल प्रायः विद्वान Callicarpa macrophylla. को प्रियंगु मानते हैं। मेरे विचार से यह प्रियंगु तो है किन्तु गन्धप्रियंगु को भिन्न मान कर उससे Prunus mahaleb. का ग्रहण करना चाहिए।

कान्ता के सम्बन्ध में Porana paniculata Roxb. की ओर भी ध्यान देना चाहिए। यह एक सुन्दर लता है जिसमें सफेद सुगन्धित पुष्प आते हैं जो महिलाओं द्वारा सज्जा में व्यवहृत होते हैं। इसी कारण यह Bridal creeper कहा जाता है। काव्यग्रन्थों[2] में जो श्यामा लता है उससे इसी का ग्रहण किया जाना चाहिए।

बदरभेद

बदर, कोल और कर्कन्धु ये तीन जातियाँ बदर की मानी जाती हैं। बदर का फल बड़ा, कर्कन्धु का सबसे छोटा और कोल (या कुवल) का मध्यम प्रमाण का होता है। चरक के सूत्रस्थान (अ. २७) में इन तीनों का पृथक्-पृथक् उल्लेख है (१४१, २७९, १३२)। सिञ्चितिकाफल का भी पृथक् से वर्णन है। सुश्रुत ने फलवर्ग के प्रारम्भ (सु. सू. ४६।१३९) में जो मधुराम्ल फलों की सूची दी है उसमें बदर की पाँच जातियों का उल्लेख है—बदर, कोल, कर्कन्धु, सौवीर और सिञ्चितिकाफल। सौवीर चरक में नहीं है, चरक का कुवल सुश्रुत में नहीं है, अतः सौवीर और कुवल को एक ही मानना चाहिए।

चक्रपाणि ने बदर को मध्यप्रमाण एवं मधुर बतलाया है (बदरं मध्यप्रमाणं, तद्धि मधुरमेव भवति—च. सू. २७।१४१)। कर्कन्धू को शृगालबदरी (च. सू. २७।१३२) कहा।

सौवीर के विषय में डल्हण ने परिचय देते हुए कहा है कि यह सबसे बड़ा, आम और पक्व सभी अवस्थाओं में मधुर तथा मरुदेशज होता है—'सौवीरं महत्तमामामपक्वावस्थासु मधुरं मरुदेशजं'—सु. सू. ४६।१३९।

---

१. प्रियङ्गुकालीयककुङ्कुमाक्तं स्तनेषु गौरेषु विलासिनीभिः। (ऋतु० ६।१५)
२. ऋतु० ३।१८; रघु० ८।६१

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

सिञ्चितिकाफल के परिचय में डल्हण ने इसे सौवीर का भेद बतलाया है जो अतिमधुर, मुष्टिप्रमाण और उत्तरापथज होता है—'सिञ्चितिकाफलं तद्भेद एवातिमधुरो मुष्टिप्रमाण उत्तरापथजः'—(सु. सू. ४६।१३९)। चक्रपाणि ने इसके विषय में कोई टिप्पणी नहीं दी है। डल्हण ने सौवीर को ही महत्तम कहा, पुनः उसका भेद सिञ्चितिका मुष्टिप्रमाण (उससे भी बड़ा) वतलाया। इसका आकार सेब से मिलता-जुलता है अतः भ्रान्तिवश कुछ लोग इससे सेव लेते हैं। वस्तुतः यह बदरभेद है। सेव का वर्णन सर्वप्रथम भावप्रकाश में मिलता है क्योंकि यह युरोपवासियों के साथ आया।

इनके अतिरिक्त एक गोपघोण्टा भी है जो भक्ष्य फलों में नहीं आता। इसे घुंट, घोंट या ककोड़ा लोकभाषा में कहते हैं।

इन बदरभेदों के वानस्पतिक नाम ये हैं :—

१. बदर—Zizyphus mauritiana Lam.

२. कोल— " " "

३. कर्कन्धु— Z. nummularia (Burm. f.) W. & A.)
(शृगालबदरी)—Z. oenophia Mill.

४. सौवीर (कुवल)—Z. jujuba Mill.

५. सिञ्चितिकाफल— " "

इस प्रसंग में 'सौवीर' के सम्बन्ध में भी कुछ ज्ञातव्य है। सिन्धु–सौवीर पश्चिमी भारत का प्राचीन प्रदेश रहा है जो सिन्धु और झेलम नदी के तट पर स्थित था। बाद में ये दोनों मिल गये और सिन्ध कहलाने लगा। उसी प्रदेश में होने वाले द्रव्यों को 'सौवीर' कहते थे। बदर के अतिरिक्त, काञ्जी, अञ्जनभेद तथा शालिविशेष के लिए 'सौवीर' शब्द प्रचलित है।

बर्हिशिखा

बर्हिशिखा अर्थात् मयूरशिखा का उल्लेख केवल वाग्भट ने किया है। इसका प्रयोग मूत्राघात में है[1]। परवर्त्ती निघण्टुओं (कैयदेव, भावप्रकाश, राजनिघण्टु आदि) में इसका वर्णन मिलता है। इससे स्पष्ट है कि वाग्भट-काल से प्रारम्भ होकर इसका प्रयोग उत्तरोत्तर बढ़ा है।

बृहत्त्रयी में 'मयूरक' मिलता है। चरकसंहिता में वातिक शोथ तथा मृतसञ्जीवन अगद में पठित है। सुश्रुत ने व्रणशोधन, अर्कादि गण, वातव्याधि तथा शोथ में इसका निर्देश किया है। वाग्भट चे रक्तार्श तथा सिध्म में इसका प्रयोग किया है।

१. क्षीरान्नभुक् बर्हिशिखामूलं वा तण्डुलाम्बुना।
मूत्राघातेषु विभजेत्—(अ. हृ. चि. ११।३४)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

टीकाकारों ने एक स्वर से मयूरक का अर्थ अपामार्ग किया है। मेरे विचार से मयूरक के मयूरशिखा होने की सम्भावना पर ध्यान देना चाहिए। इसी दृष्टि से शिखी और शिखरी शब्दों पर भी विचार करना चाहिए।

मयूरशिखा की आकृति वाली चार वनस्पतियाँ मयूरशिखा के नाम से प्रचलित हैं :—

१. Celosia argentea Linn. Var. cristata.
२. Actiniopteris dichotoma Bedd.
३. Elephantopus scaber Linn.
४. Adiantum caudatum Linn.

पहला द्रव्य शितिवारभेद है (देखें इन्दीवर)। वैद्य बापालाल जी दूसरे तथा ठा० बलवन्त सिंह तीसरे द्रव्य को मयूरशिखा मानते हैं। तीसरा द्रव्य गोजिह्वा के रूप में स्वीकृत है अतः द्वितीय द्रव्य का ही ग्रहण मयूरशिखा से करना चाहिए। चौथा द्रव्य वस्तुतः हंसपदी है।

बलाभेद–सहदेवा–विश्वदेवा–शीतपाकी–ओदनपाकी–प्रसारणी

आयुर्वेद में बला एक अत्यन्त प्रचलित औषधद्रव्य है किन्तु इसके अनेक भेद हैं जिनके सम्बन्ध में अद्यावधि सन्दिग्धता चली आ रही है।

प्राचीन संहिताओं में बलाद्वय[1] तथा बलात्रय[2] (या बलात्रितय) का उल्लेख मिलता है। बलाद्वय में बला, अतिबला तथा बलात्रय में इनके अतिरिक्त नागबला है। आगे चल कर निघण्टुओं में महाबला मिल कर बलाचतुष्टय[3] तथा राजबला मिला कर बलायपञ्चक[4] हो जाता है।

चरकसंहिता में बृंहणीय महाकषाय में वाट्यायनी और भद्रौदनी तथा बल्य महाकषाय में बला और अतिबला है। ऐसा समझा जा सकता है कि वाट्यायनी और भद्रौदनी पर्यायों से बला–अतिबला का ही कथन बृंहणीय महाकषाय में किया गया है।

सुश्रुतसंहिता में विदारिगन्धादि गण में सहदेवा–विश्वदेवा तथा वातसंशमन गण में बला–अतिबला का पाठ है। इनके अतिरिक्त, शीतपाकी–ओदनपाकी शब्द

---

१. च. चि. २८।१६५, अ. हृ. उ. २२।६८, ३४।३७
२. अ. हृ. उ. १३।५२, २७।३८
३. भा. प्र. ३।१४४
४. बला चातिबला चैव महाबलबला। अन्या राजबला चेति बलायाः पञ्चकं मतम्॥
—(ध. नि. १।२८७)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

भी व्यवहृत हुये हैं। चरकसंहिता (वि. ८।१३९) में सहदेवा, विश्वदेवा, बला, अतिबला, शीतपाकी और ओदनपाकी ये छः नाम पृथक् पठित हैं अतः ये सभी भिन्न द्रव्य हैं इसमें कोई सन्देह नहीं।

बलाद्वय (बला एवं अतिबला) सुपरिज्ञात है अतः इनमें कोई भ्रम नहीं है। सहदेवा और विश्वदेवा का स्वरूप स्पष्ट न होने के कारण टीकाकारों ने इनकी व्याख्या अनेक प्रकार से की है। चक्रपाणि ने इन पर कोई प्रकाश नहीं डाला है। डल्हण सहदेवा (सहदेवी ?) से पीतपुष्पा बला (कांकसी) तथा एकीय मत से नीलपुष्पा बला लेते हैं और विश्वदेवा से गांगेरुकी (गुडशर्करा) तथा एकीथ मत से श्वेतपुष्पा बला का ग्रहण करते हैं[1]। एक स्थल (सु. चि. ५।१२) पर वह सहदेवा से गाङ्गेरुकी लेते हैं। इससे स्पष्ट है कि डल्हण इस सम्बन्ध में निर्भ्रान्त नहीं थे। तथापि सहदेवा से अतिबला तथा विश्वदेवा से नागबला लेने के पक्ष में वह थे। नागबला एक प्रचलित द्रव्य था तथा बला-अतिबला से ऊपर इसका स्थान था। चरक ने नागबला-रसायन का विवरण देकर बाद में बला-अतिबला का नाम निर्देश कर दिया[2]। वाग्भट ने भी बलात्रय में नागबला को विशिष्ट माना है[3]। अन्य निघण्टुओं ने भी नागबला का पृथक् एवं पहले वर्णन कर उसका प्राधान्य बतलाया है। ऐसे प्रमुख द्रव्य का मधुरस्कन्ध में नामोल्लेख न होना सम्भव नहीं था, अतः यह माना जा सकता है कि विश्वदेवा पर्याय नागबला का ही द्योतक है जैसा कि डल्हण ने भी कहा है[4]।

अब सहदेवा पर विचार करना है। सहदेवा को डल्हण ने जो अतिबला कहा है वह ठीक नहीं है क्योंकि चरक के मधुरस्कन्ध में यह बला-अतिबला और विश्वदेवा (नागबला) से पृथक् पठित है। अतः वह बलात्रय से पृथक् स्वतन्त्र द्रव्य है। प्रायः सहदेवा-विश्वदेवा साथ-साथ पठित हैं अतः भिन्न होने पर भी ये सजातीय द्रव्य हैं और इस प्रकार सहदेवा बला की ही कोई जाति प्रतीत होती है।

सहदेवा को लेकर ही आगे 'बलाचतुष्टय' की कल्पना की गई और सहदेवा को

---

१. विश्वदेवा गाङ्गेरुकी प्रसिद्धा, गुडशर्करा (गुलशकरी) इति पूर्वदेशे; अन्ये सितकुसुमां बलामाहुः। सहदेवी बलाभेदः पीतपुष्पा 'कांकसी' इति लोके, अन्ये बलां नीलपुष्पामाहुः।' (ड. सु. सू. ३८।४; शा. २।३२)

२. च. चि. १।२।११–१२

३. अ. सं. सू. ११।८२

४. निघण्टुओं में भी विश्वदेवा नागबला पर्यायवाची हैं :—

गाङ्गेरुकी नागबला खरबन्धा निशाह्वया।
विश्वदेवा झषा काला तथा चाश्वगवेधुका॥ (अ. नि., १०)

और देखें पर्यायरत्नमाला, ५७; सोढलनिघण्टु १।२८२; ध. नि. १।२८४

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

महाबला की संज्ञा दी गई। अष्टांगनिघण्टु में सहदेवा महागन्धा कही गई है[1]। अन्य निघण्टुओं में भी सहदेवा महाबला का पर्याय है[2]। महाबला की ही एक जाति Sida rhombifolia है।

पर्यायरत्नमाला में सहदेवा से दण्डोत्पला का ग्रहण किया है। श्वेतपुष्पा दण्डोत्पला को सहदेवा तथा अरुणपुष्पा को विश्वदेवा कहा है। वोपदेव ने भी सिद्धमन्त्रप्रकाश[3] में सहदेवा को दण्डोत्पला कहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि बाद में 'सहदेवा' 'सहदेवी' के रूप में परिणत हो गई और इसी आधार पर इसका अर्थ अर्थ दण्डोत्पला किया गया। अभिधानरत्नमाला तथा निघण्टुशेष में सहदेवा का पाठान्तर सहदेवी है। दण्डोत्पला वही द्रव्य है जिसे आजकल सहदेवी (सहदेई) नाम से जानते हैं। इसका वानस्पतिक नाम Vernonia cineria Less. है। पुष्पदण्ड सुस्पष्ट होने के कारण इसका नाम दण्डोत्पला है।

बला के लिए प्रयुक्त वाट्यायनी (वाट्याह्व), भद्रौदनी आदि पर्याय यह संकेत करते हैं कि बला के बीजों का बाटी या भात आदि आहारकल्प के रूप में प्रयोग होता था।

शीतपाकी-ओदनपाकी

चरक के मधुरस्कन्ध तथा शीतवीर्य द्रव्यों में इन दोनों का पाठ है। 'अन्नपाकी' भी सम्भवतः ओदनपाकी के लिए है।

सुश्रुतसंहिता में ओदनपाकी नहीं है, शीतपाकी है जिसका अर्थ डल्हण ने बलाफल किया है। वाग्भट ने शीतपाकी और ओदनपाकी का पाठ पित्तसंशमन गण में किया है (अ. सं. सू. १४।११)। अष्टांगहृदय (सू. ५।६) में केवल शीतपाकी है।

चक्रपाणि ने शीतपाकी से शीतला तथा ओदनपाकी से नीलझिण्टी का ग्रहण किया है (च. वि. ८।१३९)। अन्यत्र शीतपाकी से गण्डदूर्वा लिया है। सम्भवतः शीतला और गण्डदूर्वा एक ही है।

धन्वन्तरिनिघण्टु में दोनों बला के पर्याय हैं। इसका कारण यह है कि शीतकाल में इसके फल पकते हैं और बीजों का तण्डुलवत् प्रयोग होता है। सोढलनिघण्टु में ओदनपाकी नील सैरेयक तथा शीतपाकी बला और काकादनी के लिए आया है।

---

१. सहदेवा महागन्धा बलाह्वया। (अ. नि., १०)

२. महाबला वर्षपुष्पी तथा वाट्यायनी स्मृता।
सहदेवा देवसहा पीतपुष्पी बृहत्फला॥ (ध. नि., १।२८२)
और देखें सोढलनिघण्टु १।२८१; भा. प्र. ३।१४४, भावप्रकाश में 'सहदेवा' के स्थल पर 'सहदेवी' है।

३. दोषघ्नवर्ग, १२२

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

ओदनपाकी शीतवीर्य द्रव्यों में पठित है जबकि सैरेयक उष्णवीर्य है अतः यह सैरेयक नहीं हो सकता। चरक के मधुरस्कन्ध में ये दोनों बलाचतुष्टय से पृथक् पठित हैं अतः ये बला-प्रजातियों से भी भिन्न प्रतीत होते हैं।

मेरे विचार से, शीतपाकी तथा ओदनपाकी दोनों बलाप्रजातियों से भिन्न तृणजातीय वनस्पतियाँ प्रतीत होती हैं। चक्रपाणि ने शीतपाकी से ठीक ही गण्डदूर्वा की ओर संकेत किया है। ओदनपाकी सम्भवतः Hymenachne amplexicaulis (Rudge) Nees. है जो आसाम में भात-दाल कहा जाता है। यह २–६ फीट ऊँचा और एक जलीय तृण है जो प्रायः शीतकाल में पकता है। इसमें पौष्टिक तत्त्व पर्याप्त मात्रा में होते हैं।

प्रसारणी से आजकल गन्धप्रसारणी, Paederia foetida Linn. लेते हैं किन्तु प्राचीन प्रसारणी इससे भिन्न थी क्योंकि कहीं भी प्रसारणी में 'गन्ध' विशेषण नहीं लगा है। चरकसंहिता के दृढबलकृत अंश (चि. २८।१६६) में केवल एक बार यह वातव्याधिचिकित्सा में बलाद्वय के साथ पठित है। सुश्रुत ने मूढगर्भ में प्रसारिणी-तैल का निर्देश किया है। वाग्भट ने वातव्याधि-प्रकरण में प्रसारिणीतैल का विवरण दिया है। टीकाकारों ने इस पर कोई टिप्पणी नहीं की। किन्तु निघण्टुओं में इसका वर्णन बला के प्रकरण में किया गया हैं तथा राजबला इसके पर्यायों में है[1]। अतः इसे बला के ही पञ्चम भेद 'राजबला' के रूप में स्वीकार करना चाहिए। यह बला की प्रसरणशील प्रजाति (Sida veronicaefolia Lam.) है जिसे यादव जी ने नागबला कहा है।

नागबला वस्तुतः Grewia hirsuta Vahl. है जो गुडशर्करा (गुड़खण्डी) के नाम से प्रचलित है (देखें गांगेरुकी–गुडशर्करा)।

निष्कर्ष—बलापञ्चक का वानस्पतिक निर्धारण इस प्रकार किया जा सकता है :—

१. बला—Sida cordifolia Linn.
२. अतिबला—Abutilon indicum (Linn.) SW.
३. महाबला—Sida rhombifolia Linn. Mast.
४. नागबला—Grewia hirsuta Vahl.
५. राजबला (प्रसारिणी)—Sida veronicaefolia Lam.

---

१. प्रसारणी सुप्रसरा सरणी सारणी च सा। चारुपर्णी राजबला भद्रपर्णी प्रतानिका॥
और देखें—निघण्टुशेष, सोढलनिघण्टु, कैयदेव तथा भावप्रकाश।
केवल पर्यायरत्नमाला में 'गन्धाली' पर्याय दिया है। सम्भव है, वंगीय परम्परा में इससे गन्धप्रसारणी ली जाती है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

बल्वज

यह एक प्राचीनतम तृणजातीय वनस्पति है। ऋग्वेद, अन्य वैदिक संहिताओं तथा वैदिक वाङ्मय के अन्य ग्रन्थों में इसका उल्लेख मिलता है। सायण ने अपनी व्याख्या में 'तृणविशेष' लिखा है[1]। इसके अनेक लौकिक प्रयोग हैं जिनमें इसकी रस्सी प्रमुख हैं। पतञ्जलि ने इसकी रज्जु का उल्लेख किया है[2]।

बृहत्त्रयी में इसका उल्लेख चरक एवं वाग्भट ने किया है। अपरापातन तथा गुल्मभेदन के प्रसंग में बल्वज का उल्लेख है। द्वितीय संदर्भ में कुश के साथ पठित है। टीकाकारों ने इस पर कोई प्रकाश नहीं डाला।

ठा० बलवन्त सिंह उलू नामक तृण (Imperata arundinacea Cyrill.) को बल्वज मानते हैं। मेरे विचार से यह भाभर या सबई है जिसकी रस्सी से आज भी खाट इत्यादि बुनी जाती है। यह Eulaliopsis binata (Retz.) C. E. Hubbard. है।

बहुला

केवल चरकसंहिता में एक बार यह सितोपलादि लेह के घटक द्रव्यों में निर्दिष्ट है (चि. ८।१०३) टीकाकार ने इस पर कोई प्रकाश नहीं डाला। सितोपलादि एक प्रचलित योग होने के कारण यह शंका उठती है कि 'बहुला' से क्या लिया जाय-बड़ी इलायची या छोटी इलायची ? कुछ वैद्य परंपरानुसार छोटी इलायची तथा कुछ 'बहुला' से बृहत्त्व का संकेत पाकर बड़ी इलायची लेते हैं।

निघण्टुओं में बहुला अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। धन्वन्तरिनिघण्टु में यह सूक्ष्मैला, शतपुष्पा तथा नागवल्ली के लिए प्रयुक्त है। भावप्रकाशनिघण्टु में यह स्थूलैला का पर्याय है। इस प्रकार निघण्टुओं में भी मतैक्य नहीं है।

वस्तुतः 'बहुला' शब्द बृहत्त्व नहीं किन्तु बहुलगन्धता का बोधक है। इसी कारण राजनिघण्टु ने 'बहुलगन्धा' पर्याय सूक्ष्मैला का दिया। गुणधर्म की दृष्टि से सूक्ष्मैला स्थूलैला से श्रेष्ठ है अतः बहुला से सूक्ष्मैला का ग्रहण करना चाहिए। (देखें एलाद्वय)।

बाष्पद्वय—बाष्पिका—हिंगुपत्रिका—वेणुपत्रिका

सुश्रुतसंहिता (चि. ४।३८) में बाष्पद्वय है जिसे डल्हण ने दो प्रकार की बाष्पिका कहा है—'बाष्पद्वयं बाष्पिकाद्वयं तच्च लोहितं कृष्णं च सिन्धुविषये'। अर्थात् बाष्प (बाष्पिका) लाल और काला दो प्रकार का होता है और सिन्ध में पाया जाता है।

---

१. बल्वजाः तृणविशेषाः। सायण (शतपथ ब्राह्मण, १४।१।३।११)

२. एकश्च बल्वजो बन्धनेऽसमर्थस्तत् समुदायश्च रज्जुः समर्था भवति।
(पा. म. १।२।४५)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

वाग्भट ने बाष्पिका का प्रयोग विषशान्ति के लिए तथा हिक्का-श्वास में किया है। हिक्का-श्वास में बाष्पिका को अपने क्वाथ में पीस कर तथा घोल कर पिलाने का विधान हैं। इससे अनुमान होता है कि यह कोई वनस्पति है, निर्यास नहीं।

चरक ने हिंगुपर्णी, हिंगुपत्री तथा हिंगुशिवाटिका शब्दों का प्रयोग किया है। इसका प्रयोग उन्माद, अपस्मार तथा ग्रहणी में हुआ है। इससे इसका मानसदोषहर तथा दीपन-पाचन कर्मों का संकेत मिलता है।

अरुणदत्त ने बाष्पिका का अर्थ हिंगुपत्रिका किया है। चक्रपाणि हिंगुपर्णी की व्याख्या में लिखते हैं—'हिंगुपर्णी वंशपत्रिका, अन्ये तु हिंगुपर्णी इति ख्यातामाहुः' (च. चि. ९।५७)। हिंगुशिवाटिका को भी वंशपत्रिका लिखा है (च. चि. १०।३७)। इससे स्पष्ट है कि चक्रपाणि हिंगुपर्णी तथा हिंगुशिवाटिका को एक ही मानते थे।

हिंगुपत्री का स्पष्ट अर्थ है 'हींग के पौधे के समान जिसके पत्र हों'। अतः यह हिंगु की ही भारतीय प्रजाति है क्योंकि हिंगु सामान्यतः बाहर से आती थी। यह Ferula narthex Boiss हो सकती है। डल्हण ने बाष्पिका के जो लाल और काला भेद बतलाये हैं वे निर्यास के प्रतीत होते हैं जो संभवतः उपर्युक्त वनस्पति के ही हों। वैद्य बापालाल जी इसी से मिलती जुलती वनस्पति Peucedanum grande C. B. C. (बाफली) को बाष्पिका मानते हैं।

वेणुपत्रिका का उल्लेख केवल सुश्रुतसंहिता में मिलता है (क. १।५३)। अभ्यंगगत विष में अन्य द्रव्यों के साथ इसका लेप करने का विधान है।

डल्हण ने इससे वंश के पत्र लिये हैं और एकीय मत से तत्सदृश द्रव्यान्तर का उल्लेख किया है[1]।

इसके निर्धारण के सम्बन्ध में Setaria glauca Beauv. की ओर ध्यान दिलाया गया है[2]। Oplismenus burmannii (Retz.) Beauv. (बांसपाती) पर भी विचार किया जा सकता है।

धन्वन्तरिनिघण्टु में हिंगु, हिंगुपत्री तथा नाडीहिंगु तीनों का क्रम से वर्णन किया है। सोढलनिघण्टु में भी इसी प्रकार है। कैयदेव ने भी हिंगु के बाद बाष्पिका का वर्णन किया है। भावमिश्र ने हिंगुपत्री और वंशपत्री का वर्णन किया है। निघण्टुओं के अनुसार नाडीहिंगु का पर्याय वंशपत्री है। अतः वेणुपत्रिका नाडीहिंगु है। नाडीहिंगु से डिभामाली Gardenia gummifera Linn. का ग्रहण किया जा सकता है।

---

१. वेणुपत्रिका वंशपत्राणि, अन्ये वेणुपत्रिकां वंशसदृशपत्रिकां द्रव्यान्तरमाहुः।
—उ. (सु. क. १।५३)

२. G. V. D. 380

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

बिम्बीलोट–भिल्लोटक

बिम्बीलोट और भिल्लोटक का प्रयोग केवल सुश्रुतसंहिता में मिलता है[1]। यहाँ दिनचर्या-प्रकरण में मुख-नेत्रप्रक्षालन के लिए इसके कषाय का विधान है। इसके अतिरिक्त, रक्ताभिष्यन्द तथा तिमिर में इसका अञ्जन विहित है।

डल्हण इसे हिमालय में विशेषतः केदारभूमि में होने वाला वृक्षविशेष कहते हैं जिसके फल ककुभफल के सदृश होते हैं[2]।

ठा० बलवन्त सिंह Euonymus tingens या E. pendulous Wall. को भिल्लोटक मानते हैं। इस सम्बन्ध में भिर्रा नाम से प्रचलित वृक्ष Chloroxylon swietenia DC. पर भी विचार करना चाहिए। सुश्रुत ने दिनचर्या प्रकरण में इसके व्यवहार का विधान किया है इससे संकेत मिलता है कि यह एक लोकप्रचलित वृक्ष था।

बिल्वपर्णी–सुरसी

बिल्वपत्र के साथ बिल्वपर्णी चरकसंहिता के शाकवर्ग में पठित है। यह वातनुत् कही गई है (च. सू. २७।१०७)। चक्रपाणि ने इसे बिल्वार्जक कहा है।

सुरसी सुश्रुतसंहिता तथा वाग्भट में पठित है। सुश्रुत ने इसकी गणना सुरसादि गण में की है तथा इसके पुष्प का उपयोग ऋषभागद में किया है। वाग्भट ने भी इसका पाठ सुरसादि गण में किया है।

डल्हण इसे कपित्थसदृशपत्रा कहते हैं तथा बिल्वनासी लोकप्रसिद्ध नाम देते हैं। एकीय मत से श्वेतनिर्गुण्डी का भी निर्देश करते हैं। अरुणदत्त इसका अर्थ तुम्बुरपत्रिका करते हैं।

इस प्रकार चक्रपाणि के मत में यह बिल्वार्जक (तुलसीभेद) है किन्तु डल्हण और अरुणदत्त एक भिन्न वनस्पति की ओर इंगित करते हैं। निघण्टुओं में भी इसका वर्णन मिलता है। अष्टांगनिघण्टु में इसे कपित्थपत्री कहा गया है[3] (जिसे डल्हण ने कपित्थसदृशपत्रा कहा)। पर्यायरत्नमाला में कपित्थपर्णी तथा चित्रपर्णिका कहा है[4]। सिद्धमन्त्र के वातघ्न वर्ग में यह बिल्वपत्र के साथ पठित है। वोपदेव ने इसका अर्थ शाकविशेष किया है। कैयदेवनिघण्टु में इसका स्वतंत्र वर्णन कपित्थ के

---

१. सु. उ. १२।११, १७।४०; चि. २४।१५,
२. बिम्बीलोटः भिल्लोटो हिमाद्रिजो वृक्षः। (सु. उ. १२।११)
भिल्लोटकः पर्वते केदारभूमौ प्रसिद्धः। (सु. चि. २४।१५)
,, हिमवदासन्नभूमिजः ककुभानुकारिफलो वृक्षविशेषः। (सु. उ. १७।४०)
३. कपित्थपत्री क्षा (सु) रसी निर्झरा क्षरपत्रिका। (अ. नि. १३५)
४. कपित्थपत्रा विरजा सुरसा चित्रपत्रिका। (प. र., २५)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

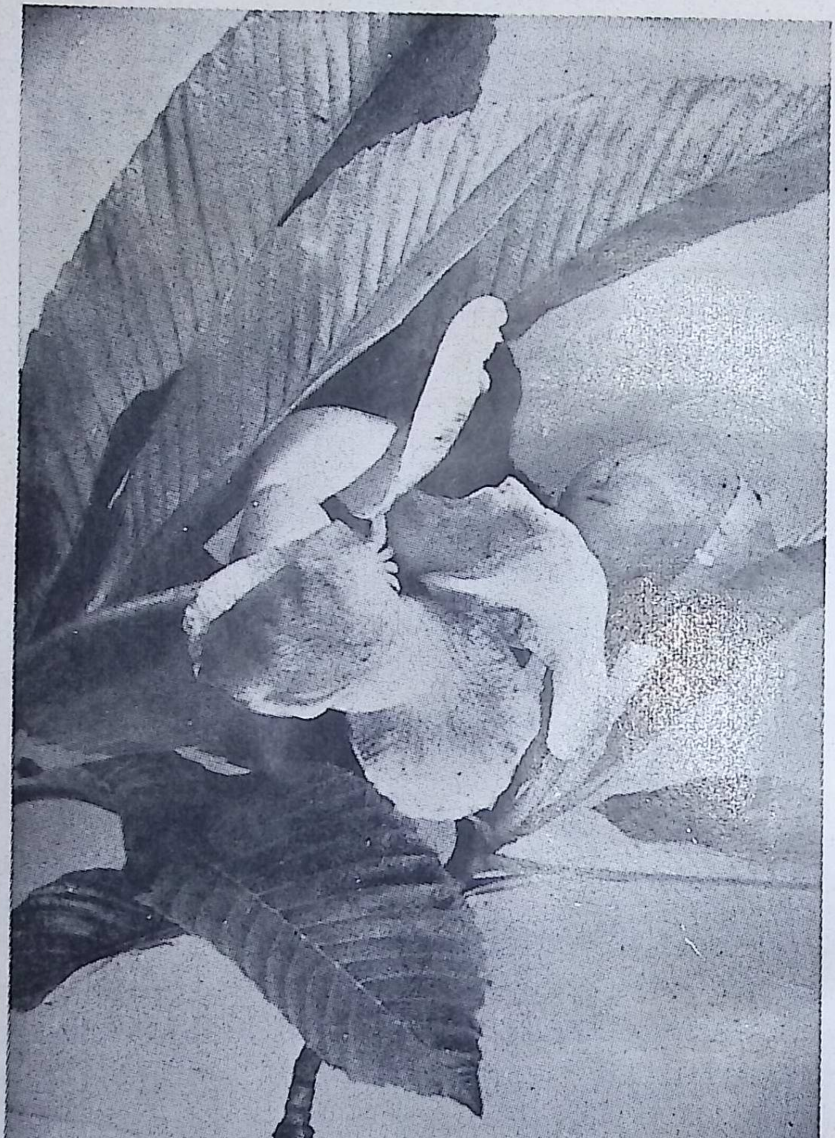

११. भव्य

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

बाद 'कपित्थपत्रा' नाम से है। इसमें भी तुम्बपत्रिका और चित्रपत्रिका पर्याय दिये हैं[1]।

बिल्वपर्णी से बेली (Limonia crenulata Roxb.) का ग्रहण करना चाहिए।

बृहतीद्वय

बृहतीद्वय से सामान्यतः कण्टकारी और बृहती इन दोनों का ग्रहण होता है। इसी प्रकार कण्टकारीद्वय से भी इन्हीं दो का बोध होता है। लोक में भी इन्हें छोटी कँटेरी और बड़ी कँटेरी कहते हैं। कुछ लोग बृहतीद्वय से बृहती (बड़ी कँटेरी) के बड़े और छोटे फल वाले या नील और श्वेतपुष्प वाले दो भेद लेते हैं। अनेक प्रजातियाँ इसकी मिलती हैं जो बनभण्टा के नाम से प्रचलित हैं।

डल्हण कण्टकारी को छोटा फल होने के कारण चणकबृहती कहते हैं। वह फल की आकृति के आधार पर ही दोनों में भेद करते हैं—एक स्थूलफला और दूसरा सूक्ष्मफला[2]।

भव्य

इसका वर्णन बृहत्त्रयी में प्रचुरता से मिलता है। अतः यह प्राचीन द्रव्य है इसमें सन्देह नहीं। फलवर्ग में इसका पाठ है। चरक (सू. २७।१३१) ने इसे मधुर-अम्ल-कषाय, गुरु, शीतवीर्य, विष्टम्भी, ग्राही, मुखशोधन तथा पित्तश्लेष्मकर कहा है। यही वर्णन सुश्रुत (सू. ४६।१५७) में उपलब्ध होता है।

आजकल निश्चित रूप से इससे चालता (Dillenia indica Linn.) का ग्रहण करते हैं किन्तु डल्हण की व्याख्या से प्रतीत होता है कि उस काल में यह भी एक सन्दिग्ध द्रव्य था। डल्हण इससे कार्त्तिकेयपुर में प्रसिद्ध आरुक लेते हैं और एकीय मत से कर्मरंग और तालफलसदृश फल का उल्लेख करते हैं।

"भव्यमारुकं कार्त्तिकेयपुरे प्रसिद्धम्; अन्ये तु कर्मरङ्गफलं भव्यमाहुः; भव्यं तालफलोपमं केवलवल्कलसंहतिमात्रम् इत्यपरे।' (सु. सू. ४६।१३९)

---

१. कपित्थपत्रा सरसी फणिजा रूपपत्रिका।
कूलजा वनजा ज्ञेया निर्जरा पुष्पपत्रिका॥
तुम्बपत्री चारुपत्री विरूपा चित्रपत्रिका।
कपित्थपत्रिका तिक्ता कषाया कटुपाकिणी॥
तीक्ष्णोष्णा नाशयेत् श्लेष्ममेदोमेहविषक्रिमीन्। (कै. नि. १।४१९–४२१)

२. बृहतीद्वयं कण्टकारिकाद्वयम्—एका स्थूलफला, द्वितीया ह्रस्वफला।
(सु. सू. ३८।२०)

" स्थूलफला चणकफला च। (सु. उ. ५१।२४)
बृहत्यौ स्थूलफला चणकबृहती च। (सु. शा. १०।६१)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

डल्हण द्वारा वर्णित यह तालफलोपम फल चालता ही है।

चक्रपाणि ने चरक के उपर्युक्त वचन की व्याख्या करते हुये वही बात लिखी है—'भव्यं कर्मरङ्गफलं, केचित् त्वक्संहतिमात्रफलं वदन्ति।' चरक में आरुक का पृथक् वर्णन होने के कारण चक्रपाणि ने इसे भव्य से पृथक् रक्खा है—'आरुकं कार्त्तिकपुरे प्रसिद्धम्, किन्तु डल्हण ने इसे भव्य के साथ सम्बद्ध कर दिया। 'तालफलोपम' यह सूचना डल्हण ने विशेष दी है जिससे फल की आकृति का परिज्ञान होता है।

भाण्डी–भाण्डीर

'भाण्डीर' शब्द संहिताओं तथा निघण्टुओं में नहीं मिलता। केवल 'भाण्डी' शब्द सुश्रुतसंहिता में है (सु. चि. ३१।५)। इसका तैल कटुतुम्बी-तैल के साथ प्रमेह में विहित है।

डल्हण ने इसकी व्याख्या में लिखा है कि यह लोक में 'भाण्डनी' के रूप में प्रसिद्ध है जिसका व्यवहार मद्यनिर्मापक मद्यभाण्ड धोने के लिए करते हैं[1]।

यद्यपि पाणिनि ने भाण्डीर का अपने सूत्र[2] में समावेश नहीं किया तथापि बृहत्-संहिता में वराहमिहिर ने दन्तधावन में इसका उल्लेख किया है[3] जिससे लोक में दन्तधावन के रूप में इसके प्रचलन का संकेत मिलता है।

मेरे विचार से, भाण्डी-भाण्डीर एक ही है। यह Clerodendrum infortunatum Linn. है। इस सम्बन्ध में निम्नांकित तथ्य स्मरणीय हैं:—

१. C. infortunatum का प्रयोग अभी भी मधुमेह में भारत के कुछ क्षेत्रों में (यथा आसाम) होता है।

२. इसकी अन्य प्रजाति C. phlomidis (तर्कारी) का प्रयोग मधुमेह में शास्त्र द्वारा निर्दिष्ट तथा आधुनिक शोधकार्य द्वारा समर्थित है।

३. इसका स्थानीय नाम 'भंटेश' भांट या भंटवारु 'भाण्डीर' की ओर संकेत करता है।

४. आदिवासी जन अनेक वनस्पतियों का व्यवहार शालिसुरा (हँड़िया) बनाने के काम में करते हैं। C. serratum का व्यवहार इस काम में होता है। सम्भवतः अन्य प्रजातियों का भी प्रयोग होता हो। 'हंड़िया' शब्द

---

१. भाण्डी भाण्डनीति लोके प्रसिद्धो विटपो भाण्डधावनार्थमासुतीबलाः समाहरन्ति। (सु. चि. ३१।५)

२. काण्डाद्दीरन्नीरचौ (५।२।१११)—(काण्डीरः, आण्डीरः)

३. नोपेऽर्थाप्तिः करवीरेऽन्नलब्धिर्भाण्डीरे स्यादन्नमेवं प्रभूतम्। (बृ. सं. ८५।६)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

'भाण्ड' मे सम्बद्ध है अतः C. infortunatum का प्रयोग भी इस कार्य में होने से इसकी संज्ञा भाण्डी या भाण्डीर सार्थक है[1]।

५. वैद्य बापालाल जी भी इसे भाण्डीर मानते हैं[2]।

भार्ङ्गी–फञ्जी

चरक ने भार्ङ्गी का प्रयोग विशेषतः कास-श्वास में किया है यद्यपि कासहर-श्वासहर महाकषायों में इसकी गणना नहीं की। सुश्रुत ने अर्कादि तथा पिप्पल्यादि गणों तथा वातसंशमन वर्ग में इसका उल्लेख किया है। वाग्भट ने अर्कादि, सुरसादि तथा वत्सकादि इन तीन गणों में इसका पाठ किया है।

फञ्जी का पाठ चरक मधुर, शीतवीर्य शाकों में करते हैं। सुश्रुत इसे लोध्रादि तथा सुरसादि गणों में रखते हैं। रक्तपित्तहर, संग्राही शाकों में भी इसका वर्णन किया है। सुश्रुत और वाग्भट ने इसका अतिसार-प्रवाहिका में प्रयोग किया है।

उपर्युक्त संदर्भों से यह स्पष्ट है कि :—

(१) भार्ङ्गी (उष्णवीर्य, कफवातहर) कास-श्वास में उपयोगी द्रव्य है। जबकि

(२) फञ्जी मधुर-शीत, पित्तशामक, संग्राही, रक्तपित्त एवं अतिसार में उपयोगी है।

उपर्युक्त गुणधर्म को देखते हुए सुश्रुत ने फञ्जी को जो सुरसादि गण में रक्खा उसे देख कर वाग्भट भ्रान्त हो गये और उन्होंने फञ्जी के स्थान पर उस गण में भार्ङ्गी पाठ किया। मेरे विचार से यहीं भार्ङ्गी और फञ्जी की एकता का भ्रम प्रारम्भ हुआ। पद्मा का गुणधर्म फञ्जी से मिलता-जुलता है अतः पद्मा भी इस भ्रान्ति का शिकार बन गई और इस प्रकार भार्ङ्गी, फञ्जी और पद्मा तीनों पर्याय माने जाने लगे।

चक्रपाणि ने फञ्जी को ब्राह्मणयष्टिका कहा और पद्मा को भी ब्राह्मणयष्टिका कहा। अतः उनकी दृष्टि में पद्मा और फञ्जी एक ही थी यह स्पष्ट हुआ। डल्हण भी अधिकांश फञ्जी का अर्थ भार्ङ्गी करते हैं। एक स्थल (सु. सू. ४६।२४६) पर वाङ् तथा दूसरे स्थल (सु. उ. ४०।११३) पर पाठाभेद कहा है तथा इन दोनों स्थलों पर एकीय मत से भार्ङ्गी का उल्लेख किया है। इस प्रकार उनका झुकाव भार्ङ्गी की ओर ही है। अरुणदत्त ने कोई टिप्पणी नहीं की।

---

१. Haines : Botany of Bihar & Orrisa, Vol. II, p. 707, 757.

२. बृहद्त्रयीनी वनस्पतिओ, पृ. १८९
और देखें—विनोदकुमार जोशी : एम. डी. (आयु.) शोधप्रबन्ध, १९७७, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय।
वनस्पति का विवरण द्वितीय भाग में देखें।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

निघण्टुओं में यह समस्या और उलझ गई। धन्वन्तरिनिघण्टु ने फञ्जी, जीर्णदारु तथा ब्रह्मदारु भार्गी के पर्यायों में दिया है। पद्मा भी पद्मचारिणी, फञ्जिका, भार्गी तथा मञ्जिष्ठा का पर्याय है।

ठा० बलवन्त सिंह फञ्जी से Rivea ornata Chois (फांग[1]) या Premna herbacea Roxb. का ग्रहण करते हैं।

मेरे विचार से, पद्मा और फञ्जी एक ही प्रतीत होती है। चरक ने 'पद्मा' का गणों में तथा फञ्जी का शाकवर्ग में उल्लेख किया है जबकि सुश्रुत ने इसके उलटे फञ्जी का गणों में और 'पद्मा' का विशेष उल्लेख विकारों में किया है। पद्मचारिणी भी इसीका नाम है।

सभी तथ्यों पर विचार करने से यह हिमालय में होने वाली inula की कोई प्रजाति हो सकती है। R. ornata तथा P. herbacea के गुणधर्म का अध्ययन जब तक न किया जाय तब तक केवल नामसादृश्य से उसका ग्रहण उचित नहीं होगा।

जहाँ तक भार्ङ्गी का प्रश्न है, इससे Clerodendrum serratum (Linn.) Moon. का ग्रहण करना चाहिए। Clerodendrum indicum (Linn.) Kutze, जो बभनैटी (ब्राह्मणयष्टिका) के नाम से प्रसिद्ध है, भी भार्ङ्गी के प्रतिनिधि रूप में चलती है। बंगाल में Picrasma quassioides Benn. भार्ङ्गी नाम से प्रचलित है। आजकल अन्य वनस्पतियों यथा Gardenia turgida. (खरहार) की छाल बाजार में भार्ङ्गी के नाम पर बिक रही है।

भृङ्गवृक्ष

एक ही स्थल (सु. उ. ३५।४) पर सुश्रुतसंहिता में आया है। डल्हण ने इसका अर्थ विचित्र किया है—'वातहरबिल्वादिकानां भृङ्गाः पत्रभङ्गाः, तदुपयोगिका वृक्षाः' अर्थात् वातशामक बिल्व आदि जिनके पत्र का उपयोग होता है। मेरी समझ से यह व्याख्या उपयुक्त नहीं है।

भृङ्गवृक्ष से भ्रमरच्छली (Hymendictyon excelsum Wall. का ग्रहण करना चाहिए। यह एक उत्तम औषधद्रव्य है।

मत्स्याक्षक—मत्स्याख्यक

बृहत्त्रयी में इसका स्वल्प निर्देश है। चरकसंहिता (चि. १।३।२३) में ऐन्द्र-रसायन में ब्राह्मी, ऐन्द्री, शङ्खपुष्पी आदि मेध्य ओषधियों के साथ पठित है। सुश्रुतसंहिता (शा. १०।६८) में भी इसी प्रकार बालरसायन (वपुर्मेधाबलबुद्धि-विवर्धन) में इसका प्रयोग हुआ है। वाग्भट में ये दोनों प्रयोग हैं।

१. डल्हण वाङ् से सम्भवतः इसी का निर्देश करते हैं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

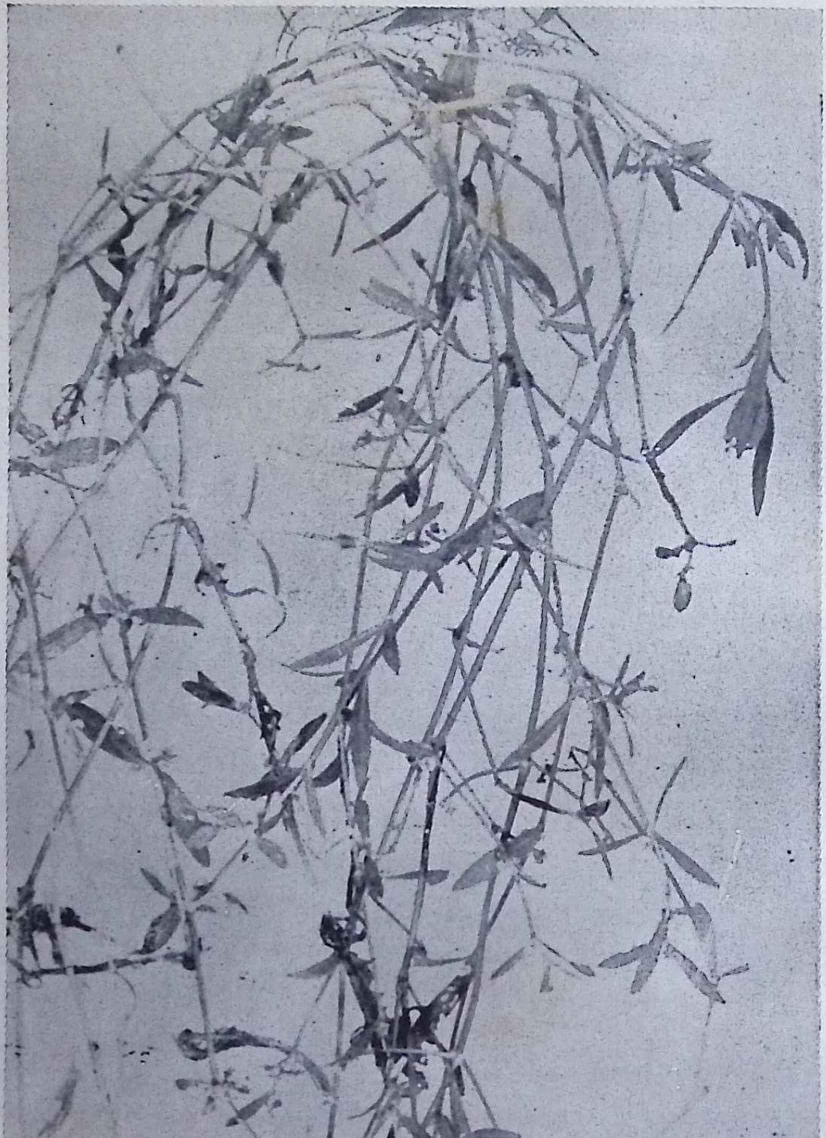

१२. मत्स्याक्षी

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

चक्रपाणि ने 'मत्स्याक्षको 'मच्छु' इति लोके ख्यातः, अन्ये तु ऐन्द्रीभेदं मत्स्याख्यकमाहुः' लिखा है अर्थात् उन्होंने मत्स्याक्षक से मच्छु (मछेछी) का ग्रहण किया है किन्तु एकीय मत से ऐन्द्रीभेद का निर्देश किया है।

डल्हण ने इससे ब्राह्मी लिया है और एकीय मत से पत्तूर और मत्स्याक का उल्लेख किया है[1]। अरुणदत्त ने मत्स्याक्षक से पत्तूर लिया है।

निघण्टुओं में मत्स्याक्षी शब्द से इसका वर्णन है। पर्यायरत्नमाला में यह हिलमोचिका और ब्राह्मी का पर्याय है। अमरकोष तथा निघण्टुशेष में ब्राह्मी का पर्याय है। सोढलनिघण्टु तथा राजनिघण्टु में भी यह ब्राह्मी का पर्याय है। कैयदेव ने मत्स्याक्षी और मत्स्याक्षक का वर्णन पृथक् किया है। मत्स्याक्षी का जलपिप्पली के साथ तथा मत्स्याक्षक का गण्डदूर्वा के पर्याय में वर्णन किया है। भावप्रकाश में मत्स्याक्षी का स्वतन्त्र वर्णन है।

वैद्य बापालाल जी मत्स्याक्षक और मत्स्याक्षी को पृथक् कर मत्स्याक्षक से ब्राह्मी (Bacopa monnieri) तथा मत्स्याक्षी से Alternanthera sessilis लेते हैं। ठा० बलवन्त सिंह मत्स्याक्षक (मत्स्याक्षी) से Alternanthera sessilis और Enhydra fluctuans Lour. दोनों का उल्लेख करते हैं किन्तु E. fluctuans (हिलमोचिका) को प्राथमिकता देते हैं।

चरक में ऐन्द्री और ब्राह्मी के बीच में पठित होने के कारण किसी ने ठीक ही इसे ऐन्द्री का भेद माना। ऐसी स्थिति में यह Bacopa की और कोई प्रजाति हो या वानस्पतिक दृष्टि से भिन्न अन्य वनस्पति को ही ऐन्द्रीभेद मान लिया जाय। इसी स्थिति और गुणधर्म के कारण लोगों ने इसे ब्राह्मी का पर्याय भी बनाया किन्तु ब्राह्मी के साथ पठित होने से ब्राह्मी कैसे हो सकती है?

मत्स्याक्षक (मत्स्याक्षी) Alternanthera sessilis (Linn.) R, Br. है। मछेछी या शालिञ्च नाम से प्रसिद्ध है। जलीय स्थानों में होने तथा मेध्य गुणधर्म के कारण इसे ऐन्द्रीभेद कह सकते हैं।

मदयन्तिका—मदयन्ती

चरकसंहिता में यह सांग्राहिक, महापञ्चगव्यघृत, महापञ्चतैल, योनिशूल में विहित है। सुश्रुतसंहिता में यह व्रणशोधन, विषघ्न तथा मानसदोषहर के रूप में निर्दिष्ट है। वाग्भट ने रक्तपित्त, दन्तदौर्बल्य में इसका विशिष्ट विधान किया है।

चक्रपाणि ने इस पर कोई टिप्पणी नहीं की। डल्हण ने इससे प्रायः मेंहदी

१. मत्स्याक्षकः ब्राह्मी, पत्तूर इत्येके, अन्ये रक्तपुष्पमानूपं 'मत्स्याक' इति लोके प्रसिद्धमाहुः।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

लिया है[1], केवल एक स्थल (सु. क. १।६५) पर मल्लिका अर्थ किया है। मेंहदी के लिए एक नया शब्द 'मेन्दिका' गढ़ा है[2]।

अरुणदत्त ने भी इस पर कुछ नहीं लिखा।

अथर्वपरिशिष्ट में नक्षत्रस्नान तथा पुष्याभिषेक में मदयन्ती का उल्लेख है।

मेंहदी का उल्लेख किसी संहिता में नहीं मिलता और न इसका वर्णन किसी निघण्टु में उपलब्ध है। अतः प्राचीन संहिताओं में वर्णित मदयन्तिका एवं मदयन्ती मेंहदी नहीं है, वह मल्लिका है जैसा कि डल्हण ने एक स्थान पर लिखा है। किन्तु डल्हण की व्याख्या से यह भी स्पष्ट संकेत मिलता है कि उनके काल में मेंहदी का पर्याप्त प्रचार हो चुका था और लोग मदयन्तिका से मल्लिका के स्थान पर मेंहदी का ही व्यवहार करने लगे थे[3]। मेरे विचार से मदयन्तिका से मल्लिका ली जाय और 'मदयन्ती' को मेंहदी के लिए सीमित कर दिया जाय।

मधुक—मधूक

मधुक और मधूक दोनों ही प्राचीन वाङ्मय में उपलब्ध हैं। मधूक अथर्ववेद में भी मिलता है किन्तु मधूक कतिपय गृह्यसूत्रों में ही उपलब्ध है। आयुर्वेद की बृहत्त्रयी में दोनों उपलब्ध एवं बहुशः प्रयुक्त हैं। इसके अतिरिक्त निम्नांकित तथ्य अवलोकनीय हैं :—

१. मधुक और मधूक दोनों मधुररस हैं।
२. दोनों सारिवादि तथा न्यग्रोधादि गणों में पठित हैं, अतः गुणधर्म में भी समान हैं।
३. निघण्टुओं में दोनों के स्थलज और जलज दो भेद किये हैं। जलज भेद की संज्ञा मधूलक या मधूलिका है[4]।

मधुक और मधूक इन दोनों में इतना स्वल्प लिपिभेद है कि दोनों में भ्रम स्वाभाविक है। अनेक ग्रन्थों में महुआ के लिए 'मधुक' का प्रयोग हुआ है यद्यपि सामान्यतः मधूक से महुआ और मधुक से यष्टीमधु लेते हैं। धन्वन्तरिनिघण्टु में ही महुआ का वर्णन 'मधुक' शीर्षक से तथा यष्टीमधु का 'मधुयष्टी' शीर्षक से है।

---

१. मदयन्तिका नखादिरागजननी 'मेंहदी' इति प्रसिद्धा। (सु. चि. ९।३४)
मदयन्तिका 'मेंदी' इति लोके, यस्याः पिष्टैः पत्रैर्नखानां रागं स्त्रिय उत्पादयन्ति।
(सु. चि. २५।४३)

२. मेन्दिका नखरञ्जनी। (सु, चि. २।९१)

३. देखें द्रव्यगुण-विज्ञान भाग ४

४. देखें धन्वन्तरनिघण्टु, कैयदेवनिघण्टु, भावप्रकाशनिघण्टु।
डल्हण ने भी स्थलज-जलजभेद से मधुकद्वय का उल्लेख किया है।
(सु. क. ८।१३२)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

सम्भवतः इसी भ्रम के निवारण के लिए मधुयष्टी, यष्टीमधु शब्दों का प्रचलन हुआ क्योंकि मधुक का व्यवहार, यष्टी (लकड़ी) के रूप में होता है जबकि मधूक का पुष्प के रूप में। इस सम्बन्ध में यह ज्ञातव्य है कि मधुक भारतीय द्रव्य नहीं है, बाहर से आयातित होता था अतः उसके प्रतिनिधिरूप में भी अनेक तत्सम द्रव्य प्रयुक्त होते थे[1]। ऐसी स्थिति में भारतीय द्रव्य मधूक के साथ उसका भ्रम होना स्वाभाविक ही है।

मधुरस्कन्ध में पठित मधूकपुष्पी सम्भवतः मधूक के द्वितीय भेद के लिए आया है[2]।

सुश्रुत ने 'मधूकसार' का प्रयोग शिरोविरेचनार्थ किया है। इसी प्रकार विडंगसार[3] का भी प्रयोग है। सालसारादि गण में मधूक और विडंग की गणना नहीं है।

मधूली–नन्दीमुखी–नृत्तकौण्डक

मधूली और नन्दीमुखी चरकसंहिता में यव और गोधूम के बाद वर्णित हैं। ये मधुर, स्निग्ध और शीतल कहे गये हैं[4]। यव और गोधूम के बाद पाठ होने से चक्रपाणि नन्दीमुखी को यविका और मधूली को गोधूमभेद मानते हैं। भावमिश्र ने भी मधूली को गोधूम का मध्यदेशज, स्वल्प भेद तथा नन्दीमुख को निःशूक दीर्घगोधूम कहा है। इससे बनाई जाने वाली सुरा को मधूलिका कहते हैं[5]। इसके अतिरिक्त, चरक के मधुरस्कन्ध, श्वासचिकित्सा, धामार्गवकल्प तथा रसायन बस्ति में मधूलिका विहित है।

चक्रपाणि अन्य स्थलों में इससे मर्कटहस्ततृण (च. वि. ८।१३९, क. ४।१३) और अल्पगोधूम (च. चि. १७।१११) लेते हैं।

सुश्रुत ने मधूलिका और नन्दीमुखी का वर्णन कुधान्यवर्ग में किया है (सु. सू. ४६।२१, २५)। इसके गुणधर्म पूर्वोक्त ही कहे गये हैं अतः यह चरकोक्त द्रव्य ही हैं इसमें सन्देह नहीं। इसके अतिरिक्त मधूलिका का उल्लेख मधुरवर्ग, मधूलक (सुरा), गन्धतैल, वस्ति, प्रतिश्याय, बालग्रह, ज्वरोपद्रव, कास-श्वास चिकित्सा में है।

---

१. गुञ्जा के पत्र एवं मूल का स्वाद यष्टीमधु के समान होता है। Taverniera cuneifolia Arn. का मूल भी ऐसा ही होता है। इसे जेठी मध कहते भी हैं।

२. विवरण द्वितीय भाग में देखें।

३. सु. उ. ११।७, अ. हृ. चि. १९।२१, उ. १८।४९, २८।३७

४. नान्दीमुखी मधूली च मधुरस्निग्धशीतले। (च. सू. २७।२२)
नन्दीमुखी यविका, मधूली गोधूमभेदः। (चक्र०)

५. मधूली तु ततः किञ्चिदल्पा सा मध्यदेशजा।
निःशूको दीर्घगोधूमः क्वचिन्नन्दीमुखाभिधः॥ भा. प्र. (धान्यवर्ग)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

डल्हण ने मधूलक से स्वल्पगोधूम या मर्कटहस्ततृण लिया है। मधूलिका से प्रायः सर्वत्र मर्कटक या मर्कटहस्ततृण लिया है। नन्दीमुखी को मधूलिकाभेद कहा है।

वाग्भट ने धान्यवर्ग में केवल नन्दीमुखी का वर्णन किया है, मधूली का नहीं। आमयिक प्रयोगों में मधूली है।

अरुणदत्त ने मधूलिका से जलज मधुयष्टि या गोधूमविशेष (अ. हृ. चि. ४।३३), मधुयष्टि (अ. हृ. क. १।३७) का ग्रहण किया है।

इस प्रकार मधूली या मधूलिका के निम्नांकित अर्थ होते हैं :—

१. अल्पगोधूम
२. मर्कटहस्ततृण
३. जलज मधुयष्टी

चक्रपाणि का झुकाव अल्पगोधूम, डल्हण का झुकाव मर्कटहस्ततृण तथा अरुणदत्त का झुकाव जलज मधुयष्टी की ओर है।

ऐसा प्रतीत होता है कि अधिकांश संदर्भों में मधूलिका प्रायः मधूक के साथ पठित है और वहाँ वह मधुयष्टीभेद का ही वाचक है। सुरा-प्रकरण में निःसन्देह मधूलिका से धान्य अभिप्रेत है।

अब धान्य के प्रकरण में मधूली से क्या लिया जाय यह विचारणीय है।

टीकाकारों के वचनों से तो यह स्पष्ट है कि कुछ लोग इसे गोधूमभेद तथा कुछ मर्कटहस्ततृण मानते थे। गुणधर्म की दृष्टि से यह गोधूम के अधिक निकट है। सुश्रुत ने कुधान्यवर्ग में इसका वर्णन कर इसकी प्रकृति का स्पष्टीकरण तो किया किन्तु गुणधर्म चरकोक्त ही रक्खा। मधूलिका स्निग्ध कही गई है किन्तु व्यवहार में यह अन्य कुधान्यों के समान अत्यन्त रूक्ष है।

मर्कटहस्ततृण तो वस्तुतः मकड़ा घास (Eleusine aegyptiaca Desf.) है किन्तु इससे मडुआ तथा उसके भेद का भी ग्रहण किया जाता है। यह ध्यान देने की बात है कि मडुआ एक धान्य है जबकि मर्कटहस्त को सर्वत्र तृण कहा गया, धान्य नहीं। इससे एक अर्थ तो यह निकलता है कि यह तृणजाति का धान्य है और दूसरा यह कि उस काल में इसकी खेती न होकर वन्य तृणों से ही धान्य प्राप्त किया जाता था।

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर निम्नांकित निष्कर्ष निकलते हैं :—

१. गुणधर्म की दृष्टि से मधूली और नन्दीमुखी गोधूम के ही कोई भेद हैं।
२. कुधान्य के अन्तर्गत मधूलिका मडुआ (Eleusine coracana Gaertn.) तथा नन्दीमुखी उसका भेद (Eleusine indica Gaertn.) है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

सुश्रुत ने नृत्तकोण्डक के बीजों का प्रयोग श्वासरोग में निर्दिष्ट किया है। यहाँ पाठान्तर (नीचैः कदम्ब) भी है। डल्हण इससे मर्कटक लेते हैं। इस प्रकार स्पष्टतः वह नृत्तकोण्डक का अर्थ मधूलिका करते हैं। अरुणदत्त नृत्यकुण्डल से तुम्बबीज का ग्रहण करते हैं।

वैद्य बापालाल जी मधूलिका के अतिरिक्त निम्नांकित चार विकल्प और इसके लिए प्रस्तावित करते हैं :—

१. कदम्ब (Anthocephalus cadamba)
२. उत्तमारणी (Pergularia extensa)
३. काकनासा (Martynia diandra)
४. कटुतुम्बी (Lageneria vulgaris)

मेरे विचार से नृत्तकोण्डक से मधूलिका (मडुआ) का ग्रहण करना चाहिए। मडुआ को कई स्थानों पर नचौनी या मेहरनचनी कहते हैं कारण कि इसके हस्ताकृति फल जब हवा में हिलते हैं तो ऐसा लगता है जैसे कोई नर्त्तकी हाव-भाव के साथ नाच रही हो। 'नृत्तकोण्डक' शब्द में भी संभवतः यही ध्वनि है।

मन्दारी

सुश्रुतसंहिता में केवल एक स्थल (चि. १९।६३) पर इसका उल्लेख है। अन्य ओषधियों के साथ इसके क्षार का प्रयोग श्लीपद, गलगण्ड आदि रोगों में विहित है।

डल्हण ने इसका अर्थ आली किया है। मेरे विचार से यह आवल या आल (Cassia auriculata Linn.) है।

महानिम्ब

सम्प्रति 'महानिम्ब' शब्द 'बकायन' के लिए प्रचलित है किन्तु मूलतः यह शब्द इसी द्रव्य का वाचक था इसमें सन्देह है। महानिम्ब चरकसंहिता में नहीं है। सुश्रुतसंहिता में केवल एक स्थल (सू० ३८।२२) पर 'महानिम्बफल' का उल्लेख पिप्पल्यादि गण के अन्तर्गत आया है। पिप्पल्यादि गण के द्रव्य वातश्लेष्महर, दीपन, आमपाचन तथा गुल्मशूलघ्न होते हैं। इसी प्रकार अष्टांगहृदय में एक बार 'महापिचुमन्द' शब्द से अर्शचिकित्सा में लवणोत्तमादिचूर्ण के अन्तर्गत पठित है (अ. हृ. चि. ८।१६१)। ऐसी स्थिति में विचारणीय है कि ऐसे प्रचलित द्रव्य का इतना स्वल्प उल्लेख क्यों है? इससे यह अनुमान होता है कि अन्य पर्यायों से इसका बहुशः अभिधान हुआ हो। इसका सद्यः प्रमाण अष्टांगहृदय में मिलता है। अष्टांगहृदय के वत्सकादि गण (सू० १५।३३-३४) में सुश्रुतोक्त पिप्पल्यादि गण के द्रव्य समाविष्ट हैं। वहाँ सुश्रुत का 'महानिम्बफल' 'कट्वङ्गफल' के रूप में पठित है। चन्द्रनन्दन ने

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

अपनी पदार्थचन्द्रिका व्याख्या में इसे 'अरलुकफलम्' लिखा है। इससे स्पष्ट है कि बृहत्त्रयी के काल में 'महानिम्ब' शब्द कट्वंग का एक पर्याय था न कि बकायन का बोधक। इससे दूसरा तथ्य यह निकलता है कि 'महानिम्ब' पर्याय चरक-काल के बाद कट्वंग के लिए प्रचलित हुआ।

कट्वंग को बाद के निघण्टुकारों ने श्योनाक का पर्याय बनाकर भ्रम उत्पन्न कर दिया है। वस्तुतः यह शब्द मूलतः अरलु का बोधक है। चरक ने पुरीषसंग्रहणीय गण में अरलु का तथा शोथहर, शीतप्रशमन एवं अनुवासनोपग गणों में श्योनाक का पाठ किया है। इससे अरलु के शीतवीर्य तथा श्योनाक के उष्णवीर्य होने का संकेत मिलता है। पुनः चरक ने ग्रहणीचिकित्सा के अन्तर्गत (चि० १५।१३४) एक श्लोक में श्योनाक तथा कट्वंग का पृथक् पाठ किया है (श्योनाकोदीच्यकट्वंगकत्सकत्वग्दुरालभाः)। इससे दोनों का पार्थक्य स्पष्ट हो जाता है। विमानस्थान में कषायस्कन्ध के अन्तर्गत कट्वंग का उल्लेख है किन्तु वहाँ श्योनाक नहीं है। इन तथ्यों के आधार पर प्राचीन काल में श्योनाक और अरलु दो पृथक् भिन्न द्रव्य माने जाते थे यह सिद्ध हो जाता है। (देखें अरलु)।

प्राचीनतम उपलब्ध निघण्टु वाग्भटकृत अष्टांगनिघण्टु में मौलिक रूप में तथ्य उपस्थित किये गये हैं। उसमें अरलु के पर्याय दीर्घवृन्त, महानिम्ब, कट्वंग तथा तिक्तक दिये गये हैं (दीर्घवृन्तो महानिम्बः कट्वंगोऽरलुतिक्तकः)। वस्तुतः ये सभी पर्याय मूलतः अरलु के थे जो कालान्तर में अन्य द्रव्यों से संबद्ध हो गये। कट्वंग, अरलु, दीर्घवृन्त ये तीन पर्याय श्योनाक में चले गये, महानिम्ब बकायन का बोधक बन गया और 'तिक्तक' से किराततिक्तक (चिरायता) का ग्रहण किया जाने लगा। इन पर्यायों में भी आद्य नाम 'कट्वंग' प्रतीत होता है क्योंकि यह बृहत्त्रयी की सभी संहिताओं में उपलब्ध होता है। अन्य पर्यायों में अरलु और दीर्घवृन्त केवल सुश्रुत और वाग्भट में तथा तिक्तक केवल वाग्भट में मिलता है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि अरलु, दीर्घवृन्त और तिक्तक ये पर्याय कालान्तर में प्रचलित हुए किन्तु यह निश्चित है कि वाग्भट के काल (छठीं शती) तक ये सभी पर्याय निर्भ्रान्ति रूप से अरलु के प्रचलित थे जो अष्टांगनिघण्टु (८वीं शती) में समाविष्ट कर लिये गये।

अरलु के लिए 'महानिम्ब' संज्ञा सार्थक भी है क्योंकि इसकी पत्तियाँ नीम के सदृश किन्तु उससे बड़ी होती हैं। पत्रवृन्त भी बड़ा होता है (अतएव दीर्घवृन्त कहते हैं)। इसकी छाल भी अत्यन्त तिक्त होती है। इन सब कारणों से ही इसका नाम महानिम्ब पड़ा होगा। लोक में आज भी इसे 'घोड़ा नीम' कहते हैं जो 'महानिम्ब' के अर्थ का ही द्योतक है। निम्नांकित श्लोक में अरलु का परिचय सुन्दर रीति से दिया गया है :—

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

निम्बाकारदलो विष्वक् भल्लूकः पंक्तिपत्रकः ।
प्रसिद्धो भंगुरोऽसारोऽड्डूसो देशभाषया ।। (नि. सं.)

बकायन में ऐसी कोई विशेषता नहीं दीखती जिसके आधार पर उसे महानिम्ब कहा जा सके। न तो उसके पत्ते बड़े होते हैं और न फल ही का आकार निम्बफल से बड़ा होता है। वृक्ष भी प्रायः नीम से छोटा ही होता है। ऐसा लगता है कि जंगलों-पहाड़ों में अधिक होने के कारण पहले यह 'पर्वतनिम्ब' के रूप में प्रसिद्ध था। चक्रपाणि ने अपनी भानुमती-व्याख्या (सु. सू. ३८/२२) में महानिम्ब को 'पर्वतनिम्ब' कहा है। डल्हण ने भी इस स्थल की व्याख्या इसी प्रकार की है :— 'महानिम्बो द्रेक्का पर्वतनिम्ब इति लोके'। पर्वतनिम्ब से डल्हण का क्या अभिप्राय है इस संशय का निवारण दूसरे स्थल पर उसके कथन से हो जाता हैं। 'रम्यक' शब्द की व्याख्या (सु. सू. ३९/४) में कहा है :—'रम्यको द्रेक्का' बकाइणि 'इति लोके'। इससे स्पष्ट है कि बकायन की ही संज्ञा 'पर्वतनिम्ब' थी तथा डल्हण के काल में द्रेक्का और रम्यक उसके पर्याय माने जाते थे। पंजाब में बकायन को दरेक कहते भी हैं। यह भी संभव है कि परम्परा में इसका अर्श में प्रयोग होता रहा हो और अरलु के अस्वादु होने के कारण उसके स्थान पर यह चिकित्सार्थ प्रयुक्त होने लगा हो। इस प्रकार आगे चल कर उसकी संज्ञा भी इसने अपना ली और पर्वतनिम्ब से महानिम्ब हो गया। प्राचीन काल में प्रचलित होने पर भी अरलु परवर्त्ती काल में व्यवहार से हट गया और इसके स्थान पर स्तम्भन कर्म के लिए श्योनाक तथा अर्शोघ्न कर्म के लिए बकायन का प्रयोग होने लगा। अरलु के महानिम्ब, दीर्घवृन्त और कट्वंग नाम श्योनाक के पर्याय हो गये और महानिम्ब पर्वतनिम्ब का पर्याय बना। माधवकृत पर्यारत्नमाला (८वीं शती) में यही स्थिति है। इससे पता चलता है कि ८वीं शती के पूर्व यह सब हो चुका था।

पर्यायरत्नमाला में अरलु श्योनाक का पर्याय है और महानिम्ब का पृथक् वर्णन इस प्रकार है :—'कैडर्यः वमनेष्टश्च महानिम्बस्तु पार्वतः'। धन्वन्तरिनिघण्टु में महानिम्ब का वर्णन निम्बविशेष के रूप में किया है जो बकायन प्रतीत होता है किन्तु राजनिघण्टु ने इसके अतिरिक्त, कैडर्य (निम्बविशेष) का पृथक् वर्णन किया है और उसके पर्यायों में महानिम्ब के अतिरिक्त पर्वतनिम्ब दिया है। सम्भवतः इससे राजनिघण्टुकार का अभिप्राय वास्तविक अरलुवृक्ष (Ailanthus excelsa) से है। धन्वन्तरिनिघण्टु तथा राजनिघण्टु में महानिम्ब का एक पर्याय अक्षीव दिया है। संहिताओं में जहाँ 'अक्षीव' का पाठान्तर 'अक्षीर' हैं उससे इसका ग्रहण हो सकता है या नहीं यह विद्वज्जन विचार करें। भावप्रकाश ने महानिम्ब के पर्यायों में 'अक्षीर' न देकर 'रम्यक' का समावेश किया है जो धन्वन्तरि तथा राजनिघण्टु में भी है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

जहाँ तक गुणकर्म का प्रश्न है, अरलु और बकायन दोनों तिक्त-कषाय, रूक्ष, कटुविपाक, शीतवीर्य, ग्राही तथा अतिसार, रक्तस्राव, प्रमेह, अर्श, विष, ज्वर और अग्निमान्द्य में उपयोगी हैं। इस प्रकार गुणकर्म की समानता तथा निम्ब-परिवार की सदस्यता के कारण अरलु का प्रतिनिधित्व बकायन में स्थापित हो जाना आश्चर्यजनक नहीं है।

बकायन मूलतः पश्चिम एशिया का निवासी वृक्ष है जो क्रमशः सिन्ध, पंजाब होते सारे भारत में फैला। 'द्रेक्का' 'कैडर्य' आदि पर्याय इसीके सूचक हैं। किन्तु इतना निश्चित है कि पर्यायरत्नमाला (९वीं शती) और अष्टांगनिघण्टु (८वीं शती) के मध्यवर्ती काल में इसका सात्मीकरण भारतीय चिकित्सकों द्वारा हो चुका था।

सुरसादि गण में पठित विषमुष्टि से भी डल्हण ने द्रेक्का या राजनिम्ब का ग्रहण किया है (देखें विषमुष्टि)।

मागधिका

बृहत्त्रयी में मागधिका, मागधी, मगधा का प्रयोग बहुशः मिलता है। सामान्यतः इसका अर्थ पिप्पली किया जाता है क्योंकि निघण्टुओं में यह पिप्पली के पर्यायों में है। किन्तु बृहत्त्रयी में इसके कुछ सन्दर्भ ऐसे हैं जिनसे कुछ संशय उत्पन्न होता है यथा :—

१. 'मागधिकाकण' का प्रयोग तीनों संहिताओं में है[1]। टीकाकार इसका अर्थ पिप्पलीतण्डुल करते हैं किन्तु यह अर्थ जँचता नहीं क्योंकि अपामार्गतण्डुल के समान पिप्पलीतण्डुल का प्रयोग नहीं मिलता।

२. चन्दन, किराततिक्त आदि तिक्तद्रव्यों के साथ तिक्तषट्पलक घृत में पठित होने से (च. चि. ७।१४१) यह कोई तिक्त द्रव्य प्रतीत होता है न कि पिप्पली जो कटु है।

३. चन्दनाद्य घृत (पैत्तिक ग्रहणी) का घटक होने से यह पित्तशामक प्रतीत होता है (च. चि. १५।१२७) जबकि पिप्पली ऐसी नहीं है। मद्यज तृष्णा में भी पित्तशामक द्रव्यों के साथ पठित है। (सु. उ. ४७।५१)

४. तृष्णारोग की चिकित्सा में मागधिका से मुखविशद (मुखशोधन) कर मन्थपान का विधान है[2]। इससे स्पष्ट है कि मागधिका मुखवैशद्यकर द्रव्य के रूप में प्रयुक्त होती थी जबकि पिप्पली का ऐसा कोई प्रयोग नहीं है।

---

१. च. चि. २०।२९, सु. उ, ५१।३३, अ. हृ. उ. २८।३७

२. मागधिकाविशदमुखः सशर्करं वा पिबेत् मन्थम्। (च. चि. २२।५३)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

५. तार्क्ष्य आगद में प्रायः गन्धद्रव्यों के साथ यह पठित है (सु. क. ५।६७)। वाग्भट ने भी गन्धतैल में इसका पाठ किया है (अ. हृ. चि. १७।२३)।
६. नेत्ररोग में हरेणु[1] और एला के साथ मागधी की अस्थिमज्जा का प्रयोग है (सु. उ. १७।२३)। इससे स्पष्ट है कि इसका फल विशिष्ट होता है जिसकी अस्थिमज्जा सुगन्धयुक्त होती है। पिप्पली में ऐसी कोई अस्थिमज्जा नहीं मिलती।

उपर्युक्त सन्दर्भों के आधार पर मागधिका तिक्तरस, शीतवीर्य कोई गन्धद्रव्य प्रतीत होता है जिसके बीज मुखशोधनार्थ व्यवहृत होते थे। ये ही बीज 'कण' कहे गये हैं।

इस सम्बन्ध में कङ्कोल[2], लवली[3] आदि द्रव्यों पर ध्यान जाता है किन्तु अभी इसे विचाराधीन रखना उचित है।

मुकूलक

मुकूलक सुश्रुतसंहिता में नहीं है। चरकसंहिता में यह औत्तरापथिक फलों (बादाम आदि) में परिगणित है। दृढबल ने इसका उल्लेख दन्ती के पर्यायों में किया है (च क. १२।२) तथा एक रेचन योग में भी यह घटक द्रव्य है (च. क. ७।४५)। व्रणशोधन लेप में भी यह विहित है।

चक्रपाणि ने फलप्रकरण के अतिरिक्त सर्वत्र मुकूलक का अर्थ दन्ती किया है।

सुश्रुत ने इसके स्थान पर पिचुक का पाठ औत्तरापथिक फलों में किया है जैसा कि पाठान्तर से प्रतीत होता है। पिचुक कोई Prunus sp. का फल है (देखें पिचुक)। महकोल नाम से प्रसिद्ध वृक्ष (Sapium insigne Triven.) पर भी विचार किया जा सकता है।

मुद्गपर्णी–माषपर्णी

मुद्गपर्णी–माषपर्णी का प्रायः साथ-साथ उल्लेख हुआ है। यह सहाद्वय भी कहा जाता है और ये पर्णिनीचतुष्टय में भी हैं।

चरकसंहिता के जीवनीय तथा शुक्रजनन महाकषायों, मधुरस्कन्ध और अग्रुर्वाद्य उष्णवीर्य द्रव्यों में पठित है। सुश्रुत के काकोल्यादि गण तथा वाग्भट के जीवनीय गण में इसका पाठ है।

---

१. हरेणु के साथ यह प्रायः आया है—देखें सु. चि. ८।४३, उ. ५२।१९, अ. हृ. चि. १७।२२, च. सि. ८।१३ इत्यादि।
२. निघण्टुशेष में कङ्कोल का एक पर्याय 'मगधोषित' दिया है।
३. प्राचीनकाल में लवली भी मुखशोधन द्रव्य के रूप में व्यवहृत थी। चरक ने इसे 'अब्दंशश्रम' कहा है इससे मद्यप लोगों द्वारा इसके विशेष व्यवहार का भी संकेत मिलता है। चरक ने मद्यज तृष्णा में इससे मुखविशद करने को लिखा है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

डल्हण ने इनके स्थानीय नाम 'मुगवनी' और 'माषवनी' दिये हैं। माषपर्णी के सन्दर्भ में एकीय मत से 'अरण्यमाषस्तम्ब' का निर्देश किया है।

सम्प्रति इनसे निम्नांकित द्रव्य लिये जाते हैं :—

१. मुद्गपर्णी—Phaseolus trilobus Ait.

२. माषपर्णी—Teramnus labialis Spreng.

मुशली

मुशली का उल्लेख केवल एक बार वाग्भट ने किया है (अ. हृ. उ. ३२।२१)। यह भी नीलिका, व्यङ्ग आदि रोगों में मुलालेप के लिए है, आभ्यन्तर प्रयोग के लिए नहीं। तालमूली या तालपत्री का भी उल्लेख चरकसंहिता के दृढबलकृत अंश में वह भी केवल एक बार हुआ है (च. चि. १८।७५)। यहाँ मनःशिला आदि के साथ इसका धूमपान कास में विहित है।

सुश्रुत में पानीय क्षार, व्रणोत्सादन, शर्करापातन, ग्रन्थिलेप, उन्मन्थनाशन तैल तथा श्वासचिकित्सा में तालपत्री तथा तालमूली का प्रयोग है।

वाग्भट में कोई नया प्रयोग नहीं है।

चक्रपाणि ने तालमूली पर कोई टिप्पणी नहीं की है। डल्हण ने तालपत्री तथा तालमूलिका को मुशली कहा है। मुशली का परिचय देते हुए उसे 'मूषकपुच्छाकार-शिफा' (जिसकी जड़ चूहे की पूंछ के सदृश हो) बतलाया है।

इस प्रकार तालमूली के भी प्रयोग प्रायः बाह्य हैं केवल कास-श्वास में सीमित विधान है।

सम्प्रति सफेद मुशली तथा स्याह मुशली का व्यवहार जीवनीय-बृंहणीय कर्म के लिए होता है। निघण्टुओं में भी इसके गुणधर्म इसी प्रकार के हैं। अतः सन्देह होता है कि बृहत्त्रयी की तालमूली या तालपत्री वही है या भिन्न है। यह सम्भव है कि कालक्रम से इसके पौष्टिक कर्म का परिचय मिला हो जिसका निर्देश निघण्टुओं ने किया।

(श्वेत) मुशली से Asparagus adscendens Roxb. या Chlorophytum arundinaceum Baker. तथा तालमूली (तालपत्री) से स्याह (कृष्ण) मुशली (Curculigo orchioides Gaertn.) का ग्रहण करते हैं। राजनिघण्टु में मुसलीकन्द श्वेत और कृष्ण दो प्रकार का बतलाया है।

मुस्तक

मुस्त, मुस्तक या मुस्ता का प्रयोग बृहत्त्रयी में प्रचुर मिलता है। भद्रमुस्त का उल्लेख अपेक्षाकृत कम है। नागरमुस्त और कैवर्त्तमुस्त का इन शब्दों से उल्लेख नहीं

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

है। एक स्थल पर चरकसंहिता में पठित 'नागर' शब्द का अर्थ चक्रपाणि ने 'मुस्ता' किया है[1]।

निघण्टुओं में मुस्तक तीन प्रकार का कहा गया है :—(१) मुस्तक (भद्रमुस्तक) (२) नागरमुस्तक (३) जलमुस्तक (कैवर्त्तमुस्तक)। भावप्रकाश में भद्र और नागरमुस्तक पर्याय हैं।

मेरे विचार से इनका वानस्पतिक निर्धारण निम्नांकित करना चाहिए[2] :—

१. मुस्तक (भद्रमुस्तक)—Cyperus rotundus Linn.
२. नागरमुस्तक—C. esculentus Linn.
३. कैवर्त्तमुस्तक—C. platystilis Br.
or
C. amabilis Vahl.

मूर्वा

शास्त्रीय स्वरूप

प्राचीन संहिताग्रन्थों में मूर्वा का वर्णन विभिन्न चिकित्सीय योगों में मिलता है। चरकसंहिता में तृषिघ्न एवं स्तन्यशोधन महाकषायों तथा तिक्तस्कन्ध में मूर्वा का पाठ आया है। वमन द्रव्यों में मूर्वा भी एक उपादान है, इन द्रव्यों के मूल का कषाय के रूप में व्यवहार करने का विधान किया गया है। इसका प्रयोग विशेषतः पैत्तिक रोगों में यथा-ज्वर, कुष्ठ, पैत्तिक ग्रहणी, पाण्डु, प्रमेह, हिक्का, श्वास, कास, छर्दि आदि में बतलाया गया है। सुश्रुतसंहिता में मूर्वा का उल्लेख सीव्य द्रव्यों में अश्मन्तक, अतसी तथा गुडूची के साथ किया गया है। इनके सूत्रों का व्रणसीवन के लिए प्रयोग किया गया है। इससे स्पष्ट है कि मूर्वा के सूत्र दृढ़ होते हैं जिससे उनका उपयोग तन्तु के रूप में सीने के लिए होता है। इसके अतिरिक्त आरग्वधादि गण, पित्तसंशमन वर्ग, पटोलादि गण तथा ज्वर, कामला, कुष्ठ, पाण्डु आदि रोगों के चिकित्सीय योगों में मूर्वा पठित है। अष्टांग हृदय में मूर्वा का वर्णन तिक्तवर्ग, वमन द्रव्य एवं वत्सकादिगण में मिलता है। इसके अतिरिक्त मूर्वा का प्रयोग पित्तातिसार, पाण्डु, स्तन्यरोग आदि में विहित है। इससे यह स्पष्ट है कि मूर्वा का रस तिक्त है तथा इसका प्रयोग पैत्तिक व्याधियों में प्रचुरता से किया जाता है।

पर्यायरत्न माला में मूर्वा का वर्णन लता एवं तिक्तरस वनस्पति के रूप में किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि उस काल में मूर्वा सन्दिग्ध नहीं

---

१. अ. सू. २।२१ (पयस्यर्धोदके इत्यादौ नागरं मुस्तम्—चक्र.)
२. विवरण द्वितीय भाग में देखें।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

थी। मूर्वा की सन्दिग्धता सम्भवतः धन्वन्तरिनिघण्टु के काल से प्रारम्भ हुई। अष्टांगनिघण्टु में मूर्वा पटोलादिगण में अन्य तिक्तरस द्रव्यों के साथ वर्णित है। धन्वन्तरिनिघण्टु में मूर्वा के सभी पर्याय पर्यायरत्नमाला से 'दिए गए हैं, किन्तु पर्यारत्नमाला का 'तिक्तवल्ली' पर्याय धन्वन्तरिनिघण्टु में नहीं मिलता, अपितु इसके स्थान पर 'त्रिपर्णी' एवं 'स्वादुरसा' पर्याय लिखा है। 'त्रिपर्णी' पर्याय धन्वन्तरिनिघण्टु की देन है।

इन्दु ने अपने निघण्टु में मूर्वा के पर्यायों में 'तिक्तरसा' नहीं दिया है अपितु 'स्निग्धच्छदा' लिखा है। 'पीलुपर्णी' पर्याय भी इन्हींकी देन है। सोढलकृत गुणसंग्रह में मूर्वा का वर्णन गुडूच्यादि वर्ग में तिक्तरस द्रव्यों के साथ दिया है। मदनपालनिघण्टु में कुछ उपर्युक्त पर्याय उल्लिखित हैं किन्तु तिक्तरस का निर्देश इसमें नहीं मिलता, इसके विपरीत इन्होंने मूर्वा के मधुर रस की ओर इंगित किया है जिसकी पुष्टि 'मधुरसा' एवं 'मधुस्रवा' पर्यायों से होती है। राजनिघण्टु में पर्यायों की बहुलता है। इसमें उपर्युक्त सभी पर्याय सकलित करने के साथ ही मूर्वा का रस तिक्त लिखा है। इसमें धन्वन्तरिनिघण्टु के सभी गुणकर्म लिखे हैं। प्रमेहरोग में मूर्वा का प्रयोग इनकी मौलिकता है। कैयदेव निघण्टु में मूर्वा के सभी उपर्युक्त पर्याय मिलते हैं। इसमें मूर्वा का रस तिक्त, स्वादु एवं स्वादुपाक लिखा है। इस प्रकार यहाँ तिक्त एवं स्वादु दोनों का मिश्रण कर दिया है। भावप्रकाश निघण्टु की भी यही स्थिति है।

चरक संहिता के टीकाकार आचार्य जेज्जट ने मूर्वा से 'चोरस्नायु' का ग्रहण किया है। उनका कथन है कि कुछ लोग 'पीलुपर्णी' से इसका ग्रहण करते हैं जो कि दो प्रकार की होती है—प्रथम 'स्निग्धपत्रा' द्वितीय 'धूसरपत्रा'। इसमें से प्रथम मूर्वा के नाम से ली जाती है और द्वितीय पीलुपर्णी 'मोरट' के नाम से प्रसिद्ध है। इससे यह स्पष्ट है कि जेज्जट मूर्वा से 'चोरस्नायु' का ग्रहण करते थे—किन्तु उस समय भी कुछ लोग 'पीलुपर्णी' से मूर्वा का ग्रहण करते थे।

चिकित्सा-कलिका के टीकाकार चन्द्रट ने भी मूर्वा से 'चोरस्नायु' का ग्रहण किया है।

सुश्रुतसंहिता के टीकाकार डल्हण ने मूर्वा से 'चोरस्नायु' एवं धनुर्गुणोपयोग्या' लिखा है जिससे यह स्पष्ट है कि मूर्वा के वल्कसूत्र बहुत दृढ़ होते हैं और इन सूत्रों से बनी रस्सी मजबूत होती है जिससे धनुष की डोरी (मौर्वी) बनाई जाती थी। इससे भी यह प्रतीत होता है कि उस समय शल्यक्रिया में व्रणसीवनार्थ मूर्वासूत्र का प्रयोग होता था। एक अन्य स्थल पर डल्हण ने 'दुधउ इति लोके' लिखा है जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि यह क्षीरी वनस्पति होनी चाहिए। अन्यत्र लिखा है कि मूर्वा 'कोविदारसदृशयुग्मपत्रा' लता होती है। अन्य स्थल पर

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

इसका पौधा 'कन्दली' सदृश स्वल्पविटप बताया है, जिसे लोक में 'हघोड़' कहते हैं[1]। इससे स्पष्ट है कि यद्यपि डल्हण मूर्वा से 'चोरस्नायु' का ग्रहण करते थे तथापि तत्कालीन विद्वानों में मूर्वा के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद एवं संदेह प्रचलित था।

अष्टांगहृदय के टीकाकार अरुणदत्त ने मूर्वा को 'पीलुपर्णी' एवं 'मधुरसा' तथा हेमाद्रि ने 'मधुरसा' लिखा है। अष्टांगहृदय एवं चक्रदत्त के टीकाकार शिवदास सेन ने मूर्वा को क्रमशः 'मधुरसा' एवं 'चोरस्नायुः' लिखा है। शार्ङ्गधर के टीकाकार आढमल्ल ने मूर्वा को 'चोरस्नायु' लिखा है।

इस प्रकार शास्त्रीय अनुशीलन के आधार पर मूर्वा का निम्नांकित स्वरूप स्पष्ट होता है :—

१. मूर्वा का वल्कसूत्र दृढ़ होना चाहिए।

सुश्रुतसंहिता के टीकाकार डल्हण ने कहा है :—

'मूर्वा चोरस्नायुः यया पूर्वदेशे गुणान् कुर्वन्ति धनुषाम्'

'अन्यत्र मूर्वा धनुर्गुणोपयोग्या दुधउ इति लोके'

मूर्वा के सूत्रों से धनुष की डोरी बनती थी इसलिए इसे 'मौर्वी' कहते हैं। इससे मूर्वा के वल्क सूत्रों की दृढ़ता का अनुमोदन होता है। प्राचीन काल में मूर्वा के वल्कसूत्रों का शल्यक्रिया में सीवनहेतु प्रयोग भी होता था।

२. यह लता जाति की वनस्पति होनी चाहिए।

कोषों में मूर्वा के लिए शब्दलता आया है तथा मूर्वा के पर्यायों में 'गोपवल्ली' निघण्टुओं में आया है। गोपवल्ली सारिवा का भी पर्याय है इससे सारिवा के समान इसकी लता होने की पुष्टि होती है।

३. यह तिक्तरस होनी चाहिए।

चरकसंहिता तथा अष्टांगहृदय में मूर्वा का पाठ तिक्तस्कन्ध तथा सुश्रुत संहिता में पटोलादिगण में वर्णित है। इससे यह सिद्ध होता है कि मूर्वा तिक्तरस वनस्पति होनी चाहिए।

मूर्वा के नाम से गृहीत द्रव्य :—

डल्हण के समय मूर्वा के नाम से निम्नांकित द्रव्यों का ग्रहण किया जाता था :—

---

१. चौरस्नायुः—सु. सू. ४४।२५, चि. २।९१, ५।१२ इत्यादि।
चौरस्नायुः यया पूर्वदेशे गुणान् कुर्वन्ति धनुषाम्, अन्ये कोविदारसदृशयुग्मपत्रां लताविशेषां मूर्वामाचक्षते—सु. सू. २५।२१,
धनुर्गुणोपयोग्या 'दूधउः' इति लोके—सु. सू. ३८।६
कन्दलीसदृशस्वल्पविटपः 'हघोड़' इति लोके—सु. सू. ३९।६

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

१. चोरस्नायु
२. कोविदारसदृश युग्मपत्रा
३. कन्दलीसदृश स्वल्पविटप (हघोड़)
४. दुधउ या दुधोड़

मूर्वा के नाम से गृहीत वनस्पतियाँ

संप्रति भारत के विभिन्न क्षेत्रों में मूर्वा के नाम पर निम्नांकित वनस्पतियाँ ली जाती हैं :—

१. चिन्हारु, मोरबेल या जरतोड़[1] (Marsdenia tenacissima W. & A.)
२. लाखन[2] (Wattakaka volubilis (Linn. f.) Stapf.)
३. मोरबेल (Clematis gouriana Roxb.)
४. मुरहरी (Maerva arenaria Hook. f. & Thoms.)
५. मरोड़फली[1] (Helicterus isora Linn.)
६. मालझन (Bauhinia vahlii W. & A.)
७. नागदमन[1] (Sansvieria roxburghiana Schult. f.)
८. मुहुरसि (Chonemorpha macrophylla (Roxb.) G. Don.)

अवशिष्ट वनस्पतियों का विवरण यहाँ दिया जा रहा है :—

मोरबेल—(Clematis gouriana (Roxb.) Fam. Ranunculaceae)

इसकी प्रसरणशील आरोहिणी लता होती है। पत्तियाँ पक्षवत् , पत्रक झिल्लीदार, लट्वाकार आयताकार या हृद्वत् , लम्बाग्र होते हैं। पुष्प छोटे, सघन मंजरियों में, $\frac{1}{3}$–$\frac{1}{2}$ इञ्च व्यास के, पीताभ या हरिताभ श्वेत होते हैं। फल–संकरे-आयताकार, रोमश होते हैं।

यह प्रायः पश्चिमी हिमालय के क्षेत्र में ३ हजार फीट की ऊँचाई तक मिलता है। इसकी एक अन्य प्रजाति C. triloba Heync ex Roth पंचमढ़ी के जंगलों में प्रचुर देखने में आई थी।

वहाँ उसे 'बन्दरसीटी' कहते हैं।

मुरहरी (Maerua arenaria Hook. f. & Thoms) Fam–Capparidaceae.

इसकी बड़ी काष्ठीय गुल्मवत् लता होती है। पत्र–$\frac{1}{2}$–३ इञ्च लम्बे, पीलु के पत्ते के सदृश अण्डाकार-आयताकार होते हैं अतः यह 'पीलुपर्णी' कही जाती है। पुष्प–$\frac{1}{2}$–१ इञ्च लम्बे, श्वेतवर्ण होते हैं। बाह्यकोषनलिका ऊपर की ओर फैली

१. इनका विवरण द्वितीय भाग में देखें।
२. इसका विवरण 'शार्ङ्गेष्टा' शीर्षक में देखें।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

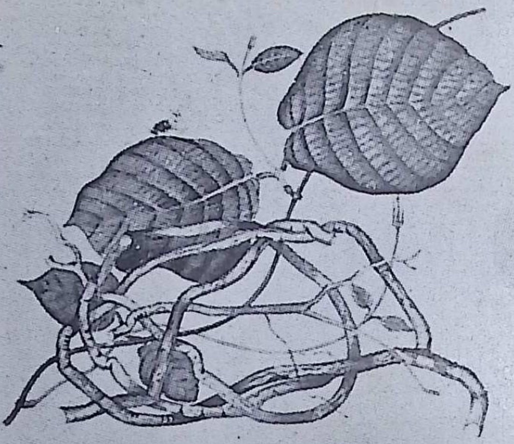

मूर्वा ?

honemorpha macrophylla G.Don.

१३. मूर्वा ?

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

होती है। फल—२-५ इञ्च लम्बे, मुड़े, बीजों के बीच-बीच में अत्यधिक संकुचित होते हैं।

इसके मूल मधुर होने के कारण यह 'मोरटा' या 'मधुरसा भी कही जाती है। यह पंजाब, मध्यप्रदेश, गुजरात, राजस्थात तथा दक्षिण भारत में होती है।

मालझन—(Banhinia vahlii W. & A.)

Fam–Leguminosae.

इसे आचार्यों ने 'मालुया' नाम से कहा है। वाक्पतिराज ने अपने 'गौड़वहो' काव्य में 'मालुधानी' शब्द से सम्भवतः इसीका उल्लेख किया है।

इसकी विशाल आरोहिणी लतायें होती हैं। पत्र—बहुत बड़े, दृढ़ चर्मवत्, लम्बाई से चौड़ाई में अधिक (३/४–११/२ फुट), गहरे, हृद्वत्, ११–१३ सिरायुक्त, अग्रभाग का विदार पत्र के १/३–१/४ भाग तक होता है। पुष्प—दीर्घवृन्त, अन्त्य, सघन, लंबी मंजरियों में होते हैं। बाह्यकोषनलिका कोमल, १/४–१/२ इंच लंबी बेलनाकार होती है। अन्तर्दल—१ इंच लंबे, अभिलट्वाकार, बहिर्गत होते हैं। फली—धूसरवर्ण, ३/४–१ फुट लंबी, २ इंच चौड़ी, विदारी होती है जिसमें ८–१२ बीज होते हैं।

यह मध्य तथा पूर्वी हिमालय क्षेत्र में २५०० फीट की ऊँचाई तक होता है।

मुहुंरसि—(Chonemorpha macrophylla (Roxb.) G. Don.)

Fam.—Apocynaceae.

इसकी दृढ़ आरोहिणी गुल्मवत् लता होती है। पत्र—६–१८ इंच लंबे, ५–१८ इंच चौड़े, लट्वाकार या अण्डाकार–लट्वाकार होते हैं जिनमें १०–१२ जोड़ी सिरायें होती हैं। पुष्पमञ्जरी दृढ वृन्त पर लगी होती है। बाह्यकोष–१/३–१/२ इंच लंबा चर्मवत्; आभ्यन्तर कोष श्वेतवर्ण २–३ इंच व्यास का होता है। फल—१२–१८ इंच लंबे और लगभग १ इंच चौड़े होते हैं जिनमें ३/४ इंच लंबे बीज होते हैं।

यह समस्त भारत में आर्द्र जंगलों में होता है। विशेषतः कुमाऊँ तथा केरल में मिलता है।

निष्कर्ष

उपर्युक्त वनस्पतियों के वल्कसूत्रों की दृढ़ता, रस तथा गुणकर्म का प्रायोगिक परीक्षण किया गया। इस अध्ययन तथा पूर्वोक्त शास्त्रीय स्वरूप के आधार इन द्रव्यों का तुलनात्मक मूल्यांकन करने पर चिन्हारु या मोरमेल (Marsdenia tenacissima W. & A.) वास्तविक मूर्वा सिद्ध होती है। मुहुरसि (Chonemorpha macrophylla.) इसका उत्तम प्रतिनिधि द्रव्य हो सकता है।

१. भृगुनाथ सिंह : मूर्वा के सम्बन्ध में सन्दिग्धता का अध्ययन एवं निराकरण। (पीएच. डी. शोधप्रबन्ध, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, १९७३)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

मूलकपर्णी

चरक में मूलकपर्णी का पाठ दो स्थलों पर (चि. ३।२६७, वि. ७।२१) है। द्वितीय स्थल पर पाठान्तर का संकेत है तथा चक्रपाणि ने उस पर कोई टिप्पणी भी नहीं की है अतः वह पाठ सन्दिग्ध है। प्रथम सन्दर्भ में ऐसी बात नहीं है। वहाँ चक्रपाणि ने मूलकपर्णी से गुग्गुलु लिया है। सुश्रुत (सू. ४६।४६) में 'मूलकपर्णी' पाठान्तर है जिसकी व्याख्या शोभाञ्जनक की गई है। उपर्युक्त चरकीय सन्दर्भ में इससे शोभाञ्जन का ग्रहण नहीं किया जा सकता क्योंकि उसके पूर्व शिग्रु एवं शोभांजन दोनों आ चुके हैं। शोभाञ्जन के पत्ते मूली के पत्ते के सदृश नहीं होते किन्तु शाक में दोनों प्रयुक्त होते हैं। और गुणकर्म में प्रायः समान होते हैं।

स्वरूपतः मूलकपर्णी अधोगुडा (बनमूली—Euphorbia acaulis Roxb.) का पर्याय हो सकता है। चरक ने मूलकपर्णी को उष्णवीर्य तथा कृमिघ्न कहा गया है। ये दोनों गुणकर्म अधोगुडा में होने की सम्भावना है। (देखें अधोगुडा)

मृगलिण्डिक

मृगलिण्डिक या मृगलिण्डिका एक ही बार चरक और अष्टांगहृदय में आया है। चरकसंहिता (सू. २५।४९) में फलासवों में द्राक्षा आदि फलों के साथ 'मृगलिण्डिका' का पाठ है। वहाँ चक्रपाणि ने इसका अर्थ 'बिभीतक' किया है। इसका कारण सम्भवतः हरीतकी और आमलक के साथ इसका पठित होना है। अरुणदत्त ने इसकी कोई व्याखया नहीं की है। किन्तु यह ध्यान में रखना चाहिए कि हरीतकी और आमलक के साथ सर्वत्र बिभीतक नहीं आता। अमयामलकीय रसायनपाद में बिभीतक की उपेक्षा की गई है। दूसरी बात यह है कि बिभीतक का प्रयोग प्रायः सुरा बनाने में और हरीतकी–आमलकी का आसव बनाने में होता है। तीसरी बात यह है कि मृगलिण्डिक का पाठ वाग्भट ने अम्ल फलों के साथ किया है :—

'तथाम्लं कोलकर्कन्धूलकुचाम्रातमारुकम्।
ऐरावतं दन्तशठं सतूदं मृगलिण्डिकम्॥
नाति पित्तकरं पक्वं शुष्कं च करमर्दकम्।

—अष्टांगसंग्रह, सूत्र. ७।२०४
—अष्टांगसंग्रह, सूत्र. ६।१५८.

इन तथ्यों से स्पष्ट है कि मृगलिण्डिक बिभीतक नहीं है, इससे भिन्न द्रव्य है। चक्रपाणि ने अभया और आमलक के साहचर्य से तथा इस द्रव्य का परिज्ञान न होने के कारण भ्रम से इसका अर्थ बिभीतक किया।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

तब मृडलिण्डिक क्या है ?

यह वही वनस्पति है जिसे आदिवासी 'मिलगण्डी' या 'मिरिगलेण्डी' कहते हैं। इसका लैटिन नाम है Gnetum montanum Markgraf. (Syn. gnetum scandens Roxb.)

स्वरूप – इसकी वड़ी विस्तृत, एकलिङ्गी तथा सदाहरित लता होती है जिसका तना काष्ठीय होता है। छाल भूरे रंग की होती है जिससे छोटे-छोटे टुकड़े टूटते रहते हैं। पत्तियाँ–अण्डाकार, आयताकार या लट्वाकार, ३–८ इंच लंबी और २–४ इंच चौड़ी होती हैं। पत्रवृन्त–·३–·७५ इंच लम्बा होता है। पुष्पमञ्जरी में चक्राकार उपपत्र व्यवस्थित होते हैं जिनके अक्ष में सघन रोमों से आच्छादित पुष्प मुद्रिकावत् स्थित होंते हैं। पुष्पमञ्जरी १–३ इंच लम्बी होती है। पुष्पमञ्जरी की इसी मृगलिण्डवत् आकृति के कारण इसकी संज्ञा निर्धारित है। फल–अण्डाकार, ०·७५–१·५ इंच लम्बे तथा पकने पर नारंगी रंग के हो जाते हैं। फलमञ्जरी कभी-कभी १० इंच लंबी हो जाती है। अप्रिल–मई मास में फूल लगते हैं।

यह बिहार, उड़ीसा, बंगाल और आसाम में तीन हजार फीट की ऊंचाई तक होता है।

आदिवासी लोग इसका फल खाते हैं। इसके बीजों को भी भून कर या उबाल कर खाते हैं। आदिवासियों में इसके फल का आसव भी बनाने की परम्परा होगी जिस आधार पर चरक ने इसका पाठ फलासव में किया। सम्भ्रान्त समाज में इसका उपयोग न होने के कारण इसका अधिक उल्लेख नहीं हुआ।

सारांश

चरक और वाग्भट में पठित मृगलिण्डिक बिभीतक नहीं है। यह एक भिन्न वनस्पति है जिसका लैटिन नाम Gnatum montanum Markgraf. है। सम्भवतः तोदन भी यही है। (देखें तोदन)

मेषशृङ्गी

चरकसंहिता में मेषशृङ्गी उष्णवीर्य द्रव्यों में (चि. ३।२६६) तथा लोध्र-सौवीरकयोग (क. १०।७) में केवल दो ही बार पठित है।

चक्रपाणि ने इस दोनों में कहीं भी कोई व्याख्या नहीं की। 'मेषशृङ्ग' शब्द चरक में नहीं है।

सुश्रुत में मेषशृङ्ग का उल्लेख रक्तस्तम्भन, सालसारादि गण, व्रणरोपण तैल (त्वचा), विषघ्न अञ्जन (निर्यास और पुष्प), काचहर अञ्जन (पुष्प), दृष्टि-प्रसादन अञ्जन (पुष्प), भद्रोदय अञ्जन (पुष्प), शिरोरोग में नस्य (त्वचा), तथा मेषशृङ्गी का उल्लेख वरुणादि गण, शिरोविरेचन (त्वचा), वातसंशमन वर्ग,

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

वातहर तैल, कुष्ठहर तैल, विषघ्न अगद, नेत्ररोग, अतिसारहर (मेषश्रृङ्गी पुटपाक भी) प्रयोगों में है।

वाग्भट में भी सर्वत्र मेषश्रृङ्गी है, मेषश्रृङ्ग नहीं। सुश्रुत का सालसारादि गण वाग्भट में असनादि है। सुश्रुत में इस गण में मेषश्रृङ्ग है जबकि वाग्भट में मेषश्रृङ्गी है। काचहर अञ्जन में भी में मेष (श्रृङ्ग) है जबकि वाग्भट में मेषश्रृङ्गी है। इसके अतिरिक्त, सुश्रुतोक्त मेषश्रृङ्ग और मेषश्रृङ्गी के प्रयोग भी समान ही हैं। दोनों स्तम्भन, विषघ्न, चक्षुष्य और शिरोविरेचन हैं। मेषश्रृङ्गी शिरोविरेचन में निर्दिष्ट है और उसकी त्वचा लेने का विधान है। पुनः मेषश्रृङ्ग की त्वचा का प्रयोग शिरोविरेचनार्थ शिरोरोग में किया गया है। इससे भी दोनों की एकता सिद्ध हो जाती है। इस प्रकार मेषश्रृङ्ग और मेषश्रृङ्गी एक ही है। वस्तुतः 'मेषश्रृङ्ग' शब्द केवल सुश्रुत में ही प्रयुक्त है। मेषश्रृङ्गी का प्रयोग सुश्रुत में है भी अधिक। अर्थ की दृष्टि से भी दोनों एक ही हैं :—

मेषश्रृङ्ग = मेषस्य श्रृङ्ग इव श्रृङ्गो यस्य सः।

मेषश्रृङ्गी = मेषवत् श्रृङ्गोऽस्यास्तीति।

सालसारादि गण में बड़े वृक्ष हैं वहाँ निर्दिष्ट होने से स्पष्टतः मेषश्रृङ्गी कोई बड़ा वृक्ष है। इसके अतिरिक्त, इसकी त्वचा और निर्यास का प्रयोग है जो प्रायः बड़े वृक्षों का ही लिया जाता है। अजश्रृङ्गी, विषाणिका आदि लताजाति की वनस्पतियाँ हैं तद्वत् संज्ञा होने के कारण मेषश्रृङ्गी के लता होने का भ्रम हुआ है। डल्हण अजश्रृङ्गो को मेषश्रृङ्गीभेद मानते हैं। किन्तु अब यह भ्रम दूर हो जाना चाहिए।

डल्हण ने मेषश्रृङ्ग को कर्कटश्रृङ्गी माना है। उसके वचन इस प्रकार हैं :—

१. मेषश्रृङ्गः कर्कटश्रृङ्गः—सु. सू. १४।३६

२. मेषश्रृङ्गः कर्कटश्रृङ्गः, स च पुत्रञ्जीवकसदृशस्तरुविशेषः—सु. सू. ३८।८

३. मेषश्रृङ्गी कर्कटश्रृङ्गी—सु. सू. ३८।१०

४. मेषश्रृङ्गी मेढश्रृङ्गः पुत्रञ्जीवकसदृशपत्रो वृक्षः, अन्ये कर्कटश्रृङ्गमाहुः—सु. सू. ३९।६

५. मेषश्रृङ्गं कर्कटशृङ्गं पुत्रञ्जीवकभेद इत्यन्ये—सु. चि. २।६४

६. मेषश्रृङ्गी कर्कटश्रृङ्गो, गयी तु पुत्रञ्जीवकभेदमाह—सु. चि. ९।७

७. मेषश्रृङ्गः पुत्रजीवानुकारी वृक्षः—सु. उ. १७।४०

८. मेषश्रृङ्गी कर्कटश्रृङ्गी—सु. उ. ४०।४०

इस प्रकार डल्हण के अनुसार मेषशृङ्गी कर्कटशृङ्गी है जो पुत्रञ्जीवक के समान वृक्षविशेष होता है। एक स्थल पर इसका नाम 'मेढशृङ्ग' दिया है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कर्कटशृङ्गी और मेषशृङ्गी

१. मेषशृङ्गी सुश्रुत के सालसारादि तथा वरुणादि गणों में तथा चरक के उष्णवीर्य प्रयोगों में पठित है किन्तु कर्कशृङ्गी चरक के मधुरस्कन्ध में निर्दिष्ट है।

२. मेषशृङ्गी का प्रयोग विशेषतः स्तम्भन, व्रणरोपण, विषघ्न, चक्षुष्य तथा शिरोविरेचनार्थ होता है। कर्कटशृङ्गी का प्रयोग मुख्यतः कासहर, श्वासहर है।

३. मेषशृङ्गी की त्वचा, निर्यास तथा पुष्पों का प्रयोग है किन्तु कर्कटशृङ्गी के शृङ्गाकार अवयव का प्रयोग-विधान किया है :—

'मुस्तायुतां कर्कटकस्य शृङ्गीम्'—च. चि. २०।३८
'नागरातिविषे मुस्तं शृङ्गीं कर्कटस्य च'—च. चि. १८।११५

इससे स्पष्ट है कि वृक्ष का नाम कर्कटक (कक्कड़) है और उसकी 'शृङ्गी' का प्रयोग किया जाता है। मेषशृङ्गी के सन्दर्भ में ऐसा कोई प्रयोग नहीं मिलता क्योंकि 'मेषशृङ्ग' का अभिप्राय वहाँ शृङ्गाकार फलों से है जबकि कर्कटशृङ्गी में शृङ्गी का तात्पर्य शृङ्गाकार अवयवविशेष से है।

४. मेषशृङ्गी सालसारादि तथा वरुणादि गण का द्रव्य होने के कारण कफमेदो-विशोषण, मेद, पाण्डुकुष्ठ, शिरःशूल आदि में उपयोगी है जबकि कर्कटशृङ्गी मधुर-स्कन्ध में निर्दिष्ट होने से विशेषतः वातपित्तशामक है (च. क. ७।१८।२०)।

इस प्रकार मेषशृङ्गी कर्कटशृङ्गी से भिन्न वृक्ष है। यह डल्हण का 'मेढशृङ्ग' है जिसका लैटिन नाम Dolichandrone falcata Seem. है। मराठी में इसे मेढशृङ्गी कहते भी हैं। कर्कटशृङ्गी Pistacea integerrima Stew ex Brandis. है।

Dolichandrone falcata Seem.

यह श्योनाक-कुल की वनस्पति है। इसका वृक्ष २०–२५ फीट ऊँचा होता है। पत्र–३–६ इंच लंबे; पत्रक ५–७, $\frac{?}{८}$–$\frac{१}{२}$ इंच लंबे, अभिलट्वाकार या अण्डाकार, प्रायः गोलाग्र, पुष्पमञ्जरी १–३ शाखायुक्त, अन्तर्दलनलिका श्वेत, १–१$\frac{१}{४}$ इंच लंबी होती है। फली–लगभग १ फुट लंबी, $\frac{२}{३}$ इंच चौड़ी, मेषशृङ्गवत् टेढ़ी होती है जिसमें १$\frac{१}{४}$ इंच लंबे, $\frac{१}{४}$–$\frac{१}{३}$ इंच चौड़े, सपक्ष, चपटे बीज होते हैं।

यह वृक्ष दक्षिण भारत में विशेष होता है।

मोहनिका–मोहनवल्लिका

इसका उल्लेख सुश्रुतसंहिता तथा अष्टांगहृदय में हुआ है। सुश्रुतसंहिता में यह सौभाग्यकरण योग (चि. २८।२२) तथा मानसदोषहर औषधियों में (उ. ६१।४८) पठित है। अष्टांगहृदय में दूसरा प्रयोग सम्मिलित है (उ. ५।३)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

डल्हण ने मोहनिका का अर्थ पुत्रञ्जीवी किया है तथा एकीय मत से अवाक्पुष्पी का निर्देश किया है। दूसरे स्थल में मोहवल्लिका को वटपत्रिका कहा है। अरुणदत्त ने मन्दाक कहा है।

इन व्याख्याओं से मोहनिका के स्वरूप का पता नहीं चलता। यह सम्भव है कि उपर्युक्त द्रव्यों का मोहन, वशीकरण आदि तान्त्रिक क्रियाओं में प्रयोग होता हो और डल्हण ने इसी परम्परा का उल्लेख मात्र कर दिया है। अरुणदत्त की टीका से कुछ संकेत मिलता है। यदि वह 'मन्दाक' न होकर 'वन्दाक' हो तो यह अनुमान होता है कि मोहनिका वन्दाक जाति की कोई वनस्पति है। इस जाति की एक वनस्पति Viscum monoicum Roxb. ex DC. है, जो शक्तिशाली मादक है तथा पशुओं के लिए विषाक्त भी है। 'मोहनिका' से 'मादक' अर्थ लेना चाहिए। यह एक पराश्रयी गुल्म है जो शिरीष, करञ्ज, कर्कन्धु आदि वृक्षों पर पाया जाता है। कुपीलु वृक्ष पर की वनस्पति में कुचले के समान विषाक्त गुणधर्म होते हैं। मेरी दृष्टि में, राजनिघण्टु की पशुमोहनिका (कट्वी) भी यही है।

यवफला—यवतिक्ता

यवतिक्ता चरकसंहिता में केवल एक बार दृढ़बलकृत अंश में शंखिनी के पर्यायों में पठित है (च. क. ११।३)। सुश्रुत ने तैल-प्रकरण में यवतिक्ता के तैल का वर्णन किया है। इसका तैल सर्वदोषप्रशमन, ईषत् तिक्त, दीपन, लेखन, मेध्य और पथ्य कहा गया है (सु. सू. ४५।१२५)।

डल्हण ने इसकी टीका में लिखा है कि यवतिक्ता यव के खेतों में होती है, इसमें ७–८ तिक्तरस पत्ते होते हैं, इसे लोग 'यवेन्तिका' कहते हैं[1]।

दृढ़बल का मत कि यवतिक्ता शंखिनी का पर्याय है इससे खण्डित हो जाता है कि सुश्रुत ने शंखिनी के तैल का गुण यवतिक्ता के तैल से पृथक् कहा है (सु. सू. ४५।१२४)। इसके गुणधर्म भी भिन्न हैं—यह अधोभागदोषहर, कृमिकफकुष्ठानिलहर और दुष्टव्रणशोधन है। इस प्रकार यवतिक्ता शंखिनी से भिन्न है।

आजकल यवतिक्ता से कालमेध (Andrographis paniculata Nees) लेते हैं। डल्हण ने जो स्वरूपवर्णन किया है उसके अनुसार यह Erythraea roxburghii G. Don या Canscora decussata Schult हो सकती है। दूसरे द्रव्य की संभावना अधिक है क्योंकि यह मेध्य (शंखपुष्पी के समान) के रूप में व्यवहृत भी होती है। (देखें शंखिनी)

यवफला सुश्रुत में एक विषघ्न महासुगन्धि अगद में (सु. क. ६।१५) और दूसरे रेवतीप्रतिषेध में (सु. उ. ३१।६)। दोनों ही स्थलों पर डल्हण ने इसका अर्थ दुग्धिका किया है।

१. यवतिक्ता यवक्षेत्रेषु जायते तिक्तसप्ताष्टपत्रा यवेन्तिका इति लोके।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

किन्तु मेरे विचार से यवफला यवतिक्ता ही है। 'यवतिक्ता' के दो अर्थ हो सकते हैं—एक यव क्षेत्रों में होने वाली तिक्त औषधि और दूसरा यवसदृशफल वाली और तिक्तरस। यवतिक्ता में ये दोनों ही लक्षण मिलते हैं।

रास्ना–एलापर्णी

शास्त्रीय स्वरूप

आयुर्वेदीय संहिताग्रन्थों में रास्ना का परिचयात्मक वर्णन स्पष्टतः नहीं मिलता है किन्तु पर्यायों तथा प्रयोगों के द्वारा उसके शास्त्रीय स्वरूप एवं गुणकर्मों का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

चरकसंहिता के अनुवासनोपग महाकषाय में तथा सुश्रुतसंहिता के अर्कादि गण तथा श्लेष्म-संशमन वर्ग में रास्ना का पाठ है।

रास्ना के वानस्पतिक स्वरूप के सम्बन्ध में उपर्युक्त स्थलों से कुछ संकेत प्राप्त होता है।

अर्कादि गण के द्रव्य प्रायः क्षुप या गुल्म हैं अतः रास्ना भी उसी वर्ग की ओषधि होनी चाहिये। इसके स्वरूप के सम्बन्ध में और कोई विशद निर्देश उपलब्ध नहीं होता किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि एलापर्णी (च. वि. ८।१३५) संहिताकाल में रास्ना का प्रचलित पर्याय था जो बाद तक चलता रहा।

चरकसंहिता विमानस्थान में परिगणित वमनोपग द्रव्यों में एलापर्णी का पाठ है। इससे प्रतीत होता है कि रास्ना के पत्र एलापर्ण के सदृश होते हैं। इस शब्द से उस द्रव्य के गन्धयुक्त होने का भी संकेत मिलता है क्योंकि एला के पत्र में विशिष्ट आकृति के साथ-साथ गन्ध भी होती है।

चरक चिकित्सास्थान (२८।१६५) में रास्नातैल का पाठ हैं। यह तैल गन्धयुक्त होता है। इसमें केवल रास्ना के क्वाथ का प्रयोग होता है, जिसमें गन्ध द्रव्यों का कल्क डालते हैं। इससे भी रास्ना के सुगन्धित होने का अनुमान किया जा सकता है।

इस प्रकार रास्ना स्वरूपतः क्षुप जाति की औषधि है जिसके पत्ते एलापत्र के आकृति के होते हैं तथा इस द्रव्य के सुगंधित होने का भी अनुमान होता है।

अनुवासनोपग (चरक), अर्कादिगण एवं श्लेष्मसंशमन वर्ग (सुश्रुत) के द्रव्य प्रायः तिक्तरस है। इसके अतिरिक्त अनेक योगों में तिक्त द्रव्यों के साथ इसका उल्लेख है। चरकसंहिता (चि. १७।१०६) में रास्ना का पाठ पाठा, मूर्वा, सरल और देवदारु इन तिक्त द्रव्यों के साथ है। सिद्धिस्थान (३।६१) में भी रास्नादि निरूहवस्ति में गुडूची, दारुहरिद्रा सप्तपर्ण, निम्ब, भूनिम्ब, कुटकी, पाठा इत्यादि तिक्त द्रव्यों के साथ रास्ना का उल्लेख है। सिद्धिस्थान (८।८) में पटोल, निम्ब, भूनिम्ब और सप्तच्छद के साथ रास्ना पठित है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

सुश्रुतसंहिता (चि. १५।२१) में भी अतिविषा इत्यादि द्रव्यों के साथ रास्ना है। चि. २४।५४ में पाठा, कटुरोहिणी, निम्ब इत्यादि तिक्त द्रव्यों के साथ रास्ना का विधान है। इससे रास्ना का तिक्त रस सिद्ध होता है। इसी आधार पर धन्वन्तरि-निघण्टु ने इसे तिक्तरसा लिखा है।

चरकसंहिता के अग्र्यप्रकरण (सू. २५) में रास्ना और अगरु का प्रलेप शीतनिवारक द्रव्यों में सर्वोत्तम कहा गया है। पुनः इसके बाद ज्वर चिकित्सा में निर्दिष्ट अगुर्वाद्य तैल के उष्णवीर्य द्रव्यों में रास्ना का पाठ है। इससे रास्ना के उष्णवीर्य का पता चलता है। जहाँ तक इसके कर्म का सम्बन्ध है, शीतापनयन के अतिरिक्त यह वातहर द्रव्यों में सर्वोत्तम कहा गया है (च. सू. २५)। सुश्रुत के श्लेष्मसंशमन वर्ग में पठित होने से यह कफ का भी शामक है। इस प्रकार दोष-प्रभाव की दृष्टि से यह वातश्लेष्महर सिद्ध होता है जिसमें वातहरत्व प्रधान है।

अर्कादि गण के द्रव्य कफ, मेद और विष के निवारक, कृमि और कुष्ठ के नाशक तथा व्रणशोधक हैं। अतः अर्कादि गण का एक घटक होने के कारण रास्ना के भी ये कर्म होते हैं। वमनोपग तथा अनुवासनोपग गणों में पाठ होने के कारण वमन और अनुवासन कर्मों में भी इसकी उपयोगिता सिद्ध होती है। इस प्रकार प्राचीन संहिताग्रन्थों के आधार पर रास्ना का स्वरूप निम्नांकित रूप में प्रस्तुत होता है :—

वानस्पतिक स्वरूप :—क्षुप या गुल्म।

१. पत्र :—एलापत्रसदृश, प्रयोज्य अंग विशेषतः गन्धयुक्त।

२. रस :—तिक्त।

३. वीर्य :—उष्ण।

४. दोषप्रभाव :—वातश्लेष्महर, विशेषतः वातनाशक।

५. अन्य कर्म :—मेदोहर, विषघ्न, कृमिघ्न, कुष्ठघ्न, व्रणशोधन, वृष्य, वमनोपग तथा अनुवासनोपग।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

प्राचीन संहिताओं के अवलोकन से यह स्पष्ट हो जाता है कि रास्ना का स्वरूप इस काल में असन्दिग्ध था और इस कारण अनेक रोगों में इसका उपयोग बहुलता से किया जाता था। जब कोई द्रव्य संदिग्ध हो जाता है तो कुछ काल के बाद उसका प्रयोगक्षेत्र भी संकीर्ण होने लगता है, जो धीरे-धीरे नितान्त अवरुद्ध हो जाता है। वर्तमान काल में रास्ना के नाम से अनेक द्रव्य विभिन्न क्षेत्रों में प्रचलित हैं। इनमें से कौन सा द्रव्य प्राचीन महर्षियों का अभिप्रेत था इसका निर्णय करना अत्यन्त कठिन कार्य है। क्योंकि सहस्रों वर्षों के अन्तराल में इसके स्वरूप एवं प्रयोग के सम्बन्ध में अनेक परिवर्तन हुए, जिनकी शृङ्खला वर्तमान काल में पूर्णतः उपलब्ध नहीं होती, तथापि प्राचीन वाङ्मय के सूक्ष्म अध्ययन के आधार पर कुछ निष्कर्ष निकाला जा सकता है और उसको प्रामाणिक मान कर उसके आधार पर मध्यकालीन एवं आधुनिक मान्यताओं का मूल्यांकन किया जा सकता है।

पिछले अध्याय में रास्ना के मौलिक स्वरूप का एक अनुमानगम्य स्वरूप प्रस्तुत किया गया है। वह स्वरूप रास्ना का प्राचीन मौलिक स्वरूप था। अब देखना है कि किस प्रकार इस सम्बन्ध में सन्दिग्धता उत्पन्न हुई और किस प्रकार यह कालक्रम से बढ़ती गई।

प्राचीन संहिताकाल के बाद आयुर्वेदीय वाङ्मय की शृङ्खला विच्छिन्न हो जाती है। प्राचीनतम निघण्टु भी आज उपलब्ध नहीं है, तथापि यथासंभव उपलब्ध वाङ्मय का पर्यालोचन इस कार्य में सहायक होता है।

अमरकोष गुप्तकालीन रचना मानी जाती हैं। उसमें रास्ना शब्द दो प्रकरणों में पठित है एक तो एलापर्णी के पर्याय में और दूसरे नाकुली के पर्याय में (अ. वनौ.)। किन्तु इससे एक महत्त्वपूर्ण तथ्य सामने आता है। अमरसिंह ने रास्ना का जो स्वतंत्र वर्णन दिया है, वह एलापर्णी के नाम से है और नाकुली के वर्णन में रास्ना को केवल पर्याय रूप में कहा गया है। इससे दो बातों का पता चलता है—एक तो यह कि वास्तविक रास्ना एलापर्णी थी, जो चरकसंहिता में भी पठित है। दूसरे यह कि नाकुली को भी कुछ लोग रास्ना मानने लगे थे। संभवतः उस काल में नाकुली और एलापर्णी ये दो द्रव्य रास्ना के नाम पर उसके दो भेदों के रूप में लिये जाते थे—एक एलापर्णी रास्ना और दूसरी नाकुली रास्ना। किसी तीसरे द्रव्य का उल्लेख अमरकोष में रास्ना के नाम से नहीं है। अतः रास्ना के विषय में सन्दिग्धता का श्रीगणेश यहाँ से माना जा सकता है।

इसके बाद मध्यकालीन निघण्टुओं ने इसी परम्परा को आगे बढ़ाया।

कुछ निघण्टु नाकुली, गन्धनाकुली और रास्ना तीनों को एक मानते हैं किन्तु अधिकांश निघण्टु रास्ना को पृथक् तथा गन्धनाकुली और नाकुली को एक मानते

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

हैं। कुछ निघण्टुओं में प्राचीन एलापर्णी नाम को सुरक्षित रखा गया है और कुछ निघण्टुओं में गन्धद्योतक सुगन्धमूला, सुरभि आदि पर्याय नवीन आये हैं।

राजनिघण्टु ने यद्यपि परम्परागत क्रम से रास्ना, नाकुली तथा गन्धनाकुली इन तीनों का पृथक्-पृथक् वर्णन किया है तथापि तत्कालीन स्थिति का भी चित्रण स्पष्ट रूप से किया है।

रास्ना के नाम से प्रचलित तत्कालीन तीन द्रव्यों को उसने त्रिविध रास्ना करके वर्णन किया है। यथा :—

रास्ना तु त्रिविधा प्रोक्ता मूलं पत्रं तृणं तथा।

अर्थात् रास्ना तीन प्रकार की होती है। मूलरास्ना, पत्ररास्ना और तृण रास्ना। स्पष्टतः राजनिघण्टु के काल (१५वीं शती) में रास्ना के नाम पर ये तीन प्रमुख द्रव्य प्रचलित थे। जिनके क्रमशः मूल, पत्र और पंचांग व्यवहृत होते थे।

जहाँ तक व्याख्याकारों का सम्बन्ध है, चन्द्रट ने 'रास्ना सुरभिः' लिखा है जिससे इस द्रव्य की गन्धवत्ता का परिचय मिलता है। चक्रपाणिदत्त ने संभवतः नाकुली, गन्धनाकुली और रास्ना सभी को एक मान लिया है। अतः नाकुलीद्वयं रास्नाद्वयं और 'गन्धनाकुली रास्नाभेदः' लिखा है।

सुश्रुतसंहिता के टीकाकार डल्हण ने एक स्थल पर रास्ना को सुरभि, दूसरे स्थल पर सुरसा (कांटा अमरुल इति भाषा) लिखा है तथा अन्य स्थलों पर गन्धनाकुली को भी सुगन्धमूला रास्ना कहा है। इससे पता चलता है कि डल्हण रास्ना और गन्धनाकुली को एक मानते थे। दोनों में संभवतः गन्धसामान्य को आधार बनाया था।

शिवदास सेन ने नाकुली तथा सर्पगन्धा से रास्ना का ग्रहण किया है।

इस प्रकार मध्यकालीन टीकाकारों की टिप्पणियों से भी रास्ना की सन्दिग्धता पर प्रकाश पड़ता है। विशेषतः नाकुली, गन्धनाकुली और रास्ना की एकता का उल्लेख महत्त्वपूर्ण है।

आधुनिक काल में यह सन्दिग्धता क्रमशः बढ़ती गई और देश के विभिन्न भागों में भिन्न-भिन्न द्रव्य रास्ना के नाम पर व्यवहृत होने लगे।

इस प्रकार संहिताकाल में यह द्रव्य असन्दिग्ध था किन्तु, जैसा कि अमरकोष के वर्णन से स्पष्ट होता है, क्रमशः रास्ना शब्द नाकुली के साथ सम्बद्ध हो गया। इसका आधार चरकोक्त एलापर्णी शब्द नहीं हो सकता क्योंकि नाकुली और गन्धनाकुली से चाहे जो द्रव्य लें, इसके पत्ते एलासदृश नहीं होते तब गन्ध-साम्य तथा गुणकर्मसाम्य इसका आधार हो सकता है जो अमरकोषोक्त सुगन्धा या गन्धनाकुली इन पर्यायों से लक्षित होता है। इसीको स्पष्ट करते हुए परवर्ती निघण्टुकारों ने सुरभि शब्द का प्रयोग किया है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

अर्कादि गण के द्रव्यों के जो गुण-कर्म है वह प्रायः नाकुली में मिलते हैं। इस प्रकार यद्यपि एलापर्णी के रूप में रास्ना का स्वतन्त्र स्वरूप सुरक्षित था तथापि नाकुली के लिए भी रास्ना पर्याय प्रचलित हो गया जो आगे चलकर सन्दिग्धता का कारण बना।

रास्ना के नाम से गृहीत द्रव्य

भारत के विभिन्न क्षेत्रों के वैद्य रास्ना के नाम से विभिन्न द्रव्यों का प्रयोग कर रहे हैं। यों तो ऐसे द्रव्यों की संख्या अधिक है, यहाँ कतिपय प्रमुख द्रव्यों का उल्लेख किया जा रहा है :—

१. Pluchea lanceolata C. B. Clarke.[1]
२. Vanda roghurghii R. Br.
३. Alpinia galanga Willd.[1]
४. Blepharispermum subsessile DC.
५. Dodonaea viscosa Linn.

पटना के बाजार में एक काली पतली जड़ों का बण्डल 'काली रास्ना' के नाम पर बिकता है। वहाँ के वैद्य बाँदा रास्ना से इसे उत्तम मानते हैं।

उपर्युक्त पाँच द्रव्यों में प्रथम, द्वितीय और तृतीय क्रमशः उत्तर प्रदेश, पूर्वी भारत, तथा दक्षिण भारत में रास्ना के नाम से प्रचलित द्रव्य है। चतुर्थ द्रव्य के सम्बन्ध में मध्यप्रदेश तथा पञ्चम द्रव्य के सम्बन्ध में आन्ध्र प्रदेश से सूचना प्राप्त हुई है।

इन पाँच द्रव्यों के अतिरिक्त भिन्न नाम से ज्ञात अनेक द्रव्यों को भी लोगों ने रास्ना के साथ एकाकार करने का प्रयास किया है। इनमें Viscum album (किशमिश काबुली), Withania coagulens (काकनज), Inula racemosa (पुष्करमूल), Aristolochia indica (गन्धनाकुली), Rauwolfia serpentina (सर्पगन्धा), Lochnera rosea Reichb. (सदाबहार), Enicostema littorale Blume (नाई) उल्लेखनीय हैं। इनमें प्रथम दो द्रव्य क्रमशः पञ्जाब और सिन्ध की रास्ना कहे जाते हैं[2]। किन्तु चूँकि ये नितान्त भिन्न द्रव्य हैं इनका तादात्म्य रास्ना के साथ करना नितान्त असंगत है भले ही रास्ना के प्रतिनिधि रूप में इनका प्रयोग उन क्षेत्रों में होता हो। अत एव उनका विचार इस सम्बन्ध में करना उचित नहीं है।

---

१. इसका विवरण द्वितीय भाग में देखें।
२. Bapalal : Some controversial drugs of Indian Medicine., p. 31–40

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

वैद्य बापालाल जी सूचित करते हैं कि बंगाली कविराज तीन प्रकार की रास्ना मानते हैं :—

१. मूलरास्ना—सर्पगन्धा
२. पत्ररास्ना—सदाबहार
३. तृणरास्ना—V. roxburghii.

वह स्वयं तृणरास्ना[1] में दो द्रव्य रखना चाहते हैं :—

१. सदाबहार
२. नाई

Vanda roxburghii R. Br. (Fam.–orchidaceae.)

यह वंगीय रास्ना के नाम से प्रसिद्ध है। बिहार, बंगाल आदि प्रदेशों के वैद्य इसका प्रयोग करते हैं।

यह बाँदा की जाति का पौधा है, आम आदि के पेड़ों पर लगा रहता है। काण्ड दृढ़, १–२ फीट लम्बा होता है जिससे शाखायुक्त मूल निकले रहते हैं। पत्र–स्थूल चर्मवत् ६–८ इञ्च लम्बे, ½–१ चौड़े, मुड़े हुए होते हैं। पुष्पमञ्जरी में ६–१० दीर्घवृन्त (६–८ इञ्च लम्बे), १½–२ इञ्च व्यास के पुष्प होते हैं। कोणपुष्पक लट्वाकार, तीक्ष्णाग्र, बहिर्दल तथा अन्तर्दल पीले रंग के सफेद किनारे तथा भूरी धारियों से युक्त होते हैं।

यह बंगाल, बिहार, गुजरात, कोंकण, केरल आदि प्रदेशों में पाया जाता है।

Blepharispermum subsessile DC. (Fam.–Compositae.)

लगभग ३ फीट ऊँचा, सुगन्धित एक स्निग्ध गुल्मक है जिसमें काष्ठीय मूल-स्तम्भ होता है। पत्र लगभग अवृन्त, लट्वाकार या अण्डाकार, गोलाग्र, चर्मवत्, २½–५ इञ्च लम्बे, ¾–२½ इञ्च चौड़े, दोनों ओर चमकीले होते हैं। पुष्पमुण्ड ह्रस्व-वृन्त गुच्छों में होते हैं।

यह मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र, कर्नाटक में विशेष पाया जाता है। बस्तर जिले के आदिवासी वातरोगों में इसका बाह्य एवं आभ्यन्तर प्रयोग करते हैं। भाद्रपद अमावस्या को इसे पशुओं को खिलाते हैं, उनका विश्वास है कि इसके प्रभाव से पशु वर्ष भर नीरोग रहता है। स्थानीय वैद्य भी इसका प्रयोग वातव्याधि में करते हैं[2]।

Dodonaea viscosa Linn. (Fam.–Sapindaceae.)

इसका सदाहरित गुल्म या वृक्षक होता है। काण्ड किञ्चित् कोणीय होता है।

---

१. सम्भवतः यहाँ उनका तात्पर्य पत्ररास्ना से है क्योंकि उपर्युक्त सूची में सदाबहार पत्ररास्ना में ही है।
२. सिद्धगोपाल शुक्ल : सचित्र आयुर्वेद, सितम्बर, १९७२

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

पत्र–लसदार, एक चमकीले पीताभ राल से युक्त, १–५ इञ्च लम्बे, $\frac{1}{6}$–$1\frac{1}{2}$ इञ्च चौड़े होते हैं। पुष्पमञ्जरी छोटी होती है। बहिर्दल आयताकार लगभग पुंकेशर के बराबर होते हैं। फल–चपटे, चिकने, $\frac{2}{3}$–१ इञ्च चौड़े होते हैं।

यह प्रायः समस्त भारत में पाया जाता है। आन्ध्र के कुछ क्षेत्रों में रास्ना के नाम से इसका प्रयोग होता है।

उपर्युक्त पाँच द्रव्यों में प्लुचिया लैन्सिओलेटा तथा वान्दा रॉक्सबर्गाइ उत्तर भारत में और ऐलपिनिया गलंगा दक्षिण भारत में रास्ना के नाम से मुख्यतः प्रचलित हैं। शास्त्रीय स्वरूप के आधार प्लुचिया लैन्सियोलेटा वास्तविक रास्ना प्रतीत होती है। इसका स्थानीय नाम रायसन (रास्ना), सुरई (सुरभि); स्वरूप (क्षुप), रस (तिक्त, मूल में तिक्तता होती है), गन्ध (मूल सूखने पर सुगन्धि होता है) तथा वातव्याधि में परम्परागत प्रयोग इसके समर्थक हैं। अनुसन्धानकार्य से भी इसमें ऐसे गुणकर्म पाये गये हैं[1]। वान्दा रॉक्सबर्गाइ में ये लक्षण नहीं मिलते। इसके अतिरिक्त रास्ना के बन्दाकवत् स्वरूप का शास्त्र में कहीं उल्लेख नहीं मिलता। गुणकर्म भी उसमें अपेक्षाकृत न्यून मिलते हैं। अतः शास्त्रीय रास्ना प्लुचिया लैन्सियोलेटा को ही स्वीकार करना चाहिए।

दक्षिण भारत में ऐलपिनिया गलंगा (कुलंजनभेद) का प्राचीन काल से रास्ना के रूप में व्यवहार हो रहा है। मेरे विचार से 'चरकोक्त एलापर्णी' यही है।

इस प्रकार से चाहें तो रास्नाद्वय मान सकते हैं—एक सुरभि रास्ना और दूसरी एलापर्णी रास्ना जैसा कि अमरकोष ने किया है। इस प्रकार इस समस्या का समाधान हो सकता है। चूंकि दोनों परम्परायें प्राचीन काल से चली आ रही हैं इनमें से किसीको भी विच्छिन्न करना उचित नहीं होगा। सोढलनिघण्टु में भी दोनों का पृथक् वर्णन किया है।

ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में रास्ना तथा एलापर्णी दो भिन्न द्रव्य थे। धन्वन्तरिनिघण्टु में एलापर्णी का उल्लेख न तो एला के पर्याय में और न स्वतन्त्र रूप से हुआ है। आगे चल कर दोनों परम्पराओं का सम्पर्क होने पर दोनों एकाकार हो गये और 'एलापर्णी' रास्ना का पर्याय बन गया।

रुहा–रोहा–रोहिणी

रुहा और रोहा दोनों चरकसंहिता के अगुर्वाद्य उष्णवीर्य द्रव्यों में पठित हैं जबकि रोहिणी चन्दनाद्य शीतवीर्य द्रव्यों में है अतः रोहिणी से ये दोनों भिन्न हैं। रुहा और रोहा पृथक् पठित होने के कारण ये दोनों भी परस्पर भिन्न हैं। रोहा

१. गुरुप्रसाद शर्मा : रास्ना की सन्दिग्धता पर अध्ययन (पीएच. डी. शोधप्रबन्ध, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, १९७४)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

का पाठान्तर 'अवरोहा' भी है तथा यह केवल चरकसंहिता में और वह भी एक हीं स्थल पर पठित है (चि. ३।२६७)।

रुहापत्र शाकार्थ अर्श में पथ्य कहा गया है। वैश्रवण अगद में पठित होने के कारण यह विषघ्न भी है।

चक्रपाणि ने रुहा का अर्थ एक स्थल (चि. ३।२६७) पर वृक्षरुहा और दूसरे स्थल (चि. १४।१२४) पर उदग्रशाक किया है। अर्श के सन्दर्भ में 'रुहापत्र' का अभिप्राय 'रुहा का पत्र' है या 'रुहापत्र' नामक कोई अन्य वनस्पति है यह कहना कठिन है। चक्रपाणि की व्याख्या से यह कोई भिन्न ही वनस्पति प्रतीत होती है। वृक्षरुहा वन्दाक को कहते हैं अतः चक्रपाणि के मत से रुहा वन्दाक है। धन्वन्तरिनिघण्टु में रुहा दूर्वा तथा मांसरोहिणी का पर्याय है।

रोहा का अर्थ चक्रपाणि ने अञ्जलिकारिका (लज्जालु) किया है।

रोहिणी चरसंहिता के बल्य महाकषाय तथा शीतवीर्य द्रव्यों में पठित है। इसके अतिरिक्त, मञ्जिष्ठा, निम्ब आदि के साथ कफपित्तज कुष्ठ, स्तन्यदुष्टि, गोबस्ति में विहित है। स्तन्यशुद्धि के लिए केवल रोहिणी का क्वाथ पिलाने का निर्देश है[1]।

सुश्रुत ने रोहिणी की गणना न्यग्रोधादि गण में की है। इसके अतिरिक्त, रोहिणीफल का प्रयोग सवर्णकरण तथा इसकी त्वचा का प्रयोग दारुणकर्म में किया है। वातज ग्रन्थि में लेप, मण्डूकदष्ट में अगद के रूप भी विधान है। रोहिणी की त्वचा के क्वाथ में सिद्ध घृत शीतपूतना में विहित है। विषमज्वर में लाभकर द्रव्यपञ्चक में रोहिणी भी है।

वाग्भट ने लाक्षादि तैल, महाभूतराव घृत तथा नेत्रवर्ति में रोहिणी का प्रयोग किया है।

चरकसंहिता के विरुद्धाहार-प्रकरण में रोहिणीक-शाक का उल्लेख है जो रक्तपित्त का हेतु कहा गया है। सुश्रुतसंहिता में वही रोहिणीशाक है। अतः रोहिणी का शाकार्थ भी प्रयोग होता था यह पता चलता है।

चक्रपाणि ने रोहिणी पर कोई टिप्पणी नहीं की। शाक-प्रकरण में रोहिणी से कटुरोहिणी लिया है। डल्हण ने रोहिणी के निम्नांकित अर्थ किये हैं :—

१. कट्फल
२. कटुका
३. हरीतकी-भेद (एकीय मत से कटुतुम्बीफल)

बृहत्त्रयी के आधार पर रोहिणी शीतवीर्य, बल्य और कषाय-तिक्त सिद्ध होती है। इसके प्रमुख कर्म रक्तशोधन, स्तन्यशोधन, ज्वरघ्न, विषघ्न एवं व्रणशोधन हैं।

१. पाययेताथवा स्तन्यशुद्धये रोहिणीशृतम्। (च. चि. ३०।२६१)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

इन कर्मों को देख कर ही लोग इसे कटुका समझते हैं किन्तु रोहिणी से पृथक् कटुरोहिणी लेखनीय तथा स्तन्यशोधन महाकषायों में पठित है। इसके अतिरिक्त, गुल्मचिकित्सा में रोहिण्याद्य घृत में रोहिणी मुख्य द्रव्य है जहाँ इससे पृथक् कटुका का पाठ है। इसी प्रकार त्रायमाणाद्य घृत में भी रोहिणी और कटुका साथ-साथ हैं। वहाँ चक्रपाणि ने दोनों को मिला कर कटुरोहिणी (रोहिणी कटुका कटु-रोहिणी) अर्थ किया है वह उपयुक्त नहीं प्रतीत होता क्योंकि यदि कटुरोहिणी या कटुका अभिप्रेत होता तो आचार्य चरक योग का नामकरण 'रोहिण्याद्य' न कर 'कटुकाद्य' या 'कटुरोहिण्याद्य' करते।

रोहिणी के सन्दर्भ में विशेषणयुक्त तिक्तरोहिणी, कटुरोहिणी तथा अशोक-रोहिणी शब्दों पर भी विचार करना प्रासंगिक है।

अशोकरोहिणी चरकसंहिता के संज्ञास्थापन महाकषाय में तथा धूपनार्थ एवं मदनकल्प में प्रयुक्त हुआ है। सर्वत्र यह प्रायः गन्धद्रव्यों के साथ पठित है अतः यह कोई गन्धयुक्त वनस्पति (क्षुप या लता) है। चक्रपाणि ने 'इसे अशोकसदृशपत्रा लता कहा है तथा एकीय मत से कटुरोहिणी का निर्देश किया है (च. शा. ८।२३)। ठा० बलवन्त सिंह ने इससे Erycibe paniculata Roxb. की ओर संकेत किया है किन्तु सन्दर्भों के अनुकूल यह नहीं ठहरती है। मेरे विचार से यह Gentiana की कोई प्रजाति हो सकती है। तिक्तरोहिणी और तिक्ता को इसका पर्याय माना जा सकता है। (देखें--अशोकरोहिणी)

इस द्रव्य का कुटकी में मिलावट होने तथा अभाव में प्रतिनिधित्व के कारण तिक्तरोहिणी तिक्ता तथा अशोकरोहिणी को कटुका का पर्याय माना जाने लगा किन्तु वस्तुतः अशोकरोहिणी तिक्ता और तिक्तरोहिणी पर्यायवाची एवं कटुका से भिन्न हैं।

तिक्तरोहिणी से पार्थक्य करने के लिए कटुका को कटुरोहिणी कहते हैं तथा तिक्तरोहिणी की संक्षिप्त संज्ञा जैसे 'तिक्ता' है वैसे कटुरोहिणी के लिए कट्वी है। कटुका Picrorhiza kurroa Royle ex Benth. है।

रोहिणी कटुका[1] तथा तिक्ता[2] दोनों के साथ पृथक् पठित है अतः यह दोनों से भिन्न है। न्यग्रोधादि गण में पठित होने तथा फल और त्वचा का प्रयोग होने से रोहिणी कोई वृक्ष होना चाहिए। इससे दो वृक्षों की ओर ध्यान जाता है एक मांसरोहिणी (Soymida febrifuga A. Juss). और दूसरा Viburnum coriaceum Blume (तिल्वकभेद)। गुणधर्म की दृष्टि से मांसरोहिणी[3]

१. च. चि. ५।११५, ११९
२. च. चि. १५।१८१
३. विवरण द्वितीय भाग में देखें।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

अधिक उपयुक्त है। यह रोहन के नाम से प्रसिद्ध है। इसकी छाल तिक्त, संग्राही एवं ज्वरघ्न है।

रोहितक–रक्तवृक्ष–रोहीतकलता–रक्ता–लोहिता

संहिताओं में रोहितक का प्रयोग कुष्ठ, प्रमेह तथा उदर (विशेषतः प्लीहोदर) में विशेष रूप से विहित है किन्तु उसके स्वरूप का कोई संकेत नहीं मिलता। 'रोहितक' शब्द से उसके रो(लो)हित वर्ण का बोध होता है। उसकी त्वचा तथा पुष्प का वर्ण रक्ताभ होता है। निघण्टुओं में दाडिमच्छद तथा दाडिमपुष्प[1] पर्याय देकर इसको सुस्पष्ट कर दिया गया है[2]। इसके पत्र तथा पुष्प दाडिम (अनार) के सदृश होते हैं।

रोहितक से मुख्यतः दो द्रव्य लिये जाते रहे हैं :—

१. Tecoma undulata (G. Don.)

२. Aphanamixls polystacia (Wall.) Parker.

शास्त्रीय स्वरूपगत लक्षण मिलने के कारण प्रथम वनस्पति (Tecomella undulata) ही वास्तविक रोहितक है। इसका हिन्दी नाम रोहेड़ा इसीका अपभ्रंश है[3]।

राजनिघण्टु तथा सोढलनिघण्टु में पुष्पभेद से रक्त और श्वेत दो प्रकार के रोहितक कहे गये हैं[4]। इस प्रकार रोहितकद्वय में उपर्युक्त दोनों वनस्पतियों का ग्रहण किया जा सकता है। रक्त से T. undulata का तथा श्वेत से A. Polystachia का।

रक्तवृक्ष

सुश्रुत में निम्ब, असन, कुटज आदि के साथ इसके पुष्पों का गुणधर्म कफपित्तहर तथा कुष्ठघ्न कहा गया है। डल्हण ने इसकी व्याख्या रक्तचन्दन की है किन्तु प्रमेह,

---

१. रोहितो दाडिमपुष्पतुल्यपुष्पः। डल्हण (सु. उ. १७।४१)

२. पारिजातश्च रोहीतः प्लीहघ्नो रक्तपुष्पकः। (अ. नि., २१२)
रोहीतको रोहितको रोही दाडिमपुष्पकः। (मा. प्र., वटादि. ३५)

३. रोहीतकः 'रोहेड़ा' इति ख्यातः। चक्र. (च. चि. ७।१२९)

४. रोहीतके रोहितको रोही दाडिमपुष्पकः।
कुशाल्मलिः शाल्मलिको रोचनः कूटशाल्मलिः॥
रक्तपुष्पः सदापुष्पो रक्तघ्नः प्लीहनाशनः।
द्वितीयः श्वेतपुष्पश्च रोही रोहीतकस्तथा।
वारयोग्यो युग्मो योज्यो लक्ष्मीसर्वजनप्रियः॥ (सो. नि. ५।६१४–६१६)
रोहितकौ कटुस्निग्धौ कषायौ च सुशीतलौ।
कृमिदोषव्रणप्लीहरक्तनेत्रामयापहौ॥ (रा. नि. ५।२१९)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कुष्ठ में उपर्युक्त द्रव्यों के साथ रोहितक का ही प्रयोग होने से रक्तवृक्ष रोहितक ही सिद्ध होता है। रक्त (लोहित = रोहित) का वाचक है। 'वृक्ष' लता से पार्थक्य करने के लिए दिया है।

रोहीतकलता

इसका उल्लेख चरक ने किया है (च. चि. १३।८१)। इसके काण्डों को हरीतकीक्वाथ या मूत्र में सात दिनों तक आसुत कर प्रयोग करने का विधान है। यह कामला, गुल्म, प्रमेह, अर्श, प्लीहा, उदर तथा क्रिमिरोग में उपयोगी है। वाग्भट ने भी इसीका अनुसरण किया है।

चक्रपाणि ने इससे रोहितक के ही छोटे टुकड़ों को लिया है[1]। प्रायः लोग इससे रोहितक की कोमल शाखाओं का ग्रहण करते हैं किन्तु यह ध्यान देने की बात है कि 'लता' विशेषण लगाने पर लता जाति की भिन्न वनस्पति का बोध होता है यथा लतापलाश। अतः रोहितकलता रोहितक जाति की ही लता स्वरूप भिन्न वनस्पति होनी चाहिए।

मेरे विचार से, यह Tecoma grandiflora Loisel (chinese trumpet creeper) है। यह रोहीतक के सदृश ही किन्तु लता है। इसके नारंगी वर्ण के पुष्पों का प्रमेह आदि में प्रयोग होता भी है।

Ventilago madraspatana Gaertn. को गुजरात में 'रगतरोहेड़ो' कहते हैं। इसकी विशाल लता होती है जिसकी मूलत्वक् से लाल रंग निकालते हैं। इसका दीपन, ज्वरघ्न, कुष्ठघ्न आदि के रूप में औषधीय प्रयोग भी होता है। संहिताओं में 'रक्ता' तथा 'रक्ता लता' के प्रयोग मिलते हैं जिनसे टीकाकारों ने मञ्जिष्ठा का ग्रहण किया है। उपर्युक्त वनस्पति का ग्रहण रक्ता (रक्तवल्ली) के रूप में करने पर बिचार किया जा सकता है।

लक्ष्मणा

चरकसंहिता में लक्ष्मणा का उल्लेख केवल शाकवर्ग में हुआ है (च. सू. २७।९९)। इसकी गणना मधुर, शीतवीर्य शाकों में हुई है। प्रजास्थापन महाकषाय में पठित अमोघा को भी कुछ लोग लक्ष्मणा मानते हैं।

सुश्रुत ने पुंसवन-कर्म में लक्ष्मणा का नस्य देने का विधान किया है। नवजात शिशु को दूसरे दिन लक्ष्मणासिद्ध घृत देने का निर्देश है। शकुनिप्रतिषेधार्थ लक्ष्मणा

१. रोहितकलता 'रोहितक' इति ख्याता। काण्डका इति स्वल्पप्रमाणा खण्डाः।
(च. चि. १३।८१)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

को धारण करना लिखा है। 'लक्ष्मी' को भी कुछ लोग लक्ष्मणा समझते हैं। व्रणितोपासनीय में लक्ष्मी का शिर पर धारण करने का विधान है।

वाग्भट ने इसी प्रकार इसका प्रयोग किया है। पुंसवन कर्म में लक्ष्मणा का मूल मुख या नासा से पान करना पुत्रोत्पादस्थितिप्रद बतलाया है[1]।

चक्रपाणि ने 'लक्ष्मणा स्वनामख्याता' लिखा। इससे दो बातों का संकेत मिलता है या तो यह द्रव्य अत्यन्त प्रचलित होने के कारण सुपरिज्ञात हो और दूसरी यह कि उन्हें इससे विषय में विशेष जानकारी न हो।

डल्हण ने लक्ष्मणा का लक्षण उद्धृत किया है[2]। इसके अनुसार लक्ष्मणा के पत्र पुत्रकाकार स्वल्प रक्त बिन्दुओं से चिह्नित हों, उसकी आकृति वत्सगन्धा (अजगन्धा) के समान हो तथा यह पुत्रजननी है।

अरुणदत्त ने शाकवर्ग में पठित 'लक्ष्मण' को मधुयष्टिका कहा है।

अष्टांगनिघण्टु में पुत्रजननी तथा रक्तबिन्दुच्छदा पर्याय दिये हैं[3]। धन्वन्तरि-निघण्टु ने श्वेतकण्टकारी का लक्ष्मणा के रूप में वर्णन किया है। इससे स्पष्ट है कि लक्ष्मणा का स्वरूप सन्दिग्ध था और उसके स्थान पर श्वेतकण्टकारी का प्रयोग होता था। यह स्मरणीय है कि वाग्भट ने लक्ष्मणा के साथ श्वेतकण्टकारिका का भी प्रयोगविधान पूंसवनकर्म के लिए किया है। सिद्धमन्त्र में लक्ष्मणा का पाठ कफवर्धक वातपित्तघ्न वर्ग में किया गया है। इसकी व्याख्या में बोपदेव ने 'लक्ष्मणा रक्त-बिन्दुच्छदा' लिखा है। सोढल ने लक्ष्मणा के पर्यायों में पुत्रदात्री, श्वेतपुष्पी, सुलाच्छनी, सौभाग्यायुःप्रदा तथा लक्ष्मीगोत्रविवर्धना दिया है (१।६४५)। गुणकर्म की दृष्टि से यह मधुर, शीत, गुरु, गर्भदायक, सौभाग्यप्रद कही गई है[4]। मदनपाल-निघण्टु में 'लक्ष्मणा रक्तबिन्दुच्छदा' तथा श्वेतपुष्पा कही गई है[5]।

लक्ष्मणा का वर्णन कैयदेवनिघण्टु ने भी किया है। नागिनी, नागपत्री आदि पर्याय

१, पयसा लक्ष्मणामूलं पुत्रोत्पादस्थितिप्रदम्।
नासयाऽऽस्येन वा पीतं वटशुङ्गाष्टकं तथा॥ (अ. हृ. शा. १।४१)

२. लक्ष्मणालक्षणं तु—
पुत्रकाकाररक्ताल्पबिन्दुभिर्लाञ्छितच्छदा।
लक्ष्मणा पुत्रजननी बस्तगन्धाकृतिर्भवेत्॥ (सु. शा. २।३२)

३. लक्ष्मणा पुत्रजननी रक्तबिन्दुच्छदा तथा। (च. चि. २४३)

४. लक्ष्मणा मधुरा शीता गर्भसौभाग्यदा गुरुः। (सो. नि. २।२५१)

५. लक्ष्मणा पुत्रदा रक्तबिन्दुपत्रा च नागिनी।
गोक्षीरसदृशं पुष्पं रोमवल्लिसमन्वितम्॥
रक्तबिन्दुयुतं पत्रं लक्ष्मणाकारः उच्यते।
लक्ष्मणा गर्भदा शीता सरा वृष्या त्रिदोषनुत्॥ (म. नि. वर्ग १)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

दिये हैं[1]। राजनिघण्टु ने कन्दों के प्रकरण में लक्ष्मणा का वर्णन किया है और नागिनी, पुत्रकन्दा, सुकन्दा आदि पर्याय दिये हैं[2]।

भावप्रकाश में उपर्युक्त डल्हणोक्त लक्षण दिया है। श्वेत कण्टकारी को भी विशेष रूप से गर्भकारिणी कहा है।

उपर्युक्त तथ्यों के पर्यालोचन से स्पष्ट है कि :—

१. बृहत्त्रयी में इसके स्वरूप के सम्बन्ध में कोई संकेत नहीं मिलता किन्तु पुंसवन कर्म में प्रयोग होने के साथ-साथ शाकवर्ग में उल्लेख होने से यह पता चलता है कि यह एक लोकप्रचलित द्रव्य था।

२. पूर्वमध्यकालीन ग्रन्थों में उसकी आकृति (वस्तगन्धासदृश) तथा पुत्रकाकार रक्तबिन्दुओं से चिह्नित पत्र का वर्णन मिलता है।

३. उत्तरमध्यकालीन ग्रन्थों में उसके कन्द की प्रधानता हुई जिसकी आकृति पुत्रक सदृश बतलाई गई।

४. इस प्रकार लक्ष्मणा मूलद्रव्य के सन्दिग्ध हो जाने के कारण श्वेत कण्टकारी का प्रयोग लक्ष्मणा के स्थान पर होने लगा और अनेक उसे ही लक्ष्मणा कहने लगे। सोढल और मदनपाल ने जो श्वेतपुष्पी या श्वेतपुष्पा पर्याय दिया है वह भी उसी की ओर संकेत करता है।

डा० बलवन्त सिंह ने निम्नांकित द्रव्यों की ओर संकेत किया है जो पुंसवन या प्रजास्थापन में उपयोगी हैं :—

१. Remusatia vivipara Schott.[3] (कन्द रक्तवर्ण वृषणवत्)

---

१. पुत्रदा पुत्रजननी रक्तबिन्दुच्छदा तथा।
नागिनी शूलिनी नागा नागपत्री समञ्जका॥
लक्ष्मणा लवणा रूक्षा स्वाद्वी वृष्या हिमा सरा।
गुर्वी पित्तानिलहरा बलगर्भकफप्रदा॥ (कै. नि. १।१६०२-३)

२. लक्ष्मणा पुत्रकन्दा च पुत्रदा नागिनी तथा।
नागाह्वा नागपत्नी च शूलिनी मञ्जिका च सा॥
अस्रबिन्दुच्छदा चैव सुकन्दा दशधाह्वया।
लक्ष्मणा मधुरा शीता स्त्रीवन्ध्यत्वविनाशिनी॥
रसायनवरी बल्या त्रिदोषशमनी परा। (रा. नि. ५५।५६)

३. इस पर एक लेख डा० मायाराम उनियाल का प्रकाशित हुआ था जिस पर टिप्पणी करते हुए डा० सिद्धगोपाल शुक्ल ने अपने पत्र में यह जानकारी दी :—

यह अमरकण्टक के साथ बस्तर में भी पाया जाता है। इसको अमरकण्टक में बनकचरी कहते हैं तथा इसके पत्तों की भाजी बना कर खाते हैं। बस्तर में इसे भोजी कहते हैं।

मैंने इसको बस्तर अमरकण्टक आदि में गर्भस्थापन के प्रयोगों में उपयोग करने बावत जानकारी नहीं पायी है। लेखक महोदय का मुख्य ध्यान उसके

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

२. Lasia spinosa Thwaites.
३. Ipomoea sepiaria Koen.
४. Mandragora autumnalis Spreng.
५. Aralia quinquefolia (Called ginseng in China.)

वैद्य बापालाल जी ipomoea sepiaria Roxb. (गु०—हनुमान बेल) को लक्ष्मणा कहते हैं।

पचमढ़ी के क्षेत्र (पनारपानी) में एक डुकरकन्द प्राप्त हुआ था जिसके कन्द पुत्रकाकार थे। यह कोई वाराही प्रजाति प्रतीत होती थी।

एक 'पुतरिया कन्द' (Cynoglossum lanceolatum Forsk.) है जिसका प्रयोग लक्ष्मणा के समान गर्भस्थापन एवं पुंसवन में होता है। इसके कन्द पुत्रकाकार, पत्र रक्तबिन्दुलाञ्छित (सूखने पर) तथा पुष्प श्वेत होते हैं।

वनोषधि-अन्वेषक डा० सिद्धगोपाल शुक्ल ने पुतरिया कन्द के विषय में निम्नांकित जानकारी दी है :—

पुतरिया कन्द

(सर्वप्रथम जानकारी श्री बसोरी लाल चौधरी पञ्च ग्राम कालदेही, जिला जबलपुर ने पुतरिया कन्द के नाम से दी है यह उनके वंशपरम्परा से जानी जा रही है। लक्ष्मणा से सादृश्य, कन्द के आकार, रोम, पुष्प, पत्र से है साथ ही स्थानिक उपयोग भी लक्ष्मणा के गुणों से मेल खाते हैं। इसके तान्त्रिक प्रयोग भी इसे लक्ष्मणा मानने को बाध्य करते हैं।)

म० प्र० में नाम	उपयोग
१. लटकेचा (केशकाल बस्तर)	
२. कामराज (अमरकण्टक)	जड़ नपुंसकता निवारक।
३. भवरकन्द (अमरकण्टक)	

४. गायत्री (लम्हेटाघाट, जबलपुर) जड़चूर्ण उदरशूल में उपयोगी।
५. भमरकन्द (पचमढी) जलचूर्ण गर्मी रोग में पिलाते हैं।
६. हाथीभेंडी (पातालकोट) जड़चूर्ण फुर्तई (पौष्टिकता) के उपयोग में लाते हैं।
७. चोटली काँदा (कोडागाँव बस्तर) जड़चूर्ण नामर्दी में दूध साथ देते हैं।
८. पुतरिया कन्द—जड़ दूध साथ (एकणगाँव बछडा) पुत्रप्राप्ति हेतु देते हैं।
९. बड़ी सिताव—निमन्त्रणपूर्वक धारण करने से मोहनी बनती है।

अण्डकोष से सादृश्य पर है तथा उसी पर होने वाली रज्जु पर। साथ ही कन्द के ऊपर पत्ते होते हैं जो रक्तबिन्दुच्छदा के समान होते हैं ऐसा लेखक का कहना है। इसके फूलों का सफेद रंग का होना लेखक के लेख में कहीं नहीं दिया गया है। पुत्रक आकार को अण्डकोष समान मानना उचित नहीं होगा।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

जंगलों में परिभ्रमण जड़ी-बूटियों के संकलन के साथ उनके स्थानिक उपयोग को इकट्ठा करने हेतु जब मैं कर रहा था तब अचानक एक वैद्य ने जिनका नाम श्री वसोरी लाल चौधरी था तथा जो जाति से चर्मकार थे पुतरिया काँदा कह कर मेरा ध्यान एक पौधे पर आकर्षित किया। उसे खोदा और उसकी जड़ का भेद पुत्तरीया के आकार का दिखा कर समझाया। उसकी जड़ नीचे दो हिस्सों में बट गयी थी तथा मुख्य जड़ पर आजू बाजू दो छोटी जड़ें थीं। इसीको उन्होंने पुतरिया बताया नीचे के दो पैर हुए और आजू बाजू के हाथ बीच का पेट तथा धड़ तथा ऊपर का सिर। जड़ सूखने पर काली हो जाती है तथा ऐंठ जाती है। पत्ते सूखने पर गाढ़ा लाल हो ज़ाता है तथा उस पर सफेद बिन्दु दिखाई देते हैं। पत्ता जब नया रहता है तो अजवायन के समान रहता है। फूल सफेद नीले से रंग के आते हैं। पूरे पौधे पर रोम काफी मात्रा में रहते हैं जो लक्ष्मणा से सादृश्य रखते हैं। इसका बाटनिकल नाम Cynoglossum lanceolatum Forsk. है, यह Boraginaceae फेमिली का है। Gynoglossum की चार Species प्रायः म० प्र० में पायी जाती है।

फलने-फूलने का समय—अगस्त से नवम्बर।

प्रमाणीकरण हेतु विवेचन :—

१. "पुत्रकाकार" इसका अर्थ पुतरा या पुतरिया से है : यह पुतलियाँ स्त्रियाँ घरों में शादी-विवाह के अवसर पर चित्रित करती हैं जो कि पुरुष जाति का सूचक है। इसीलिए इसको पुतरिया कन्द कहते हैं।

२. रक्ताल्पबिन्दुभि र्लाञ्छितच्छदा ॥ यह श्लोक का एक पद है इसका अर्थ यह भी हो सकता है कि "लाल पत्ते पर सफेद बिन्दुयुक्त एक विशेष ऋतु में।" या सदा का अर्थ सूखने पर यदि निकल सके तो ऐसा पुतरिया कन्द के पत्तों में होता है।

३. लक्ष्मणा पुत्रजननी वस्तगन्धाकृति र्भवेत्। इसके पत्र भी वस्तगन्धा (अजवायन) के समान होते हैं मोटे और मुलायम।

४. गोक्षीरसदृशं पुष्पं (मदननिघण्टु) यह श्लोक की पंक्ति के अनुसार दूध के रंग के सफेद फूल होते हैं। पुतरिया कन्द के फूल छोटे-छोटे सफेद रंग के होते हैं।

५. रोमवल्लिसमन्वितम् (मदननिघण्टु) रोमयुक्त वल्ली आदि। पुतरिया कन्द में खूब रोम रोते हैं सम्पूर्ण पौधे पर जड़ को छोड़ कर।

इस पुतरिया कन्द को वश्य करने वाली मानते हैं तथा मोहिनी के रूप में काम में लाते हैं अच्छे दिन निमन्त्रण देकर लाते हैं। यह बड़ी सिद्ध औषधि कहलाती है।" मेरा झुकाव पुतरिया कन्द की ओर है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

लवली

चरकसंहिता में यह एक ही स्थल पर फलवर्ग में क्षीरीवृक्षों के साथ पठित है। इसका फल कषाय-विशद-सुगन्धि होने से रुचिकर तथा वातवर्धक है। सुश्रुत ने भी इसी प्रकार एक बार फलवर्ग में इसका वर्णन किया है। वहाँ उन्होंने औत्तरापथिक फलों के प्रकरण में इसका उल्लेख किया है। लवलीफल विशद, कषाय, कफपित्तघ्न, किंचित् तिक्त, दीपन, रोचन तथा सुगन्धि कहा गया है। वाग्भट ने अष्टांगसंग्रह में तो इसका ऐसा ही वर्णन किया किन्तु अष्टांगहृदय में यह उपलब्ध नहीं है।

चक्रपाणि ने केवल 'लवली प्रसिद्धा' कहा और चक्रदत्त में सहकारगुडिका में एला आदि के साथ लवलिकाफल का प्रयोग किया है[1]। यह गुटिका मुख को सुगन्धित करने के लिए हैं। डल्हण ने लवलीफल को सुगन्धिफल कहा है और इसके परिचय के लिए किसी निघण्टु का एक पद्य उद्धृत किया है जिसके अनुसार इसका पौधा सघन-स्निग्ध, हरितशाखावान् , चक्रमर्दसदृशपत्र, सुगन्धिमूल तथा पाण्डुवर्ण कोमलत्वचायुक्त होता है[2]। औत्तरापथिक फलों में 'प्रभृति' शब्द से लवलीफलों का ग्रहण किया है[3]। इससे संकेत मिलता है कि डल्हण लवलीफल को औत्तरापथिक फलों में गिनते थे। उनकी दृष्टि में संभवतः यह कोई Prunus sp. थी।

संस्कृत वाङ्मय में लवली का प्रचुर उल्लेख मिलता है। बाणभट्ट ने ताम्बूल के उपकरणों में एला-लवंग आदि के साथ इसका उल्लेख किया है[4]। इसके फल सरस थे जो ऋषियों के आश्रमों में संगृहीत होते थे[5]। राजशेखर ने काव्यमीमांसा में लवली को पूर्वदिशा में उत्पन्न[6] तथा हेमन्त में पुष्पित होने वाली[7]

---

१. शिवदाससेन ने लवलिका का अर्थ लवंग तथा फल का अर्थ जातीफल किया है। इससे स्पष्ट है कि शिवदास सेन भी लवलिकाफल से परिचित नहीं थे।

२. लवलीफलं सुगन्धिफलं स्वनामप्रसिद्धम् , तल्लक्षणमुच्यते—
घनस्निग्धा हरितांशुः प्रपुन्नाटसहक्छदा।
सुगन्धिमूला लवली पाण्डुकोमलवल्कला॥ (सु. सू. ४६।१४९)

३. प्रभृतिग्रहणाल्लवलीफलानि। (सु. सू. ४६।१४७)

४. कादम्बरी, पृ. २७९

५. ,, पृ. ११९

६. काव्यमीमांसा, अ. १७

७. ,, अ. १८
वाग्भटकृत अष्टांगसंग्रह (सू. ४।९) में भी हेमन्तऋतुचर्या-प्रकरण में इसका उल्लेख हुआ है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

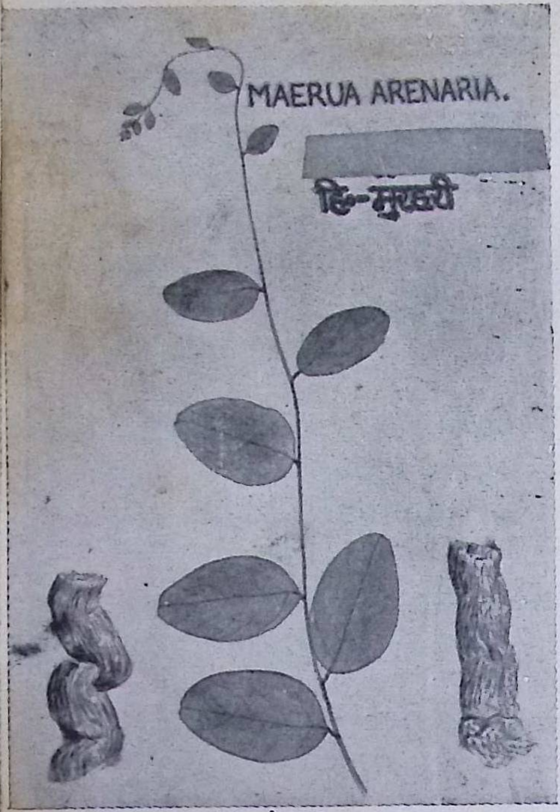

१४- मोरटा

१५. लवली ?

पृष्ठ २५५ देखें।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कहा है। वराहमिहिर ने इसे दक्षिण-पश्चिम दिशा में समुद्रतटवर्त्ती क्षेत्र में एला-लवंग के साथ उपलब्ध कहा है।

माधवकृत पर्यायरत्नमाला में 'श्यामल' पर्याय लवलीफल के लिए आता है। धन्वन्तरि तथा राजनिघण्टु में यह उपलब्ध नहीं है। मदनपालनिघण्टु में डल्हणोद्धृत पद्य मिलता है तथा इसके अतिरिक्त श्याम और ज्योत्स्नाफल इसके पर्याय कहे गये हैं। इसका फल लघु, वातपित्तहर, रक्तस्तम्भन तथा अर्श में लाभकर कहा गया है[1]। कैयदेवनिघण्टु में भी इसका वर्णन है। इसमें ज्योत्स्ना, मुक्ताफल, श्यामल इसके पर्याय कहे गये हैं तथा लवलीफल विशद, रोचन, रूक्ष, हृद्य; तिक्त-कषाय, सुगन्धि, वातवर्धक तथा कफपित्तशामक कहा गया है। भावमिश्र ने डल्हणोक्त पद्य का उत्तरार्ध उद्धृत कर लवलीफल को मधुराम्ल-कषाय, रूक्ष, विशद, गुरु, कफपित्तहर तथा अश्मरी और अर्श में लाभकर कहा है। शिवकोष में भी श्यामल और मुक्ताफल इसके पर्याय दिये हैं।

कोषों में प्रायः लवली अनुपस्थित है। केवल वैजयन्तीकोष में देखने में आया जहाँ इसका पर्याय श्यामलक है।

उपर्युक्त तथ्यों से निम्नांकित चित्र उभरता है :—

१. लवली पूर्वी तथा दक्षिण-पश्चिमी क्षेत्र में एला आदि के साथ होती है।

२. इसके श्वेत, सुगन्धित पुष्प हेमन्त में विकसित होते हैं तथा फल सुगन्धित, कषाय, किंचित् तिक्त होता है।

३. फलों का प्रयोग ताम्बूल आदि के साथ मुखवैशद्यकर के रूप में होता था।

आजकल लवली से हरफारेवड़ी (Cicca acida (Linn.) Merrill.) लेते हैं किन्तु इसमें उपर्युक्त लक्षण नहीं मिलते। इसके फल मधुराम्ल होते हैं जो चटनी, अचार के काम में आते हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में लवली का स्वरूप कुछ और था जो धीरे-धीरे विस्मृत हो गया और उसके स्थान पर हरफारेवड़ी का प्रचलन हो गया। इसी के अनुसार निघण्टुकारों के वर्णन में भी अन्तर आता गया। भावमिश्र ने स्पष्टतः हरफारेवड़ी के मधुराम्ल फलों का वर्णन किया है।

मेरे विचार से, लवली Lavanga scandens Ham. है। यह हिन्दमलय क्षेत्र की मूलनिवासिनी दृढ़ कंटकित आरोहिणी लता है जो आसाम में पाई जाती है। पत्र—त्रिपत्रक; पत्रक-भालाकार, चर्मवत्, पुष्प—श्वेत-सुगन्धित, फल—आयताकार, पीताभ, सुगन्धित, बीज १-३ अण्डाकार होते हैं। पुष्प फरवरी—अप्रिल में तथा फल—अगस्त-सितम्बर में आते हैं। यह बंगाल में लवंगलता के नाम से प्रसिद्ध है। कवि जयदेव के 'ललितलवंगलतापरिशीलनकोमलमलयसमीरे' में यही लवंगलता

१. मदनविनोद, फलवर्ग, फ. ९४

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

है। इसके सूखे सुगन्धि फल बाजार में सुगन्धकोकिला के नाम से बिकते हैं। इसकी दूसरी प्रजाति L. eleutherandra पश्चिम भारत में होती है। लवली लवंगवल्ली का संक्षिप्त रूप है।

लामज्जक–उशीर

लामज्जक चरकसंहिता में त्वग्दोष-संस्वेदहर प्रघर्ष में निर्दिष्ट है (सू. ३।२९)। उशीर दाहशामक प्रलेप में है (सू. ३।२६)। अग्रय-प्रकरण में दोनों दाह-त्वग्दोष-स्वेदापनयन प्रलेपन द्रव्यों में उत्तम कहे गये हैं (च. सू. २५।३९)। दोनों साथ-साथ पृथक् परिगणित होने से लामज्जक और उशीर भिन्न हैं इसमें कोई सन्देह नहीं रहता।

सुश्रुत ने लामज्जक की गणना श्लेष्मसंशमन वर्ग में तथा उशीर की गणना पित्तसंशमन वर्ग में की है। इससे भी दोनों का भेद स्पष्ट हो जाता है। इसके अतिरिक्त, लामज्जक का प्रयोग विसर्प में लेप, विषघ्न लेप तथा दाहशामक परिषेक के रूप में किया है।

चक्रपाणि ने प्रथम स्थल पर लामज्जक का अर्थ उशीर तथा दूसरे स्थल पर उशीरभेद किया है। वहाँ यह स्पष्ट किया कि सुगन्ध भेद उशीर तथा निर्गन्ध भेद लामज्जक है[1]। डल्हण ने इसे उशीरभेद, पर्वतोद्भूत मूल तथा उशीर कहा है। इससे उनकी संशयास्पद स्थिति का परिचय मिलता है।

अमरकोष, निघण्टुशेष, पर्यायरत्नमाला तथा सोढलनिघण्टु में लामज्जक-उशीर पर्यायवाची हैं जबकि धन्वन्तरिनिघण्टु, कैयदेव तथा भावप्रकाश में दोनों का पृथक् वर्णन है। लामज्जक में एक विशिष्ट पर्याय 'इष्टकापथक' है जिसका अर्थ यह निकलता है कि ईंट से बने रास्ते (के दोनों ओर) में यह लगाया जाता था। या ईंट से बँधे जलाशयों के आसपास होता था।

बाणभट्टकृत हर्षचरित के विन्ध्याटवी-वर्णन में उल्लेख है कि मजदूर लोग वहाँ से लामज्जक, मूंज आदि के बोझ लाते थे[2]। डल्हण के पर्वतोद्भव मूल का स्रोत भी संभवतः यही हो।

मेरे विचार से यह Vetiveria की प्रजाति है या मुञ्ज का कोई भेद हो। उशीर Vetiveria zizanioides (Linn.) Wash. है।

वंशलोचन

संहिताओं में वंशलोचन का निर्देश तुगा, तुगाक्षीरी, वांशी शुभा आदि पर्यायों से हुआ है। वंश को 'त्वक्सार' कहते हैं और उसका क्षीरवत् निर्यास होने के

---

१. लामज्जकोशीरमुशीरद्वयं सगन्धमगन्धं च गृह्यते। (चक्र.)

२. लम्बमानलामज्जकमुञ्जजूटजटानां भारकान्। (हर्षचरित, पृ. ४०९)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कारण त्वक्क्षीरी, तुगाक्षीरी आदि पर्याय है। वंश से उत्पन्न होने से वांशी, श्वेत होने से शुभा कहलाती है। रोचना (गोरोचन) के सदृश निर्यास जम जाने से 'वंशरोचना' कहलाती है।

वंशलोचन सभी बाँसों में नहीं होता, विशिष्ट बाँसों एवं परिस्थितियों में इसकी उत्पत्ति होती है। इस कारण प्रारम्भ से ही यह सामान्यतः सुलभ नहीं रहा और इसके स्थान पर प्रतिनिधि द्रव्य प्रयुक्त होने लगे। अष्टांगसंग्रह में तवक्षीरी और वंशलोचन का पृथक् किन्तु साथ वर्णन है[1]। इससे स्पष्ट है कि तवक्षीरी (तिखुर) का प्रयोग वंशलोचन के स्थान पर होता था। अष्टांगहृदय में तवक्षीरी का प्रयोग बहुशः देखने में आता है[2]।

चक्रपाणि[3] और डल्हण[4] ने तुगाक्षीरी की व्याख्या में वंशलोचन का उल्लेख करके एकीय मत से वंशरोचनासदृश एक पार्थिव द्रव्य का भी उल्लेख किया है। इससे भी संकेत मिलता है कि उस काल (११वीं–१२वीं शती) में वंशलोचन के स्थान पर तत्सदृश किसी पार्थिव द्रव्य का प्रयोग होता था। यह पार्थिव द्रव्य सम्भवतः तवक्षीरी (तिखुर) था। (देखें तुगाक्षीरी)

वचा–हैमवती

वचा Acorus calamus Linn. है। यह घोड़बच के नाम से प्रसिद्ध है। चरक और वाग्भट में श्वेतवचा का भी प्रयोग है। बृहत्त्रयी में पठित 'हैमवती' को भी लोग वचा मानते हैं।

चरकसंहिता में एक स्थल (चि. २३।७०) पर श्वेता और वचा अलग-अलग पाठ होने से कहना कठिन है कि श्वेता वचा का विशेषण है क्योंकि श्वेता एक पृथक् द्रव्य भी है जो विषघ्न रूप में प्रयुक्त हुआ है। चक्रपाणि ने इससे कटभी का ग्रहण किया भी है। दूसरे स्थल (सि. ३।६२) पर 'श्वेतवचा' स्पष्ट रूप से है। वाग्भट ने बालरसायन में श्वेतवचा का प्रयोग किया है (अ. हृ. उ. १।४८)।

---

१. अ. सं १२।२९। यहाँ पर यह भी ध्यान देने की बात है कि इनका वर्णन पार्थिव द्रव्यों के प्रकरण में किया गया है।

२. चि. ३।६६; ५।२०, ९।११३ आदि।

३. वंशरोचना तुगाक्षीरी, अन्ये वंशरोचनानुकारि पार्थिवद्रव्यं तालधीति वदन्ति। (च. चि. २।१।३०)

तुगाक्षीरी वंशलोचनानुकारि पार्थिवं द्रव्यम्। (च. चि. ८।१०३)

४. तुगाक्षीरी वंशरोचना, अन्ये तु वंशरोचनानुकारि पार्थिवं द्रव्यम्। (सु. सू. १२।२३)

तुगाख्या वंशरोचनानुकारि पार्थिवं द्रव्यम्, अन्ये वंशरोचनामाहुः। (सु. उ. ४५।३२)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

हैमवती का उल्लेख चरक ने मूलिनी औषधियों में किया है। इसका प्रयोग वमनार्थ विहित है। हैमवती लेखनीय महाकषाय में भी है। वमनकल्प में 'हैमवत' पाठ है (च. क. ४।१६)। श्यामा-त्रिवृत् कल्प में यह स्वर्णक्षीरी के साथ पठित है (च. क. ०।१६)।

सुश्रुत ने मुस्तादि गण में हैमवती और वचा का उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त, सार्वकार्मिक अगद, दार्व्यादि लेप में हैमवती है। वचा से पृथक् हैमवती वचा का एक रसायनकल्प भी है।

चक्रपाणि ने हैमवती का अर्थ वचा (च. सू. १।७७, क. ४।१६), श्वेतवचा (च. सू. ४।९) किया है। डल्हण ने भी यही मार्ग अपनाया है। धन्वन्तरिनिघण्टु में वचा और श्वेतवचा (हैमवती) का वर्णन मिलता है।

श्वेतवचा या हैमवती वचा Paris polyphylla Sm. या Iris sp. है।

वज्रवृक्ष—महावृक्ष

ये दोनों स्नुही के पर्याय कहे गये हैं। 'वज्रवृक्ष' केवल सुश्रुतसंहिता में मिलता है। यह मुष्ककादि गण में पठित है (सु. सू. ३८।२०) जो क्षार के लिए उपयोगी द्रव्य हैं। अष्टांगहृदय (चि. १९।१९) में केवल 'वज्र' स्नुही के लिए प्रयुक्त है।

'वज्रवृक्ष' स्नुही का पर्याय क्यों बना यह विचारणीय है क्योंकि इसका वृक्ष नहीं होता क्षुप या गुल्म होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि 'वृक्ष' शब्द यहाँ वानस्पतिक स्वरूप का वाचक न होकर कर्मबोधक है। 'वृक्ष' शब्द 'वृक्ष वरणे' तथा 'ओव्रश्चू छेदने' दोनों धातुओं से निष्पन्न होता है। इस आधार पर 'वृक्ष' का अर्थ है जो आवृत (आच्छादित) करे तथा जो छेदन कर्म करे। ये दोनों की धर्म स्नुही में हैं। यह भूमि पर खूब फैल कर उसे आच्छादित कर लेती है तथा इसके (क्षार) से छेदन कर्म होता है। 'वज्र' शब्द इसके कर्म की तीक्ष्णता का बोधक है। वज्रवत् जो छेदन करे वह वज्रवृक्ष है। 'महावृक्ष' भी छेदन द्रव्यों में इसकी श्रेष्ठता का बोधक है। स्मरणीय है कि भगन्दर, अर्श आदि में छेदनार्थ प्रयुक्त क्षारसूत्र का मुख्य घटक स्नुही है। इन शब्दों से इसके तीक्ष्ण विरेचन कर्म का भी बोध होता है। स्नुहीदुग्ध तीक्ष्ण विरेचन द्रव्यों में सर्वोत्तम कहा गया है।

स्नुही के कण्टक भी दृढ़ होने के कारण वह वज्रकण्टक कही गई है। इस आधार पर भी 'वज्रवृक्ष' की उत्पत्ति की जा सकती है—'वज्रकण्टको वृक्षः वज्रवृक्षः'।

वज्रकन्द

'वज्रप्रोक्ता' (सु. उ. ६०।४८) से डल्हण ने वज्रकन्द का ग्रहण किया है तथा एकीय मत से स्नुही का निर्देश किया है[1]। वज्रकन्द का स्पष्टतः उल्लेख भी

१. वज्रप्रोक्ता वज्रकन्दः, स्नुहीत्यन्ये। डल्हण

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

सुश्रुत ने 'अमरवरायुधसाह्वय कन्द' के रूप में किया है (सु. चि. १७।४१)। बज्रकन्द से सिद्ध तैल का प्रयोग नाडीव्रण में किया गया है।

वज्रकन्द Urginea indica Kunth है। यह मध्यप्रदेश में वज्जुरकन्द कहा जाता है। इसका उपयोग हृद्रोग, शोथ, व्रण आदि में किया जाता है। कन्द में तीव्र औषधीय कर्म होने के कारण वज्रकन्द कहा जाता है।

वत्सादनी

निघण्टुओं में वत्सादनी गुडूची का पर्याय है किन्तु संहिताओं के अध्ययन से यह गुडूची से भिन्न द्रव्य प्रतीत होता है। वत्सादनी वातसंशमन वर्ग में पठित है (सु. सू. ३९।७) चरक ने भी वत्सादनी को वातशामक कहा है[1]। सुश्रुत के शाकवर्ग में वत्सादनी का वर्णन पुनर्नवा, वरुण, तर्कारी, एरण्ड आदि के साथ है जो मधुर-तिक्त, उष्णवीर्य तथा वातशामक हैं (सु. सू. ४६।२५४) जबकि गुडूची का वासा, निम्ब आदि द्रव्यों के साथ वर्णन है जो तिक्त और कफपित्तशामक है (सु. सु. ४६।२७०)।

यह लता जाति का द्रव्य है और बछड़े इसे चाव से खाते होंगे—अतः इसकी संज्ञा 'वत्सादनी' हुई। डल्हण ने इससे वत्सपुत्रक या वत्सवतिया का ग्रहण करते हैं। कुछ लोग वत्सादनी से इस आधार पर, वासनवेल (जलजमनी या पाताल-गरुड़ी (Cocculus hirsutus (Linn.) Diels.) लेते हैं[2]।

अभिधानरत्नमाला (षड्रसनिघण्टू) में वत्सादनी का स्वादुवर्ग में और गुडूची का तिक्तवर्ग में पाठ है। वत्सादनी के सुदर्शाख्या, चक्रांगी और दृढवल्लिका पर्याय दिये गये हैं[3]। उधर गुडूची के पर्यायों में भी 'वत्सादनी' है[4]। इससे अनुमान होता है कि वत्सादनी गुडूची का ही कोई भेद हो। मेरे विचार से, Tinospora sinensis (Lour.) Merill., जो पद्मगुडूची के नाम से प्रसिद्ध है, वत्सादनी है। इसके काण्ड में माधुर्य होने से यह मधुरवर्ग में रक्खी गई है। इसी कारण पशु इसे चाव से खाते हैं अतः 'वत्सादनी' पर्याय सार्थक है। सुन्दर एवं दृढ़ लता होने के कारण सुदर्शा (सुदर्शना), सोमवल्ली, दृढ़वल्लिका आदि पर्याय हैं। भावप्रकाश में वर्णित सुदर्शना (गुडुच्यादि वर्ग, ३०७) सम्भवतः यही है।

---

१. वायुं वत्सादनी हन्यात्। (च. सू. २७)
२. राजनिघण्टु के वर्णन से इसकी सम्पुष्टि होती है।
(देखें—रा. नि. परिशिष्ट गुडूच्यादिवर्ग, ३४)
३. वत्सादनी सुदर्शाख्या चक्राङ्गी दृढवल्लिका। (अ. र. १।६०)
४. अ. र. ४।१२

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

वनत्रपुषी

चरकसंहिता (विमान, अ. ८) के मधुरस्कन्ध में 'वनत्रपुषी' का उल्लेख हुआ है। पोडोफाइलम (बनकाकड़ू) का फल खीरे जैसा ही होता है अतः उसके लिये नवीन संज्ञाओं की अपेक्षा चरकोक्त 'वनत्रपुषी' शब्द अधिक उपयुक्त होगा। इसके फल वहाँ के लोग एवं पशु खाते हैं अतः इसे 'मृगैर्वारु', 'ऋष्यप्रोक्ता' भी कहते हैं। हस्तिपादवत् बड़ा पत्र होने से 'हस्तिपर्णी' (अंग्रेजी में इसे Duck's foot—बलाकापदी) भी हो सकती है। पौधा चित्रित होने से इसे चित्रा भी कहा जा सकता है। उपर्युक्त सभी शब्द कालान्तर में दूसरे तत्सम द्रव्यों के साथ सम्भवतः पर्याय रूप में सम्बद्ध हो गये अतः इनमें सन्दिग्धता आ गई। इन पर एक-एक कर विचार करें :—

१. **वनत्रपुषी**—इस शब्द का प्रयोग एक ही बार चरकसंहिता (चि. ८) में हुआ है। मधुरस्कन्ध के द्रव्यों में इसका उल्लेख है जो वात और पित्त के विकारों में प्रयुक्त होता है। यह सदैव ध्यान में रखना चाहिये कि विमानस्थल के स्कन्धों में पठित द्रव्य आस्थापन (संशोधन) में सहयोगी हैं। पोडोफाइलम का संशोधन कर्म विशेषतः यकृत्, आमाशय और अन्त्र पर क्रिया के द्वारा वातपित्तशामक कर्म प्रत्यक्ष है। कुछ विद्वान् मधुरस्कन्ध में तिक्त द्रव्यों को देख कर संशयित हो जाते हैं किन्तु चरक की एतत्प्रासंगिक प्रस्तावना का ध्यानपूर्वक अवलोकन करने पर यह सन्देह दूर हो जाना चाहिये। चरक ने प्रारम्भ में ही यह स्पष्ट कर दिया है कि मधुरस्कन्ध में केवल मधुररस ही द्रव्य नहीं हैं अपितु मधुरप्राय, मधुरविपाक और मधुरप्रभाव द्रव्य भी इसमें सन्निविष्ट हैं। यहाँ मधुरप्रभाव का अर्थ वातपित्तशामकता, सृष्टविण्मूत्रता, बल्यता आदि हैं। अतः कोई तिक्तद्रव्य भी यदि मधुरविपाक या मधुरप्रभाव हो तो मधुरस्कन्ध में स्थान पाने का अधिकारी है। फल तो इसका मधुर एवं भक्ष्य होता ही है।

'वनत्रपुषी' को चक्रपाणि ने 'बृहत्फला गोडुम्बा' लिखा है। यह कहना कठिन है कि उनका अभिप्राय पोडोफाइलम से ही है या किसी अन्य द्रव्य से।

२. **मृगैर्वारु**—'मृगैर्वारु' से इन्द्रवारुणी का अर्थ ग्रहण किया जाता है। 'मृगेर्वारु' का उल्लेख संशोधन (ऊर्ध्वभागहर) द्रव्यों में हुआ है। इसके अतिरिक्त, 'मृगभोजनी', 'मृगादनी' शब्द भी केवल सुश्रुतसंहिता (सू. ३९) में ही मिलते हैं। यह सम्भव है कि सुश्रुत ने चरक की वनत्रपुषी का अभिधान इस शब्द से किया हो और कालान्तर में ये शब्द तत्सम संशोधन द्रव्य इन्द्रवारुणी के साथ सम्बद्ध हो गये। यह स्मरणीय है कि अमेरिका के आदिवासी पोडोफाइलम का व्यवहार क्रिमिघ्न एवं वामक के रूप में करते हैं। पोडोफाइलम अति तीव्र होने के कारण सम्भवतः इसके स्थान पर इन्द्रवारुणी का विशेष प्रचलन हुआ।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

३. **ऋष्यप्रोक्ता**—यह चरक के बल्य गण तथा मधुरस्कन्ध में पठित है और ज्वरप्रकरणान्तर्गत चन्दनाद्य तैल के शीतवीर्य द्रव्यों में परिगणित है। टीकाकारों ने इसके विविध अर्थ किये हैं—यथा माषपर्णी, बलाभेद, ऋद्धि और अतिबला। धन्वन्तरिनिघण्टु में इससे तीन द्रव्य लिये गये हैं—अतिबला, शतावरी और कपिकच्छू। इससे स्पष्ट है कि इस द्रव्य का यथार्थ परिज्ञान अभी तक नहीं है और नाम-रूप का सामञ्जस्य अभी तक नहीं हो सका है। ठा० बलवन्त सिंह ने सूचित किया है कि देववन के क्षेत्र में पोडोफाइलम को 'रिखपित्ता' कहते हैं। उन्हींकी नामप्रधान शोधशैली पर क्या यह अनुमान किया जा सकता है कि चरक की 'ऋष्यप्रोक्ता' यही हो। मधुरस्कन्ध में वनत्रपुषी और ऋष्यप्रोक्ता दोनों साथ-साथ पठित हैं। इससे क्या यह सम्भावना हो सकती है कि चण्डा-चोरक के समान ऋष्यप्रोक्ता और वनत्रपुषी पोडोफाइलम के ही दो भेद हों। यह स्मरणीय हैं कि पोडोफाइलम का प्रयोग अल्पमात्रा में बल्य के रूप में होता है। सम्प्रति पोडोफाइलम की एक जाति भारत में उपलब्ध है, एक जाति—अमेरिका में तथा दो जातियाँ चीन में मिलती हैं।

४. **हस्तिपर्णी**—इसका चरकोक्त (सू. १) फलिनी गण के द्रव्यों में उल्लेख है। इसके फलों का वमन और आस्थापन में प्रयोग है। चक्रपाणि ने इससे 'मोरट' का अर्थ ग्रहण किया है। 'हस्तिकर्णवत् पर्ण' ऐसा अर्थ करने पर हस्तिकर्णपलाश (Leea macrophylla) का ग्रहण होगा। 'हस्तिपादवत् पर्ण' ऐसा यदि अर्थ किया जाग तो पोडोफाइलम का ग्रहण किया जा सकता है। उसके परिपक्व फल शरत्काल में प्रयोग-योग्य हो भी जाते हैं। यह स्मरणीय है कि अष्टांगसग्रह (सू. १४) में हस्तिपर्णी के मूल का परिगणन वमनोपयोगी द्रव्यों में हुआ है। पोडोफाइलम के भी मूल का ही प्रयोग होता है। शरदृऋतु में फल पकने के समय मूल में क्रियाशील तत्त्व अधिकतम रहता है। इस प्रकार 'शारदं' विशेषण सार्थक हो जाता है। इस पक्ष में कठिनाई यह है कि चरक ने फलिनी औषधियों में इसका पाठ किया है किन्तु ऐसी औषधियों का मूल प्रयोग में न आवे ऐसी बात नहीं है।

५. **चित्रा**—चरक के भेदनीय तथा सुश्रुत के ऊर्ध्वभागहर गण में 'चित्रा' शब्द आया है। चक्रपाणि ने इसका अर्थ दन्ती किया है। कुछ लोग इससे द्रवन्ती या एरण्ड भी लेते हैं। किन्तु एरण्ड (च. सू. ४।४; १३।९) तथा दन्ती (सु. चि. १०।१४) के साथ पठित होने से यह भिन्न द्रव्य प्रतीत होता है। धन्वन्तरिनिघण्टु में इससे बृहद्दन्ती और इन्द्रवारुणी का ग्रहण हुआ है।

पोडोफाइलम के पौधे लालिमायुक्त, पत्र बिन्दुकित, पुष्प सफेद या गुलाबी तथा फल विभिन्न अवस्थाओं में हरे या चमकीले लाल होने के कारण विविध वर्ण होने

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

से इसे 'चित्रा' कह सकते हैं। चक्रपाणि ने एक स्थल (च. सू.) पर चित्रा से गोरक्षकर्कटी लिया है।

सम्भव है, उपर्युक्त शब्द पोडोफाइलम से ही सम्वद्ध हों। जब तक इनका निर्णय नहीं होता तब तक गिरिकर्कट या वनकर्कटी के स्थान पर चरकोक्त 'वनत्रपुषी' संज्ञा का प्रयोग पोडोफाइलम के लिये प्रचलित होना चाहिये।

वरक–वरुक

वरक दूध के साथ विरुद्धाहार है। यहाँ कंगु, मकुष्ठक आदि धान्यों के साथ इसका उल्लेख है। इसका पाठान्तर 'वनक' है जिसकी व्याख्या चक्रपाणि वनकोद्रव करते हैं। धान्यवर्ग में वरक उद्दालक के साथ षष्टिकभेदों में तथा कुधान्यों में वरुक के साथ पठित है। वरक कषायस्कन्ध में परिगणित है। शारीरस्थान (३।५) में यह श्यामाक, उद्दालक तथा कोरदूष के साथ आया है। ये अवृष्य कहे गये हैं।

सुश्रुत ने चरक और वरक और वरुक दोनों का उल्लेख कुधान्य में किया है। वरक, उद्दालक, कोरदूष आदि वातप्रकोपक कहे गये हैं।

चक्रपाणि एक स्थल (च. सू. २७।१४) पर वरक को षष्टिकविशेष तथा एकीय मत से कुधान्य कहते हैं और दूसरे स्थल (च. सू. २७।१८) पर वरुक को शणबीज तथा वरक को श्यामबीज कहते हैं।

डल्हण वरक से कुधान्यविशेष वरटिका का ग्रहण करते हैं जो प्रायः शाकम्भरी देश में होता है। वरुक को 'बरु' इति लोके' कहा।

अरुणदत्त ने वरक का अर्थ व्रीहिभेद किया है।

वरक प्रायः श्यामाक, उद्दालक, कोरदूष आदि के साथ पठित होने के कारण श्यामाकभेद (Echinochloa sp.) या कोद्रवभेद (Paspalum sp.) प्रतीत होता है। प्रथम विकल्प की सम्भावना अधिक है जिस ओर चक्रपाणि ने भी संकेत किया है। ऐसी स्थिति में यह E. colonum Link. हो सकता है। वरुक शरबीज है जिसे वरटिका भी कहते हैं। कैयदेव ने इसका वर्णन किया है। भावप्रकाशनिघण्टु में वरुक का पाठान्तर 'चारुक' (सम्भवतः लिपिप्रमाद के कारण हो गया।

वरांग-त्वक्–चोच–शाल्मलक

चरक में वरांग की त्वचा शिरोविरेचनार्थ निर्दिष्ट है (च. वि. ८।१५१)। इसके अतिरिक्त, वरांग उष्णवीर्य द्रव्यों (च. चि. ३।३६७), कुष्ठ (च. चि. ७।८१), ग्रहणी (यवानीषाडव च. चि. १५।१४२), सहचरादि बस्ति (च. सि. १२।९) में पठित है। त्वक् का प्रचुर उल्लेख है। चोच चरक में नहीं है। पिच्छाद्रव्यों में शाल्मल या शाल्मलिक का उल्लेख है (च. वि. ८।१३५, चि. ३०।७५)।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

सुश्रुतसंहिता के क्षारागद (क. ६।३) में वरांग और चोच दोनों साथ पठित है। वरांग केवल एक ही बार यहीं आया है, जबकि त्वक् का प्रचुर प्रयोग है। चोच त्वक् और पत्र के साथ एलादि गण में निर्दिष्ट है तथा ये तीनों पुनः मदात्यय-चिकित्सा में विहित हैं (सु. उ. ४७।३२)। शाल्मलक सुश्रुत में नहीं है।

वाग्भट ने अनेक गन्धद्रव्यों के साथ वरांग का उल्लेख धूमपान में, अर्शचिकित्सा में तथा लूताविष में किया है। त्वक् का प्रचुर उल्लेख है। चोच का प्रयोग वाग्भट ने दो अर्थों में किया है एक फलवर्ग में नारिकेल के लिए (जो प्रायः चोच के साथ आया है[1]) और दूसरा गन्धद्रव्यों में[2]। शाल्मलक अष्टांगहृदय में नहीं है किन्तु अष्टांगसंग्रह (सू. १४।३) में शाल्मलि के साथ शाल्मलुक का उल्लेख है।

वरांग और चोच दोनों साथ पठित होने भिन्न हैं इसमें कोई सन्देह नहीं। वरांग और त्वक् कहीं साथ नहीं आये हैं। अतः वरांग और त्वक् पर्यायवाची हैं। इसी प्रकार चोच चरक में नहीं है तथा शाल्मलक सुश्रुत में नहीं है अतः ये दोनों पर्यायवाची हैं। टीकाकारों ने वरांग को त्वक् (गुडतज) और चोच को त्वग्भेद लिखा है[3]। डल्हण ने वरांग और चोच की व्याख्या में लिखा है—'वरांगं वनवासिकात्वक्' चोचं द्वितीया स्थूला त्वक् या शाल्मलकमित्याचक्षते। (सु. क. ६।३)। अर्थात् वरांग वनवासिका की त्वक् है तथा चोच त्वक् का दूसरा स्थूल भेद है जिसे शाल्मलक कहते हैं। इससे स्पष्ट है कि त्वक् दो प्रकार की थी—(१) वरांग या त्वक् (सूक्ष्म) (२) चोच या शाल्मलक (स्थूल)। डल्हण ने त्वक् के वृक्ष को 'वनवासिका' कहा है। यह Cinnamomum tamala Nees or C. zeylanicum Blume है। चोच C. cassia Blume. है। चोच या शाल्मलुक ही नालुका के नाम पर वंगीय कविराजों द्वारा व्यवहृत होता रहा है।

निघण्टुकारों ने वरांग और चोच को भ्रमवश एक मान कर पर्यायवाची बना दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि भावमिश्र को वास्तविक त्वक् (दालचीनी) के लिए एक नवीन संज्ञा 'दारुसिता' गढ़नी पड़ी जो दालचीनी का संस्कृतीकृत रूप है।

एलादि गण तथा पानात्यय-चिकित्सा में निर्दिष्ट 'त्वक्पत्र' से डल्हण त्वक् और पत्र (तेजपत्र) दो द्रव्य लेते हैं किन्तु कुछ लोग 'त्वक्पत्र' को एक शब्द

---

१. अ. हृ. सू. ३।३१, ८,४५, १०।२२
२. ,, उ. २२।८५
३. वरांगं गुडत्वक्। (चक्र.—च. वि. ८।१५१, चि. ७।८१, ८।१४२।
वरांगं वनवासिकात्वक् (ड. सु. क. ६।३)
त्वक् वरांगं 'गुडतज' इति लोके (ड. सु. सू. ३८।२४)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

मान कर उससे त्वक्पत्रिका (तेजपत्र) का ग्रहण करते हैं[1]। स्वयं वाग्भट ने एलादि गण में सुश्रुतोक्त 'त्वक्पत्र' को 'पत्र' में परिणत कर दिया है।

वल्लीषट्क

चरकसंहिता, विमानस्थान (८ अ.) के मधुरस्कन्ध में इन छः वल्लियों का उल्लेख है—क्षीरवल्ली, कपोलवल्ली, कपोतवल्ली, सोमवल्ली, गौपवल्ली और मधुवल्ली।

१. **क्षीरवल्ली**—यह क्षीरविदारी नहीं हो सकती क्योंकि इसी प्रसंग में उसका पृथक् उल्लेख है। चक्रपाणि ने इसे क्षीरलता लिखा है इससे इतना ही पता चलता है कि यह कोई क्षीरसहित लता है। 'क्षीरलता' से क्षीरिणी (अर्कपुष्पी) का ग्रहण करें।

२. **कपोलवल्ली**—यह वह लता है जिसे आदिवासी 'गलफुल' कहते हैं। इसका लैटिन नाम Cardiospermum halicacabum Linn. (Fam. Sapindaceae) है।

इसकी वर्षायु सूत्रवत् लता होती है। पत्रक–लम्बाग्र होते हैं। पुष्प–श्वेत, ·१२ इञ्च व्यास के होते हैं। फल अवनत तथा कोणों पर पक्षयुक्त होते हैं। मई से नवम्बर तक इसमें पुष्प और फल लगते हैं।

३. **कपोतवल्ली**—यह ज्योतिष्मती है जिसके पर्यायों में बाद के निघण्टुओं ने पारावतपदी का समावेश किया।

४. **सोमवल्ली**—यह Sarcostemma Brevistigma W. & A. है जिसका वर्णन राजनिघण्टु में सौम्या के नाम से हुआ है।

यह प्रायः निष्पत्र, पर्वयुक्त, झाड़ीदार, २–३ फीट ऊँची लता होती है। इसकी हरित शाखायें आसपास की झाड़ियों पर फैली होती हैं। वर्षा ऋतु में इन पर रेखाकार-आयताकार छोटी पत्तियाँ निकलती हैं। पुष्प–सफेद, सुन्दर एवं सुगन्धित, शाखाओं के अग्रभाग पर मुण्डकों में सितम्बर से जून मास तक निकलते हैं। फल–किंचित् चर्मवत्, मूलभाग पर पतले होते हैं। यह वनस्पति प्रायः शुष्क चट्टानों पर पाई जाती है।

५. **गोपवल्ली**—यह सारिवा का प्रसिद्ध पर्याय है।

६. **मधुवल्ली**—यह सामान्यतः मधुयष्टीभेद के रूप में लिया जाता है जैसा कि चक्रपाणि ने लिखा है किन्तु यह मान्य नहीं हो सकता क्योंकि इसी प्रकरण में

---

१. केचित् त्वक्पत्रशब्देन त्वक्पत्रिकामाहुः। (ड. सु. उ. ४७।३२)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

यष्टीमधु तथा उसके भेद मधूलिका का पृथक् उल्लेख है। यष्टीमधु वल्लीरूप होता भी नहीं।

मेरे विचार से, मधुवल्ली से मोरटा (Maerua arenaria Hook. f. and Thoms.) का ग्रहण करना चाहिये। इसकी जड़ मधुयष्टी के समान मधुर होती है अतः मधुवल्ली नाम सार्थक है। इसे पीलुपर्णी भी कहते हैं। उत्तर प्रदेश में यह मुरहरी के नाम से प्रसिद्ध है। मूर्वा के स्थान पर भी इसका ग्रहण कुछ लोग करते हैं।

वसुक-वशिर

वसुक और वशिर प्रायः साथ-साथ आते हैं। चरकसंहिता के मूत्रविरेचनीय महाकषाय में दोनों हैं। शुक्रशोधन महाकषाय में 'वसुकोशीर' का शुद्ध पाठ 'वसुकवशिर' होना चाहिए। चरक में इसका उल्लेख इन्हीं दो सन्दर्भों में है।

सुश्रुतसंहिता में इनका अपेक्षाकृत अधिक प्रयोग है। वसुक-वशिर वरुणादि गण, वीरतर्वादि गण तथा वातसंशमन वर्ग में निर्दिष्ट हैं। फलवर्ग में वशिर के फल का तथा आसववर्ग में वसुकासव का उल्लेख है। वशिर का फल विष्टम्भि, दुर्जर, रूक्ष, शीतल, मधुरविपाक, रक्तपित्तप्रसादन तथा वातकोपन कहा गया है। इन दोनों का प्रयोग वातिक अश्मरी में हुआ है।

वाग्भट ने वातिक अश्मरी में दोनों का प्रयोग उद्धृत किया है।

वसुक-वशिर का साथ-साथ पाठ होने से दोनों सजातीय द्रव्य प्रतीत होते हैं। इनके मुख्य कर्म मूत्रविरेचन तथा वातसंशमन हैं। वशिर के फल का भी प्रयोग होता था किन्तु उसका गुण-धर्म विपरीत था। वसुक के फल का प्रयोग नहीं है।

चक्रपाणि ने वसुक से वसुहट्टक तथा वशिर से सूर्यावर्त्त लिया है।

डल्हण ने वशिर से निम्नांकित द्रव्यों का ग्रहण किया है :—

१. अपामार्ग
२. सूर्यावर्त्त (देशान्तरोत्पन्न)
३. मर्कट तृण
४. सूर्यावर्त्तभेद (एकीय मत से)

वसुक से बुक (बकपुष्प या शिवमल्लिका) का ग्रहण किया है जो केदारपर्वत पर 'बगहुल' नाम से प्रसिद्ध है। एकीय मत से अर्क का उल्लेख किया है।

डल्हण को वशिर के फल का परिज्ञान न होने के कारण इसे देशान्तर में उत्पन्न सूर्यावर्त्तफल कहा।

अरुणदत्त ने वसुक को ईश्वरमल्लिका तथा वशिर को सामुद्र लवण कहा है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

वसुक का परिचय डल्हण ने जो बकपुष्प और शिवमल्लिका पर्यायों से दिया है वह Osmanthus fragrans Lour. है। भावप्रकाश में इसी को बृहद् बकुल कहा है। हिमालय क्षेत्र में उत्पन्न होने के कारण मैदानी क्षेत्रों में इसके अभाव में अर्क का प्रयोग होता रहा है। चक्रपाणि का बसुहट्टक Premna barbata Wall. है, यह भी प्रतिनिधि द्रव्य था।

वशिर से मर्कटतृण (मकड़ा घास—Eleusine aegyptica Desf.) लेना चाहिए। इसके फल (बीज) दुर्जर, विष्टम्भी, रूक्ष होते भी हैं।

वायसपीलुक

चरकसंहिता में एक ही स्थल (चि. २३।२१७) पर इसका उल्लेख है :—

काकाण्डरससंयुक्तो विषाणां तण्डुलीयकः।
प्रधानो बर्हिपित्तेन तद्वद् वायसपीलुकः॥

अर्थात्—जिस प्रकार तण्डुलीयक काकाण्डरस मिला कर प्रयोग करने से विषघ्न होता है वैसे ही वायसपीलुक मयूरपित्त के साथ देने पर विष का नाशक होता है।

काकपीलु, काकतिन्दुक आदि शब्द भी चरक में नहीं मिलते। चक्रपाणि ने वायसपीलुक की व्याख्या नहीं की।

मेरे विचार से, यह विषतिन्दुक (Diospyros montana Roxb.) है जो केन्दु या बिसतेन्दु नाम से प्रसिद्ध है। इसके फल तिक्त तथा अहृद्यगन्धि होने से मनुष्य नहीं खाते अत एव 'वायसपीलुक' कहा। (देखें काकतिन्दुक)

वायसी

प्रायः इसके शाक का प्रयोग हुआ है।

चरक ने शोथ, कास और ऊरुस्तम्भ में वायसी के शाक का बिधान किया है तथा उसके फल का प्रयोग विष आदि में निर्दिष्ट है। नील और महानीलघृत में सुश्रुत ने वायसी का पाठ किया है। महानील घृत (सु. चि. ९।३४–३५) में यह काकमाची के साथ पठित है। वाग्भट ने वायसी का कास में रसायन-प्रयोग किया है।

चक्रपाणि वायसी का अर्थ काकमाची करते हैं। डल्हण एक स्थल (सु. चि. ९।२९) पर इससे काकतिक्ता (चिरपोटिका) तथा दूसरे स्थल (सु. चि. ९।३४) पर काकमाची लेते हैं।

महानील घृत में वायसी और काकमाची का पृथक् पाठ होने से ये दोनों स्पष्टतः भिन्न हैं। वायसी से काकतिक्ता Physalis minima Linn. का ग्रहण करना

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

चाहिए। इसके प्रतिनिधिरूप में सम्प्रति उपर्युक्त सभी स्थितियों में काकमाची का प्रयोग होता है।

विदारिगन्धा–शालपर्णी–त्रिपर्णी

विदारिगन्धा और शालपर्णी ये दोनों शब्द पर्यायवाची माने जाते हैं किन्तु इस पर विचार की आवश्यकता है। चरक ने ह्रस्व पञ्चमूल को विदारिगन्धादि कहा है। सुश्रुत ने विदारिगन्धादि गण को प्रथम स्थान दिया है तथा ह्रस्व पञ्चमूल में 'विदारिगन्धा' का ही प्रयोग किया है। चरक ने अंगमर्दप्रशमन महाकषाय में 'विदारिगन्धा' तथा श्वयथुहर (दशमूल) महाकषाय में 'शालपर्णी' का प्रयोग किया है। विदारिगन्धा वृष्य एवं सर्वदोषहर द्रव्यों में श्रेष्ठ कही गई है[1]। मूलासवों में प्रथम द्रव्य विदारिगन्धा है। मधुरस्कन्ध में विदारिगन्धा नहीं है, शालपर्णी है जबकि अगुर्वादि गण में शालपर्णी है, विदारिगन्धा नहीं।

सुश्रुत ने अतिकार्श्य दूर करने के लिए अश्वगन्धा, शतावरी, बला आदि के साथ विदारिगन्धा का विधान किया है। सशूल प्रवाहिका में त्रिकटु एवं विदारिगन्धा से सिद्ध दुग्ध का विधान है।

वाग्भट ने विदारिगन्धा का प्रयोग पृश्निपर्णी आदि के साथ रक्तपित्त में किया है। इसके अतिरिक्त स्वरभेद तथा वृश्चिकदंश में प्रयोग है।

निघण्टुओं में विदारिगन्धा को शालिपर्णी (शालपर्णी) का पर्याय माना है किन्तु इसके साथ 'त्रिपर्णी' पर्याय भी दिया है। धन्वन्तरिनिघण्टु में एक अतिरिक्त शालपर्णीविशेष का वर्णन किया है।

इन तथ्यों से यह स्पष्ट होता है कि 'विदारिगन्धा' शालपर्णी का पर्याय होने पर भी प्राचीन काल में इसे विशिष्ट स्थान प्राप्त था। ऐसा भी सम्भव है कि विदारिगन्धा से किसी अन्य वनस्पति का ग्रहण करते हों। सम्प्रति शालपर्णी (Desmodium gangeticum DC.) को ही विदारिगन्धा मानते हैं क्योंकि इसके मूल में विदारीकन्दवत् गन्ध होती है। त्रिपर्णी Uraia lagopoides Desv. है जिसका ग्रहण भी विदारिकन्द के नाम पर करने पर विचार करना चाहिए। इसका मुण्डारी नाम बिलाईकाटा 'विदारिगन्धा' की ओर सकेत करता है। यह त्रिपर्णी भी है। ह्रस्व पञ्चमूल में चरक और सुश्रुत दोनों ने विदारिगन्धा का प्रयोग किया है।

विषद्रव्य

चरकसंहिता में मुस्तक, पौष्कर, वत्सनाभ आदि मूलज विषों की गणना की

---

१. विदारिगन्धा वृष्यसर्वदोषहराणाम्। (च. सू. २५।४०)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

है[1]। सुश्रुत ने इसे अधिक व्यवस्थित और विस्तृत रूप दिया है। उन्होंने प्रयोज्य अंग के अनुसार दस प्रकार के स्थावर विष बतलाये हैं[2] और प्रत्येक वर्ग में विशिष्ट विषद्रव्यों की गणना की है। इस प्रकार कुल ५५ द्रव्यों का उल्लेख है। इनमें से दो धातुविष (फेनाश्म और हरिताल) को निकाल देने पर ५३ वानस्पतिक विष होते हैं। पुनः वत्सनाभ के चार, मुस्तक के दो तथा सर्षप के छः प्रकार कहे हैं। इनके पृथक् लक्षणों का भी वर्णन किया गया है। कन्दज विषों को विशेष महत्त्व देकर उनका विस्तार से वर्णन किया गया है[3]। इससे चरक की उपर्युक्त मान्यता सम्पुष्ट होती है कि वानस्पतिक विषों में कन्दज (मूलज) विषों का ही प्राधान्य एवं बहुलता थी। चक्रपाणि ने भी इस पर ऐसी ही टिप्पणी दी है[4]।

किन्तु ये विषद्रव्य भी कालक्रम से अज्ञात होने के कारण व्यवहार से छूट गये। इसी आशय की टिप्पणी चक्रपाणि और डल्हण ने इस विषय पर दी है जिससे तत्कालीन स्थिति पर प्रकाश पड़ता है[5]।

सम्प्रति कन्दविषों में वत्सनाभ तथा फलविषों में कुपीलु प्रचलित है।

विषमुष्टिक—विषतिन्दुक—कुपीलु

यह सुश्रुतसंहिता के सुरसादि गण में पठित है। सुरसादि गण कफहर, कृमिघ्न, व्रणशोधन तथा प्रतिश्याय, अरुचि और कासश्वास में लाभकर कहा गया है। अन्यत्र कहीं विषमुष्टि का उल्लेख नहीं मिलता।

डल्हण ने इस पर लिखा है—'विषमुष्टिको द्रेक्का राजनिम्ब इति प्रसिद्धः, बृहदलम्बुषामपरे, कर्कोटीमन्ये'। इस प्रकार उसने इस सन्दर्भ में राजनिम्ब, बृहदलम्बुषा तथा कर्कोटी इन तीन द्रव्यों की ओर संकेत किया।

विषमुष्टि के दो अर्थ हो सकते हैं—एक तो यह कि जिसका फल विषाक्त और मुष्टिग्राह्य (गोलाकार) हो और दूसरा जो विष का हरण करे (मुष्णाति)।

आजकल विषमुष्टि शब्द 'कुचला' के अर्थ में प्रचलित है किन्तु इस सम्बन्ध में दो आपत्तियाँ हैं :—

---

१. च. चि. २३।११–१३

२. मूलं पत्रं फलं पुष्पं त्वक् क्षीरं सार एव च।
निर्यासो धातवश्चैव कन्दश्च दशमः स्मृतः॥ (सु. क. २।४)

३. क. २।५–१८

४. मूलजानीति पदं मूलजस्य बहुत्वात् प्राधान्याच्च। (चक्र.—च. चि. २३।१३)

५. 'एतेषां च संज्ञासम्बन्धे शबरकिरातादय एव तद्विद्याः प्रमाणं, ते हि गुरुपरम्परया व्याख्यानयन्ति'। चक्र. (च. चि. २३।११–१३)
'मूलादिविषाणां यत्नपरैरपि ज्ञातुमशक्यत्वात्तानि हिमवत्प्रदेशे किरातशबरादिभ्यो ज्ञेयानि। डल्हण. (सु. क. २।५)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

१. सुरसादि गण में कोई विषाक्त द्रव्य पठित नहीं है।

२. प्राचीन काल में औद्भिद विषों का चिकित्सा में प्रयोग नहीं मिलता।

धन्वन्तरिनिघण्टु ने विषमुष्टि महानिम्ब के पर्यायों में दिया है। राजनिघण्टु ने विषमुष्टि का स्वतन्त्र वर्णन किया है :—

'विषमुष्टिः केशमुष्टि सुमुष्टिरणुमुष्टिकः।
क्षुपदोडिसमायुक्तो मुष्टिः पञ्चाभिधः स्मृतः॥
विषमुष्टिः कटुस्तिक्तो दीपनः कफवातहृत्।
कण्ठामयहरो रुच्यो रक्तपित्तार्त्तिदाहकृत्॥

क्षुपवर्ग में वर्णन होने से यह कोई क्षुपजाति का पौधा है। कुचले (कुपीलु) का पृथक् वर्णन राजनिघण्टु में कारस्कर नाम से प्रभद्रादि वर्ग में है।

धन्वन्तरिनिघण्टु और डल्हण के अनुसार विषमुष्टिक का सम्बन्ध आधुनिक महानिम्ब से है और इससे द्रेक्का या बकायन का ग्रहण होता है।

वस्तुतः विषमुष्टि, विषतिन्दुक और कुपीलु तीनों पर्यायवाची हैं। ये प्राचीन काल में तिन्दुकभेद (Diospyros montana Roxb.) के लिए प्रयुक्त हुये हैं। मध्यकाल में विषमुष्टि महानिम्ब (बकायन) का पर्याय बना। आधुनिक काल में ये तीनों शब्द कारस्कर (कुचला—Strychnos nuxvomica Linn.) के बोधक पर्याय हैं। (देखें वायसपीलुक)

विषाणिका—वृश्चिकाली

चरक ने मूलिनी विरेचन द्रव्यों में विषाणिका का पाठ किया है। शोथ और जलोदर में दन्ती, स्वर्णक्षीरी आदि द्रव्यों के साथ इसका विरेचनार्थ प्रयोग भी है। क्षीरदौर्गन्ध्यनाशन के लिए अजश्रृङ्गी, हरिद्रा आदि के साथ इसका प्रयोग है।

सुश्रुत ने भी इसकी अधोभागहर द्रव्यों में गणना की है और इसके मूल का प्रयोग बतलाया है। विषाणिकास्नेह का भी विरेचनार्थ प्रयोग है।

चक्रपाणि ने इसे आवर्तनी कहा है (च. सू. १।७७)।

डल्हण ने विषाणिका को मेषशृङ्गी कहा है। एक स्थान पर आवर्त्तनिका भी कहा। उन्होंने मेषशृङ्गी को ही अजशृङ्गी के परिचय में विषाणिका, छागलविषाणिका, उत्तमारणी और लौकिक नाम 'मेढ़िका' दिया है।

मेषशृङ्गी सालसारादि गण का वृक्ष है जिसकी त्वचा और पुष्प का उपयोग किया गया है। अतः विषाणिका मेषशृङ्गी नहीं है क्योंकि विषाणिका मूलिनी गण में पठित है जिसमें सभी छोटे क्षुप या लतायें हैं। विषाणिका कर्कटशृङ्गी भी नहीं है क्योंकि कर्कटशृङ्गी कषाय-मधुर, स्तम्भन है जबकि विषाणिका रेचन है। अजशृङ्गी और विषाणिका साथ-साथ पृथक् पठित होने के कारण यह अजशृङ्गी भी नहीं है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

मेरे विचार से, विषाणिका वही द्रव्य है जिसे डल्हण ने अजशृङ्गी के परिचय में छागलविषाणिका, उत्तमारणी, मेढिका, मेषशृङ्गीभेद कहा है। वृश्चिकाली के परिचय में भी इसी द्रव्य का विवरण दिया है :—

"वृश्चिकाली कण्टकितमेषशृङ्गयुगाकारफला पाठापत्रा ईषद्रोमशा श्वेतपुष्पगुच्छा दक्षिणावर्त्तवल्ली मेषशृङ्गीभेदः, वृश्चियाशाकमन्ये।" (सु. सू. ३८।४)

फल की आकृति के अनुसार विषाणिका, आवर्त्तनिका, ये पर्याय सार्थक हैं।

वृश्चिकाली तिक्तवर्ग, वातसंशमन, अर्कादि तथा विदारिगन्धादि गणों में पठित है। इसका प्रयोग मानसरोग, पाण्डु तथा स्तन्यशोधनार्थ हुआ।

स्पष्ट रूप से उत्तमारणी एक ही स्थल पर महाकुष्ठचिकित्सा में (सु. चि. १८।८) पठित है। अर्शप्रकरण (सु. चि. ६।१२) में 'अर्कोत्तमारणी' है। टीकाकार इसका अर्थ अर्क + उत्तमारणी करते हैं। 'अर्कोत्तमा' एक स्थल पर और आया है (सु. सू. ३७।१६)। यहाँ टीकाकार अर्क + उत्तमा कर देते हैं। मेरे विचार से, अर्कोत्तमा तथा अर्कोत्तमारणी एक ही है, इसीका संक्षिप्त रूप उत्तमारणी है। इसका अर्थ है अर्ककुल की उत्तम वनस्पति। एक स्थल पर डल्हण ने इसे योधामल्ली तथा दूसरे स्थल पर उत्तमारणी कहा है। लोकभाषा में इसे उतरन कहते हैं।

अरुणदत्त ने उत्तरकरणी (शिवदासव्याख्या—अ. हृ. उ. ३०।२८) तथा उत्तमारणी को करम्भ माना है (अ. हृ. सू. १५।२४)।

वृश्चिकाली का वर्णन चरक और सुश्रुत दोनों में है जबकि उत्तमारणी केवल सुश्रुत में स्पष्ट रूप से केवल एक ही स्थल पर है। अतः उत्तमारणी वृश्चिकाली से भिन्न प्रतीत होती है।

विषाणिका और उत्तमारणी एक ही (Pergularia daemia (Forsk) Chiov.) है।

Pergularia daemia अर्ककुल की दुर्गन्धयुक्त क्षीरिणी वल्ली है जो भारत के उष्ण प्रदेशों में सर्वत्र, हिमालय में ४ हजार फीट की ऊँचाई तक पाई जाती है। पत्र—लट्वाकार या गहरे हृद्वत् ; पुष्प—अक्षीय तथा दीर्घवृन्त, गुच्छों में, हरित-पीत या पाण्डुवर्ण, बैंगनी आभायुक्त होते हैं। फलियां—भालाकार, तीक्ष्णाग्र, अग्र-भाग पर मुड़े हुए वृश्चिक केशवत्, मृदुकण्टकावृत होती हैं।

वृश्चिकाली

चरक ने वृश्चिकाली का पाठ अपस्मार (चि. १०।३४) पाण्डु (चि. १६।१२०) तथा उदररोग (चि. १३।१०६) की चिकित्सा में किया है। सुश्रुत ने इसका पाठ विदारिगन्धादि गण (सू. ३८।४), अर्कादि गण (सू. ३८।१६), वातसंशमन वर्ग (सू. ३६।७) तथा तिक्तवर्ग (सू. ४२।११) में किया। अष्टांगहृदय में यह

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

स्तन्यशोधन के रूप में (उ. २।१०) तथा महापैशाचिक घृत के घटकों में प्रयुक्त है (उ. ३।३६)।

चक्रपाणि ते इस पर कोई विचार नहीं दिया। डल्हण ने दो स्थलों पर इसे 'वृश्चियाक' कहा है। एक और स्थल पर एकीय मत से वृश्चिकाली को वृश्चिया शाक कहा कहा है। एक स्थल पर वृश्चिकाली को वृश्चिकपत्री माना है। डल्हण ने उन्मादचिकित्सा (उ. ६२।३१) में 'नागविन्ना' की व्याख्या में भी एकीय मत से वृश्चिकपत्रिका का निर्देश किया है। एक स्थल पर वृश्चिकाली को उत्तमारणी माना है।

डल्हण ने एक स्थल पर उत्तमारणी को भी वृश्चिकाली कहा है। इन प्रसंगों के देखने से पता चलता है कि डल्हण इस सम्बन्ध में अत्यन्त भ्रान्त थे तथा निम्नांकित तीन वनस्पतियों पर उनका ध्यान था :—

१. उत्तमारणी

२. वृश्चियाक या वृश्चियाशाक

३. वृश्चिकपत्रिका

उत्तमारणी (उतरन) का निर्णय हो चुका है। यह Pergularia daemia है (देखें विषाणिका)।

डल्हण द्वारा निर्दिष्ट वृश्चिकपत्रिका—Tragia involucrata Linn. (विछाटी) है। वृश्चियाशाक हिमालय प्रदेश में रास्तों पर सामान्यतः उगने वाली बिछुआ या बिच्छूबूटी (Urtica dioica Linn. या Girardinia heterophylla Decne.) है। इनका शाकार्थ या वातरोग में औषधीय प्रयोग करते भी हैं।

मेरे विचार से, वृश्चिकाली वृश्चिकपत्रिका (Tragia involucrata Linn.) को स्वीकार करना चाहिए।

Tragia involucrata एरण्डकुल की सदाहरित बहुवर्षायु वल्ली है जो कठिन दंशक रोमों से आवृत होती है। पत्र १–४ इञ्च लम्बे, आयताकार–भालाकार या लट्वाकार, रोमश; पुष्प अद्विधैकलिंगी, पीताभ, रोमश मञ्जरियों में होते हैं। फल–त्रिकोणीय; बीज–गोलाकार चिकने होते हैं।

यह समस्त भारत में पंजाब से आसाम और मेघालय तक तथा दक्षिण में केरल तक २–३ हजार फीट की ऊँचाई तक पाया जाता है।

विषाद्वय

अतिविषा और प्रतिविषा ये विषाद्वय हैं। बृहत्त्रयी में अतिविषा और प्रतिविषा का स्पष्ट प्रयोग है। इसका संक्षिप्त रूप 'विषा' वाग्भट द्वारा प्रयुक्त हुआ है और 'विषाद्वय' का भी निर्धारण उन्हीं के द्वारा हुआ है (अ. हृ. उ. ३७।७९)।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

अतिविष अतीस (Aconitum heterophyllum Wall.) तथा प्रतिविषा पतीस या विखमा (A. palmatum D. Don. है। दोनों के गुणकर्म प्रायः समान हैं क्योंकि सुश्रुत ने अतिसार में दोनों का प्रयोग किया है (सु. उ. ४०) ।

डल्हण ने प्रतिविषा को 'श्यामकन्दा अतिविषाभेदः' लिखा है ।

वीरतरु

चरक में इसका उल्लेख नहीं है। सुश्रुतसंहिता में वीरतर्वादि गण में प्रथम द्रव्य वीरतरु है। वाग्भट ने 'वीरतर' पाठ दिया है। गण की संज्ञा तो वीरतरादि है किन्तु प्रथम नाम 'वीरतर' न होकर उसके स्थान पर 'वेल्लन्तर' है। स्पष्टतः वाग्भट ने वीरतर के पर्याय रूप में ही वेल्लन्तर का प्रयोग किया है।

अरुणदत्त वीरतरु से उशीर लेते हैं। डल्हण वीरतरु से शर, बिल्वनासिका, या वेल्लन्तर लेते हैं और एकीय मत से अर्जुन और कोकिलाक्ष का भी निर्देश करते हैं[1]। इतने मतों को उद्धृत करने से स्पष्ट है कि उस काल में इस सम्बन्ध में बहुत भ्रान्ति थी। तथापि वाग्भट ने स्पष्ट रूप से इससे वेल्लन्तर का ग्रहण कर तथा डल्हण ने वेल्लन्तर का परिचय देकर वनस्पति के स्वरूप को सुस्पष्ट कर दिया[2] जिससे संप्रति यह सुनिश्चित हो गई।

वीरतरु या वेल्लन्तर Dichrostachys cineria W. & A. है[3]।

वृकधूमक

वृहत्त्रयी में वृकधूमक एक ही बार केवल चरकसंहिता में आया है (च. सू. २७।१०१) । चक्रपाणि ने इसका अर्थ भूमिशिरीष किया है। इसके अनुसार यह शिरीष का कोई ह्रस्वभेद हो सकता है।

वेतस–वेत्र

वेतस और वेत्र के परिचय में बड़ी भ्रान्ति रही है। ठा० बलवन्त सिंह ने Salix sp. को वेतस तथा Calamus tenuis को वेत्र निर्धारित कर दोनों के

१. वीरतरुः बिल्वनासिका, शर इत्यन्ये। ड. (सु. सू. ३९।७)
वीरतरुः स्वनामप्रसिद्धः, अर्जुन इत्येके, कोकिलाक्ष इत्यपरे। ड. (सु. चि. १५।४४)
वीरतरुः शरः वेल्लन्तरो वा। ड. (सु. उ. ९।२०)
वीरतरुः शरः। ड. (सु. उ. ४०।४१)

२. वीरतरुः शरः, अन्ये तु वीरतरुः 'वेल्लन्तर' इति नाम्ना प्रसिद्धो जाङ्गलदेशे नर्मदातटे चर्मण्वतीनदीसमीपे च; तल्लक्षणमुच्यते—'वेल्लन्तरुर्जगति वीरतरुः प्रसिद्धः श्वेतासितारुणविलोहितपीतपुष्पः। आदारितुल्यकुसुमः शमिसूक्ष्मपत्रः स्यात् कण्टकी विजलदेशज एष वृक्षः॥ इति। ड. (सु. सू. ३८।१२)

३. विवरण द्वितीय भाग में देखें।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

पार्थक्य को स्पष्ट किया किन्तु इससे वह भी पूर्ण आश्वस्त नहीं हो सके क्योंकि उनके मन में यह शंका बनी रह गई कि वेतस का क्षीरीवृक्षों में उल्लेख कैसे हुआ तो क्या यह कोई अन्य क्षीरी वृक्ष है? अतः इस समस्या का और विवेचन अपेक्षित है।

वेतस और वेत्र दोनों के गुणकर्म और प्रयोग प्रायः समान हैं। चरकसंहिता में दोनों का निर्वापण (दाहशामक) प्रयोग में विधान है, दोनों ही शाकवर्ग तथा तिक्तस्कन्ध में पठित है। वेत्राग्र तिक्त है तथा इसका प्रायः शाकार्थ प्रयोग है। वेतस के मूल,[1] पल्लव[2] तथा त्वचा[3] का प्रयोग है किन्तु वेत्र के अग्रभाग (वेत्राग्र,[4] या वेत्रकलाय)[5] का ही प्रयोग है। निम्व, पटोल आदि तिक्त शाकों के साथ वेत्राग्र का विधान रक्तपित्त (वेतसपल्लव के साथ), शोथ, ऊरुस्तम्भ, वातरक्त तथा स्तन्यदुष्टि में किया गया है। वेतस शीतवीर्य द्रव्यों में वानीर के साथ पठित है। वेतस का तिक्त द्रव्यों के साथ कम ही, (च. चि. ७।१५२ में करञ्ज, अरिष्ट के साथ) अधिकतर कषाय द्रव्यों के साथ उल्लेख है। विशेषतः क्षीरीवृक्षों के साथ इसका पाठ उल्लेखनीय है। क्षीरीवृक्षों के साथ वेतस की त्वचा लेने का विधान पैतिक शोथ में (च. चि. १२।६८) है। इसी प्रकार तृष्णाधिकार में (च. चि. २२।३५) पञ्चवल्कल के साथ वेतस है। न्यग्रोध, उदुम्बर, अश्वत्थ तथा प्लक्ष के साथ वेतस का प्रयोग व्रणरोपण में है (च. चि. २५।८७)। इन पाँचों का पल्लव विसर्प में आलेपनार्थ विहित है (च. चि. २१।८५)। इसी प्रकार इन पाँचों का वल्कल शोफनिर्वापण कहा गया है (च. चि. २५।४६)। स्मरणीय है कि चरक-संहिता के मूलभाग में सर्वत्र पञ्च क्षीरीवृक्षों में कपीतन है किन्तु दृढ़बलकृत अंश में कपीतन का स्थान वेतस ने ले लिया। इसी का अनुसरण वाग्भट ने किया है। (देखें क्षीरीवृक्ष)। वेतसाम्ल का भी उल्लेख है (च. चि. १२।५५)।

सुश्रुत ने 'वञ्जुल' शब्द से वेतस का उल्लेख न्यग्रोधादि गण में किया है। इसके अतिरिक्त, पैत्तिक विसर्प, पैत्तिक उपदंश, पित्ताभिष्यन्द, शकुनीग्रह, ज्वर तथा अतिसार में वेतस का प्रयोग है। वेत्रफल का उल्लेख अम्लवर्ग तथा अम्ल फलों में है (सु. सू. ४६।१३६, उ. ४७।४१)। वेत्रकरीर तिक्तवर्ग, तिक्तशाक, पानविभ्रम तथा अरोचक-चिकित्सा में निर्दिष्ट है। चरकोक्त वेत्राग्र या वेत्रकलाय ही सुश्रुत का वेत्रकरीर है। वेत्रासव में भी वेत्र का प्रयोग है। वेत्राम्ल का भी पाठ है (सु. उ. १२।१८)।

---

१. च. चि. २१।७५, २९।१३३

२. च. चि. २१।८५, २२।४४, ८।१२९, २७।२७

३. च. चि. १२।६८, २२।३५, ४४, २५।४६

४. च. सू. २७।४, ९५, वि. ८।१४३, चि. ४।३८, २९।५२

५. च. चि. ३०।२५८

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

वाग्भट ने गुल्मचिकित्सा में निर्दिष्ट हिंग्वादि चूर्ण में वेतसाम्ल का पाठ किया है (अ. हृ. चि. १४।३२)। लूताविष में भी वेतस का प्रयोग है (अ. हृ. उ. ३७।८४)।

उपर्युक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि पञ्च क्षीरीवृक्षों में चरकोक्त कपीतन का स्थान बाद में वेतस ने ले लिया। चरक ने कपीतन को कषायस्कन्ध तथा वेतस को तिक्तस्कन्ध में रक्खा है। सुश्रुत ने न्यग्रोधादि गण में दोनों को रख कर निकट ला दिया और इससे लाभ उठा कर वेतस ने कपीतन को अपदस्थ कर दिया।

यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि चरक ने जिसे वेतसाम्ल कहा उसे सुश्रुत ने वेत्राम्ल कहा। सुश्रुत ने यद्यपि अम्लवर्ग में वेत्रफल और अम्लवेतस दोनों का उल्लेख किया किन्तु फलवर्ग में केवल वेत्रफल का वर्णन किया, वहाँ अम्लवेतस का उल्लेख नहीं है। चरक ने अम्लवेतस का जो कर्म (भेदन) बतलाया वही सुश्रुत ने वेत्रफल का कहा (देखें अम्लवेतस)। इससे अनुमान किया जा सकता है कि :—

(१) चरक का अम्लवेतस तथा वेतसाम्ल सुश्रुत का क्रमशः वेत्रफल तथा वेत्राम्ल है।

(२) सुश्रुत वेतस और वेत्र को एक ही मानते थे।

प्रश्न है कि यदि वेतस को क्षीरी वृक्षों में रखते हैं तो वह वृक्ष क्या हो सकता है? अम्लवेतस के समान यह कोई Garcinia Sp. हो सकती थी किन्तु क्षीरी होने पर भी उसकी त्वचा तथा पल्लव में वैसे स्तम्भन कर्म नहीं है।

वेतस को Salix sp. अम्लवेतस को Garcinia sp. तथा वेत्र को Calamus sp. मानना चाहिए। क्षीरी वृक्षों के साथ उसको रखने का कारण उसका स्तम्भन एवं रोपण कर्म हैं।

सुश्रुत ने वेतस और वेत्र में जो भ्रम उत्पन्न कर दिया उसके कारण आज तक इस सम्बन्ध में अनेक लोग भ्रान्त हैं।

शकुलादनी

चरक ने इसे भेदनीय महाकषाय में रक्खा है। तिक्त शाकों में भी यह पठित है। वाग्भट ने भी शाकों में इसका उल्लेख किया हैं।

चक्रपाणि इसका अर्थ कटुरोहिणी करते हैं। अरुणदत्त ने भी कटुका अर्थ किया है।

किन्तु कटुका का शाक प्रचलित नहीं है, इसके भौमिक काण्ड का ही प्रयोग औषध में होता है। कटुरोहिणी (कटुका) चरक के लेखनीय तथा स्तन्यशोधन महाकषायों में पठित है, शकुलादनी उससे भिन्न प्रतीत होता है। यह एक शाक

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

है जो जलीय प्रदेश में होता है तथा गुणधर्म में भेदन है। मेरे विचार से यह हिलमोचिका (Enhydra fluctuans Lour) है।

शंखपुष्पी–विष्णुक्रान्ता

चरक ने शंखपुष्पी का प्रयोग द्वितीय ब्राह्म रसायन (च. चि. १।१।५८) तथा ऐन्द्र रसायन (च. चि. १।१।२४) में ब्राह्मी, ब्रह्मसुवर्चला, ऐन्द्री आदि मेध्य द्रव्यों के साथ किया है। शंखपुष्पी को मेध्य रसायनों में विशिष्ट कहा गया है— 'मेध्या विशेषेण च शंखपुष्पी' (च. चि. १।१।३१)। इसके अतिरिक्त, अपस्मार-चिकित्सा में निर्दिष्ट ब्राह्मीघृत में इसका पाठ है (च. चि. १०।२५)। अपस्मार में शंखपुष्पी का स्वतन्त्र प्रयोग भी विहित है (च. चि. १०।६२)। कास में प्रयुक्त अगस्त्यहरीतकी का भी एक घटक है।

सुश्रुतसंहिता में यह तिक्तवर्ग में पठित है (सु. सू. ४२।११)। इसके अतिरिक्त, यह बालरसायन (सु. शा. १०।६८) तथा अगस्त्यहरीतकी में प्रयुक्त है (सु. उ. ५२।४२)।

वाग्भट ने इसके अतिरिक्त अष्टांगघृत (अ. हृ. उ. १।४४), ब्राह्मयादिशृत पुराणघृत (अ. हृ. उ. ७।१४) में इसका पाठ किया है। रसायन-प्रकरण में शंखपुष्पी के अनेक प्रयोग दिये हैं (अ. हृ. उ. ३९।१८, ४४, ४७, ५०, ६१)। बालरसायन में 'शंख' शब्द से संभवतः शंखपुष्पी का विधान है। सुश्रुत ने इस योग में 'श्वेता' पाठ किया है।

चक्रपाणि ने इस पर कोई टिप्पणी नहीं की है। डल्हण ने भी कुछ नहीं लिखा।

निघण्टुओं में धन्वन्तरिनिघण्टु तथा भावप्रकाशनिघण्टु ने शंखपुष्पी का स्वतंत्र वर्णन किया है। कैयदेवनिघण्टु तथा राजनिघण्टु में यह तीन प्रकार की वर्णित है— (१) श्वेतपुष्पी (शंखपुष्पी) (२) नीलपुष्पी (विष्णुक्रान्ता) (३) रक्तपुष्पी (सर्पाक्षी)। विष्णुक्रान्ता का पर्याय अपराजिता भी दिया है। वस्तुतः शंखपुष्पी श्वेतपुष्पी ही है। अन्य दो द्रव्य भिन्न हैं।

शंखपुष्पी इन कारणों से सन्दिग्ध रही है। शंखिनी से इसका सम्बन्ध जोड़ कर और भ्रम उत्पन्न किया गया है। ज्ञातव्य है कि सुश्रुत ने तिक्तवर्ग में शंखिनी और शंखपुष्पी का पृथक् उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त, शंखिनी रेचन तथा शंखपुष्पी मेध्य है अतः गुणधर्मों में भी भिन्नता है।

शंखपुष्पी से नाम पर निम्नांकित द्रव्य प्रचलित रहे हैं :—

१. दानकुनी (Canscora decussata Schult) यह विशेषतः बंगाल में प्रचलित है।

२. विष्णुक्रान्ता (नील शंखपुष्पी)—(Evolvulus alsinioides Linn)

३. अपराजिता (Clitorea ternatea Linn)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

इसे 'शंखिनी' नाम दिया जाता है और दक्षिण भारत में इसी का व्यवहार शंखपुष्पी के नाम पर होता है।

४. शंखाहुली—(Convolvulus pluricaulis Chois)

वस्तुतः अन्तिम द्रव्य ही स्वरूप तथा गुणधर्म के अनुसार शंखपुष्पी है। शेष द्रव्य इससे पृथक् हैं। Evolvulus alsinioides. को विष्णुक्रान्ता मानना चाहिए। Clitorea ternatea गिरिकर्णिका है। Canscora decussata की निकटता यवतिक्ता से अधिक है (देखें गिरिकर्णिका और यवतिक्ता)।

शतपर्वक–शतपर्विका

शतपर्वा चरक के चन्दनाद्य शीतवीर्य द्रव्यों में पठित है। सुश्रुत में शतपर्वक का मूल मूत्रदोषविशोधन तथा अश्मरी के लिए प्रयुक्त है। वाग्भट ने 'शतपर्वक' का इक्षुजातिओं में उल्लेख किया है। शतपर्विका का विषघ्न प्रयोग है।

मेरी दृष्टि में, शतपर्वक (शतपर्वा) तथा शतपर्विका भिन्न द्रव्य हैं। शतपर्वक को डल्हण ने जलगण्डीर कहा है (सु. उ. ५८।४४–४५)। चरक का शतपर्वा तथा सुश्रुत का शतपर्वक एक प्रतीत होता है।

चक्रपाणि ने शतपर्वा का अर्थ श्वेतदूर्वा किया है।

शतपर्वा दूर्वा नहीं हो सकता क्योंकि शीतवीर्य द्रव्यों में दूर्वा पृथक् पठित है। बचा की भी संभावना नहीं है क्योंकि वह उष्णवीर्य है जबकि शतपर्वा शीतवीर्य होना चाहिए।

डल्हण के अनुसार शतपर्वक जलगण्डीर हो सकता है (देखें जलगण्डीर)। शतपर्विका Polygonum की कोई प्रजाति प्रतीत होती है।

शतवीर्या–सहस्रवीर्या

चरकसंहिता में शतवीर्या-सहस्रवीर्या दोनों प्रजास्थापन महाकषाय में पठित है। गर्भस्थापन के लिए इन ओषधियों का धारण या इनसे सिद्ध दुग्ध या घृत का पान विहित है। यक्ष्मा में शतवीर्या तथा रक्तपित्त एवं बृंहण बस्ति में सहस्रवीर्या का विधान है।

सुश्रुत ने व्रणितोपासनीय में इन ओषधियों के धारण का उल्लेख किया है। बलाघृत में सहस्रवीर्या है।

वाग्भट ने केवल एक बार चरकोक्त यक्ष्मा का योग उद्धृत किया है।

चक्रपाणि ने शतवीर्या-सहस्रवीर्या से दूर्वाद्वय (श्वेत तथा नील दूर्वा) लिया है। डल्हण ने सहस्रवीर्या से श्वेतदूर्वा तथा शतवीर्या से शतावरी (एकीय मत से नीलदूर्वा का ग्रहण किया है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

ऐसा प्रतीत होता है कि शतवीर्या-सहस्रवीर्या का प्राचीन प्रयोग दूर्वाद्वय के लिए ही था किन्तु आजकल इन नामों से शतावरीद्वय का व्यवहार होता है[1]।

शताह्वक

चरकसंहिता में यह फलवर्ग में पठित है। इसका फल दोषघ्न एवं विषघ्न कहा गया है।

चक्रपाणि ने इसकी व्याख्या में 'सेह' इति 'ख्यातम्' लिखा है। द्रव्यगुणसंग्रह के फलवर्ग में चक्रपाणि ने इसका वर्णन नहीं किया है।

शताह्वाद्वय

शताह्वा और शतपुष्पा दोनों का उल्लेख बृहत्त्रयी में हुआ है। ये दोनों पर्यायवाची प्रतीत होते हैं क्योंकि दोनों के प्रयोग प्रायः समान हैं। चरक के महाकषायों (आस्थापनोपग एवं अनुवासनोपग), मधुरस्कन्ध तथा उष्णवीर्य द्रव्यों में शतपुष्पा का ही पाठ है किन्तु प्रयोगों में दोनों हैं, अपेक्षाकृत शताह्वा का अधिक है। सुश्रुत में भी यही स्थिति है। श्लेष्मसंशमन गण में शतपुष्पा है। वाग्भट ने गणों में 'मिशि' शब्द का प्रयोग किया है।

चरक ने 'शताह्वे द्वे' का प्रयोग किया है इससे स्पष्ट है कि वह दो प्रकार की शताह्वा या शतपुष्पा मानते थे। चक्रपाणि ने शतपुष्पा और मधुरिका को शतह्वाद्वय लिखा है। शतपुष्पा सोया और मधुरिका सौंफ है। सम्भवतः चरक के मधुरस्कन्ध में शतपुष्पा मधुरिका का बोधक है। दूसरी शताह्वा कटु है। सुश्रुत ने इन पर कोई टिप्पणी नहीं की।

अमरकोष में शतपुष्पा का 'मधुरा' पर्याय दिया है। धन्वन्तरिनिघण्टु में शतपुष्पा (शताह्वा) तथा मिश्रेया (मधुरिका) का पृथक् वर्णन किया है। कैयदेव तथा भावमिश्र ने इसी प्रकार दोनों का स्वतन्त्र वर्णन किया है।

सम्प्रति 'मधुरिका' शब्द उतना प्रचलित नहीं है। शतपुष्पा का प्रयोग सौंफ के लिए तथा शताह्वा का सोया के लिए होता है[2]।

शाबरकन्दक

यह केवल एक बार अष्टांगहृदय में आया है (अ. हृ. उ. १८।५८)। अरुणदत्त ने इसका अर्थ लशुन किया है। कुछ लोग इसे वाराहीकन्द या पलाण्डु लेते हैं।

शार्ङ्गेष्टा

चरक ने शार्ङ्गेष्टा का पाठ तिक्त शाकों में किया है। वमनोपयोगी द्रव्यों में भी इसके मूल का विधान है। कासहर धूमवर्ति, ऊरुस्तम्भचिकित्सा, स्तन्यशोधन तथा कफज रोगों के लिये उपयुक्त बस्ति में इसका प्रयोग है।

---

१. देखें द्रव्यगुण-विज्ञान भाग २।
२. ,, ,, ,, ,, ,,।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

सुश्रुत में यह आरग्वधादि एवं मुस्तादि गणों में पठित है। इसके अतिरिक्त, विरेचन, कुष्ठ, प्रमेहपिड़का, शोफ, बस्ति, शिरोरोग तथा आमातिसार में इसका प्रयोग है।

अष्टांगहृदय में इसके अतिरिक्त, बालशोष तथा नेत्ररोग में इसका विधान है।

चक्रपाणि ने इसे काकतिक्ता और गुञ्जा माना है। उनका अधिक झुकाव गुञ्जा की ओर है, केवल एक बार काकतिक्ता लिखा।

डल्हण ने इस पर निम्नांकित टिप्पणी की है :—

१. शार्ङ्गेष्टा काकजंघा 'विकसवनी' इति लोके, काकमाचीत्यन्ये, अन्ये शार्ङ्गेष्टा काकतिक्ता गौरवर्त्तुलावगुण्ठितफला 'चिरपोटिका' इति प्रसिद्धा, 'भुरुदाका' इति पूर्वदेशे, काकदनीत्यपरे, साच गुंजेति प्रसिद्धा।—सु. सू. २८।६

१. शार्ङ्गेष्टा काकतिक्ता गौरवर्त्तुलावगुण्ठितफला 'चिरपोटिका' इति प्रसिद्धा, झझरुष' इति पूर्वदेशे, काकजङ्घामन्ये, काकमाचीत्यपरे।—सु. सू. ३८।५४

३. शार्ङ्गेष्टा विटपकरञ्जः, चिरपोटिकेत्यन्ये, अपरे तु काकजङ्घामाहुः।

—सु. सू. ४४।३५

४. शार्ङ्गेष्टा काकतिक्ता 'भुंभुरटा' इति लोके, गूथकरञ्ज इत्यपरे।

—सु. चि. ९।७

५. शार्ङ्गेष्टा काकतिक्ता 'भुंभुरुडक' इति लोके।—सु. चि. १२।९

६. शार्ङ्गेष्टा काकजङ्घा।—सु. चि. २३।१२

७. शार्ङ्गेष्टा भुंभुरुट्टाको वेष्टितफलः काकमाच्यनुकारः।—सु. चि. ३७।३६

इस प्रकार डल्हण ने भ्रान्त होकर अनेक द्रव्यों की ओर संकेत किया :—

१. काकजङ्घा
२. काकमाची
३. काकतिक्ता (चिरपोटिका)
४. काकादनी (गुञ्जा)
५. विटपकरञ्ज

काकतिक्ता की ओर उनका विशेष झुकाव है।

डल्हण जब स्वयं भ्रान्त हैं तब इनकी बातों को आधार न बना कर मैं स्वतन्त्र मार्ग पर चलता हूँ। ध्यान देने की बात है कि शार्ङ्गेष्टा और मूर्वा दोनों का अधिकांश साथ-साथ उल्लेख है। निम्नांकित स्थल देखें :—

१. च. वि. ८।१३५
२. च. चि. २७।२३–२४
३. च. चि. ३०।२६६, २८०
४. च. सि. ३।५६
५. सु. सू. ३८।६
६. सु. सू. ४४।३५
७. सु. चि. ९।७–८
८. सु. चि. ३७।३३, ३६

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

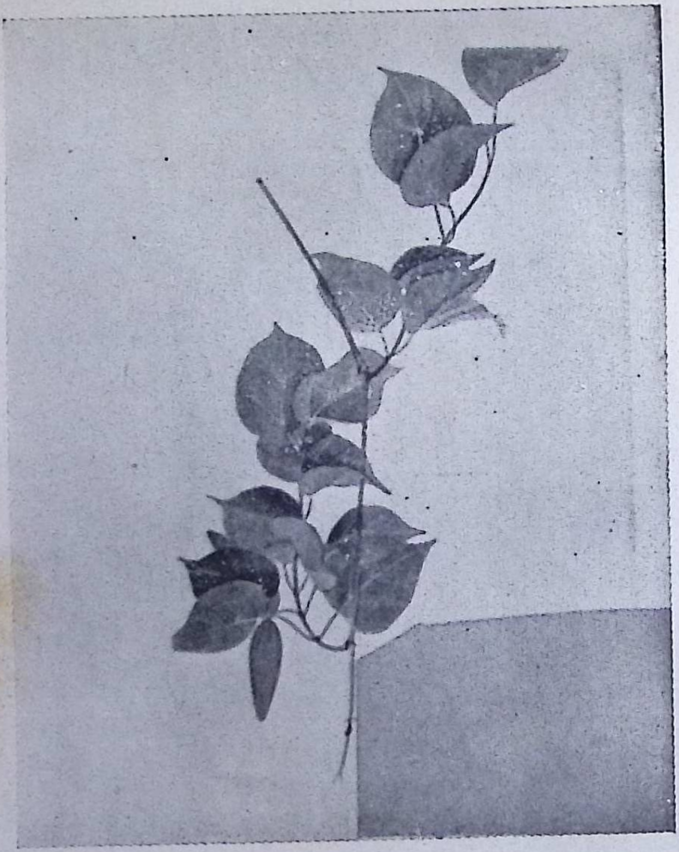

१६. शार्ङ्गेष्टा ?

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

इस साहचर्य के अतिरिक्त, दोनों का अर्थ भी एक ही है। मूर्वा धनुष की मौर्वी बनाने के काम आती थी और शार्ङ्गेष्टा का भी यही अर्थ है—'शार्ङ्गं धनुः तदर्थमिष्टा' अर्थात् धनुष के कार्य के लिए जो अभीष्ट हो। मूर्वा के समान शार्ङ्गेष्टा भी दृढ़सूत्रमय वनस्पति होनी चाहिए जिसका उपयोग मौर्वी बनाने में हो।

इन सब तथ्यों पर विचार करने के बाद मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि शार्ङ्गेष्टा मूर्वा की ही जाति की वनस्पति है। इसका लैटिन नाम Dregia volubilis Benth. (Fam.–Asclepiadacea) है। इसे आदिवासी मारंग कोंगट कहते हैं तथा इस प्रदेश में यह लाखन के नाम से प्रसिद्ध है। मूर्वा के नाम पर इसे कुछ लोग लेते भी हैं।

परिचय

इसकी विस्तृत आरोही लता होती है। तना एक इंच व्यास का होता है। छाल कागयुक्त तथा जालीदार होती है जिसकी बाहरी त्वचा पर अनेक उभरे हुये बिन्दु होते हैं। पत्र–२·५–७ इंच लम्बे, लट्वाकार, लम्बाग्र, पत्रमूल-हृद्वत् या गोलाकार होते हैं। पुष्प–हरे रंग के, ·५–·६ इंच व्यास के, सघन नत १·५–२ इंच व्यास की उत्छत्र मञ्जरियों में होते हैं। पुष्पमञ्जरियां एक साथ अनेक, छोटी शाखाओं पर स्थित होती हैं। पुष्पवृन्त–१–३ इंच लम्बा होता है। फल–एकसेवनीक (फोलिकल), एकाकी या प्रायः युग्म, ३–४ इंच लम्बे तथा १–१·५ इंच मोटे, मूल से अग्रभाग की ओर क्रमशः पतले, किञ्चित् बोतलाकार, अग्रभाग गोलाकार होते हैं। फल सूखने पर उसके ऊपर झुर्रियाँ हो जाती हैं। बीज अभि-अण्डाकार, ·४७ इंच लम्बे तथा ·३ इंच चौड़े, किनारेदार या हलके सपक्ष होते हैं।

इसका निर्यास दुग्धवत् होता है किन्तु मूर्वा (Marsdenia tenacissima W. & A.) जैसा नहीं। इसके सूत्र दृढ़ होते हैं जिनसे रस्सियां बनाई जाती हैं। कच्चे फल का शाक बनता है।

शिग्रुद्वय

सुश्रुत ने शिग्रुद्वय का उल्लेख किया है (सु. क. ५।७३)। चरकसंहिता में भी शिग्रु और मधुशिग्रु इन दोनों का उल्लेख हुआ है। अनेक स्थलों पर ये दोनों साथ प्रयुक्त हुये हैं। कटुकस्कन्ध (च. वि. ८।१४२) में शिग्रु और मधुशिग्रु हैं तथा अगुर्वाद्य तैल के प्रकरण (च. चि. ३।२६७) में उष्णवीर्य द्रव्यों की सूची में शिग्रु और शोभाञ्जन हैं। अन्य स्थलों में भी ये दोनों साथ प्रयुक्त हुये हैं (देखें—च. सू. १४।३१–३२; च. चि. १७।९८–९९; च. चि. २६।६६–६७; सु. उ. ११।८–९)। इससे यह स्पष्ट है कि शोभाञ्जन शिग्रु का द्वितीय भेद है जो मधुशिग्रु भी कहा जाता है। आगे चल कर निघण्टुओं और कोषों में शिग्रु और शोभाञ्जन पर्यायवाची हो गये।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

चक्रपाणि ने एक स्थल (च. सू. १४।३१–३२) पर लिखा है—'पुनः शोभाञ्जनग्रहणाद् द्वितीयो विटपशोभाञ्जनो गृह्यते'। इससे प्रतीत होता है कि चक्रपाणि शिग्रु और शोभाञ्जन को पर्यायवाची मानते हुए भी शोभाञ्जन से विटपशोभाञ्जन (मधुशिग्रु) लेते थे।

शिग्रु और मधुशिग्रु दोनों के मूल, तना, पत्र, पुष्प और बीजों का प्रयोग विहित है। जहाँ बीजों का तात्पर्य है वह 'शिग्रूणि' शब्द आया है। अश्मरी-चिकित्सा (च. चि. २६।६६–६७) में एक श्लोक में शिग्रु के मूल का कल्क तथा दूसरे श्लोक में शोभाञ्जन के मूल का कल्क प्रयुक्त हुआ है। इससे दोनों के भेद तथा समान गुणधर्म का परिज्ञान होता है। वाग्भट ने मधुशिग्रु का विद्रधि में अच्छा प्रयोग बतलाया है :—

पानभोजनलेपेषु मधुशिग्रुः प्रयोजितः।
दत्तावापो यथादोषमपक्वं हन्ति विद्रधिम् ॥—अ. हृ. च. १३।१०

वानस्पतिक दृष्टि से शिग्रु Moringa oleifera Lam. तथा मधुशिग्रु M. concanensis Nimmo. है। मधुशिग्रु शिग्रु के समान ही होता है। इसके वृक्ष राजस्थान तथा पश्चिम भारत में होते हैं। इसके पुष्प गुलाबी पीले होते हैं। इस कारण कुछ लोग इसे रक्तशिग्रु भी कहते हैं।

शीतफल

यह सुश्रुतसंहिता में केवल एक ही बार फलवर्ग (सू. ४६।१६३) में निर्दिष्ट है[1]। डल्हण ने इसे रावणाम्लिका या काश्मीराम्लिका (एकीय मत से) कहा है। यह Adansonia digitata Linn. (गोरख इमली) प्रतीत होता है।

शीतवल्ली

शीतवल्ली चरकसंहिता के अगुर्वाद्य उष्णवीर्य द्रव्यों में पठित है (च. चि. ३।२६७)। चक्रपाणि ने इसका पाठ शीतपर्णी कर वृक्षकलम्बुका अर्थ किया है। 'वृक्षकलम्बुका' से क्या अभिप्राय है पता नहीं चलता किन्तु अनुमान होता है कि यह कलम्बुका (कलमी शाक) का भेद है जो वृक्ष पर चढ़नेवाली लता हो। यह Ipomoea eriocarpa R. Br. या I. maxima (Linn. f.) G. Don हो सकती है।

शीतशीव

इसका उल्लेख केवल सुश्रुतसंहिता में मिलता है। यह कटुवर्ग, रक्तप्रवर्त्तक, श्लेष्मसंशमन, प्रमेह, विसर्प तथा विषघ्न द्रव्यों में पठित है।

---

१. फलों के पृथक्-पृथक् गुणवर्णन के प्रकरण में अन्य फल तो हैं किन्तु शीतफल नहीं है। मेरी दृष्टि में, १६७ श्लोक शीतफल से ही संबद्ध है। इसका यथार्थ पाठ यह होना चाहिए—"अम्लोष्णं तु ग्राहि शीतफलं पित्ताग्निवर्धनम्।"

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

डल्हण ने इसका अर्थ कर्पूर या शतपुष्पाभेद किया है तथा एकीय मत से गवेधुका और शमी का उल्लेख किया है। इससे स्पष्ट है कि इस वनस्पति के स्वरूपनिर्धारण में वह नितान्त भ्रान्त थे।

श्लेष्मसंशमन वर्ग में शतपुष्पा के साथ शीतशिव पठित है। शीतशिव से द्वितीय शतपुष्पा (सोया) लेनी चाहिए। स्मरणीय है कि शतपुष्पा का उल्लेख मधुरस्कन्ध (च.) में हुआ है और शीतशीव का कटुवर्ग (सु.) में। अतः शतपुष्पा से मधुरिका (सौंफ) तथा शीतशिव से सोया लेना उचित है। धन्वन्तरिनिघण्टु में शीतशिव मिश्रेया का पर्याय है।

शुकतरु–शुकाह्वा

शुकतरु शिरीष का पर्याय है। इसके हरे-हरे सघन पत्तों के बीच सुग्गे छिप जाते हैं। शुकाह्वा शुकनासा है। इन शब्दों का प्रयोग चरक में नहीं है, शुकाह्वा तथा शुकनासा दोनों नामों से सुश्रुत और वाग्भट में मिलता है।

शुकनासा के निम्नांकित प्रयोग मिलते हैं :—

१. यह कटुकवर्ग में निर्दिष्ट है (सु. सू. ४२।११)। इससे स्पष्ट है कि इसका रस कटु है।

२. कफज व्रण में पत्रदान (सु. चि. १।११५)।

३. व्रणशोधन (सु. चि. २।९०)

४. नाड़ीव्रण (सु. चि. १७।३७)

५. कफज गलगण्ड में लेप (सु. चि. १८।४८)

६. श्लीपद में हितकर (सु. चि. १९।६३)

७. वामक (सु. क. ७।३४)

८. पाण्डु में (सु. उ. ४४।१९)

९. श्वास में (सु. उ. ५१।२३)

वाग्भट में—

१. काश्मर्यादिघृत में—वातिक योनिव्यापद् नाशक, गर्भस्थापन (उ. ३४।२८)

२. विषघ्न लेप (उ. ३५।४७)

इन सन्दर्भों से शुकनासा कटु, कफहर, वामक, व्रणशोधन, विषघ्न, तथा गलगण्ड, पाण्डु, श्वास, योनिव्यापद् में लाभकर है।

अब इसके स्वरूप पर विचार करना है। डल्हण ने शुकनासा की व्याख्या निम्नांकित रूप में की है :—

१. शुकनासा स्योनाकः (सू. ४२।११)

२. शुकनासा चर्मकारवटः 'कुप्यक' इति कान्यकुब्जे, चर्मकारजम्बूपलाशिका इति मालवीया वदन्ति—(चि. १।११५)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

३. शुकाख्या चर्मकारवटः—(चि. २।६०)
४. शुकनसा चर्मकारवटः—(चि. १७।३७)
५. शुकाह्वया चर्मकारवटः—(चि. १८।४८)
६. शुकनसा चर्मकारवटः—(चि. १९।६३)
७. शुकाख्या चर्मकारवटः, अन्ये शुकशिम्बामाहुः—(उ. ४४।१९)
८. शुकाख्या चर्मकारवटः, शुकशिम्बामपरे—(उ. ५१।२३)

इस प्रकार डल्हण ने शुकनासा से निम्नांकित तीन द्रव्यों का ग्रहण किया है :—

१. स्योनाक
२. चर्मकारवट
३. शुकशिम्बा

स्योनाक तो इससे भिन्न तथा प्रसिद्ध द्रव्य है अतः यहाँ पर इस संदर्भ में चर्मकारवट और शुकशिम्बा का विचार करना है। डल्हण का झुकाव चर्मकारवट की ओर ही था।

चर्मकारवट

इसका परिचय देते हुए डल्हण ने लिखा कि इसे काव्यकुब्ज में 'कुप्यक' और मालवा में चर्मकारजम्बूपलाशिका कहते हैं। सुश्रुत ने एक चर्मवृक्ष का भी प्रयोग किया है (चि. ११।१०; क. ५।४६)। इसका प्रयोग प्रमेह तथा सर्पविष में हुआ है। डल्हण ने इसका परिचय देते हुए लिखा है :—

१. चर्मवृक्षः 'चर्मलोह' इति प्रसिद्धो लकुचद्रुमाकारो महावृक्षः—
(सु. चि. ११।१०)

२. चर्मवृक्षः पूर्वदेशे नौवृक्षः—(सु. क. ५।४६)

चर्मकारवट तथा चर्मवृक्ष एक ही है।

इसका प्रसिद्ध नाम चर्मलोह (चमरोर) है जिसका वृक्ष लकुच (बड़हल) के समान होता है तथा जिसकी लकड़ियों से पूर्वदेश में नावें बनती हैं। चमरोर के अतिरिक्त इसका एक और लोकप्रसिद्ध नाम 'दन्तरंगा' है क्योंकि इसकी छाल के चबाने से दाँत लाल रंग जाते हैं। इसका लैटिन नाम Ehretia laevis var. pubescens (Fam.–Boraginaceae) है। (देखें चर्मवृक्ष)। यह भी एक भिन्न द्रव्य है।

शुकनासा वस्तुतः शुकशिम्बा है जिसमें फल शुकनासा की तरह लाल मिर्चे के समान लगते हैं और जो कन्दयुक्त है अतः इसे मिर्चिया कन्द या कीरकन्द भी कहते हैं। कड़वी होने से कटुनाही भी कहलाती है। वाग्भट ने इसे 'नहिका' कहा है (अ. हृ. उ. ३०।१८)। इसका लैटिन नाम Corallocarpus epigaeus Benth. ex Hook. f. है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

शुकनासा (Corallocarpus epigaeus) कोशातकी-कुल (Cucurbitceae) की वनस्पति है। इसकी आरोहिणी लता होती है। पत्र-२ इञ्च व्यास के, प्रायः अखण्ड ३-५ कोणीय या ३-५ खण्डयुक्त, रोमश, १ इञ्च लम्बे पत्रवृन्त पर लगे होते हैं। पुंपुष्पदण्ड १½-२ इञ्च तथा स्त्रीपुष्पदण्ड ¼-½ इञ्च लम्बा (कभी-कभी १ इञ्च तक) होता है। फल-लाल रंग के, ⅜ इञ्च लम्बे, ¼ इञ्च लम्बे चंचु से युक्त, लाल मिर्चा या शुकनासा के सदृश होते हैं। बीज-प्रत्येक फल में लगभग ६, अण्डाकार, चौड़ाई से अधिक लम्बे होते हैं। इसका कन्द पीताभ श्वेत, बाहर वृत्ताकार चिह्नों से युक्त, तिक्त एवं किञ्चित् अम्ल होता है। यह पंजाब, गुजरात, मध्यप्रदेश तथा दक्षिण भारत में होता है।

शुक्ला-क्षीरशुक्ला

शुक्ला चरकसंहिता के मधुरस्कन्ध में क्षीरशुक्ला के साथ है। शुक्ला केवल यहीं पठित है। क्षीरशुक्ला इसके अतिरिक्त, रसायन (काकोली-क्षीरकाकोली के साथ), अगद, विरेचनकल्प (काकोली-क्षीरकाकोली के साथ) में पठित है।

शुक्ला का अर्थ चक्रपाणि शर्करा करते हैं जो हास्यास्पद है। क्षीरशुक्ला का अर्थ वह बृहच्छृङ्गाटिका, विदारी या क्षीरविदारी तथा डल्हण क्षीरविदारी करते हैं। कुछ लोग इससे क्षीरकाकोली भी लेते हैं। क्षीरकाकोली के साथ उपर्युक्त सन्दर्भों में तथा मधुरस्कन्ध में पठित होने के कारण क्षीरशुक्ला इससे भिन्न है। इसी प्रकार यह मधुरस्कन्ध में ही विदारी-क्षीरविदारी के साथ पठित है अतः उनसे भी भिन्न है। एक सन्दर्भ में (च. क. ७।१९) जहाँ काकोली-क्षीरकाकोली, जीवक-ऋषभक आदि अनेक द्रव्ययुग्म पठित हैं वहीं क्षीरशुक्ला और पयस्या एक साथ आये हैं। सुश्रुत में भी कर्णपालीवर्धन तैल में दोनों का निर्देश है।

अतः मेरे विचार से, शुक्ला से पयस्या तथा क्षीरशुक्ला से पयस्याभेद लेना चाहिए। संभवतः पयस्या इन्हीं पर्यायों से मधुरस्कन्ध में परिगणित है।

शृङ्गाटिका-शृङ्गाटी

चरक में शृङ्गाटिका पिच्छिल द्रव्यों के साथ (च. वि. ८।१३५) तथा मधुरस्कन्ध में पठित है। सुश्रुत ने इस (शृङ्गाटी) का प्रयोग शूल में किया है (सु. उ. ४२।७७)।

चक्रपाणि ने इस पर कुछ नहीं लिखा। डल्हण इससे सिंघाड़ा (जलजं द्रव्यं त्रिकण्टकफलम्) लेते हैं।

ठा० बलवन्त सिंह इससे मेषशृङ्गी-अजशृङ्गी के सदृश शृङ्गाकार फलयुक्त वनस्पति लेना चाहते हैं किन्तु मेरे विचार से शृङ्गाटक की आकृतिवाली कोई वनस्पति अधिक उपयुक्त होगी क्योंकि 'शृगाटिका' का अर्थ 'छोटा शृङ्गाटक है,

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

'शृङ्गी' अर्थ उससे नहीं निकलता; इसे ह्रस्व शृङ्गाटक भी कह सकते हैं। चक्रपाणि ने क्षीरशुक्ला को बृहच्छृङ्गाटिका कहा है। बृहच्छृङ्गाटिका और शृङ्गाटक एक ही है।

शृङ्गाटिका से, आकृति एवं गुणधर्म के अनुसार, Pedalium murex Linn. का ग्रहण करना चाहिए। इसके फल की आकृति शृङ्गाटकवत् होने से शृङ्गाटिका संज्ञा सार्थक है। इसके क्षुप से पिच्छिल द्रव्य (लुआब) भी निकलता है।

इसका मांसल क्षुप किञ्चित् दुर्गन्धयुक्त पिच्छिल ग्रन्थियों से युक्त होता है। पत्र–लट्वाकार या लट्वाकार–आयताकार; पुष्प–चमकीले पीले, एकल, अक्षीय होते हैं। फल–चतुष्कोणीय कण्टकित; बीज आयताकार काले होते हैं। यह दक्षिण भारत में समुद्रतटवर्त्ती प्रदेशों में, दिल्ली, राजस्थान तथा पञ्जाब में पाया जाता है।

श्रावणीद्वय–अलम्बुषा–कुलहल

'मुण्डी' या 'मुण्डीतिका' शब्द बृहत्त्रयी में नहीं है। 'अलम्बुषा' केवल अष्टाँग-हृदय (चि. ८।१२) में है। यहाँ अर्शचिकित्सा में पुरीष तथा मूत्र का प्रतीघात होने पर वरुण, अलम्बुषा, एरण्ड, गोक्षुर तथा पुनर्नवा के उष्ण क्वाथ से परिषेक-अवगाहन करने का विधान है। संहिता के टीकाकारों ने 'अलम्बुषा का प्रयोग कतिपय संदर्भों में किया है जिससे उसके परिचय का संकेत मिलता है।

चक्रपाणि ने महाश्रावणी को अलम्बुषा कहा है[1]। एक स्थल पर 'अलम्बुषा स्थूलफला' लिखा है[2]। महाश्रावणी को 'बृहत् मुण्डितिका' भी कहा है[3]। 'श्रावणी' से मुण्डितिका (मुण्डी) का ग्रहण किया है[4]। इससे स्पष्ट है कि चक्रपाणि श्रावणी और महाश्रावणी से क्रमशः मुण्डितिका (मुण्डी) तथा अलम्बुषा (बृहत् मुण्डितिका) का ग्रहण करते हैं। 'स्थूलफला' विशेषण से यह भी स्पष्ट है कि मुण्डी की लघु और बृहत् जातियों का भेद फल की आकृति के आधार पर किया गया है। बड़े फलवाली को अलम्बुषा (बृहत् मुण्डितिका) और छोटे फलवाली को मुण्डितिका कहते हैं।

डल्हण ने दिव्य ओषधियों के प्रकरण में पठित श्रावणी-महाश्रावणी की व्याख्या में कुछ नहीं कहा। श्रवणाह्वया (सु. सू. ३७।२७) को मुण्डितिका लिखा है। श्रवणाह्वया के समान 'कदम्बपुष्पी' का भी उल्लेख सुश्रुतसंहिता में ही हुआ है। प्रथम सन्दर्भ की व्याख्या में डल्हण लिखते हैं—''कदम्बपुष्पी अलम्बुषा है जिसे लोग मुण्डी कहते हैं।'' और द्वितीय सन्दर्भ में इससे भूमिकदम्ब लेते हैं तथा एकीय

१. च. वि. ८।१३९, चि. १।४।६
२. च. चि. ३।२५९
३. च. चि. २८।१६०
४. च. चि. १।१६२, ५५।२९

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

मत से अलम्बुषा का उल्लेख है[1]। इससे पता चलता है कि वह अलम्बुषा से मुण्डी का ग्रहण करते हैं किन्तु एक स्थल पर (सु. चि. २।६०) वह भूमिकदम्ब से मुण्डितिका का ग्रहण करते हैं। इस प्रकार अलम्बुषा, भूमिकदम्ब और मुण्डितिका एक हो जाते हैं। 'महीकदम्ब' की व्याख्या में भी अलम्बुषा से मुण्डितिका लिया है तथा जेज्जटाचार्य के मत में भूकदम्ब का उल्लेख किया है[2]।

इन सन्दर्भों से निम्नांकित तथ्य निकलते हैं :—

१. सुश्रुत ने 'मुण्डितिका' शब्द का प्रयोग नहीं किया, उसके लिए 'श्रवणाह्वया', 'कदम्बपुष्पी', महीकदम्ब, भूमिकदम्ब, शब्दों का प्रयोग किया है जो अन्य संहिताओं में नहीं मिलते।

२. श्रावणी–महाश्रावणी जैसी दिव्य औषधियों को इस विवाद से परे रख कर 'श्रवणाह्वया' नवीन पद का प्रयोग किया।

३. अलम्बुषा मुण्डी तथा भूमिकदम्ब उसीका भेद बृहत् मुण्डितिका हो सकता है। निघण्टुओं में भी बृहत मुण्डी के लिए कदम्बपुष्पी, भूमिकदम्ब पर्याय आये हैं[3]।

यद्यपि सुश्रुत ने मुण्डी के लिए एक नया शाक 'श्रवणाह्वया' निर्धारित किया तथापि परवर्त्ती निघण्टुकारों ने इसके साथ-साथ श्रावणी और महाश्रावणी पर्याय भी दिये हैं। इसका एक कारण तो यह हो सकता है कि 'श्रवणाह्वया' और 'श्रावणी' में भेद न समझ कर उन्हें पर्यायवाची मान लिया और दूसरा यह कि मुण्डी की दोनों जातियों के लिए श्रावणी के साथ महाश्रावणी शब्द भी उन्हें मिल गया जो 'श्रवणाह्वया' में नहीं था। वस्तुतः 'श्रवणाह्वया' में 'श्रवण' शब्द 'श्रुति' का बोधक है जो वेद, ब्रह्म एवं तपश्चर्या से संबद्ध है। इसी आधार पर मुण्डी के 'तपोधना' 'भिक्षु' आदि पर्याय बने हैं। 'श्रवणाह्वय' (सु. चि. ३१।५) में भी यही 'श्रवण' पद है जिसके आधार पर उसका अर्थ तापसवृक्ष (इंगुदी) किया गया है। इसके विपरीत, 'श्रावणी' शब्द श्रवण नक्षत्र या श्रावण मास से संबद्ध प्रतीत होता है। श्रवणाह्वया (तपोधना) शब्द उस वनस्पति के देश एवं काल का भी द्योतक है। मुण्डी आदि उष्ण प्रदेश में होती है। इंगुदी में भी यही बात है जबकि 'श्रावणी' इसके विपरीत रूक्ष शीत देश का संकेत करता है। दोनों के स्वरूप में

---

१. कदम्बपुष्पी अलम्बुषा मुण्डितिकेति लोके प्रसिद्धा। (सु. चि. १९।६३)
कदम्बपुष्पी भूमिकदम्बः, अलम्बुषामपरे। (सु. उ. ४४।१९)

२. महीकदम्बः मुण्डितिका। (सु. उ. ४१।४७)
महीकदम्बः अलम्बुषा मुण्डितिकेति लोके, जेज्जटाचार्यो भूकदम्बमाह।
(सु. चि. १७।१५)

३. देखें ध. नि., रा. नि., भा. प्र. आदि।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

भी अन्तर है। श्रावणीद्वय क्षीरिणी वनस्पतियाँ हैं[1] जबकि मुण्डी में क्षीर नहीं निकलता। इसके कारण इन दोनों में रस और वीर्य का भी अन्तर आ जाता है। आमयिक प्रयोगों में भी भिन्नता दृष्टिगत होती है—श्रावणीद्वय मधुर, शीतवीर्य रसायन, वाजीकरण, गर्भस्थापन तथा वातपैत्तिक रोगों में प्रयुक्त होते हैं[2] जबकि मुण्डी कटुतिक्त, उष्णवीर्य तथा रक्तशोधक है[3]।

तालिका

	श्रावणीद्वय	मुण्डी
१. देश	शीत	उष्ण
२. स्वरूप	क्षीरिणी	क्षीररहित
३. रस	मधुर	कटुतिक्त
४. वीर्य	शीत	उष्ण
५. कर्म	रसायन, वृष्य, गर्भस्थापन	रक्तशोधक

कुलहल या कुलाहल का पाठ सुश्रुत ने सुरसादि गण (सू. ३८।१७) तथा शाकवर्ग (सू. ४६।२२१) में किया है जिसमें अधिकांश गन्धयुक्त उष्णवीर्य द्रव्यों का समावेश है। चरक में यह नहीं मिलता। वाग्भट (सू. १५।३०) ने एक स्थल पर सुरसादि गण में इसका उल्लेख किया है। इससे इसका अल्प प्रचार सूचित होता है। सुश्रुत ने इसे मुण्डिका या मुण्डितिका लिखा है। धन्वन्तरिनिघण्टु तथा राजनिघण्टु में यह नहीं है। पर्यायरत्नमाला में कुलाहल मूकदम्ब का पर्याय दिया है। हृदयदीपकनिघण्टु में भी ऐसा ही है। कैयदेवनिघण्टु में यह मुण्डी (अलम्बुषा) का पर्याय है। भावप्रकाश में यह नहीं मिलता। सुश्रुतोक्त वर्णन के आधार पर कुलाहल कुकरौंधा (Blumea lacera Dc.) का प्राचीन नाम हो सकता है।

सारांश

१. श्रावणी-महाश्रावणी प्रायः अन्य दिव्य ओषधियों के समान हिमालय में होने वाली वनस्पतियाँ हैं जिनकी खोज होनी चाहिए।

---

१. श्रावणी महती ज्ञेया कनकाभा पयस्विनी।
श्रावणी पाण्डुराभासा महाश्रावणिलक्षणा॥ (सु. चि. ३०।२२)

२. च. वि. ८।१३९ (मधुरस्कन्ध), चि. १।४।६ (दिव्यरसायन), चि. २।२।२१ (वृष्य), चि. ३।२५९ (शीतवीर्य), चि. ११।४६ (क्षतक्षीण), चि. १८।१०१ (पित्तकास), चि. २९।५५ (वातरक्त), चि. क. ७।१८ (वातपित्त), सि. ३।५३ (पित्तहर बस्ति), सि. ४।९ (वातपित्तहर बस्ति)
अ. हृ. उ. ३४।४३

३. मुण्डिका कटुतिक्ता स्यादनिलास्रविनाशिनी। (ध. नि.)
महामुण्ड्युष्णतिक्ता च ईषद्गौल्या मरुच्छिदा। (रा. नि.)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

२. 'अलम्बुषा' का उल्लेख चरक-सुश्रुत में नहीं है, वाग्भट ने उसका प्रयोग किया है।

३. मुण्डितिका के लिए सुश्रुत ने श्रवणाह्वया, कदम्बपुष्पी, भूमिकदम्ब, महीकदम्ब पदों का प्रयोग किया है।

४. अलम्बुषा मुण्डी[1] तथा भूमिकदम्ब बृहत् मुण्डी हो सकता है।

५. कुल(ला)हल से कुकरौंधा[1] का ग्रहण किया जा सकता है।

श्वेता–महाश्वेता

चरक ने श्वेता–महाश्वेता का पाठ शिरोविरेचनोपग गण में किया है और सुश्रुत ने अर्कादि गण में। वाग्भट ने श्वेतायुग्म करके इसका उल्लेख किया है। सुश्रुत (क. ६।१२) में भी श्वेताद्वय का उल्लेख है। डल्हण ने इसका अर्थ श्वेता–महाश्वेता किया है।

श्वेता का प्रयोग अधिक है। चरक में शिरोविरेचनार्थ मूलिनी ओषधियों में इसकी गणना है। वयःस्थापन गण में भी श्वेता है। शिरोविरेचनार्थ इसके धूमपान का भी विधान है। श्वेता उष्णवीर्य द्रव्यों में परिगणित है। इसके अतिरिक्त, उन्माद, अपस्मार और विष की चिकित्सा में इसका प्रयोग है। महाश्वेता का पाठ शिरोविरोचनोपग गण के अतिरिक्त शिरोरोग में वातघ्न प्रयोग में है।

सुश्रुत में ऊर्ध्वभागहर गण में श्वेता है। इसके अतिरिक्त, कुमारलेह, मुखरोग, विष, प्रतिश्याय में इसका प्रयोग है। महाश्वेता का उल्लेख एक ही बार अर्कादि गण में है।

वाग्भट में महाश्वेता का प्रयोग बालग्रह में धूपार्थ है। श्वेता के पूर्वोक्त प्रयोग ही हैं।

चक्रपाणि ने इसकी निम्नांकित व्याख्या की है :—

१. श्वेता अपराजिता, महाश्वेता तद्भेदः कटभी वा—च. सू. ४।२७

२. श्वेता श्वेतापराजिता श्वेतस्यन्दा—च चि. १०।४२

डल्हण ने अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किये हैं :—

१. क्षुद्रश्वेता श्वेतस्यन्दा श्वेतपुष्पा 'सेफन्द' इति लोके—
महाश्वेता नीलपुष्पः सेफन्दः, वन्ध्याकर्कोटिका इत्यन्ये—सु. सू. ३८।१६

२. श्वेता श्वेतस्यन्दा—सु. चि. २३।६३
,, —सु. क. १।५४

३. सश्वेतं वचासहितम्—सु. क. १।६५

---

१. वर्णन द्वितीय भाग में देखें।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

४. श्वेता गिरिह्वा श्वेतस्यन्दा—सु. क. ५।७५
श्वेता श्वेतस्यन्दः— ,, ५।७६
५. श्वेते द्वे इति श्वेता महाश्वेता च कटभीद्वयमित्यर्थः—सु. क. ६।१२
६. श्वेतां श्वेतस्यन्दां—सु. क. ७।२४
७. अन्ये श्वेतां कटभीमाहुः—सु. क. ७।५२

चक्रपाणि और डल्हण दोनों के मन्तव्यों को देखने से स्पष्ट होता है कि श्वेता अपराजिता है तथा महाश्वेता कटभी है। वस्तुतः 'श्वेता' 'श्वेताद्रिकर्णिका' का संक्षिप्त रूप है। यह ध्यान देने की बात है कि बृहत्त्रयी में अपराजिता शब्द नहीं है, इसके लिए गिरिकर्णिका या अद्रिकर्णिका शब्द प्रयुक्त हुआ है। 'गिरिकर्णिका' भी चरक में एक ही बार आया है। इस द्रव्य के लिए श्वेता शब्द ही उस समय प्रचलित था। मानसरोगहर, विषघ्न, शिरोविरेचन आदि उसके कर्म भी हैं।

चरकसंहिता (सू. क. अध्याय २) में शिरोविरेचन द्रव्यों की सूची में श्वेता तो आया किन्तु 'महाश्वेता' न देकर अन्य अनेक द्रव्य दिये गये हैं। 'शिरीष' शब्द का अर्थ वहाँ श्वेत शिरीष है। सुश्रुत (सू. ३९।५) ने 'गिरिकर्णिका–किणिही' का शिरोविरेचन गण में पाठ कर 'श्वेता–महाश्वेता' को स्पष्ट कर दिया है।

इस प्रकार श्वेता–महाश्वेता का निर्णय निम्नांकित है :—

१. श्वेता—Clitoria ternatea Linn.

२. महाश्वेता—Albizzia procera (Roxb.) Benth. (देखें कटभी और गिरिकर्णिका)।

संवर्त्तक

केवल चरक ने इसका उल्लेख चन्दनाद्य शीतवीर्य द्रव्यों में किया है (च. चि ५।२५८)। चक्रपाणि ने इसका अर्थ बिभीतक उष्णवीर्य होने से शीतवीर्य संवर्तक से तादात्म्य कैसे स्थापित कर सकेगा ? अतः इस सम्बन्ध में और खोज की आवश्यकता है।

संहर्षा

चरकसंहिता के मधुरस्कन्ध में इसका पाठ है। चक्रपाणि ने इसका अर्थ बन्दाक किया है।

धन्वन्तरिनिघण्टु ने जन्तुकारी के पर्यायों में संहर्षा दिया है। तरुवल्ली, वृक्षरुहा, कपिकच्छूफलोपमा, रञ्जनी आदि इसके अन्य पर्याय हैं। इनसे पता चलता है कि यह भी कोई बन्दाक ही है जिसके फल कपिकच्छू के समान होते हैं। इसी कारण चक्रपाणि ने इसे बन्दाक कहा है। किन्तु जन्तुकारी के गुण-कर्मों से संहर्षा की समानता नहीं है क्योंकि संहर्षा मधुरस्कन्ध की है और नाम से यह कोई वाजीकरण ओषधि प्रतीत होती है (सम्यक् हर्षो यया सा संहर्षा)। जबकि जन्तुकारी तिक्त और

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

रक्तशोधक है। बन्दाक वृष्य-रसायन है।

मेरे विचार से संहर्षा उच्चटा हो सकती है। बन्दाक (Loranthus sp.) या कपिकच्छू का कोई भेद (Mucuna sp.) होने की सम्भावना पर भी विचार किया जा सकता है।

सप्तला-शंखिनी

सप्तला (सातला) और शंखिनी का संयुक्त अध्याय चरकसंहिता के कल्पस्थान (अ. ११) में है। यहाँ सप्तला के चर्मसाह्वा और बहुफेनरसा तथा शंखिनी के तिक्तला, यवतिक्ता और अक्षिपीडक पर्याय दिये गये हैं। चरक के भेदनीय महाकषाय में केवल शंखिनी है। सप्तला की गणना मूलिनी में की गई है जबकि शंखिनी फलिनी में है। कल्पस्थान में भी शंखिनी के फल तथा सप्तला के मूल लेने का विधान है। प्रयोगों में प्रायः सप्तला और शंखिनी दोनों साथ-साथ हैं, कुछ योगों में केवल शंखिनी या सप्तला एकाकी है। शंखिनी फलासवयोनि द्रव्यों में भी परिगणित है। शंखिनी के पल्लवों का शाक उदररोग में विहित है। शंखिनी का प्रयोग वृश्चिकविष में विशेषरूप से है।

सुश्रुतसंहिता में शंखिनी शोधन कषाय में पठित है। श्यामादि गण में सप्तला शंखिनी दोनों हैं। अधोभागहर तथा उभयतोभागहर दोनों गणों में भी ये दोनों हैं। शंखिनी अकेले तिक्तवर्ग में पठित है। इन दोनों के तैल तिक्त-कटु-कषाय अधोभागदोषहर, कृमिकफकुष्ठवातहर तथा दुष्टव्रणशोधन कहे गये हैं। शंखिनी बीज की मसी (भस्म) नाडीव्रण में लाभकर है। सप्तला और शंखिनी के (पंचांग) स्वरस से सिद्ध तैल अपतानक में परिषेकार्थ प्रयुक्त है।

उपर्युक्त उद्धरणों से निम्नांकित तथ्य प्रस्तुत होते हैं :—

१. दन्ती-द्रवन्ती के समान सप्तला-शंखिनी का संयुक्त अध्याय में वर्णन इंगित करता है दन्ती-द्रवन्ती के समान ये भी सजातीय द्रव्य हैं।

२. सप्तला के मूल तथा दोनों के पञ्चाङ्गस्वरस का प्रयोग होने से ये दोनों क्षुप जाति की वनस्पतियाँ हैं।

३. सप्तला का मूल तथा शंखिनी के फल (बीज) प्रयोज्य अंग हैं।

४. सप्तला और शंखिनी दोनों भेदनीय तथा उभयतोभागहर हैं।

दृढबल ने इन द्रव्यों के जो पर्याय दिये हैं उनसे इनके परिचय के सम्बन्ध में भ्रान्ति उत्पन्न हुई है।

चक्रपाणि ने शंखिनी को श्वेतबुह्ना (च. सू. १।८१) तथा श्वेतभल्लातकी (च. चि. १३।१२४) कहा है। सप्तला से चर्मकषा लिया है (च. सू. १।७७)।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

डल्हण ने शंखिनी के निम्नांकित अर्थ किये हैं :—

१. यवतिक्ता

२. यवतिक्ताभेद (सुदुग्धा बृहत्पत्रा)

३. श्वेतश्रीफलिका

४. सप्तलाभेद

यवतिक्ताभेद का विशेष उल्लेख है। एकीय मत से श्वेतबुध्ना का निर्देश किया है।

सप्तलिका से यवतिक्ता लिया है। काञ्चनक्षीरी के प्रसंग में भी पीतदुग्धा बृहत्पत्री यवतिक्ता का उल्लेख किया है।

सप्तला से निम्नांकित द्रव्य लिये जाते रहे हैं :—

१. शिकाकाई—Acacia concinna Dc.

(चर्मकषा, बहुफेनरसा पर्यायों के आधार पर)

२. Euphorbia royleana Boiss.

(सप्तधार सेंहुड़, सप्तला नामानुसार)

३. तितली—Euphorbia dracunculoides Lam.

(नाम एवं कर्मानुसार)

४. चोपालो—Euphorbia pilosa Linn.

(नाम एवं कर्मानुसार)

अन्तिम द्रव्य (E. Pilosa Linn.), जो पारंपरिक प्रयोग के आधार पर डा. मायाराम उनियाल द्वारा प्रस्तुत किया गया है, को सप्तला के रूप में स्वीकार करना चाहिए। इसमें सप्तला के गुण-धर्म मिलते हैं तथा चौपालो नाम भी कुछ सप्तला से मिलता जुलता है।

तितली (Euphorbia dracunculoides Lam.) को शंखिनी के रूप में लेना चाहिए। इसके बीजों का प्रयोग होता है। यही यवतिक्ता है, सप्तला यवतिक्ताभेद है।

अपराजिता (Clitorea ternatea) को दक्षिण भारत में शंखपुष्पी मानते हैं अतः उनके अनुरोध की रक्षा के लिए कुछ लोग शंखिनी नाम अपराजिता को देना चाहते हैं किन्तु अपराजिता में शंखिनी के गुण-धर्म नहीं मिलते अतः उसे स्वीकार नहीं किया जा सकता।

डल्हण ने सप्तला-शंखिनी का सम्बन्ध यवतिक्ता से जोड़ा है किन्तु इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखना चाहिए कि सुश्रुत में यवतिक्तातैल का वर्णन सप्तला-शंखिनी से पृथक् किया गया है उसके गुणधर्म भी भिन्न हैं। (सु. सु. ४५।१२४–१२५) अतः यवतिक्ता इनसे भिन्न द्रव्य है (देखें यवतिक्ता)।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

सर्पलोचना-सर्पाक्षी

सर्पाक्षी चरक में नहीं है। सुश्रुत ने इसका प्रयोग विष-चिकित्सा में किया है। वाग्भट ने 'सर्पलोचना' नाम से दिया है। सर्पलोचना और सर्पाक्षी एक ही है।

डल्हण ने एक स्थल (सु. क. ६।२२) पर इसे 'रक्तपुष्पा पूर्वदेशे प्रसिद्धा' और दूसरे स्थल (सु. क. ८।११७) पर लोहितपुष्पा शंखपुष्पीभेदः कहा। अरुणदत्त ने कोई टिप्पणी नहीं की किन्तु नाकुलीद्वय में वह सर्पाक्षी और सर्पसुगन्धा को लेते हैं।

निघण्टुओं में यह शंखपुष्पी का रक्तभेद माना गया है जिसका संकेत डल्हण ने भी किया है।

सुश्रुत में यह गन्धनाकुली के साथ पठित है अतः नाकुली का सन्देह हो सकता है किन्तु वाग्भट में सर्पलोचना और नाकुली साथ-साथ पृथक् पठित होने से एक नहीं हो सकती।

ठा० बलवन्त सिंह रक्त शंखपुष्पीभेद (Convolvulus sp.), polygonum plebejum R. Br. तथा Ophiorrhiza mungos Linn. इन तीन वनस्पतियों की ओर निर्देश करते हैं। उनका झुकाव दूसरे द्रव्य की ओर है। वैद्य बापालाल जी तीसरे द्रव्य को प्रमुखता देते हैं। किन्तु Ophiorrhiza mungos के पुष्प श्वेत होते हैं, रक्त नहीं अतः डल्हण या निघण्टुओं द्वारा निर्दिष्ट वनस्पति भिन्न ही प्रतीत होती है। येह रक्तपुष्पा शंखपुष्पी कोई Convolvulus sp. हो सकती है। 'रक्तपुष्पा पूर्वदेशे प्रसिद्धा' से Rauwolfia की ओर भी उनका संकेत हो सकता है।

सर्पाक्षी से Ophiorrhiza mungos का ग्रहण करना अधिक उपयुक्त है। यद्यपि यह श्वेतपुष्पा है तथापि सर्पाक्षी के गुणधर्म इसमें मिलते हैं। विषघ्न होने के कारण इसे Mongoose plant कहते भी हैं।

Ophiorrhiza mungos का पौधा १½-२ फीट इञ्च होता है। पत्र-अण्डाकार-भालाकार, लम्बाग्र, पुष्प-श्वेत, प्रायः उत्छत्र मंजरियों में होते हैं। फल-चपटा, चर्मवत् होता है जिसमें अनेक, हलके भूरे रंग के, कोणीय बीज होते हैं। मूल अत्यन्त तिक्त होता है। यह आसाम, पश्चिमी घाट, केरल, अन्दमान निकोबार द्वीपों में होता है।

सुवर्ण-हेमांग

चरकसंहिता में सौवर्णी त्वक्, सुश्रुतसंहिता में हेमांगत्वक्, सुश्रुतसंहिता तथा अष्टांगहृदय में सुवर्णत्वक् है। चरकसंहिता के कुष्ठचिकित्सा-प्रकरण में निर्दिष्ट

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कनकबिन्द्वरिष्ट में सौवर्णीत्वक् एक घटक द्रव्य है। सुश्रुतसंहिता तथा अष्टांगहृदय में यह त्वक् धूमपान में विहित है।

चक्रपाणि इससे दारुहरिद्रा तथा योगीन्द्रनाथ सेन आरग्वध लेते हैं। डल्हण तथा अरुणदत्त ने इस पर कोई टिप्पणी नहीं की।

'कनकबिन्द्वरिष्ट' नाम से भी इसके परिचय का संकेत प्राप्त होता है। इससे पूर्व पठित मध्वासव में भी 'कनक' है। इसका अर्थ नागकेशर किया है। अतः कनकबिन्द्वरिष्ट में तथा अन्य सन्दर्भों में भी सुवर्ण या हेमांग नागकेशर का ही बोधक है। इन सन्दर्भों में उसकी त्वचा का विधान है।

सुषवी–पानीयवल्ली

चरकसंहिता में सुषवी का उल्लेख तिक्तस्कन्ध में तथा अन्यत्र भी तिक्त द्रव्यों के साथ हुआ है। सुश्रुत में यह आरग्वधादि गण में पठित है।

चक्रपाणि सुषवी का अर्थ कारवेल्लक करते हैं। डल्हण इससे दो स्थलों (सु. चि. ५।७, १२) पर पानीयवल्ली तथा एक स्थल पर कारवेल्लक लेते हैं किन्तु वहाँ भी एकीय मत से पानीयवल्ली का उल्लेख करते हैं। इससे उनका झुकाव पानीयवल्ली की ओर है यह स्पष्ट है।

चरक के तिक्तस्कन्ध में सुषवी कारवेल्लिका के साथ तथा सुश्रुत के वातव्याधि-प्रकरण (चि. ५।१२) में कारवेल्लक से पृथक् पठित होने के कारण कारवेल्लक से भिन्न है। इसी कारण इस प्रकरण में डल्हण ने इसका अर्थ पानीयवल्ली किया है।

पानीयवल्ली का अर्थ है जिसकी लता में जल रहता हो। ऐसी निम्नांकित तीन प्रमुख लतायें हैं:—

१. Delima scandens Burkill. (पानीलेवा)

इसकी सदाहरित वल्ली बंगाल, आसाम तथा अण्डमान द्वीपों में होती है। इसके पत्तों पर कठिन रोम होते हैं तथा पुष्प पीतवर्ण एवं सुगन्धित होते हैं।

२. Uncaria sessilifructus Roxb. (बरखिया लता)

इसकी आरोहिणी लता उत्तरी बंगाल, आसाम तथा पूर्वोत्तर आन्ध्र प्रदेश में होती है।

३. Vitis latifolia Roxb. (पानी बेल)

इसकी आरोहिणी लता प्रायः समस्त भारत में पाई जाती है।

V. latifolia. को पानीयवल्ली मानना चाहिए।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

सूर्यवल्ली–आदित्यवल्ली

सुश्रुत ने स्नेह-प्रकरण में तथा विषघ्न योग में सूर्यवल्ली का उल्लेख किया है। इसका तैल मधुर, शीत, मूत्रल तथा वातपित्तशामक कहा गया है (सु. सू. ४५।१२०)। इसका स्नेह शिरोविरेचनार्थ प्रयुक्त है (सु. चि. ३१।५)। चरक ने महानील घृत (च. चि. २६।२६८) में जो आदित्यवल्ली का पाठ किया है वह सूर्यवल्ली का ही नामान्तर है।

चक्रपाणि ने 'आदित्यपर्णी' पाठ मान कर सूर्यावर्त्त अर्थ किया है। डल्हण ने इससे पटोलसदृशपत्र वल्ली का ग्रहण किया है जिसके पत्रस्वरस से मांस गल जाता है। एक स्थल पर इससे अर्कपुष्पी लिया है। इसके अतिरिक्त, एकीय मत से सूर्यावर्त्त और सूर्यावर्त्तभेद का उल्लेख किया है।

यह कोशातकी-कुल की कोई लता प्रतीत होती है।

सैरेयकभेद

सैरेयक और सहचर पर्याय हैं। खेतों में खर-पतवार के रूप में होने के कारण सैरेयक तथा झुण्ड में होने के कारण सहचर संज्ञा सार्थक है।

चरकसंहिता में 'सहचर' शब्द का ही प्रयोग है। 'सैरेयक' एक स्थल (सू. १४।३१) पर है किन्तु पाठान्तर होने के कारण सन्दिग्ध है। दृढबलकृत अंश (च. चि. २६।२६६) में कृष्णसैरेयक है। इससे पता चलता है कि 'सैरेयक' शब्द चरकोत्तर काल में प्रचलित हुआ तथा सैरेयक के भेद भी उसी समय प्रचलित हुए। 'कुरण्टक' शब्द भी दृढबलकृत्र अंश (च. चि. २१।२७) में मिलता है। कुरण्टक पीत सैरेयक को कहते हैं। इस प्रकार पीत सैरेयक का अस्तित्व दृढबल काल में ज्ञात होता है। बाण और कुरबक शब्द चरकसंहिता में नहीं है।

सुश्रुतसंहिता के वरुणादि गण में सैरेयकद्वय तथा वीरतर्वादि गण में सहचरद्वय का उल्लेख है। आरग्वधादि गण में कुरुण्टक और दासीकुरुण्टक का पाठ है। इससे प्रतीत होता है कि कुरुण्टक और दासीकुरुण्टक ही सहचरद्वय या सैरेयकद्वय हैं।

वाग्भट ने भी सैर्यकयुग्म का उल्लेख किया है और दासीकुरुण्टक के बदले 'बाण' का प्रयोग किया है।

चक्रपाणि ने सहचर को झिण्टी तथा कुरुण्टक को म्लानक कहा है। सैरेयक को लोकभाषा में पियावासा (पीत वासक) और कँटसैरया कहते हैं। डल्हण ने कँटसैरया का संस्कृत शब्द 'कण्टशेलियाक' या 'कण्टशेलुक' दिया है। सैरेयकद्वय से उन्होंने रक्तपुष्प–नीलपुष्प कण्टशेलियाक का ग्रहण किया है। किन्तु, उपर्युक्त तथ्य के आधार पर यदि कुरुण्टक और दासीकुरुण्टक सैरेयकद्वय हैं तो यह पीत और नील सैरेयक होने चाहिए।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कुरुवक (कुरबक) को डल्हण ने एक स्थल (सु. सू. ४६।८) पर 'कृष्णषष्टिक' तथा दूसरे स्थल (सु. क. ५।८६) पर 'स्निग्धपत्रः सितकुसुमः स्वनामप्रसिद्धः' कहा। एक अन्य स्थल (सु. सू. ४२।११) पर कण्टसेलयाक लिखा। इससे स्पष्ट है कि कुरबक को रक्तपुष्प सैरेयकभेद वह नहीं मानते थे।

इसी प्रकार 'बाण' को भी उन्होंने 'सहचर' मात्र कहा, नील विशेषण नहीं दिया। अतः यह सन्दिग्ध है कि बाण को वह दासीकुरुण्टक का पर्याय मानते थे। यदि दोनों को पर्याय मानते तो दासीकुरुण्टक पर बाण की व्याख्या में इसका उल्लेख अवश्य करते।

निघण्टुओं में जाकर सैरेयकद्वय सैरेयकत्रय और पुनः सैरेयकचतुष्टय में परिणत हो गया। धन्वन्तरिनिघण्टु में पीत, रक्त और नील तीन प्रकार के सैरेयक का उल्लेख है। पीत को कुरुण्टक और रक्त को कुरबक कहा है, नील के लिए कोई विशिष्ट नाम नहीं दिया[1]। कैयदेवनिघण्टु में भी यही तीन हैं किन्तु नीलपुष्प को आर्त्तगल, राजसैरेयक, बाण आदि पर्याय दिये हैं। भावमिश्र ने एक श्वेतपुष्प का भी उल्लेख कर सैरेयक-चतुष्टय कर दिया। बलाद्वय जिस प्रकार कालक्रम से विकसित होकर बलाचतुष्टय बना उसी प्रकार सैरेयकद्वय भी सैरेयकचतुष्टय में परिणत हुआ। दोनों की यह परिणति भावप्रकाशनिघण्टु में हुई।

इस प्रकार कुरुण्टक और दासीकुरुण्टक का स्वरूप तो सुश्रुतकाल में स्पष्ट था किन्तु कुरबक और बाण की स्थिति टीकाकारों के प्रयास से भी स्पष्ट नहीं होती। कुरबक को डल्हण सितकुसुम लिखते हैं जबकि निघण्टुओं में वह रक्तपुष्प कहा गया है। संहिताओं में भी कुरबक की रक्तपुष्पता का कहीं निर्देश नहीं है। अतः प्राचीन कुरबक निघण्टुओं के कुरबक से भिन्न था इसमें कोई सन्देह नहीं। यह हिमालय प्रदेश में होने वाला Rhododendron sp. (बुराँस) है। चरक ने इसीको पुल्लास कहा है। (देखें पुल्लास)। इस वृक्ष में श्वेत, रक्त अनेक प्रकार के सुन्दर पुष्प आते हैं। कवियों ने इसकी गणना दोहदवृक्षों में की है। यह वृक्ष सर्वत्र न उपलब्ध होने के कारण बाद में इसके प्रतिनिधिरूप में रक्तपुष्प सैरेयक को कुरबक कहने लगे।

यद्यपि वाग्भट ने बाण को दासीकुरुण्टक का पर्याय कहा है तथापि डल्हण काल तक सहचर का यह सामान्य पर्याय था। बाण, शर पर्यायवाची है। हिंसा करने (कष्टप्रद होने) के कारण 'शर' संज्ञा सार्थक है, बाण का भी वही अर्थ है। सैरेयक कण्टकित होने के कारण कष्टप्रद है अतः बाण पर्याय दिया गया। 'शर' नाम से एक अन्य द्रव्य प्रसिद्ध है अतः उससे भिन्न पर्याय 'बाण' दिया गया। बाद में यह दासीकुरुण्टक (नील सहचर) का बोधक बना।

---

१. पीतो रक्तोऽथ नीलश्च कुसुमैस्तं विभावयेत्।
पीतः कुरुण्टको ज्ञेयो रक्तो कुरबकः स्मृतः॥ (ध. नि. १।२७८)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कुरबक के सम्बन्ध में ठा० बलवन्त सिंह के विचार ग्राह्य हैं जिनका उल्लेख ऊपर किया गया किन्तु बाण के सम्बन्ध में उनकी कल्पना सीमातिक्रामिणी लगती है। यह 'बानी' स्थानीय नाम के आधार पर इसे Avicennia officinalis Linn. मानते हैं जो समुद्रतट पर होता है और जिसके बाणाकृति बीजप्ररोह पेड़ से गिर कर भूमि पर शरशय्या का दृश्य प्रस्तुत करते हैं।

सम्प्रति सैरेयकभेदों का वानस्पतिक निर्धारण इस प्रकार किया जाता है :—

१. श्वेत-रक्त—Barleria cristata Linn.

२. पीत—Barleria prionities Linn.

३. नील—Barleria strigosa Willd.

सोम

सोम वैदिक काल का प्रसिद्ध ओषधि था जो ओषधिराज कहा जाता था। ऋग्वेद के नवम मण्डल में इसका विस्तृत वर्णन है जिससे यह स्पष्ट होता है कि उस काल में यह वनस्पति पूर्ण ज्ञात एवं प्रचलित थी। ऋग्वेद के वर्णन के अनुसार यह मुञ्जवान् पर्वत पर होता था और वहाँ के निवासियों (गन्धर्वों) द्वारा लाया जाता था। काम में लाने के लिए इसका क्रय किया जाता था। कुष्ठ आदि द्रव्य इसके सहचर कहे गये हैं[1] जो इसके उद्भवस्थान का संकेत देते हैं।

सोम बभ्रु, अरुण या हरिवर्ण कहा गया है। इसमें पर्व और अंशु होते हैं। इसका काण्ड अंगुल्याकार होता है इसमें पत्र भी होते हैं। इसका रस उत्तेजक एवं मादक कहा गया है। पत्थरों या ओखल में पीस कर इसका रस निकालते थे और दूध, दही, यवागू या मधु मिला कर उपयोग में लाते थे। दिन में तीन बार सोम-सेवन का विधान है।

प्रतीत होता है कि ऋग्वेद काल में भी यह सर्वसुलभ नहीं था, इसके लिए बड़े साधन एवं प्रयास की आवश्यकता होती थी। ऋग्वेद-काल के अन्त में ही यह अप्राप्य हो गया था[2]।

अथर्ववेद में भी सोम वीरुधों का अधिपति कहा गया है[3]। सोम की दुर्लभता के कारण उसके प्रतिनिधिरूप में अनेक द्रव्यों की व्यवस्था की गई थी। ब्राह्मणग्रन्थों

---

१. स कुष्ठो विश्वभेषजं साकं सोमेन तिष्ठति। (शौ. १९।३९)

२. इसके प्रकरण में यह मन्त्र प्रस्तुत किया जाता है :—
सोमं मन्यते पपिवान् यत् सम्पिषन्त्योषधिम्।
सोमं यं ब्रह्माणो विदुर्न तस्याश्नाति कश्चन॥ (ऋ. १०।८५।३)
अर्थात्—सोम पीने की इच्छा से लोग पत्थर पर उसको कूटते-पीसते हैं किन्तु जिस सोम को ब्राह्मण लोग जानते हैं उसका आस्वादन कोई नहीं करता।

३. सोमो वीरुधामधिपतिः स मावतु। (शौ. ५।२।४।७)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

में इसका उल्लेख मिलता है। सोम के अभाव में फाल्गुन, श्येनहृत, आदार, अरुण दूर्वा तथा हरित कुश से काम चलाने का विधान है[1]। उत्तरवर्त्ती वैदिक वाङ्मय में भी सोम का उल्लेख है किन्तु तब तक उसका स्वरूप बिलकुल बदल चुका था।

चरकसंहिता में दिव्य ओषधियों में सोम का वर्णन दिया है। इसके अनुसार ओषधिराज सोम में पन्द्रह पर्व (या पर्ण) होते हैं और वह चन्द्रमा के समान घटता-बढ़ता रहता है[2]। चक्रपाणि के अनुसार चन्द्रमा की स्थिति के अनुसार इसमें क्षय-वृद्धि होती रहती है[3]। इसके अतिरिक्त, सोम का न तो कोई उल्लेख है और न उपयोग।

सुश्रुतसंहिता के रसायन-प्रकरण (चि. २९) में सोम का विस्तृत विवरण दिया गया है। एक ही सोम के स्थान, नाम, आकृति तथा वीर्य के भेद से २४ प्रकार कहे गये हैं। सोम के प्रयोगविधान में सोमकन्द को सूची से विदीर्ण कर उसका दूध लेने का निर्देश है। यह भी कहा गया है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य को क्रमशः वल्ली, प्रतान और क्षुप का सेवन करना चाहिए। चरक के अनुसार सुश्रुत ने भी सोम को पञ्चदशपर्ण कहा है और चन्द्रमा के अनुसार वृद्धिक्षय बतलाया है। पुनः यह कहा कि सभी सोम क्षीर, कन्द और लतावाले तथा नाना प्रकार के पत्रों से युक्त होते हैं। सोम के उत्पत्तिस्थानों में हिमालय, अर्बुद (आबू) सह्य, महेन्द्र, मलय, श्रीपर्वत, देवगिरि, देवसहगिरि, पारियात्र, विन्ध्य पर्वतों तथा कश्मीर के पर्वतों और तालाबों का उल्लेख है।

वाग्भट में सोम का वर्णन नहीं है।

उपर्युक्त तथ्यों से निम्नांकित निष्कर्ष निकलते हैं :—

१. चरककाल में भी सोम दुर्लभ था।
२. सुश्रुत के काल में सारे देश में विभिन्न वनस्पतियाँ, जिनमें कुछ कन्द, क्षीरिणी, वल्ली, प्रतान तथा क्षुप थे, सोम के नाम पर प्रचलित थीं।
३. वाग्भट के काल में यह नितान्त संदिग्ध होने के कारण प्रयोग से परित्यक्त हो गया।

ऐसी परिस्थिति में यह कहना असंभव सा है कि वैदिक सोम वास्तव में क्या था। आधुनिक विचारकों ने सोम के सम्बन्ध में निम्नांकित वनस्पतियों की ओर ध्यान आकृष्ट किया है :—

---

१. शतपथ ब्राह्मण (४।५।१०।५)
२. सोमो नामौषधिराजः पञ्चदशपर्वा (पर्णः) स सोम इव हीयते वर्धते च। (च. चि. १।४।७)
३. यथा सोमवृद्धिक्षयौ, तथा तत्कालमेव तस्य वृद्धिक्षयौ भवतः।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

१. Sarcostemma acidum.
२. Ephepra sp.
३. Cannabis sativa.
४. Periploca aphylla
५. Vitis vinifera
६. Rheum emodi
७. peganum hermala
८. Ceropegia sp.
९. Ruta graveolens.
१०. Saccharum officinarum.
११. Amanita muscaria.[1]

संप्रति यज्ञकार्य में सोम के प्रतिनिधिरूप में Sarcostemma acidum Voigt. तथा औषध में Ephedra gerardiana (Wall.) Stapf. का प्रयोग होता है। सोमचूर्ण का प्रयोग श्वासरोग में बहुशः प्रयोग वैद्यों द्वारा हो रहा है।

सोमा[2]–सोमवल्ली[3]–सोमसरला[4]–सोमवृक्ष[5]

चरकसंहिता में सोमवल्ली मधुरस्कन्ध में है।

सुश्रुत के रसायन-प्रकरण में वर्णित सोम के अतिरिक्त कतिपय रोगों में उपर्युक्त द्रव्यनाम निर्दिष्ट हुये हैं। डल्हण ने उपर्युक्त प्रसंगों में 'सोम' अर्थ किया है। एकीय मत से सोमवल्कल (कट्फल) और ब्राह्मी का निर्देश किया है। एक स्थल पर सोम से सोमवल्क (कट्फल) अर्थ किया है (क. ६।३)। 'सोमसरला' में सोम और सरला को उन्होंने विभक्त कर दिया है जो उचित नहीं है क्योंकि दो बार उस शब्द का उसी रूप में प्रयोग हुआ है। सोमवल्ली से गुडूची लिया है। सोमा से गुडूची लेकर एकीय मत से सोमलता का निर्देश किया है। सोमा

---

१. इस दशक के प्रारंभ में अमेरिका के प्रसिद्ध कवकविद् रिचर्ड गोर्डन वासन ने अनेक वर्षों के अनुसन्धान के बाद इस कवक को सोम सिद्ध किया है। इसे 'फ्लाई अगेरिक' भी कहते हैं। जोन ब्रफ ने इसकी सयुक्तिक विस्तृत आलोचना की है। देखें:—

R. Gordon Wasson–J. A. O. R., Vol. 91, No. 2 (1972)

John Brough : BSOAS, Vol. XXXIV, Pt. II, 1971.

२. सु. क. १।२७, सु. ३७।२२

३. च. वि. ८।१३९, सु. क. १।५४, उ. २८।७

४. सु. सू. ३७।२४, क. ६।३

५. सु. चि. ११।८, १७।२१ (सोम), १८।३३ (सोम)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

सोमवल्ली और सोमसरला मेरे विचार से एक हैं और सोमलता (Sarcostemma acidum) के ही वाचक हैं (देखें सोम) ।

धन्वन्तरिनिघण्टु ने इसी सोमवल्ली का वर्णन किया है ।

सोमवृक्ष से कट्फल लेना चाहिए । वृक्षों के साथ जहाँ सोम है वहाँ सोमवृक्ष ही समझना चाहिए ।

स्थूलकन्द

सुश्रुत ने कन्दवर्ग (सू. ४६।३०६; ३०७) में सूरण के साथ स्थूलकन्द का वर्णन किया है। वाग्भट ने सूरण के बाद भूकन्द का वर्णन किया है (अ. हृ. सू. ६।११४) । मेरे विचार से स्थूलकन्द और भूकन्द एक ही है । यह भी संभव है कि शुद्ध पाठ 'स्थूलकन्द' के स्थान पर 'स्थलकन्द' हो ।

डल्हण ने स्थूलकन्द का पाठान्तर सकलकन्द दिया है तथा इसका अथ ग्रामकन्द किया है । अरुणदत्त ने इससे कवक (Mushroom) का ग्रहण किया है[1] ।

मेरे विचार से यह वही द्रव्य (Colocasia esculenta (Linn.) Schott) है जिसे आजकल कन्दा या बण्डा कहते हैं । गाँवों में अधिक व्यवहृत होने से यह ग्राम्यकन्द तथा सकल जनों द्वारा प्रयुक्त होने से सकलकन्द कहा गया । सकलकन्द का ही अपभ्रंश 'सकरकन्द' है जो नामसादृश्य के कारण अन्य आयातित कन्द (Ipomoea batatas (Linn.) Lam.) को दिया गया[2] ।

स्पृक्का

गन्धद्रव्यों में स्पृक्का का उल्लेख है । चरक ने गन्धयुक्त लेपों और तैलों के निर्माण में इसका प्रयोग किया है । सुश्रुत ने एक ही बार केवल एलादिगण में इसका पाठ किया है । वाग्भट ने चरक से अधिक इसका प्रयोग किया है ।

चक्रपाणि ने इस पर कुछ नहीं लिखा । डल्हण इसे 'कुटिलपुष्पा' तथा औत्तरापथिक सुगन्धिद्रव्य कहते हैं । इससे इसके पुष्प की आकृति, उत्पत्तिस्थान, स्वरूप एवं प्रयोग के विषय में सूचना मिलती है । अरुणदत्त ने इसे 'देवी' कहा ।

यह असबरग (.Delphinium zalil Aitch & Hensl.) है । 'असबरग' स्पृक्का का ही अपभ्रंश है ।

स्फूर्जक

चरक ने इसका पाठ कषायस्कन्ध में किया है । सुश्रुत ने मूलक आदि अन्य द्रव्यों के साथ इससे सिद्ध तैल का प्रयोग वातव्याधि में परिषेकार्थ किया है । इसके अतिरिक्त, कफज्वर में इसका विधान है ।

---

१. भूकन्दः स्फोटाख्यः प्रावृड्‌ड्भवः प्रसिद्ध एव ।

२. देखें सितालुक, द्रव्यगुणविज्ञान, भाग, ३,

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

चक्रपाणि ने इस पर कुछ नहीं लिखा। डल्हण ने इसे वनकुरण्टकाकार फणिज्जक या फणिज्जक की आकृति का पौधा कहा है जो पारियात्र (राजस्थान) में प्रायः मिलता है। एक अन्य स्थल पर (सालसारादि गण) भूर्ज के स्थान पर स्फूर्जक पाठान्तर कर उसका अर्थ श्योनाक करते हैं[1]।

स्फूर्जक राजस्थान में प्रसिद्ध फोग (Calligonum polygonoides Linn., Fam.-Polygonaceae) है। इसके छोटे गुलाबी सुगन्धित पुष्पों का संग्रह कर आहार में प्रयोग करते हैं। मूल का प्रयोग औषध में होता है। यह प्रायः निष्पत्र गुल्म पंजाब, राजस्थान में होता है।

स्वर्णक्षीरी

सुवर्णक्षीरी, कनकक्षीरी, हेमक्षीरी, काञ्चनक्षीरी और हेमदुग्धा पर्यायों से भी स्वर्णक्षीरी का कथन हुआ है।

चरक के भेदनीय महाकषाय में स्वर्णक्षीरिणी है। इसका प्रयोग क्रिमि, कुष्ठ, उदर, पाण्डु, विष, व्रण, ऊरुस्तम्भ तथा विरेचनकल्पों में है।

सुवर्णक्षीरी सुश्रुतसंहिता के श्यामादि गण तथा अधोभागहर गण में है। इसके प्रयोग भी संशोधनीय रोगों में हैं।

वाग्भट ने भी ये ही प्रयोग उद्धृत किये हैं।

चक्रपाणि ने स्वर्णक्षीरिणी को अंगुष्ठप्रभा कहा है (च. सू. ४।४)। मेरे विचार से यह पाठ लिपिप्रमाद के कारण अशुद्ध है। शुद्ध पाठ 'कंकुष्ठप्रभवा' होना चाहिए—अर्थात् जिससे कंकुष्ठ निकलता है। कनकक्षीरी से कंकुष्ठ लिया है (च. चि. ७।१११)।

डल्हण ने उपर्युक्त पर्यायों से 'अनन्तासदृशपत्रा' (हियावलि इति लोके) तथा कंकुष्ठ का ग्रहण किया है[2]।

हियावलि या हिरवी Euphorbia thomsoniana Boiss. है। प्राचीन काल में कंकुष्ठ सुवर्णक्षीरी का पर्याय था, कालान्तर में यह स्वर्णक्षीरीनिर्यास के लिए प्रयुक्त होने लगा (देखें कंकुष्ठ)।

सुश्रुत ने एक स्थल (सु. चि. ८।४०) पर 'काञ्चनक्षीर्यौ' द्विवचनान्त प्रयोग के द्वारा स्वर्णक्षीरीद्वय का निर्देश किया है। आजकल उपर्युक्त वनस्पति के अतिरिक्त

---

१. किन्तु लकुचाकार पत्रकाण्ड होने के कारण यह चर्मकारवट प्रतीत होता है, श्योनाक लकुचाकृति नहीं होता।

२. सुवर्णक्षीरी—कङ्कुष्ठम्। (सु. चि. ४।२७)
,, —अनन्तासदृशपत्रा, कङ्कुष्ठमित्यपरे। (सु. सू. ३८।२९)
,, — ,, 'हियावलि' इति लोके, कङ्कुष्ठ इत्यपरे। (सु.सू. ९।४)
कनकक्षीरी—सुवर्णक्षीरी, कङ्कुष्ठमित्यन्ये। (सु. सू. ११।१३)
हेमक्षीरी—कङ्कुष्ठम्। (सु. चि. ९।१४)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

सत्यानाशी (Argemone mexicana Linn.) को लेकर स्वर्णक्षीरीद्रव्य मानते हैं किन्तु वास्तव में हिरवी न मिलने के कारण तथा सत्यानाशी की सुलभता के कारण सम्प्रति इसीका प्रयोग स्वर्णक्षीरी के रूप में हो रहा है। हिरवी प्रायः प्रयोग से छूट गई है, कंकुष्ठ भी अब उससे नहीं निकलता।

प्राचीन स्वर्णक्षीरी Argemone mexacina. मानी भी नहीं जा सकती क्योंकि यह विदेशी पौधा है जो आधुनिक काल में भारत में फैला है। उस युग में यह अज्ञात था। उस समय का स्वर्णक्षीरीद्रव्य भिन्न था जिसका निर्देश डल्हण ने किया है[२]। उनके अनुसार स्वर्णक्षीरीद्रव्य निम्नांकित था :—

१. कंकुष्ठ

२. पीतदुग्धा बृहत्पत्री यवतिक्ता

यहाँ कंकुष्ठ से उनका अभिप्राय हिरवी (E. thomsoniana) से है किन्तु दूसरी वनस्पति क्या है यह विचारणीय है। मेरे विचार से यह Euophorbia pilosa Linn. हो सकती है।

भानुजी दीक्षित ने अमरकोष-व्याख्या में कहीं से निम्नांकित श्लोक उद्धृत किया है :—

'हेमवर्णं पयस्तस्याः हिमवद्भूमिसम्भवा।
सा नागजिह्विकाकारा तन्मूलं वणिजौषधम् ॥'

हरिचन्दन–लवङ्ग

डल्हण ने सुश्रुतव्याख्या (सू. ४६।२०२) में लवंग को श्रीचन्दनपुष्प कहा है। इससे संकेत मिलता है कि श्रीचन्दन वृक्ष का पुष्प ही लवंग है। यह श्रीचन्दन क्या है? मेरे विचार से, यह वही वृक्ष है जिसे 'हरिचन्दन' के नाम से कहा गया है।

हरिचन्दन पाँच देवतरुओं में पठित है :—

पञ्चैते देवतरवो मन्दारः पारिजातकः।
सन्तानः कल्पवृक्षश्च पुंसि वा हरिचन्दनम् ॥—अमरकोष, १।१।५०
—वैजयन्तीकोष, १।३।१४
—अभिधानचिन्तामणि, २।९३

मेदिनीकोष में भी हरिचन्दन को देवतरु कहा गया है :—

'हरिचन्दनमस्त्री स्यात् देवतानां महीरुहे'।

इस प्रकार हरिचन्दन देववृक्ष है। लवंग को देवकुसुम कहा गया है। साथ-साथ चन्दनपुष्प भी कहा गया है। इससे देववृक्ष (हरिचन्दन) का पुष्प लवंग है यह

---

१. अष्टांगनिघण्टु में भी ऐसा ही है :—
'स्वर्णक्षीरी हैमवती कङ्कुष्ठस्तीक्ष्णदुग्धिका'। (अ. नि., १९७)

२. काञ्चनक्षीर्यौ द्वे—एकं कङ्कुष्ठ, पीतदुग्धा बृहत्पत्री यवतिक्ता। (सु. चि. ८।४०)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

सिद्ध होता है। वारिसंभव भी इसे कहा गया है क्योंकि यह समुद्री मार्ग से द्वीपान्तर से आता रहा। महाकवि कालिदास ने भी 'द्वीपान्तरानीतलवंगपुष्पैः' (रघुवंश, ६।५७) के द्वारा इस तथ्य का निर्देश किया है। धन्वन्तरिनिघण्टु ने लवंग के वर्णन में इन तथ्यों का उल्लेख किया है :—

लवंगं देवकुसुमं भृङ्गारं शिखरं लवम्।
दिव्यं चन्दनपुष्पं च श्रीपुष्पं वारिसम्भवम्।।

अब इसका विश्लेषण करें तो वही चित्र आता है :—

१. देवकुसुम = देववृक्ष का पुष्प
२. चन्दनपुष्प = चन्दन का पुष्प
३. श्रीपुष्प = श्री (चन्दन) का पुष्प
४. वारिसंभव = जल (द्वीप) से प्राप्त

'देव' शब्द यहाँ देवराज इन्द्र के लिए है और 'हरि' उसीका पर्याय है। अतः हरिचन्दन ही देववृक्ष हुआ और उसका पुष्प लवंग है। चरक ने इसके फल का भी प्रयोग किया है। राजनिघण्टु के द्व्यर्थक वर्ग में 'लवंग' शब्द श्रीगन्ध और दिव्य चन्दन के लिए आया है। इससे भी प्रमाणित होता है कि दिव्यचन्दन (हरिचन्दन) और लवंगवृक्ष एक ही है।

इस प्रसंग में ध्यान देने की बात यह है कि हरिचन्दन पुंल्लिग में (हरिचन्दन) वृक्ष का बोधक है। यही शब्द नपुंसक लिंग में (हरिचन्दनम्) उसके काष्ठ (सार) का द्योतक है जिसका प्रयोग चन्दनवत् होता था। इसकी पुष्पकलिका तो लवंग है ही। इस प्रकार हरिचन्दन वृक्ष के काष्ठ (चन्दन) और पुष्प दोनों का प्रयोग है। काष्ठ हरिचन्दन नाम से तथा पुष्प लवंग नाम से प्रचलित है।

हरिचन्दन के काष्ठ का वर्ण पीत कहा गया है :—

'पीतसारं सुशीतं च तत् पीतं हरिचन्दनम्।'

—पर्यायरत्नमाला, पृ. १४

संहिताओं का 'भद्रश्रिय' भी हरिचन्दन ही प्रतीत होता है। चरक (चि. ३।२५८) में चन्दन से पृथक् भद्रश्रिय का पाठ है। चक्रपाणि ने चन्दन से रक्तचन्दन तथा भद्रश्रिय से श्वेतचन्दन लिया है जो गलत प्रतीत होता है। रक्तपित्त चिकित्सा (च. चि. ४।१०२, १०५) में रक्तचन्दन के साथ इसका प्रयोग है। सुश्रुत से स्थिति और स्पष्ट होती है। सुश्रुत (शा. २।१५) में शुक्रदोषनिर्हरण के लिए भद्रश्रिय और चन्दन के क्वाथ का विधान है। डल्हण ने भद्रश्रिय से श्रीचन्दन (जिसके पुष्प को उसने लवंग कहा है—सु. सू. ४६।२०२) तथा चन्दन से रक्तचन्दन लिया है। गयी भद्रश्रिय से श्वेतचन्दन और चन्दन से गोशीर्षचन्दन लेते हैं। यह गोशीर्ष हरिचन्दन ही है। पित्तप्रबल वातरक्त (सु. चि. ५।८) में

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

भद्रश्रिय का प्रयोग है। वहाँ डल्हण ने इससे शुक्ल चन्दन लिया है। कल्पस्थान (६।१५) में भी यही अर्थ किया है। इससे सिद्ध है कि डल्हण भी इस सम्बन्ध में भ्रान्त थे। अष्टांगहृदय (उ. ३०।२२) में भद्रश्री का एक बार प्रयोग हुआ है।

किन्तु धन्वन्तरिनिघण्टु और राजनिघण्टु ने हरिचन्दन रक्तचन्दन के पर्यायों में दिया हैं। इसके अतिरिक्त, राजनिघण्टु ने हरिचन्दन का पृथक् वर्णन भी चन्दन-विशेषः करके किया है। यहाँ भी इसका वर्ण लोहित दिया है निघण्टुशेष में हरिचन्दन को रक्तसार कहा है (श्लो. २५)। धन्वन्तरिनिघण्टु ने कालीयक का भी पर्याय हरिचन्दन दिया है। वहाँ सम्भवतः 'नारायणप्रिय' के साथ होने के कारण 'हरि' शब्द विष्णु का वाचक मात्र है। इन प्रकरणों से हरिचन्दन का सार लोहित-पीत सिद्ध होता है। इसमें उत्तम सुगन्ध होती है अत एव चन्दन के समान उसका लेप में प्रयोग होता था। अरुणदत्त ने भी ऐसा ही कहा है :—

'यच्छेदे लोहितमतिसुगन्धि सुष्ठु शीतवीर्यश्च तद्धरिचन्दनमुच्यते'।

—अ. हृ. सू. ३।४४

लवंग मोलक्कस द्वीपपुंज का मूल निवासी है। वहीं से वह जंजीबार लाया गया जहाँ से मुख्यतः वह भारत में आता है। भारत के पूर्वी भाग में मोलक्कस द्वीपपुंज हैं। वहाँ इसके उद्भव का ज्ञान पूर्वकाल में था जैसा कि उत्तरगुप्तकालीन बाणभट्ट की रचना कादम्बरी में उद्धृत लवंगपल्लवों के वर्णन से स्पष्ट होता है (उल्लसल्लवंगपल्लवात् आशैलादुदयनाम्नः)। आसाम के राजा ने लवंगपुष्प-मंजरियों को उपहारस्वरूप दिया है (हर्षचरित)। इससे भी पता चलता है कि उस प्रदेश में सुविधा से लवंगपुष्प अपने मूल उद्भवस्थल से पहुँचते थे। गोशीर्ष चन्दन भी उसने उपहार में दिया था। स्मरणीय है कि गोशीर्ष और तैलपर्णिक हरिचन्दन के ही पर्याय हैं। इससे यह भी पता चलता है कि लवंग के साथ यह चन्दन भी इस देश में आता था। गोशीर्ष और तैलपर्ण नामक पर्वत हैं जिन पर होने वाला इसे कहा गया है। वराहमिहिर ने बृहज्जातक (२७।४) में लवंग की स्थिति सागर में नैर्ऋत्यकोण (दक्षिणपश्चिम-) में बतलाई है :—

'सूक्ष्मैलालवलीलवंगनिचयान् व्याघूर्णयन् सागरे'।

यह भौगोलिक स्थिति मोलक्कस की नहीं, जंजीबार की है। इससे पता चलता है कि गुप्तकाल में लवंग जंजीवार पहुँच चुका था। समुद्र का वर्णन करते हुए महाकवि माघ ने भी कहा है :—

लवंगमालाकलितावतंसास्ते नारिकेलान्तरपः पिबन्तः।
आश्वादितार्द्रक्रमुकाः समुद्रादभ्यागतस्य प्रतिपत्तिमीयुः॥

—शिशुपालवध, ३।८१

जंजीबार से आकर लवंग भारत के दक्षिणपश्चिमी समुद्रतट पर ही पहले पहुँचता होगा। इसी प्रकार मोलक्कस से बंगाल और आसाम पहले आता होगा।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कालिदास ने कलिंग के समुद्रतट पर उसके आने की सूचना दी है (रघु. ६।५७) साथ-साथ दक्षिणी समुद्रतट से भी उसका सम्बन्ध बतलाया है (कुमार. ८।२५)।

इस प्रकार हरिचन्दन लवंग के वृक्ष (Syzygium aromaticum (Linn) Merr. & L. M. Perry) का प्राचीन नाम है। उसका काष्ठ (सार) हरिचन्दन नाम से तथा पुष्पकलिकायें लवंग नाम से व्यवहृत होती थी।

हस्तिपर्णी

चरक ने वामक फलिनी ओषधियों में इसकी गणना की है। हस्तिपर्णी का शरद् ऋतु में होने वाला फल ग्राह्य बतलाया है (च. सू. १।८२)।

चक्रपाणि ने हस्तिपर्णी का अर्थ मोरट किया है किन्तु मोरट का फल वामक हो ऐसा प्रमाण नहीं मिला।

उपर्युक्त प्रकरण में हस्तिपर्णी त्रपुष के साथ पठित है। निघण्टुओं में हस्तिपर्णी त्रपुष का पर्याय है अतः इससे त्रपुषभेद (वनत्रपुषी) ले सकते हैं। वनत्रपुषी के आम फल तिक्त एवं वामक होते हैं। (देखें वनत्रपुषी)।

हस्तिपर्णी से हस्तिकर्णपलाश (Leea macrophylla Roxb. ex Hornem) की ओर भी ध्यान जाता है किन्तु उसमें भी वामक गुणधर्म नहीं है।

हिन्ताल

चरकसंहिता (क. १।८) में आनूप देश के वृक्षों में प्रथम स्थान हिन्ताल को दिया गया है। बृहत्त्रयी में और कहीं इसका उल्लेख नहीं मिलता।

हिन्ताल खर्जूरप्रजाति का Phyoenix paludosa Roxb. है जिसे बंगाल और उड़ीसा में हितल कहते हैं। इसके वृक्ष २५–३० फीट ऊँचे, पश्चिम बंगाल, उड़ीसा, अन्दमान के समुद्रतटवर्त्ती दलदल भूमि में होते हैं।

हिरण्यपुष्पी

कनकपुष्पी इसका पर्याय है। चरक में कनकपुष्पी (च. चि. ७।१६७) तथा सुश्रुत और वाग्भट में हिरण्यपुष्पी है (सु. शा. १०।११, अ. हृ. शा. १।८३)।

चक्रपाणि ने कनकपुष्पी का अर्थ सुवर्णक्षीरी किया है। डल्हण ने हिरण्यपुष्पी का अर्थ कलिकारिका किया है किन्तु वहीं बाद में विशल्या का पाठ है जो वस्तुतः लांगली का बोधक है। अतः हिरण्यपुष्पी का अर्थ यहां भी सुवर्णक्षीरी होना चाहिए।

इन सन्दर्भों के आधार पर हिरण्यपुष्पी से सुवर्णक्षीरी का ग्रहण करना चाहिए। (देखें स्वर्णक्षीरी)।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

द्वितीय खण्ड

निघण्टुओं के द्रव्य

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

संसेविता न गुरवस्तरवश्च दृष्टाः
यैर्हि क्षितौ जनपदेषु च तेषु तेषु ।
सन्धारिता न मनसा च निघण्टवोऽपि
ज्ञास्यन्ति ते कथमहो पदमोषधीनाम् ॥

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

निघण्टुओं के द्रव्य

अगुरु—निघण्टुओं में अगुरु के अनेक भेद मिलते हैं। धन्वन्तरिनिघण्टु में कालेयक का वर्णन अगुरुविशेष के रूप में किया गया है। राजनिघण्टु में इसके तीन अन्य भेदों का वर्णन किया गया है—काष्ठागुरु, दाहागुरु और मंगल्यागुरु। ये भेद उसके स्वरूप, वर्ण, प्रभाव, उपयोग आदि के आधार पर किये गये हैं। वस्तुतः अगुरु एक ही है। (देखें अगुरु, प्रथम खण्ड)।

अग्निदमनी—अग्निदमनी का वर्णन राजनिघण्टु में मिलता है। वहुकण्टका, वल्लिकण्टकारिका, क्षुद्रकण्टकारिका आदि इसके पर्याय दिये गये हैं। यह कटु, उष्णवीर्य, कफवातशामक, दीपन तथा गुल्फप्लीहानाशक कहा गया है[1]।

'वल्लिकण्टकारिका' पर्याय से प्रतीत होता है कि यह कण्टकारी का ही कोई लताजाति का भेद है। वैद्य बापालाल जी ने इसके लिए Solanum trilobatum Linn. का प्रस्ताव रक्खा है जो उचित है। इसके अतिरिक्त, Solanum dulcamara Linn. पर भी विचार करना चाहिए जो आरोही गुल्म है तथा उसके पारम्परिक प्रयोग राजनिघण्टु में निर्दिष्ट आमयिक प्रयोगों से मिलते हैं।

अङ्गारकेतु—सोढल ने अपने निघण्टु में इसका वर्णन किया है[2]। अङ्गारकुष्ठ और अमरग्रन्थिक इसके पर्याय दिये गये हैं। इसके अनुसार यह कुष्ठवत्, अङ्गार-सदृश (रक्तवर्ण), गाँठदार द्रव्य है। यह राजनिघण्टु की हिमावली प्रतीत होता है क्योंकि उसके भी अङ्गारकुष्ठक, अङ्गारग्रन्थिक आदि पर्याय हैं[3]।

अञ्जीर—चरकसंहिता के फलवर्ग में फल्गु का वर्णन है, वह भारतीय अञ्जीर है। मध्यकाल में मुसलमानों द्वारा अरब देशों से अच्छे किस्म के अञ्जीर का प्रवेश हुआ। भारतीय अञ्जीर से पृथक् करने के लिए 'अञ्जीर' नाम से ही निघण्टुओं ने इसका वर्णन किया। अच्छा होने के कारण यही प्रचलित हुआ और 'फल्गु' काकोदुम्बर के पर्यायों में जाकर सन्दिग्ध हो गया।

मदनपालनिघण्टु[4] तथा माधवद्रव्यगुण[5] में इसका वर्णन मिलता है।

---

१. कटूष्णा चाग्निदमनी रूक्षा वातकफापहा।
रुचिकृद् दीपनी हृद्या गुल्मप्लीहापहा भवेत्॥ (रा. नि. ४।४)

२. अङ्गारकेतौ चाङ्गारकुष्ठो चामरग्रन्थिकः।
वातरक्तहरश्चैव चारो मांसविलासकः॥ सो. नि., ६९२ (लशुनादिवर्ग)

३. रा. नि. ६।१८–१९

४. द्राक्षादिवर्ग

५. शूलवर्ग, ६२

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

अत्यम्लपर्णी—राजनिघण्टु में अत्यम्लपर्णी का वर्णन मिलता है[1]। वल्लिसूरणा, कण्डुला पर्यायों से स्पष्टतः यह सूरणजाति की वनस्पति प्रतीत होती है।

ठा० बलवन्त सिंह ने अम्लपर्णी को Vitis trifolia Linn. मान कर वर्णन किया है। अमलबेल या अमरलती स्थानीय नाम दिये हैं[2]। वैद्य बापालाल ने वमनी का पर्याय मान कर कतो भट्ट के अनुसार Vitis pentaphylla या Cayratia carnosa को अत्यम्लपर्णी माना है। मराठी में इसे आँबरबेल कहते हैं[3]।

किन्तु मेरे विचार से यह सूरणकुल की वनस्पति Amorphophallus bulbifer Blume है जो अमलवेल के नाम से प्रसिद्ध है। इसका पौधा सूरण (A. campanulatus) की अपेक्षा दुर्बल होता है अतः 'वल्लिसूरण' संज्ञा सार्थक है।

अन्धक—सोढलनिघण्टु के लक्ष्मणादि वर्ग में अन्धक का वर्णन है[4]। इसके आगे कोष्ठक में अन्धाहुली लिखा है। अन्धाहुली अधःपुष्पी (Trichodesma indicum R. Br.) है।

अपराजिता—'अपराजिता' शब्द बृहत्त्रयी में नहीं है किन्तु निघण्टुओं में इसका प्रयोग हुआ है। भावमिश्र ने इसका वर्णन किया है[5]। बृहत्त्रयी में यह गिरिकर्णिका नाम से है। (देखें खण्ड १, गिरिकर्णिका)।

अपर्वदण्ड—राजनिघण्टु में इसका वर्णन है। रामबाण, रामशर, रामकाण्ड आदि इसके पर्याय हैं। यह वही द्रव्य प्रतीत होता है जिसे भावमिश्र ने भद्रमुञ्ज कहा है। यह मुञ्ज की बड़ी जाति है। वहाँ इसका अर्थ रामशर या सरपत किया भी है। किन्तु भावप्रकाश में मुञ्जद्वय शीत कहे गये हैं जबकि राजनिघण्टु का अपर्वदण्ड किञ्चिद् उष्ण और पित्तवर्धक कहा गया है[6]।

अपामार्ग (रक्तपुष्प)—धन्वन्तरिनिघण्टु में अपामार्गविशेष के रूप में रक्तपुष्प अपामार्ग का वर्णन है। वशिर, कपिपिप्पली, क्षुद्रापामार्ग इसके पर्याय हैं। यह

---

१. अत्यम्लपर्णी तीक्ष्णा च कण्डुला वल्लिसूरणा।
वल्ली करवडादिश्च वनस्थाऽरण्यवासिनी॥
अत्यम्लपर्णी तीक्ष्णाम्ला प्लीहशूलविनाशिनी।
वातहृद् दीपनी रुच्या गुल्मश्लेष्मामयापहा॥ (रा. नि. ३।६९-४०)

२. वनौषधिदर्शिका, पृ० ४६; बिहार की वनस्पतियाँ, पृ० ३५

३. भूमिका, सोढलनिघण्टु, पृ० ३६

४. अन्धके स्कन्धकश्चैव शयालुश्चान्धपुष्पकः।
वश्यराज्याऽथ वश्याङ्गा सुरसा गन्धपुष्पिका॥ (सो. नि., I, ६६७)

५. भा. प्र., गुडूच्यादिवर्ग, ११२

६. रामकाण्डजमूलं स्यादीषदुष्णं रुचिप्रदम्।
रसे चाम्लं कषायं च पित्तकृत् कफवातहृत्॥ (रा. नि. ८।३७)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

शीतवीर्य कहा गया है। भावप्रकाश में भी इसका 'प्रायः ऐसा ही वर्णन है। इसे श्वेतापामार्ग की अपेक्षा हीनगुण मानते हैं। सिद्धमन्त्र में पित्तघ्नवर्ग में 'अवशिरफल' का उल्लेख है जिसका अर्थ बोपदेव ने सूर्यावर्त्त किया है तथा एकीय मत से गज-पिप्पल्याकार फलविशेष का उल्लेख किया है। यह दूसरा विकल्प सम्भवतः वशिर-(मर्कटपिप्पली) से ही सम्बन्ध रखता है। सम्भव है, वहाँ 'अवशिर' के स्थान पर 'वशिर' शुद्ध पाठ हो। कैयदेवनिघण्टु में अपामार्ग के बाद वशिर का वर्णन किया है और वृन्तफल, रक्तबिन्दुक, खरच्छद आदि पर्याय दिये हैं। इनके अतिरिक्त, एक और भेद जलापामार्ग का वर्णन किया है।

यह Achyranthes aspera का ही कोई भेद प्रतीत होता है। (देखें, खण्ड १, वशिर)

अफूक-खस्तिल—अफूक (अहिफेन) मध्यकाल में यूनानी चिकित्सकों के साथ भारत आया और आयुर्वेदीय चिकित्सकों द्वारा भी प्रयुक्त होने लगा। फलतः उसके बाद के निघण्टुओं में उसका समावेश किया गया। इसके पौधे का 'खाखस' या 'खसतिल' शीर्षक से, निर्यास का अफूक या अहिफेन नाम से, बीजों (दाना) का खाखसतिल या खस्खस नाम से, फल का डोडिया नाम से वर्णन किया गया है। धन्वन्तरिनिघण्टु (६।१२१) तथा माधवद्रव्यगुण (१।११०) में इसका वर्णन मिलता है। भावप्रकाश में भी इसका विशद वर्णन मिलता है।

अमृतफल—चरकसंहिता में फलवर्ग में टङ्क है जिसका अर्थ नासपाती किया गया है। मदनपालनिघण्टु[1] तथा भावप्रकाश में अमृतफल का वर्णन है[2]। इसका अर्थ भी नासपाती किया गया है। लगता है कि इसकी भारतीय जाति का उल्लेख चरक में है और अरब देशों से जो इसकी सुधरी हुई जाति आई वह अमृतफल कहलाई जैसाकि भावमिश्र के कथन से स्पष्ट होता है।

बाद में आधुनिक काल में पुर्त्तगालियों द्वारा जब अमरूद का प्रवेश हुआ तो नासपाती के आकार का होने के कारण ही उसकी संज्ञा 'अमरूद' प्रसिद्ध हुई जो 'अमृत से निष्पन्न हैं।

अमृतस्रवा—'अमृतस्रवा' का अर्थ है कि जिससे अमृत (जल) का स्राव हो। कुछ वनस्पतियों के काण्ड के भीतर जल संचित रहता है और काटने पर वह जल बाहर निकलता है जिसे वनवासी आवश्यकता पड़ने पर पीने के काम में भी लाते

---

१. अमृताह्वं रुचिफलं लघुबिल्वफलाकृति।
अमृतं गुरु वातघ्नं स्वाद्वम्लं रुचिशुक्रकृत्॥ (म. नि., फलवर्ग)

२. अमृतफलं लघु वृष्यं सुस्वादु त्रीन् हरेद् दोषान्।
देशेषु मुद्गलानां बहुलं तल्लभ्यते लोकैः॥ (भा. नि., फलवर्ग, १२७)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

हैं। ऐसी लताओं को 'पानीयवल्ली' या 'तोयवल्ली' कहा गया है। अमृतस्रवा भी ऐसी ही वल्लियों में से है।

राजनिघण्टु में इसका वर्णन मिलता है[1]। वृक्षरुहा, तोयवल्लिका, घनवल्ली, सितलता इसके पर्याय हैं। इससे प्रतीत होता है कि यह वृक्षारोहिणी, सघन, जलपूर्ण वल्ली है।

सम्भवतः यह Vitis latifolia Roxb. है (देखें खण्ड १, पानीयवल्ली)।

अम्लायन—अष्टांगनिघण्टु में अम्लायन को राजसैर्य (राजसैरेयक) कहा है तथा कोरण्ड और नखरञ्जन पर्याय दिये हैं[2]। कैयदेवनिघण्टु में 'बाणपुष्प' इसका पर्याय दिया है[3] जिससे पता चलता है कि इसके पुष्प बाणसदृश होते हैं। भावप्रकाश में सैरेयक के पहले अम्लात नाम से पृथक् इसका वर्णन किया है अतः सैरेयक से यह भिन्न है। टिप्पणी में लिखा है—'बाणपुष्प इति गौडादौ प्रसिद्धः'। 'बाणपुष्प' सम्भवतः वही है जो बंगाल में 'बनफूल' नाम से प्रसिद्ध हुआ। 'राजसैरेयक', बाणपुष्प पर्यायों से यह सैरेयकभेद प्रतीत होता है।

अर्क—धन्वन्तरिनिघण्टु में अर्कद्वय (अर्क और राजार्क) का वर्णन है (४।१३-१७)। राजार्क के पर्यायों में वसुक तथा अलर्क हैं। राजनिघण्टु में इनके अतिरिक्त, शुक्लार्क तथा श्वेतमन्दार नामों से अर्क के दो और भेदों का वर्णन है। इस प्रकार राजनिघण्टु के अनुसार अर्क के चार भेद हुए :—

१. अर्क
२. अलर्क
३. शुक्लार्क
४. श्वेतमन्दार

ये सब वानस्पतिक दृष्टि से Calotropis की ही प्रजातियाँ या प्रकार हैं।

अश्मवल्क—सोढलनिघण्टु में अश्मवल्क का वर्णन है[4]। राजनिघण्टु में पाषाणभेदविशेष के रूप में जो श्वेतशिला (शिलावल्का) वर्णित है वह अश्मवल्क ही है। (देखें खण्ड १, पाषाणभेद)

वैद्य बापालाल इससे गुजराती पानकांदो (Urginea indica) लेते हैं।

---

१. ज्ञेयाऽमृतस्रवा वृक्षरुहाख्या तोयवल्लिका।
घनवल्ली सितलता नामभिः शरसम्मिता॥
उक्ताऽमृतस्रवा पथ्या ईषत्तिक्ता रसायनी।
विषघ्नी व्रणकुष्ठामकामलाः श्वयथुं जयेत्॥ (रा. नि. ३।४५-४६)
२. अम्लायनो राजसैर्यः कोरण्डो नखरञ्जनः। (अ. नि., ३१९)
३. कै. नि. १।१५२५-२६
४. अश्मवल्के शिलावल्को हिमवासी हिमप्रियः। (सो. नि., I, ६६५)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

अश्वकाथरा—राजनिघण्टु ने इसका वर्णन किया है। यह तिक्त, दीपन तथा वातघ्न कही गई है[1]।

सम्भवतः यह Vitis araneosus Dalz & Gibs ex M. Laws है जो घोड़बेल के नाम से प्रसिद्ध है। यह कोंकण, नीलगिरि आदि पश्चिमी घाट के क्षेत्रों में होनेवाली आरोहिणी लता है। कोमल शाखायें घोड़ों को खिलाते हैं और कन्द सुखा कर चमारमुसली के नाम से कोंकण में बिकता है।

अश्वक्षुर—यह गिरिकर्णिका का पर्याय है। इस शीर्षक से गिरिकर्णीद्वय का वर्णन धन्वन्तरिनिघण्टु में किया गया है।

असिशिम्बी—असिशिम्बी का वर्णन राजनिघण्टु में शाकवर्ग में किया गया है[2]।

यह Sword bean के नाम के प्रसिद्ध canavalia gladiata (Jacq.) DC. है।

अस्थिशृङ्खलिका—अस्थिशृङ्खलिका (वज्रवल्ली) का वर्णन मदनपाल, कैयदेव, भावप्रकाश आदि निघण्टुओं में मिलता है। भावप्रकाश में इसके वटक का प्रयोग अतीव वातहारी कहा गया है।

अस्थिशृङ्खलिका या वज्रवल्ली Cissus quadrangularis Linn. है[3]।

आकारकरभ—सोढल ने आकारकरभ का वर्णन किया है[4] और गदनिग्रह में प्रयोग भी किया है। शार्ङ्गधर में भी इसके प्रयोग हैं। इसका प्रवेश यूनानी हकीमों के सम्पर्क से हुआ।

आभाबबूलक—आभाबबूलक का वर्णन कैयदेवनिघण्टु में बब्बूल के बाद पृथक् किया है अतः बबूल से यह भिन्न है। सोढलनिघण्टु में भी इसका बब्बूल से पृथक् वर्णन है, बब्बूल का वर्णन आम्रादि वर्ग में है जबकि आभा लक्ष्मणादि वर्ग में है। आभा स्निग्ध, उष्ण, कटुविपाक तथा वातशामक है[5]।

---

१. अश्वकाथरिका तिक्ता वातघ्नी दीपनी परा। (रा. नि. ५।३६)

२. असिशिम्बी खड्गशिम्बी शिम्बी निस्त्रिंशशिम्बिका।
स्थूलशिम्बी महाशिम्बी बृहच्छिम्बी सुशिम्बिका॥
असिशिम्बी तु मधुरा कषाया श्लेष्मपित्तजित्।
व्रणदोषापहन्त्री च शीतला रुचिदीपनी॥ (रा. नि. ७।४७–४८)

३. वर्णन, भाग २ में देखें।

४. करभे कफवातारिः श्लेष्महृद्दुष्टकरस्तथा। (सो. नि., ६९८)

५. आभा वातहरा सोष्णा स्निग्धा च कटुपाकिनी। (सो. नि., ५७५)
आभा वातहरा तिक्ता कर्णमोटा विषापहा। (कै. नि. १।१०८४)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

वैद्य बापालाल जी ने इसे Acacia arabica लिखा है जो बबूल है किन्तु उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर यह बबूल नहीं हो सकता। मेरे विचार से यह बबूल जाति (Acacia sp.) का भिन्न वृक्ष है।

आमलक—'वयःस्था' शीर्षक से आमलक का वर्णन धन्वन्तरिनिघण्टु तथा राजनिघण्टु में मिलता है। धन्वन्तरिनिघण्टु में प्राचीनामलक का वर्णन 'वयःस्था-विशेष' करके किया गया है। राजनिघण्टु में काष्ठधात्री तथा कर्कट ये दो और भेद आमलकी के किये गये हैं। सम्भवतः ये दोनों भेद जंगली आँवले के हैं।

आरामशीतला—आरामशीतला का वर्णन करवीरादि वर्ग में सुगन्धित पुष्पों के साथ राजनिघण्टु में है। इससे स्पष्ट है कि यह सुगन्धित पुष्पयुक्त वृक्ष है। आरामशीतला तिक्त, शीतल, पित्तहारक, दाहशोषप्रशमन तथा विस्फोटव्रणरोपण कही गई है[1]। कैयदेवनिघण्टु में यह देवगन्धा शीर्षक से वर्णित है[2]।

आशालिम—सोढलनिघण्टु ने कालमेषी और दरकृष्ण इसके पर्याय दिये हैं[3]। दरकृष्ण वातिक शूल एवं गुल्म का नाशक, स्तन्यजनन, बल्य तथा वाजीकरण है और लेप से रक्तज शूल का नाशक है। इसे गुजराती में अशलियो, मारवाड़ी में असलियो कहते हैं। यह हालिम या चन्द्रशूर का नाम है। भावप्रकाश में इसी द्रव्य का चन्द्रशूर नाम से वर्णन किया गया है। यह Lepidium sativum Linn. है।

आहुल्य-भूम्याहुल्य—आहुल्य का वर्णन राजनिघण्टु में है। यह आवल या तरवड (Cassia auriculata Linn.) है। यही आवर्त्तकी है।

भूम्याहुल्य इसीका कोई भेद प्रतीत होता है। राजनिघण्टु में इसका भी उल्लेख है[4]।

इक्षुदर्भा—यह दर्भवत् कोई तृणजातीय वनस्पति है। राजनिघण्टु में इसका वर्णन मिलता है[5]।

यह Saccharum sp. हो सकती है।

---

१. आरामशीतला नन्दा शीतला सा सुनन्दिनी।
रामा चैव महानन्दा गन्धाढ्याऽऽरामशीतला॥
आरामशीतला तिक्ता शीतला पित्तहारिणी।
दाहशोषप्रशमनी विस्फोटव्रणरोपणी॥ (रा. नि. १०।५२, ५३)

२. कै. नि. १।११-३-४

३. आशालिम्ने कालमेषी दरकृष्णः प्रकीर्त्तितः। (सो. नि., I, ६९१)
दरकृष्णो वातशूलगुल्मघ्नः स्तन्यपुष्टिकृत्।
बल्यो वाजीकरः पानात् लेपात् शोणितशूलनुत्॥ (सो. नि., II-२९१)

४. भूम्याहुल्यं कुष्ठकेतुर्मार्कण्डीयं महौषधम्। (रा. नि. ४।३६)

५. इक्षुदर्भा सुदर्भा च पत्रालुस्तृणपत्रिका।
इक्षुदर्भा सुमधुरा स्निग्धोष्णा तु कषायका।
कफपित्तहरा रुच्या लघुः सन्तर्पणी स्मृता॥ (रा. नि. ८।४७)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

उंसदान—सोढल ने इसका वर्णन किया है[1] ; यह उष्ण, कटु तथा तीक्ष्ण पाचन प्रतीत होता है जो पत्थर को भी हजम कर जाय (अश्मजरणः) ।

उखल—राजनिघण्टु में उखल का वर्णन किया है । इसे भूरितृण या तृणोत्तम कहा है तथा इसके गुणकर्म बलद, रुच्य एवं पशुओं के लिए हितकर बतलाये गये हैं[2] ।

यह कुटू का एक भेद (Fagopyrum tataricum Gaertn.) प्रतीत होता है जिसे पंजाब में उगल कहते हैं ।

उत्तुण्डक—सोढलनिघण्टु में इसका वर्णन मिलता है । उष्ट्रकण्ट, करभादन, तीक्ष्णाग्र, कण्टफला आदि इसके पर्याय हैं । यह कटु-तिक्त, कफवातहर है तथा इसके मूल को पीस कर पीने से स्त्रियों में शीघ्र प्रसवकारक होता है[3] ।

यह ऊँटकटारा नाम से प्रसिद्ध है । इसका वानस्पतिक नाम Echinops echinatus Roxb. है ।

उष्ट्रकाण्डी—राजनिघण्टु में इसका वर्णन है । यह रक्तपुष्पी तथा करभ-काण्डिका कही गई है । यह तिक्त, उष्ण, रुच्य तथा हृद्रोगनाशक है । इसके बीज मधुर-शीत, वृष्य और सन्तर्पण है[4] ।

यह वास्तविक उटंगन Blepharis edulis Pers है जो बाहर से आता है । भारत में होने वाली इसकी प्रजाति (B. Boerhaaviaefolia Pers.) है । इसमें रक्त पुष्प होते हैं ।

उष्णसुन्दर—केशवकृत सिद्धमन्त्र में कफपित्तघ्न वर्ग में उष्णसुन्दर का पाठ है । बोपदेव ने इसका अर्थ ग्रीष्मसुन्दर किया है ।

यह Glinus oppositifolius (Linn.) A. DC. है, जो ग्रीष्म ऋतु में फूलता है । इसे बंगाली में जिमा या गिमशाक कहते हैं ।

ऊंषदी—इसका पर्याय भिस्सटा दिया है[5] । भिस्सटा Mollugo hirta Thunb. है ।

---

१. उंसदाने चास्रदानं स चाश्मजरणस्तथा ।' (सो. नि., I–६६६)
उंसदानं कटूष्णं च विसूचीवमिकास्रजित् । (सो. नि., II–५७४)

२. उखलो भूरिपत्रश्च सुतृणश्च तृणोत्तमः ।
उखलो बलदोऽरुच्यः पशूनां सर्वदा हितः ॥ (रा. नि. ८।४६)

३. उत्तण्डकः कटुस्तिक्तः कफवातहरो लघुः ।
तन्मूलं पानतः स्त्रीणां शीघ्रं प्रसवकारकम् ॥ (सो. नि., II–५६७)

४. उष्ट्रकाण्डी तु तिक्तोष्णा रुच्या हृद्रोगहारिणी ।
तद्बीजं मधुरं शीतं वृष्यं सन्तर्पणं स्मृतम् ॥ (रा. नि., १०।४४)

५. ऊषन्द्यां भिस्सटा प्रोक्ता तडागमृत्तिकोद्भवा । (सो. नि., I–६९६)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

एकवीर—राजनिघण्टु में एकवीर का वर्णन है। यह कटु, उष्ण, वेदनाशामक, गृध्रसी, कटिशूल आदि में उपयोगी कहा गया है[1]। इसके एकलकंटो (गु०), पाले हसन (म०) आदि स्थानीय नाम हैं। यह Bridelia retusa Spreng. कहा जाता है[2]। Rheum nobile Hook. f. & Thomas, जो 'एकला बीर' के नाम से विदित है, पर भी विचार करना चाहिए।

एलान—मदनपालनिघण्टु में एलान आमवातघ्न, अम्ल, उष्ण, रेचन तथा पकने पर शीत, बल्य, वातपित्तशामक कहा गया है[3]। सिद्धमन्त्र में यह वातघ्न, पित्तोदासीन, कफकारक अम्ल फलों में निर्दिष्ट है। बोपदेव ने इसका अर्थ ऐरावत किया है, एक स्थल पर इसे प्रसिद्ध (फल) कहा है। कैयदेवनिघण्टु में भी इसका वर्णन मिलता है। (देखें खण्ड १, ऐरावत)

ऐरावती—कैयदेवनिघण्टु में ऐरावती का वर्णन खदिरभेदों में किया गया है। वल्लीखदिर या खदिरवल्लरी इसका पर्याय है[4] जिससे इसके लतास्वरूप का संकेत मिलता है। राजनिघण्टु ने सम्भवतः 'अरि (खदिरविशेष)' शीर्षक से इसीका वर्णन किया है।

वल्लीखदिर Acacia pennata Willd. है। (देखें, खण्ड १, आदाली)

कच्चक—सोढल ने कच्चक को रेची तथा पाण्डुरोगविनाशन कहा है[5]। बृहत्त्रयी में भी कच्चक या कच्छक का उल्लेख है।

ठा० बलवन्त सिंह ने इस सम्बन्ध में Xanthium strumarium Linn. की ओर संकेत किया है।

कश्चट—कश्चट का उल्लेख शकुलादनी नाम से पर्यायरत्नमाला में शालिञ्च और हिलमोचिका के बाद हुआ है। तोयपिप्पली, शकुलादनी, लांगली और शारदी इसके पर्याय हैं। 'शकुलादनी' द्वयर्थक कश्चट तथा कटुरोहिणी का वाचक है। कश्चट का स्थानीय नाम 'कांचड़ा शाक' दिया है जो कश्चट का अपभ्रंश है।

---

१. एकवीरो भवेच्चोष्णः कटुकस्तोदवातनुत्।
गृध्रसीकटिपृष्ठादिशूलपक्षाभिघातनुत्॥ (रा. नि., ८।८-९)

२. नि. आ.; उत्तरार्ध, पृ. ४०४

३. एलानमामवातघ्नमम्लोष्णं रेचनं गुरु।
पक्वं स्वादु हिमं बल्यं वातपित्तविनाशनम्॥ (म. नि., फलवर्ग)

४. आरिश्च वल्लीखदिरस्तथा खदिरवल्लरी।
ऐरावती सुगन्धा स्याद् वातप्रशमनी स्मृता॥
ऐरावती रसे पाके चाम्लोष्णाऽनिलकासहा। (कै. नि. १, ८२८-२९)

५. 'कच्चके कच्चको रेची पाण्डुरोगविनाशनः।' (सो. नि., I-६५६)
'कच्चकः कटुकस्तिक्तो रूक्षोष्णो दीपनो लघुः।
भेदनस्तुदरं हन्ति पाण्डुरोगं सकामलम्॥' (सो. नि., II-५९५)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

सिद्धमन्त्र में यह श्लेष्मल एवं वातपित्तघ्न द्रव्यों में निर्दिष्ट है। वोपदेव ने इसे 'जलशाकविशेष' कहा है। माधवद्रव्यगुण में रक्तपित्त-वातशामक, ईषत्तिक्त कहा गया है[1]। कैयदेवनिघण्टु में भी इसका विशद वर्णन है[2]। भावमिश्र ने इसे पानीय तण्डुलीय कहा है[3]।

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर कच्चट एक जलज शाक सिद्ध होता है तथा वानस्पतिक दृष्टि से जलपिप्पली या तण्डुलीयकभेद (जलज) प्रतीत होता है। मेरे विचार से, कच्चट Commelina bengalensis Linn. या C. nudiflora Linn. है जो कचड़ा या केना के नाम से प्रसिद्ध है।

कटुपर्णी—मदनपाल तथा भावप्रकाश निघण्टुओं में कटुपर्णी स्वर्णक्षीरी का पर्याय है। भावप्रकाश में इसके मूल को चोक कहा है। स्वर्णक्षीरी वस्तुतः कश्मीर की हिरवी (Euphorbia thomsoniana) है किन्तु आजकल सत्यानाशी (Argemone mexicana) प्रायः इस नाम से चल रही है। चोक के नाम से हिरवी की जड़ पंजाब में बिकती है तथा अन्य प्रदेशों में सत्यानाशी का मूल चोक कहलाता है। अतः यह कहना कठिन है कि उपर्युक्त निघण्टुओं का अभिप्राय हिरवी से है या सत्यानाशी से। वर्णन तो प्रायः हिरवी के ही मिलते हैं। मदनपाल के काल (१४वीं शती) में सत्यानाशी का प्रवेश भारत में हुआ था या नहीं यह भी संशयास्पद है।

कट्वी—राजनिघण्टु में कट्वी का वर्णन है। यह कटुकवल्ली तथा पशुमोहनिका कही गई है। यह कास-श्वास, ज्वर विशेषतः राजयक्ष्मा में लाभकर है[4]।

यह Viscum monoicum Roxb. ex DC. है। (देखें खण्ड १, मोहनिका)।

कण्टपुंखा—राजनिघण्टु में शरपुंखा के भेद के रूप में कण्टपुंखा का वर्णन है[5]।

यह Tephrosia spinosa Pers. या T. uniflora Pers subsp. petrosa (Blatt & Halb.) Gill & Ali हो सकती है। पहली वनस्पति दक्षिण भारत में तथा दूसरी पंजाब और राजस्थान में होती है।

---

१. रक्तपित्तानिलहरं सतिक्तं कच्चटं मतम्। (मा. द्र., शाकवर्ग, १४)

२. १।७३०-७३२

३. पानीयतण्डुलीयं तु कच्चटं समुदाहृतम्।
कच्चटं तिक्तकं रक्तपित्तानिलहरं लघु॥ (भा. प्र., शाकवर्ग, १४)

४. कट्वी तु कटुका शीता कफश्वासार्त्तिनाशिनी।
नानाज्वरहरा रुच्या राजयक्ष्मनिवारिणी॥ (रा. नि. ३।४३, ४४)

५. अन्या तु कण्टपुंखा स्यात् कण्टालुः कण्टपुंखिका।
कण्टपुंखा कटूष्णा स्यात् कृमिशूलविनाशिनी॥ (रा. नि., ४।९)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कदलीभेद—राजनिघण्टु में कदली के काष्ठकदली, गिरिकदली तथा सुवर्णकदली ये तीन भेदविशेष किये गये हैं। काष्ठकदली काष्ठवत् कठोर होती है। गिरिकदली में बहुत बीज होते हैं, यह जंगलों में स्वयं उत्पन्न होती है। आसाम के जंगलों में बहुत दृष्टिगोचर होती है। सुवर्णकदली श्रेष्ठ जाति है। भावमिश्र ने माणिक्य, मर्त्य, अमृत, चम्पककदली आदि भेदों का निर्देश किया है।

कन्थारी—अष्टांगनिघण्टु में कन्थारी का वर्णन है जिसमें खदिरवल्ली पर्याय दिया है[1]। कैयदेवनिघण्टु में ऐरावती (खदिरवल्ली) के बाद ही कन्थारी का वर्णन किया है। राजनिघण्टु में तीक्ष्णकण्टका, तीक्ष्णगन्धा आदि पर्याय दिये हैं।

कैयदेवनिघण्टु में 'अहिंसा' पर्याय होने के कारण यह हिंसा ही ससझा जाता है। हिंस्रा का स्थानीय नाम कंथार भी इसका समर्थक है।

करजोडिकन्द—राजनिघण्टु में इसका वर्णन है। इसे स्थानीय भाषा में हत्थाजोड़ी कहते हैं। Selaginella rupestris Spreng या अन्य प्रजातियाँ हत्थाजोड़ी के नाम से प्रचलित हैं। इसका रसकर्म तथा वशीकरण आदि तान्त्रिक क्रियाओं में उपयोग होता था[2]।

करञ्जभेद—सोढल ने करञ्ज, उदकीर्य तथा वल्लीकरञ्ज का वर्णन किया है। मदनपाल ने करञ्ज के अतिरिक्त करञ्जिका तथा तिरिगिच्छि (कण्टकरञ्ज) का वर्णन किया है। राजनिघण्टु में लताकरञ्ज का पृथक् वर्णन किया गया है। इसका पर्याय कुबेराक्ष दिया है। भावमिश्र ने नक्तमाल, प्रकीर्य और उदकीर्य तीन भेदों का वर्णन किया है। उदकीर्य (तृतीय भेद) के ही नाम करञ्जी, मर्कटी, षड्ग्रन्था आदि दिये हैं। निघण्टुशेष में करञ्ज के तीन भेद-षड्ग्रन्थ, मर्कटी तथा अङ्गारवल्ली किये गये हैं। (विशेष विवेचन के लिए देखें खण्ड १, करञ्ज)।

करट—धन्वन्तरिनिघन्टु तथा राजनिघण्टु में त्रिपुट (खेसारी) के लिए 'करट' शीर्षक दिया है। राजनिवण्टु ने इसके लिए 'लङ्का' पर्याय भी दिया है।

करंट-कोरण्ट—सोढल ने इसे वातव्याधिविनाशन कहा है तथा इसके क्षार का प्रयोग बतलाया है[3]। सामान्यतः इससे कुरुण्टक (सैरेयक) का ग्रहण करते हैं। करण्टा (कलघण्टिका) का ग्रहण भी किया जा सकता है जो Cryptolepis buchanani है (देखें सारिवाद्वय)।

करवीरभेद—करवीर का प्रयोग बृहत्त्रयी में भी है। इसके प्राचीन भेद श्वेत और रक्त दो हैं जो पुष्पवर्ण के आधार पर हैं। धन्वन्तरिनिघण्टु में ऐसा ही

---

१. कालान्त्रद्वारी कन्थारी फगी खदिरवल्ल्यपि। (अ. नि., २१८)

२. करजोडिरिति ख्यातो रसबन्धादिवश्यकृत्। (रा. नि., ७।५७)

३. करण्टे कोरणः प्रोक्तो वातव्याधिविनाशनः। (सो. नि. I–६७३)
'कोरण्टसंभवः क्षारो वातव्याधिविनाशनः।' („ II, ५८७)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

है। यह Nerium indicum Mill है। इसमें दोनों प्रकार के पुष्प मिलते हैं। कैयदेव ने एक अन्य पीतपुष्प भेद कर तीन प्रकार के करवीर का वर्णन किया है। राजनिघण्टु ने एक चतुर्थ भेद कृष्ण का भी उल्लेख किया है और चारों के गुण समान बतलाये हैं[1]।

पीत और कृष्ण भेदों से निघण्टुकारों का क्या अभिप्राय है कहना कठिन है। पीत भेद Thevetia neriifolia नहीं प्रतीत होता। संभावतः ये दोनों भिन्न वनस्पतियां हैं जिन्हें करवीरभेद कर लिखा गया।

करुण-करुणी—निघण्टुशेष के वृक्षकाण्ड (१।५२) में करुण का वर्णन है। इसे छागल तथा मल्लिकाकुसुम कहा है[2]। माधवद्रव्यगुण में फलवर्ग में करुण के फल का वर्णन है इससे संकेत मिलता है कि इसका फल खाया जाता था। राजनिघण्टु में करवीरादि वर्ग में 'करुणी' शीर्षक से इसका वर्णन है। यह कटु-तिक्त, उष्ण तथा कफवातनाशक कही गई है। ग्रीष्मपुष्पी, रक्तपुष्पी आदि इसके पर्याय हैं[3]।

ऐसा लगता है कि करुण और करुणी भिन्न हैं क्योंकि करुण 'मल्लिकाकुसुम' (श्वेतपुष्प) है जबकि करुणी 'रक्तपुष्पी' है।

कर्णस्फोटा—कर्णस्फोटा बृहत्त्रयी में नहीं मिलती। राजनिघण्टु ने इसका वर्णन किया है। यह कटु-तिक्त, शीतवीर्य, विषघ्न, ग्रहादिनाशक तथा रसायन कही गई है[3]।

यह लताफटकी के नाम से प्रसिद्ध है। बंगाल-आसाम के कविराज इसे ज्योतिष्मती मानते हैं। यह प्राचीन काकादनी (Cardiospermum halicacabum Linn.) है। (देखें काकादनी)

कर्पूर—बृहत्त्रयी में कर्पूर के प्रयोग हैं किन्तु निघण्टुओं जैसा उसके भेदों का वर्णन नहीं है। कैयदेवनिघण्टु में कर्पूर द्विविध कहा गया है। पुनः अपक्व कर्पूर तीन प्रकार का कहा गया—ईशावास, हिमसंज्ञ और पोताश्रय। पक्व कर्पूर दो

---

१. चतुर्विधोऽयं गुणे तुल्यः। (रा. नि. ४।६-७)

२. करुणे तु छागलाख्यो मल्लिकाकुसुमः प्रियः।

३. करुणी ग्रीष्मपुष्पी स्याद् रक्तपुष्पी च वारुणी॥
राजप्रिया राजपुष्पी सूक्ष्मा च ब्रह्मचारिणी॥
करुणी कटुतिक्तोष्णा कफमारुतनाशिनी।
आध्मानविषविच्छर्दिजन्तूर्ध्वश्वासहारिणी॥ (रा. नि. १०।२७-२८)

४. कर्णस्फोटा श्रुतिस्फोटा त्रिपुटा कृष्णतण्डुला।
चित्रपर्णी स्फोटलता चन्द्रिका चार्धचन्द्रिका॥
कर्णस्फोटा कटुस्तिक्ता हिमा सर्वविषापहा।
ग्रहभूतादिदोषघ्नी सर्वव्याधिविनाशिनी॥ (रा. नि. ३।४१-४२)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

प्रकार का कहा गया—सदल और निर्दल। इनके अतिरिक्त, भास्करकर्पूर, पर्णकर्पूर तथा चीनाककर्पूर इन तीन विशिष्ट कर्पूरभेदों का वर्णन किया[1]। राजनिघण्टु में भी अनेक भेदों का निर्देश कर चीनक का विशेष रूप से वर्णन किया। भावप्रकाश में भी पक्व और अपक्व कर्पूरभेदों का वर्णन कर चीनाक कर्पूर का पृथक् वर्णन किया। ये सब भेद कर्पूर के उद्भव, वर्ण, स्वरूप आदि पर आधारित हैं[2]।

कर्मार—कर्मार कर्मरंग (कमरख) है। बृहत्त्रयी में यह नहीं मिलता। सम्भवतः 'दन्तशठ' से इसका अभिधान किया गया हो (देखें दन्तशठ)। पर्यायरत्नमाला में भव्य का पर्याय कर्मफल दिया है। चक्रपाणि ने भी भव्य की व्याख्या में उसका अर्थ कर्मरंग किया है (च. सू. २७।१३१)। माधवद्रव्यगुण (फलवर्ग) में कर्मरंग का स्पष्ट वर्णन है। मदनपालनिघण्टु तथा भावप्रकाश में भी कर्मरंग का वर्णन है। राजनिघण्टु में 'कर्मार' नाम से इसका वर्णन है (रा. नि. ११।१३–१४)।

कलम्बक—पीतचन्दन को भावमिश्र ने 'कलम्बक इति लोके' लिखा है। असली कलम्बक अफ्रीका में होने वाली लता जाति की वनस्पति Jateorrhiza palmata Miers है। इसके प्रतिनिधि रूप में (false calumba) Coscinum fenestratum (Gaertn.) Colebr. का व्यवहार होता है जो झाड़ की हलदी के नाम से प्रसिद्ध है। इसे अनेक विद्वानों ने कालेयक माना है किन्तु वस्तुतः यह कलम्बक है, कालेयक नहीं। (देखें कालेयक)

काकदोला—सोढल ने इसका वर्णन लक्ष्मणादि वर्ग में किया है[3]। यह कोई रक्तस्तम्भन वनस्पति प्रतीत होती है। गुजराती में यह 'काकडोलिओ' नाम से प्रसिद्ध है। वैद्य बापालाल जी ने इसे Cardiospermum halicacabum Linn. माना है जो कर्णस्फोटा (लताफटकी) के नाम से उत्तर भारत में प्रचलित है। (देखें कर्णस्फोटा)

काकमाची—धन्वन्तरिनिघण्टु में काकमाची का वर्णन होने के बाद 'काकमाचीविशेष' के रूप में निम्नांकित द्रव्यों का वर्णन किया है :—

१. काकजंघा
२. काकनासा
३. काकादनी
४. चूडामणि
५. श्वेतकाम्भोजी

---

१. कै. नि. १।१२७७–१२९०
२. विवरण के लिए देखें भाग २
३. काकाख्यायां काकदोला वताख्याप्रहरी मता। (सो. नि. ६८४)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

अन्तिम दो भेद गुञ्जाद्वय कहे गये हैं। स्पष्टतः ये द्रव्य यद्यपि 'काकपरक' हैं तथापि एक दूसरे से नितान्त भिन्न हैं।

काञ्चनी—सोढल ने इसका वर्णन किया है। सप्तकन्दा तथा पातालकन्यका इसके पर्याय हैं, इससे यह कन्दमय वनस्पति है इसका संकेत मिलता है। मदनपाल ने इसे शोणफलिनी तथा काकवल्लरी कहा है। यह स्तन्यजनन, शिरःशूलहर तथा त्रिदोषघ्न है[1]।

वैद्य बापालालजी इसे काञ्चनार प्रजाति (Bauhinia racemosa) मानने के पक्ष में हैं किन्तु उपर्युक्त वर्णन उसमें नहीं मिलते।

काण्डीर—धन्वन्तरिनिघण्टु में काण्डीर का वर्णन है[2]। काण्डकटुक, नासासंवेदन, तोयवल्ली तथा कारवल्ली इसके पर्याय हैं जिनसे गुणधर्म तथा स्वरूप का संकेत मिलता है। यह कटु-तिक्त, उष्णवीर्य, सर तथा दुष्ट व्रण, लूता, गुल्म, उदर प्लीह, शूल एवं मन्दाग्नि में हितकर कहा गया है।

यह Ranunculus sceleratus Linn. है जो जलधनियाँ या देवकांडर के नाम से लोकप्रचलित है। यह प्लेग की बूटी के नाम से भी जानी जाती है। (देखें गण्डीर)

कामवृद्धि—राजनिघण्टु ने इसका वर्णन किया है। इसके बीज मधुर, बल्य, वृष्य तथा शिश्नवर्धक कहे गये हैं[3]।

संभवतः यह उटंगन (Blepharis edulls Pers.) है जिसका प्रचार यूनानी हकीमों द्वारा हुआ।

काम्बोजी—सोढलनिघण्टु में इसका वर्णन मिलता है[4]।

वैद्य बापालाल जी ने इसकी पहचान गुजराती कम्बोई से की है जो Breynia patens Benth. है।

कारस्कर—राजनिघण्टु ने स्पष्ट रूप से कुचला (Strychnos nuxvomica Linn.) का वर्णन कारस्कर नाम से किया है। यह कटु-तिक्त, उष्णवीर्य,

---

१. काञ्चनी शोणफलिनी काकायुः काकवल्लरी।
काञ्चनी स्तन्यदा मूर्धव्यथादोषत्रयापहा॥

२. काण्डीरः काण्डकटुको नासासंवेदनः पटुः।
उग्रकाण्डस्तोयवल्ली कारवल्ली सुकाण्डकः॥
काण्डीरः कटुतिक्तोष्णः सरो दुष्टव्रणार्त्तिजित्।
लूतागुल्मोदरप्लीहशूलमन्दाग्निनाशनः॥ (ध. नि. ४।६२-६२)

३. कामवृद्धेस्तु बीजं स्यात् मधुरं बलवर्धनम्।
कामवृद्धिकरं रुच्यं बहुलेन्द्रियवृद्धिदम्॥ (रा. नि. ४।५२)

४. काम्बोजिन्यां च काम्बोजी बहुपुष्पा बहुप्रजा। (सो. नि. ६६८)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कुष्ठघ्न, वातव्याधि, कण्डू, कफरोग, आमदोष, अर्श तथा व्रण में उपयोगी कहा गया है[१]।

कारी—राजनिघण्टु ने इसका वर्णन किया है। यह दो प्रकार की कही गई है—कण्टकारी (कण्टकयुक्त) और आकर्षकारी (निष्कण्टक)। दोनों प्रकार की कारी कषाय-मधुर, पित्तनाशक, दीपन, ग्राही, रुचिकर, कण्ठशोधन तथा गुरु है[२]।

बंगलोर क्षेत्रीय अनुसन्धान संस्थान के शोधकर्त्ताओं ने इसकी पहचान Canthium parviflorum Lam. से की है जो कन्नड़ में 'कारी' के नाम से प्रसिद्ध भी है। C. umbellatum Wight इसका भेद हो सकता है।

यह पौधा भारत के पश्चिमी भाग में कोंकण से लेकर दक्षिण में श्रीलंका तक पाया जाता है।

कालाञ्जनी—कालाञ्जनी का वर्णन राजनिघण्टु में मिलता है। सिद्धमन्त्र में यह कफवातघ्न वर्ग में पठित है। वोपदेव ने इसका अर्थ 'नीली' किया है। कालाञ्जनी कटु, उष्ण, रेचन तथा उदररोगों में हितकर है[३]।

मेरे विचार से, यह कृष्णबीज (Ipomoea nil (Linn.) Roth.) है जो काला दाना या झारमरिच के नाम से लोकप्रचलित है[४]। इसका चूर्ण रेचनार्थ प्रयुक्त होता है।

किङ्किणी—मदनपालनिघण्टु में किङ्किणी का वर्णन है। किङ्किणी कषाय-तिक्त, पित्तश्लेष्महर, शीत कही गई है। इसके फल आमावस्था में वातवर्धक तथा पक्वावस्था में मधुर एवं त्रिदोषघ्न होते हैं[५]।

यह विकङ्कतभेद (Flacourtia sepiaria Roxb.) हो सकता है। इसके

---

१. कारस्करस्तु किंपाको विषतिन्दुर्विषद्रुमः।
गरद्रुमो रम्यफलः कुपाकः कालकूटकः॥
कारस्करः कटूष्णश्च तिक्तः कुष्ठविनाशनः।
वातामयास्रकण्डूतिकफामार्शोव्रणापहः॥ (रा. नि. ९।३५-३६)

२. कारी तु कारिका कार्या गिरिजा कटुपत्रिका।
तत्रैका कण्टकारी स्यादन्या त्वाकर्षकारिका॥
कारी कषायमधुरा द्विविधा पित्तनाशिनी।
दीपनी ग्राहिणी रुच्या कण्ठशोधकरी गुरुः॥ (रा. नि., ८।२६-२७)

३. कालाञ्जनी कटूष्णा च मलामकृमिशोधनी।
अपानावर्त्तशमनी जठरामयहारिणी॥ (रा. नि., ४।४४)

४. विवरण भाग २ में देखें।

५. किङ्किणी तुवरा तिक्ता पित्तश्लेष्महरा हिमा।
तत्फलं वातलं त्वामं पक्वं स्वादु त्रिदोषजित्॥

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

छोटे ग्रन्थिल, कंटकित गुल्म होते हैं जिनमें रक्ताभ मटर के सदृश फल लगते हैं। फल खाये जाते हैं।

किङ्किरात—धन्वन्तरिनिघण्टु में यह आम्रादि वर्ग में वर्णित है[1]। पीतक, हेमगौर, षट्पदानन्दवर्धन आदि पर्यायों से इसके पीतवर्ण सुगंधित पुष्पों का संकेत मिलता है। इसीके अनुसार कैयदेवनिघण्टु तथा भावप्रकाश में भी इसका वर्णन है।

यह Garuga pinnata Roxb. हो सकता है जिसे 'केंकर' कहते हैं। इसका वृक्ष मध्यमप्रमाण होता है, पुष्प पीतवर्ण होते हैं।

किंपाक—पर्यायरत्नमाला (३७८) तथा निघण्टुशेष (१।१५५) में किंपाक महाकाल के पर्याय में आया है। इसके फल कौये खाते हैं किन्तु खाने पर पीड़ित हो जाते हैं अतः 'काकार्द' और 'काकमर्दक' भी इसके पर्याय हैं।

महाकाल Trichosamthus palmata Roxb. है जो महकार (बड़ी इन्द्रायण) के नाम से लोकप्रचलित है। इसके फल पकने पर सुन्दर लाल रंग के होते हैं जिनसे कौये आकृष्ट होते हैं।

कारस्कर (कुचला) के पर्यायों में भी किंपाक आया है। कामन्दकीय नीतिसार में 'किंपाकवृक्ष' का उल्लेख है[2]। महाकाल की लता होती है, वृक्ष नहीं, वृक्ष कारस्कर का होता है। इसके अनुसार कारस्कर अधिक उपयुक्त है। इसके फल तिन्दुकाकार, पीतवर्ण होते हैं। इसके पर्यायों में काकतिन्दुक, काकपीलुक आते हैं।

कीटगन्धा—कीटगन्धा उष्ण, बल्य, वृष्य, रक्तदोषनाशक तथा वन्ध्यत्व-नाशक है[3]।

कीटमारी—कीटमारी तिक्त, दन्तकृमिहर तथा विषघ्न है[4]। राजनिघण्टु में यही धूम्रपत्रा है[5]।

यह कीडामारी (गु.) नाम से प्रसिद्ध वनस्पति (Aristolochia bracteata Retz) है।

कुकुरुन्द—कुकुरुन्द माधवद्रव्यगुण (१।९७) में वर्णित है। यह कटु-तिक्त, ज्वर, रक्तविकार तथा कफरोगों में लाभकर कहा गया है[6]। भावप्रकाश में यही कुकुन्दर नाम से है।

---

१. ५।१५६–१५७

२. फलं किंपाकवृक्षस्य ध्वांक्षा भक्षन्ति नेतरे।

३. कीटगन्धा रसे तिक्ता किंचिदुष्णा बलप्रदा।
वृष्या रक्तामहन्त्री च वन्ध्यागर्भप्रदायिनी ॥ (सो. नि. II–५९८)

४. कीटमारी रसे तिक्ता दन्तकृमिविषापहा। (सो. नि. II–५६५)

५. रा. नि. ५।८–९

६. कुकुरुन्दः कटुस्तिक्तो ज्वररक्तकफापहः।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

यह कुकरौंधा Blumea lacera DC. है।

कुचेलिका—कैयदेवनिघण्टु में पाठा से पृथक् कुचेलिका का वर्णन है। चरकसंहिता के शाकवर्ग में भी पाठा और कुचेला पृथक् वर्णित हैं। इस प्रकार कुचेलिका पाठाभेद है जो राजपाठा के नाम से विदित है। धन्वन्तरिनिघण्टु में 'श्वासारि' शीर्षक से एक पाठाविशेष का वर्णन है। कहना कठिन है कि यह कुचेलिका ही है। सिद्धमन्त्र में कुचेला कफपित्तघ्न वातवर्धक द्रव्यों में परिगणित है। वोपदेव ने इसे पाठाभेद लिखा है।

कुटुम्बिनी—राजनिघण्टु में इसका वर्णन है। यह पयस्या, जलेरुहा, शीतला कही गई है जिससे इसके स्वरूप, उद्भवस्थान तथा गुणधर्म का संकेत मिलता है। यह रसायन कही गई है।

संभवतः यह पयस्याभेद (Pentatropis sp.) है जो विशेषतः जलीय प्रदेशों में होता है।

कुडुहुञ्ची—राजनिघण्टु में यह त्रपुसविशेष के रूप में वर्णित है। इसकी पहचान बंगलोर के शोधकर्त्ताओं ने Momordica tuberosa (Roxb.) Cogn. से की है जो कन्नड़ में करसी कत्री कही जाती है[1]। इसमें ग्रन्थोक्त सभी लक्षण मिलते हैं। यह कन्दमय वनस्पति है। इसके फल और कन्द दोनों का प्रयोग होता है। यह क्षुद्रकारवल्ली या कारली भी कही गई है। इसका कन्द अर्शोघ्न, रेचन तथा योनिविशोधन है[2]।

कुबेराक्षी—वस्तुतः यह पाटलाभेद है किन्तु परवर्त्ती निघण्टुओं में यह लताकरञ्ज के लिए व्यवहृत हुआ है। सोढलनिघण्टु में कण्टकी करञ्ज के पर्यायों में है[3]।

कुम्भाट—पर्यायरत्नमाला में कुम्भाट का वर्णन है[4]। इसका स्थानीय नाम कुम्भाडु दिया है। यह बंगाल की प्रसिद्ध कुम्भाडुलता है जिसका उल्लेख मधुकोष में भी अनेक बार किया है[5]।

संभवतः यह कुम्भी की ही छोटी जाति (Careya herbacea Roxb.) है।

---

१. J. R. I. M. Vol. XII, no. 1, March, 1977.

२. कुडुहुञ्ची कटुरुष्णा तिक्ता रुचिकारिणी च दीपनदा।
रक्तानिलदोषकरी पथ्यापि च सा फले प्रोक्ता॥
कारलीकन्दमर्शोघ्नं मलरोधविशोधनम्।
योनिनिर्गतदोषघ्नं गर्भस्रावविषापहम्॥ (रा. नि. ३।२८२, २८३)

३. कुबेराक्षी क्रकचिका करञ्जा तिरिगच्छिका।
वारणी सरणी वल्ली ज्ञेया कंटकिनीति च॥ (सो. नि. ६१७)

४. कुम्भाटश्चावटीलता। (प. र., ७५४).

५. कुम्भी कुम्भाडुलता। (मधुकोष. ४८।४)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कुम्भी—राजनिघण्टु में इसका वर्णन है[1]। यह प्रसिद्ध कुम्भीवृक्ष (Careya arborea Roxb.) है।

कुरी—राजनिघण्टु में धान्यविशेष के रूप में इसका वर्णन है। यह मधुर, बल्य तथा घोड़ों के लिए विशेष पुष्टिकर है[2]।

कुरी कंगु (Panicum miliare) का वन्य प्रकार है। इसमें निम्नांकित दो वानस्पतिक प्रकार आते हैं :—

१. Panicum psilopodium Trin. var. Psilopodium,
२. ,, ,, ,, Var. coloratum Hook. f.

राजस्थान में यह कुरी के नाम से प्रचलित है।

कुलञ्ज (न)—राजनिघण्टु में कुलञ्ज (न) का स्पष्ट रूप से वर्णन है[3] जबकि भावप्रकाश में यह महाभरी वचा के नाम से वर्णित है।

यह Alpinia galanga Willd. है।

कुलत्था—कुलत्था वनकुलत्थिका (वनकुलथी) या चक्षुष्या (चाकसू) है। सुश्रुत और वाग्भट में यह कुलत्थिका नाम से है। यह नेत्र के लिए विशेष रूप में हितकर है[4]।

यह Cassia absus Linn. है।

कुशिंशपा—निघण्टुशेष में शिंशपाभेद को कुशिंशपा कहा है। यह कपिलवर्ण होती है जबकि शिंशपा श्यामा होती है। कैयदेवनिघण्टु में भी कुशिंशपा का उल्लेख है। भावप्रकाश ने भी शिंशपा के इन भेदों का निर्देश किया है यद्यपि 'कुशिंशपा' शब्द का प्रयोग नहीं किया है।

यह Dalbergia sissoides Grah. हो सकती है जिसका सारभाग शिंशपा (D. sissoo Roxb.) की अपेक्षा हलके रंग का होता है।

---

१. कुम्भी रोमालुविटपी रोमशः पर्पटद्रुमः।
कुम्भी कटुः कषायोष्णो ग्राही वातकफापहः॥ (रा. नि. ९।१९)
गलती से 'कुम्भीरो मालुविटपी' ऐसा पाठ कर 'कुम्भीर' शीर्षक दिया गया है किन्तु शुद्ध पाठ 'कुम्भी' है।

२. कुरी तु तृणधान्यं स्यान् मधुरं तद् बलप्रदम्।
हरितं वार्धकं पक्वं वाजिनां पुष्टिदायकम्॥ (रा. नि. ६।१७९)

३. कुलञ्जो गन्धमूलश्च तीक्ष्णमूलः कुलञ्जनः।
कुलञ्जः कटुतिक्तोष्णो दीपनो मुखदोषनुत्॥ (रा. नि. ६।११)

४. कुलत्था दृक्प्रसादा च ज्ञेयारण्यकुलत्थिका।
कुलाली लोचनहिता चक्षुष्या कुम्भकारिका॥
कुलत्थिका कटुस्तिक्ता स्यादर्शःशूलनाशिनी।
विबन्धाध्मानशमनी चक्षुष्या व्रणरोपणी॥ (रा. नि. ५।१८, १९)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कूर्चपर्णी—कूर्चपर्णी सिद्धमन्त्र के कफपित्तघ्न वर्ग में पठित है। वोपदेव ने इसका अर्थ मेढवल्ली किया है। संभवतः उनका अभिप्राय मेषशृङ्गी से है।

केकिदंडा—सोढलनिघण्टु में यह मिलता है। वैद्य बापालालजी ने इसे Leea macrophylla (हस्तिकर्णपलाश) माना है। वह लिखते हैं कि गुजरात में यह मोरदेनी या मोरडिंडा कही जाती है। यह दो प्रकार की होती है—देनी और मोरदेनी। देनी की पत्ती छोटी होती है और मोरदेनी के पत्ते हस्तिकर्णवत् बड़े होते हैं। केकिदंडा द्वितीय भेद है[1]।

केविका—भृङ्गारि, भृङ्गमारी, अलिमोहिनी, महासुगन्धा इन पर्यायों से भ्रमरच्छली (Hymenodictyon excelsnm Wall.) का संकेत मिलता है। इसमें छोटे हरिताभ श्वेत, सुगन्धित पुष्प अन्त्य उत्थित मञ्जरियों में लगते हैं। किन्तु यह तिक्त-कषाय होती है जबकि केविका मधुर-शीत कही गई है[2]। अतः अधिक संभावना है कि यह कोई केतकी-प्रजाति (Pandanus sp.) हो जो बंगाल में 'केया' के नाम से प्रचलित है।

कैवर्त्तिका—राजनिघण्टु में इसका वर्णन मिलता है। इसकी पहचान Ventilago maderaspatana Gaertn से की गई है जिसे आदिवासी केवटी कहते हैं। इसकी बड़ी विस्तृत लता होती है जिसकी छाल के विदारों में लालरंग होता है। यह कासश्वासहर तथा दीपन कही गई है[3]।

कोलकन्द—राजनिघण्टु में कन्दों के प्रकरण में कोलकन्द का वर्णन है। यह कृमिघ्न तथा विषघ्न कहा गया है[4]।

यह Urginea indica Kunth. है।

कोलिपत्र—यह निघण्टुशेष में है। जोरण इसका पर्याय है[5]।

---

१. भूमिका, सोढलनिघण्टु, पृ. २७

२. केविका मधुरा शीता दाहपित्तश्रमापहा।
वातश्लेष्मरुजां हन्त्री पित्तच्छर्दिविनाशिनी॥ (रा. नि. १०।३४)

३. कैवर्त्तिका सुरङ्गा च लतावल्ली द्रुमारुहा।
रिङ्गिणी वस्त्ररङ्गा च सुभगेत्यष्टधाभिधा॥
कैवर्त्तिका लघुर्वृष्या कषाया कफनाशिनी।
कासश्वासहरा चैव सैव मन्दाग्निदोषनुत्॥ (रा. नि. ३।३५, ३६)

४. कोलकन्दः कृमिघ्नश्च पक्षलो वस्त्रपक्षलः।
पुटालुः सुपुटश्चैव पुटकन्दश्च सप्तधा॥
कोलकन्दः कटुश्चोष्णः कृमिदोषविनाशनः।
वान्तिविच्छर्दिशमनो विषदोषनिवारणः॥ (रा. नि. ७।३८, ३९)

५. कोलिपत्रे तु जोरणः। (नि. शे., १०७)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

क्षीरनदी—सोढल ने इसका वर्णन किया है। स्थानीय नाम 'खिरनई' दिया है। अर्कपुष्पी, सुदुग्धी इसके पर्याय हैं। यह वही द्रव्य प्रतीत होता है जो संहिताओं में पयस्या, क्षीरिणी आदि संज्ञाओं से अभिहित है। यह Pentatropis sp. है। (देखें पयस्या)

क्षीरिणी—धन्वन्तरिनिघण्टु में 'क्षीरिणी' शीर्षक से स्वर्णक्षीरी का वर्णन किया है। एक अन्य भेद सर्वक्षीरी का भी वर्णन है। इस प्रकार क्षीरिणीयुगल का वर्णन है[1]। संहिताओं में भी 'काञ्चनक्षीर्यों' का उल्लेख है। (देखें काञ्चनक्षीरी)

क्षुत्करी—सोढलनिघण्टु में इसका वर्णन है[2]। वैद्य बापालाल जी इससे क्षवक (Centipeda orbicularis) का ग्रहण करते हैं किन्तु कङ्कतिका आदि पर्यायों को देखने से यह भिन्न वनस्पति प्रतीत होती है। इसका स्थानीय नाम कांकसी दिया है।

खदिरभेद—निघण्टुओं में प्रायः खदिर, कदर तथा इरिमेद (विट्खदिर) इन तीन खदिरभेदों का वर्णन मिलता है[3]। राजनिघण्टु में इनके अतिरिक्त ताम्रकण्टक और अरि इन दो अन्य भेदों का भी वर्णन है। ताम्रकण्टक खदिर की ही कोई प्रजाति है। अरि Acacia pennata प्रतीत होती है।

खवल्ली—खवल्ली (आकाशवल्ली) का वर्णन निघण्टुओं में मिलता है। आकाशवल्ली (अमरबेल या अमरलत्ती) के नाम से निम्नांकित वनस्पतियाँ प्रचलित हैं :—

१. Cassytha filiformis Linn.

२. Cuscuta reflexa Roxb.[4]

'अमृतवल्ली' शीर्षक से भी इसका वर्णन किया गया है।

गङ्गाटी—सोढलनिघण्टु में इसका वर्णन है[5]। सम्भवतः यह Sida spinosa Linn. है जो गङ्गेटी नाम से प्रसिद्ध है।

गङ्गापत्री—राजनिघण्टु में इसका वर्णन है। सुगन्धा, गन्धपत्रिका इसके पर्याय हैं जिनसे इसके सुगन्धित पत्रों का संकेत मिलता है। गुणकर्म में यह कटु, उष्ण, वातहर तथा व्रणरोपण है[6]।

१. ध. नि. १।२४०, २४३

२. क्षुत्कर्यां वामनी ज्ञेया रूक्षणा कफनाशिनी।
कङ्कतिका च सा प्रोक्ता मलस्नेहहरीति त्व॥ (सो. नि., ६८१)

३. देखें भाग २

४. विशेष विवरण भाग २ में देखें।

५. गङ्गाख्यां गङ्गटी चैव पित्तव्रणप्रसादनी। (सो. नि., ६८३)

६. गङ्गापत्री तु पत्री स्याद् सुगन्धा गन्धपत्रिका।
गङ्गापत्री कटूष्णा च वातजिद् व्रणरोपणी॥ (रा. नि. १०।४५)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

यह तुलसीकुल की Hyptis प्रजाति की वनस्पति प्रतीत होती है जो 'गङ्गा-तुलसी' के नाम से विदित है।

गणिकारी—पुष्पवर्ग में राजनिघण्टु ने इसका वर्णन किया है। धन्वन्तरि-निघण्टु में यही 'गणेरुका' नाम से है। वहाँ 'कर्णिकार' पर्याय दिया है। यहाँ भी काञ्चनपुष्पी, गन्धकुसुमा आदि पर्यायों से इसके सुगन्धित सुनहले पुष्पों का संकेत मिलता है। यह कनकचम्पा या मुचकुन्दभेद (Pterospermum canescens Roxb. हो सकता है।

गण्डदूर्वा—भावप्रकाशनिघण्टु में यह दूर्वा के भेदों में वर्णित है। इसके पर्यायों में मत्स्याक्षी और शकुलादनी देकर सन्दिग्ध बना दिया है। यह दूर्वा की ही बृहत् जाति है। यह लोहद्राविणी कही गई है जिससे रसकर्मों में इसका महत्त्व सूचित होता है[1]।

गन्धकोकिला—भावप्रकाश में गन्धद्रव्यों में इसका वर्णन है। यह सुगन्धा कही गई है और गुणधर्म में स्निग्ध, उष्ण, तिक्त यथा कफघ्न है[2]।

लवङ्गलता (Luvunga scandens) के सूखे फल बंगाल में 'काकली' या 'कोकिला' नाम से बिकते हैं जिनका प्रयोग कविराज लोग तैलनिर्माण में सुगन्धार्थ करते थे। इसी द्रव्य का भावमिश्र ने गन्धकोकिला नाम में किया है।

गन्धमालती—गन्धमालती का वर्णन भावप्रकाशनिघण्टु में है। इसके गुणधर्म गन्धकोकिला के समान कहे गये हैं।

यह यूनानी का 'हब्बुलास' है जो Myrtus communis Linn. है[3]। यह वनस्पति आधुनिक काल में भारत में बाहर से आई है। इसके पत्र, पुष्प तथा फल सभी सुगन्धित होते हैं। सूखे फलों का प्रयोग औषध में होता है।

गर्मोटिका—तृणों के प्रकरण में इसका वर्णन है। यह जलाश्रया तथा सुनीला कही गई है[4]। वैदिक वाङ्मय में भी यह 'गर्मुत्' नाम से निर्दिष्ट है। यज्ञ में इसका चरु बनता था[5]।

---

१. गण्डदूर्वा तु गण्डाली मत्स्याक्षी शकुलादनी।
गण्डदूर्वा हिमा लोहद्राविणी ग्राहिणी लघुः॥
तिक्ता कषाया मधुरा वातकृत् कटुपाकिनी।
दाहतृष्णाबलासास्रकुष्ठपित्तज्वरापहा ॥ (भा. प्र. ३।१७६)

२. स्निग्धोष्णा कफहृत् तिक्ता सुगन्धा गन्धकोकिला। (भा. प्र. २।११७)

३. J. R. I. M., Vol. VIII, No. 4, 1973

४. गर्मोटिका सुनीला च जरडी च जलाश्रया।
जरडी मधुरा शीता सारिणी दाहहारिणी॥ (रा. नि. ८।५१)

५. देखें द्रव्यगुण-विज्ञान, भाग ४

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

यह गवेधुका की प्रजाति (Coix gigantea Koenig ex Roxb.) है जो जलीय प्रदेशों में होती है।

गिप्पिट—यह अतिसारघ्न तथा बलशुक्रविवर्धन है[1]।

वैद्य बापालाल जी इससे झिंझरीटा (Triumfetta rotundifolia Lam.) का ग्रहण करते हैं।

गिरिमती—सोढल ने इसका वर्णन किया है[2]। वराहेष्टा, गिरिकन्दक, शूकराद्या आदि पर्यायों से यह वाराहीकन्द का कोई भेद (Dioscorea sp.) प्रतीत होता है। वैद्य बापालाल जी ने कतो भट्ट के अनुसार इससे गरमर (गु.) का ग्रहण किया है जो Coleus barbata है।

गुग्गुलुभेद—सोढलनिघण्टु में गुग्गुलु के दो भेद—महिषाख्य और कण गुग्गुलु किये गये हैं। राजनिघण्टु में कणगुग्गुलु तथा भूमिज गुग्गुलु का गुग्गुलुभेदों के रूप में वर्णन किया है। भावमिश्र ने गुग्गुलु की पाँच जातियों का वर्णन किया है :—

(१) महिषाक्ष (२) महानील (३) कुमुद (४) पद्म (५) हिरण्य[3]।

गुच्छाह्वकन्द—गुच्छाह्वकन्द का वर्णन राजनिघण्टु में किया गया है[4]। कवक (Mushroom) जाति की 'गुच्छी' प्रसिद्ध है जो पंजाब-कश्मीर का उत्तम शाक माना जाता है। इन्हीं में कुछ प्रजातियाँ कन्दमय (Truffles) होती हैं। यही गुच्छाह्वकन्द है। यह कश्मीर, हिमाचल प्रदेश, पश्चिम बंगाल आदि में पाया जाता है। इसमें Tuber cibarium Sibth. नामक वनस्पति उल्लेखनीय है।

गुडदिल्ल—ज्वरहन्ता तथा कण्टालुक इसके पर्याय हैं जो इसके स्वरूप एवं गुणकर्म पर प्रकाश डालते हैं। यह कासश्वास में भी लाभकर है[5]। यह डिल्ल का ही भेद प्रतीत होता है (देखें डिल्ल)।

गुण्ड—राजनिघण्टु में वर्णित है[6]। यह दो प्रकार का है—त्रिकोणकाण्ड और वृत्तकाण्ड। (देखें गुण्ठ)।

---

१. गिप्पिटस्त्वतिसारघ्नो बलशुक्रविवर्धनः। (सो. नि., II-५८३)

२. गिरिमत्यां वराहेष्टा वरा च गिरिकन्दकः।
गिरिवर्या शूकराद्या गिरिमध्या गिरिप्रिया॥ (सो. नि. I-६५२)

३. महिषाक्षो महानीलः कुमुदः पद्म इत्यपि।
हिरण्यः पञ्चमो ज्ञेयो गुग्गुलोः पञ्च जातयः॥ (भा. नि. २।३१)
विशेष विवरण भाग २ में देखें।

४. गुच्छाह्वकन्दः स्तबकाह्वकन्दको गुलुच्छकन्दश्च विघण्टिकाभिधः।
गुलुच्छकन्दो मधुरः सुशीतलो वृषप्रदस्तर्पणदाहनाशनः॥ (रा. नि. ७।६१)

५. गुडदिल्ले ज्वहन्ता तथा कण्टालुको मतः। (सो. नि. I-६५४)
गुडदिल्लः कफश्वासकासवातविनाशिनः। (सो. नि. II, ३१७)

६. रा. नि. ८।६०-६२

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

गुण्डकन्द—इस शीर्षक से राजनिघण्टु ने कशेरु का वर्णन किया है।

गुण्डाला—यह जलज गुच्छमूला वनस्पति है। यह कटु-तिक्त, उष्ण तथा शोफव्रणविनाशन है[1]।

कुछ लोग इससे जलनीम (Bacopa monniera) का ग्रहण कहते हैं।

गुण्डासिनी—यह भी जल में होने वाली कोई तृणजातीय वनस्पति है। गुच्छमूलका, जलवासा आदि पर्याय स्वरूपबोधक हैं[2]। यह गुण्डाला का कोई भेद प्रतीत होता है (देखें गुण्डाला)।

गोमूत्रिका—यह काली मिट्टी में होने वाली रक्तवर्ण तृणजातीय वनस्पति है। यह मधुर, वृष्य तथा गोदुग्धवर्धन है[3]।

गोरक्षदुग्धी—यह छोटी दुग्धिका (Euphorbia thymifolia) है जो रसकर्म तथा तान्त्रिक क्रियाओं में बहुशः प्रयुक्त होने के कारण 'नागार्जुनी' 'गोरक्षदुग्धी' आदि तान्त्रिकों पर आधारित संज्ञाओं से निर्दिष्ट हुई है[4]।

गोरक्षी—राजनिघण्टु ने इसका वर्णन किया है[5]। 'पञ्चपर्णिका' पर्याय स्वरूपबोधक है। यह गोरख इमली (Adansonia digitata Linn.) है।

गोलोमिका—यह गोजी या बनगोभी (Launae sp.) है। (देखें गोजिह्वा)। गेहूँ आदि के खेतों में होने से 'गोधूमी', पुष्पदण्ड शृगालपुच्छवत् होने से क्रोष्टुकपुच्छिका कही गई है। यह शीतवीर्य, ग्राही एवं त्रिदोषघ्न है[6]।

ग्रन्थिपर्ण—राजनिघण्टु में ग्रन्थिपर्ण चोरक के पर्यायों में आया है। भावप्रकाशनिघण्टु में ग्रन्थिपर्ण तथा ग्रन्थिपर्णभेद के रूप में स्थौणेयक और चोरक का वर्णन किया है। डल्हण ने भी चोरक को ग्रन्थिपर्णभेद[7] तथा स्थौणेयक को

---

१. गुण्डाला तु जलोद्भूता गुच्छब्रुध्ना जलाशया।
गुण्डाला कटुतिक्तोष्णा शोफव्रणविनाशिनी॥ (रा. नि. ५।४२)

२. रा. नि. ८।६६–६७

३. गोमूत्रिका रक्ततृणा क्षेत्रजा कृष्णभूमिजा।
गोमूत्रिका तु मधुरा वृष्या गोदुग्धदामिनी॥ (रा, नि. ८।४८)

४. गोरक्षदुग्धी गोरक्षी ताम्रदुग्धी रसायनी।
बहुपत्रा मृताजीवी मृतसञ्जीवनी मुनिः॥
गोरक्षदुग्धी मधुरा वृष्या सा ग्राहिणी हिमा।
सर्ववश्यकरी चैव रसे सिद्धिगुणप्रदा॥ (रा. नि., ५।५३, ५४)

५. गोरक्षी सर्पदण्डी च दीर्घदण्डी सुदण्डिका।
चित्रला गन्धबहुला गोपाली पञ्चपर्णिका॥
गोरक्षी मधुरा तिक्ता शिशिरा दाहपित्तनुत्।
विस्फोटवान्त्यतीसारज्वरदोषविनाशिनी॥ (रा. नि. ५।३०; ३१)

६. रा. नि. ५।३२–३३

७. सु. सू. ३८।२४, क. ५।८४

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

ग्रन्थिपर्ण कहा है[१]। स्थौणेयक तथा तालीश मिलते जुलते द्रव्य हैं अतः तालीश की प्रजाति (Abies pindrow Royle) के ग्रन्थिपर्ण होने की संभावना है। चोरक के ग्रन्थिमय काण्ड से पत्ते निकलते हैं अतः इसे भी ग्रन्थिपर्णभेद कहा।

घण्टावली—सोढल ने घण्टावली को कर्णशूल तथा ज्वर में लाभकर कहा है[२]।

वैद्य बापालालजी ने इसे घण्टारवा (Crotalaria sp.) माना है।

घोटक—सोढल ने इसका वर्णन किया है। घोटक वातविकार, अस्थिभग्न तथा रक्तविकारजन्य ज्वर में हितकर है[3]।

घोली—घोली लोणिकाभेद (Portulaca sp.) है[४]।

चञ्चु—राजनिघण्टु में चञ्चु, बृहच्चञ्चु तथा क्षुद्रचञ्चु का वर्णन है[५]। ये सब Corchorus sp. हैं।

चणिका—चणिका दुग्धवर्धक तथा इसके बीज अतिमधुर, वृष्य, बल्य और पशुओं के लिए हितकर कहे गये हैं[६]।

यह स्वयं चना हो सकता है या Eragrostis tremula Hochst. नामक तृण जो पंजाब में चनकम बूटी कहलाती है और पशुओं के चारे के काम में आती है।

चण्डालकन्द—राजनिघण्टु ने कन्दों के प्रकरण में इसका वर्णन किया है। पत्र की संख्या के अनुसार इसके पाँच भेद किये गये हैं :—एकपत्र, द्विपत्र, त्रिपत्र, चतुष्पत्र तथा पञ्चपत्र। चण्डालकन्द मधुर, कफपित्तहर, रक्तविकारशामक, विषमूतादिदोषनाशक तथा रसायन कहा गया है[७]।

यह सूरणजाति का कोई कन्द प्रतीत होता है,

चिच्चोटक—भावप्रकाशनिघण्टु में कसेरु दो प्रकार का कहा है—राजकसेरुक और चिच्चोडक। राजकसेरुक बड़ा तथा चिच्चोडक छोटा मोथे के सदृश होता है[८]।

---

१. सु. क. ६।१९
२. तद्वत् घंटावली सा तु कर्णशूलज्वरापहा। (सो. नि. II–५७०)
३. घोटको वातभग्नानां ज्वरे रक्तोद्भवे हितः। (सो. नि. II–५९२)
४. रा. नि. ७।८७–८८
५. रा. नि. ४।१८–२४
६. चणिका दुग्धदा गौल्या सुनीला चैत्रजा हिमा।
वृष्या बल्याऽतिमधुरा बीजैः पशुहिता तृणैः॥ (रा. नि. ८।६५)
७. रा. नि. ७।४८–४९
८. कसेरु द्विविधं तत्तु महद् राजकसेरुकम्।
मुस्ताकृति लघु स्याद् यत्तच्चिचोडमिति स्मृतम्॥ (भा. नि., शाक. ११२)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

यह Scirpus articulatus Linn. C. B. Clarke है जो चिचोड़ा के नाम से लोकप्रचलित है। Cyprus esculentus Linn. को भी कहीं-कहीं चिचोड़ा कहते हैं।

चिरपोटा—मदनपालनिघण्टु में इसका वर्णन है। यह तिक्त, शीत, भेदन तथा श्वासकासहर कही गई है[1]।

यह Physalis minima Linn. है।

चौहार—यवानीभेद के रूप में चौहार का वर्णन है। यह विशिष्ट कृमिघ्न द्रव्य है[2]।

यह Artemesia maritima Linn. है।

छिलहिण्ट—महामूल, पातालगरुड इसके पर्याय हैं। यह पातालगरुड़ी या जलजमनी नाम से प्रसिद्ध वनस्पति (Cocculus hirsutus (Linn.) Diels) है। यह वृष्य, कफवर्धक तथा वातशामक है[3]।

जन्तुकारी (पर्पटी)—वृक्षरुहा, तरुवल्ली आदि पर्यायों से संकेत मिलता है कि यह वन्दाक का ही कोई भेद है[4]। (देखें संहर्षा)।

जम्बू—राजनिघण्टु के पर्पटादि वर्ग में वर्णित जम्बू एक तृणविशेष है[5] जिसकी पहचान Allium stracheyi Baker से की गई है। यह उत्तराखंड में होता है तथा व्यञ्जनसंस्कारार्थ व्यवहृत होता है[6]।

जरणद्रुम—राजनिघण्टु में इसका वर्णन है। अश्वकर्ण, दीर्घपर्ण, कुशिकतरु ये पर्याय इसके दिये गये हैं[7]। कुछ विद्वान इससे अश्वकर्ण (Dipterocarpus

---

१. चिरपोटा दीर्घपत्रा कुन्तली तिक्तका मता।
चिरपोटा हिया रूक्षा भेदनी श्वासकासजित्॥ (वर्ग १)

२. यवानी यावनीयः स्याच्चौहारो जन्तुनाशनः।
चौहारस्तद्गुणः प्रोक्तो विशेषात् कृमिनाशनः॥ (ध. नि. २।९३; म. नि., १)

३. छिलहिंटो महामूलः पातालगरुडाह्वयः।
छिलहिण्टः परं वृष्यः श्लेष्मलः पवनापहः॥ (म. नि., १)

४. ध. नि. ४।८८, ८९; कै. नि. १।१४२८, १४२९; रा. नि. ४।१२७–१३०

५. जम्बूर्जाम्बवती वृत्ता वृत्तपुष्पा च जाम्बवी।
मदघ्नी नागदमनी दुर्धर्षा दुःसहा नव॥
ज्ञेया जम्बूस्त्रिदोषघ्नी तीक्ष्णोष्णा कटुतिक्तका।
उदराध्मानदोषघ्नी कोष्ठशोधनकारिणी॥ (रा. नि. ५।२४–२५)

६. उनियालः उत्तराखण्ड वनौषधि-दर्शिका, पृ. २२५

७. जरणद्रुमोऽश्वकर्णस्तार्क्ष्यप्रसवश्च सस्यसंवरणः।
धन्यश्च दीर्घपर्णः कुशिकतरुः कौशिकश्चापि॥
अश्वकर्णः कटुस्तिक्तः स्निग्धः पित्तास्रनाशनः।
ज्वरविस्फोटकण्डुघ्नः शिरोदोषार्त्तिकृन्तनः॥ (रा. नि. ९।१३, १४)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

alatus) का ग्रहण करते हैं। मेरे विचार से यह वर्णन Terminalia alata Heyne ex Roth. का है। इस वृक्ष की पत्तियों पर रेशम के कीड़े पाले जाते हैं अतः इसका पर्याय 'कौशिक' सार्थक है।

जलकारवल्ली—यह जलीय प्रदेशों आसाम, बंगाल में होने वाली करैले की प्रजाति है। यह Momordica cochinchinensis Spreng. है। इसके गुणधर्म प्रायः करैले के समान हैं[1]।

जीरावली—सोढल ने इसका वर्णन किया है[2]।

वैद्य बापालाल के मत से यह Leea sp. है।

झिञ्झिरीटा—राजनिघण्टु में इसका वर्णन है। कण्टफली, पीतपुष्पा आदि पर्याय स्वरूपबोधक हैं। यह कटु, शीत, कषाय, वृष्य, बल्य, महिषीदुग्धवर्धक है[3]।

यह Triumfetta rhomboidea Jack. है।

टंकारी—भावमिश्र ने टंकारी का वर्णन किया है। यह लघु, तिक्त, वातश्लेष्महर, दीपन तथा शोथ, उदरशूल एवं विसर्प में लाभकर है[4]।

वस्तुतः यह चिरपोटिका (Physalis Minima) है जो महाराष्ट्र में टंकारी के नाम से प्रसिद्ध है।

डिल्ल—डिल्ल या झिल्ल का वर्णय सोढल ने किया है। यह वातरक्त में उपयोगी है[5]।

यह Indigofera oblongifolia Fosk. गुजरात में यह झिल्ल के नाम से प्रचलित है।

डुलुपुष्प—सोढल ने इसका वर्णन किया है। ज्वलत्पुष्प, लघुवृक्षक स्वरूपबोधक तथा कृच्छ्रहा कर्मबोधक पर्याय हैं। यह तिक्त, शीतवीर्य, पित्तशामक तथा मूत्रकृच्छ्र में उपयोगी है[6]।

---

१. कारवेल्लं तु जलजं कृमिपित्तकफे हितम्। (कै. नि. ११५९४, ५९५)

२. जीरावल्यां तु जीराली जांगमविषनाशिनी। (सो.. नि. I–६८७)
तद्वज्जीरावली प्रोक्ता किंचिद्धीनगुणा हि सा। (सो. नि. II–५५६)

३. झिञ्झिरीटा कण्टफली पीतपुष्पाऽपि जिञ्झिरा।
हुडरोमाश्रयफला वृत्ता चैव षडाह्वया॥
झिञ्झिरीटा कटुः शीता कषाया चातिसारजित्।
वृष्या संतर्पणी बल्या महिषीक्षीरवर्धनी॥ (रा. नि. ४१५३, ५४)

४. टंकारी वातजित्तिक्ता श्लेष्मघ्नी दीपनी लघुः।
शोथोदरव्यथाहन्त्री हिता पीठविसर्पिणाम्॥ (भा. प्र. ३।१३४)

५. डिल्ले रक्तापहो नीलुः सुडिल्लो मृदुपत्रकः। (सो. नि. I–६५१)
डिल्लो वातासृजं हन्ति शीतवीर्योऽग्निदीपनः। (सो. नि. II–५५८)

६. डुलुपुष्पे ज्वलत्पुष्पः कृच्छ्रहा लघुवृक्षकः। (सो. नि. I–६६८)
ज्वलत्पुष्पो हिमस्तिक्तः पित्तहा मूत्रकृच्छ्रजित्। (सो. नि. II–५७८)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कतो भट्ट के अनुसार यह झरेर (Biophytum sensitivum DC.) है। यह लजौनी के नाम से उत्तर भारत में प्रसिद्ध है।

ढण्ढण—यह केशवकृत सिद्धमन्त्र के पित्तघ्न वर्ग में है। बोपदेव ने इसका अर्थ वृकधूमक किया है। (देखें वृकधूमक)।

तक्राह्वा—तक्र (मठा) के आधार पर इसकी वनस्पति की संज्ञायें हैं। 'पञ्चांगुली' पर्याय स्वरूपबोधक है। तक्रा कटु, कृमिघ्न तथा व्रणनिर्मूलिनी है[1]।

यह सम्भवतः मठना या मकरा नाम से प्रचलित तृणविशेष (Dactyloctanium aegyptium Beauv.) है जिसका पुष्पव्यूह प्रायः पञ्चांगुलिवत् होता है।

तक्षकी—सोढल ने इसका वर्णन किया है। नागिनी, सर्पा, दार्वीकरी इसके पर्याय हैं। यह शीतल, तिक्त, कषाय, कफपित्तहर, विषघ्न, रक्तपित्त, कुष्ठ तथा व्रण में उपयोगी है[2]।

इससे नागदमनी (Sansvieria roxburghiana Schult. f.) का ग्रहण करना चाहिए।

तगरभेद—भावमिश्र ने तगर दो प्रकार का कहा है। दूसरे भेद का नाम पिण्डतगर दिया है। पिण्डतगर की पहचान बंगलोर के शोधकर्त्ताओं ने Nymphoides macrospermum Vasudevan से की है जो कन्नड़ में ग्रन्थिक तगर के नाम से प्रचलित हैं। (देखें तगर)।

तमाल—राजनिघण्टु, भावप्रकाश आदि निघण्टुओं में तमाल का वर्णन मिलता है। यह Garcinia morella Dsv. है।

तरटी—रक्तबीजा, बर्बुरा इसके पर्याय हैं। तरटी तिक्त-मधुर, गुरु, बल्य एवं कफनाशक है[3]।

'बर्बुरा' पर्याय के आधार पर यह बबूल की कोई प्रजाति Acacia sp. प्रतीत होती है।

---

१. तक्राह्वा तक्रभवा तु तक्रपर्यायवाचिका।
पञ्चाङ्गुली सिताभा स्यादेषा पञ्चाभिधा स्मृता॥
तक्रा कटुः कृमिघ्नी स्याद् व्रणनिर्मूलिनी च सा। (रा. नि. ४।२९-३०)

२. तक्षक्यां नागिनी सर्पा तथा दार्वीकरीति च। (सो. नि. 1-६७९)
तक्षकी शीतला तिक्ता श्लेष्मपित्तविषापहा।
कषाया रक्तपित्तघ्नी कुष्ठव्रणविशोधिनी॥ (सो. नि. II-५८६)

३. तरडी तारटी तीव्रा बर्बुरा रक्तबीजका।
तरटी तिक्तमधुरा गुरुर्बल्या कफापहा॥ (रा. नि. ८।३२)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

ताम्रवल्ली—सोढल ने इसका वर्णन किया है। ताम्रा, लोमशा, शोधनी, सूक्ष्मवल्ली इसके पर्याय हैं। ताम्रवल्ली गुरु-स्निग्ध, मधुर, शीतल तथा सर है[1]।

वैद्य बापालाल ने इसकी पहचान Ventilago maderaspatana से की है जो कैवर्त्तिका है। (देखें कैवर्त्तिका)। इसे गुजरात में आछवेल कहते हैं।

तिलकन्द-तैलकन्द—राजनिघण्टु में इन कन्दों का वर्णन मिलता है। इसके इसके अनुसार ये दोनों कन्द मिलते-जुलते हैं।

तिलकन्द के पत्ते करवीर के सदृश, तिलवत् बिन्दुओं से युक्त, त्रिपर्णक होते हैं। इसका कन्द बड़ा होता है और वहाँ की भूमि स्निग्ध रहती है। काण्ड अम्लरस होता है। यह विषघ्न है।

तैलकन्द का स्वरूप भी इसीके सदृश है। यह करवीरकन्द भी कहलाता है। धातुओं को पिघलाने वाला, रसबन्ध में सहायक तथा विषघ्न एवं अपस्मारहर है[2]।

ये कन्द सूरणकुल के पौधे प्रतीत होते हैं। रूपलाल वैश्य ने बूटीदर्पण (अक्टूबर, १९२६, पृ. १–२) में ऐसी ही एक वनस्पति का चित्र दिया है। चन्द्रराज भण्डारी ने वनौषधि चन्द्रोदय (भाग ५) में इसके सम्बन्ध में कुछ चामत्कारिक कथायें दी हैं।

तृणाढ्य—राजनिघण्टु में पर्वततृण, मृगप्रिय आदि इसके पर्याय हैं। यह पशुओं के लिए बलपुष्टिकर है[3]।

तेजफल—राजनिघण्टु में इसका वर्णन है। गन्धफल, कण्टवृक्ष आदि इसके पर्याय हैं। इसके फल कटु, तीक्ष्ण, सुगन्धि, दीपन, वातश्लेष्महर, रुचिकर तथा बालरक्षाकर है[4]।

यह तेजबल प्रजाति (Xanthoxylum sp.) प्रतीत होती है।

तैरिणी—तैरिणी या तेरण तिक्त, शीतवीर्य, व्रणनाशन तथा रक्त रञ्जकद्रव्य-युक्त है[5]।

यह महाराष्ट्र की तेरड (Impatiens balsamina Linn.) प्रतीत होती है।

---

१. 'ताम्रवल्ल्यां तु माली स्याद् ताली ताम्रा च लोमशा।
शोधनी सूक्ष्मवल्ली च मालिका मलशोधनी॥ (सो. नि. I–१५०)
'ताम्रवल्ली सरा स्निग्धा मधुरा गुरुशीतला'। (सो. नि. II–५५५)

२. रा. नि. ७।५०–५४

३. तृणाढ्यं पर्वततृणं पत्राढ्यं च मृगप्रियम्।
बलपुष्टिकरं रुच्यं पशूनां सर्वथा हितम्॥ (रा. नि. ८।५३)

४. तेजःफलः कटुस्तीक्ष्णः सुगन्धिर्दीपनः परः।
वातश्लेष्मारुचिघ्नश्च बालरक्षाकरः परः॥ (रा. नि. ११।१८)

५. तेरणः शिशिरस्तिक्तो व्रणघ्नोऽरुणरञ्जकः। (रा. नि. ४।१५)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

त्रपुसभेद—धन्वन्तरिनिघण्टु में त्रपुस के निम्नांकित भेद कहे गये हैं :—

१. उर्वारु
२. शीर्णवृन्त
३. चिर्भट
४. डङ्गरी
५. कूष्माण्डिका
६. वन्ध्यकर्कोटकी
७. कर्कोटकी

राजनिघण्टु में इसके निम्नांकित भेद हैं :—

१. वालुकी
२. कर्कटी
३. षड्भुजा
४. मृगाक्षी
५. चीणाकर्कटी
६. चिर्भिटा
७. गोपालकर्कटी
८. डङ्गरी
९. कूष्माण्डी
१०. मांसलफल
११. वन्ध्यकर्कोटकी
१२. कर्कोटकी
१३. करका
१४. कुडुहुञ्ची

कूष्माण्डिका और कर्कोटकी भिन्न द्रव्य हैं। शेष Cucumis sp. है। राजनिघण्टु का षड्भुजा खरबूजा (Cucumis melo Linn.) है। मृगाक्षी इन्द्रवारुणी नहीं है क्योंकि पर्यायों में कहीं इन्द्रवारुणी नहीं दिया और न कर्मों में रेचन का उल्लेख है। अतः यह गिर्मी (Cucumis pubescens Willd.) है। चीणाकर्कटी चिचिण्डा है। गोपालकर्कटी पंजाब की ग्वालककड़ी (Melothria maderaspatana (Linn.) Cogn.) है। मांसफल तरबूज है। करका जलकारवल्ली है। कुडुहुञ्ची का उल्लेख पहले हो चूका है, यह भी करैली का एक भेद है।

दग्धा—दग्धरुहा, रोमशा, कर्कशदला आदि इसके स्वरूपबोधक पर्याय हैं। दग्धा कटु-कषाय, उष्ण, कफवातहर, पित्तवर्धक तथा अग्निदीपन है[1]।

यह शाखोटक-भेद प्रतीत होता है।

दधिपुष्पी—धन्वन्तरि तथा राजनिघण्टु ने कपिकच्छूभेद के रूप में दधिपुष्पी का वर्णन किया है[2]।

यह Mucuna sp. है। (देखें काकाण्ड)।

दन्तीभेद—धन्वन्तरिनिघण्टु तथा राजनिघण्टु में दन्तीभेद के रूप में अरणी

१. दग्धा दग्धरुहा प्रोक्ता दग्धिका च स्थलेरुहा।
रोमशा कर्कशदला भस्मरोहा सुदग्धिका॥
दग्धा कटुकषायोष्णा कफवातनिकृन्तनी।
पित्तप्रकोपनी चैव जठरानलदीपनी॥ (रा. नि. ९।२८-२९)

२. धं. नि. १।१५३-१५४; रा. नि. ३।२०४-२०५

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

तया जयपाल का वर्णन है। द्रवन्ती का वर्णन इसके बाद पृथक् है। अरणी और जयपाल Croton sp. हैं। (देखें दन्ती-द्रवन्ती)।

दीनकी—केशवकृत सिद्धयन्त्र के कफपित्तघ्न वर्ग में दीनकी का पाठ है। बोपदेव ने इसका अर्थ 'आशीतकः' किया है।

दुन्दुभटी—सोढल ने इसका वर्णन किया है। यर कन्दयुक्त वनस्पति है जो विशेषतः चक्षुष्य है। इसका शाक रात्र्यन्धता को दूर करता है। उसके कन्द का स्वरस नेत्र में डालने से नेत्रविकारों को दूर करता है तथा रस पीने से ज्वर का निवारण करता है। उसके कन्द के टुकड़े को योनि में रखने से आर्त्तवजनन है[1]।

दुर्मिल—दुर्मिल यकृत्प्लीहविनाशन है[2]।

देवगन्धारिका—देवगन्धर्वकर्कटी, गान्धारी इसके पर्याय हैं। यह छर्दि, विसूचिका तथा कफवात का शामक है[3]।

देवसर्षप—वक्रेन्दु, बदरक इसके पर्याय हैं। यह शिरोविरेचन है[4]।

शिरीष के प्रकरण में इसका वर्णन होने से यह शिरीष का ही कोई भेद (Albizzia sp.) प्रतीत होता है जिसके बीज तीक्ष्ण होने के कारण शिरोविरेचनार्थ प्रयुक्त होते हैं।

द्रोणपुष्पी-महाद्रोणा—द्रोणपुष्पी और महाद्रोणा का वर्णन राजनिघण्टु में किया है। द्रोणपुष्पी कटु, उष्ण, वातकफशामक तथा महाद्रोणा मेध्य, भूतघ्न एवं पारदशोधन में उपयोगी कही गई है[5]।

द्रोणपुष्पी Leucas sp. तथा महाद्रोणा Arisaema sp. प्रतीत होता है।

---

१. भट्यां दुन्दुभटी प्रोक्ता लघुकैलेश्वरीति च।
हद्दिदा जरकन्दा च पूर्वदिक्प्रतिगामिनी ॥ (सो. नि. I-६५८)
दुन्दुभटीदलोद्भूतं शाकं हन्ति निशान्धताम्।
तस्याः कन्दरसो नेत्रे क्षिप्तो नेत्रविकारजित् ॥
कन्दखण्डं भगने क्षिप्तं पुष्पसञ्जननं परम्।
घृष्ट्वा कन्दं रसः पीतो ज्वरं हन्ति विशेषतः ॥ (सो. नि. II-५६२-५६३).

२. दुर्मिले प्लीहविध्वंसि यकृत्प्लीहविनाशनः। (सो. नि. I-६५१)
दुर्मिलस्तिक्तको रूक्षो यकृत्प्लीहविनाशनः। (सो. नि. II-५५१)

३. 'देवगन्धारिकायां तु देवगन्धर्वकर्कटी।
गान्धारी शीतला सा तु तथा गन्धर्विका मता ॥' (सो. नि. I-६७५)
देवगन्धारिका छर्दिविसूचीकफवःतहृत्। (सो. नि. II-५९१)

४. वक्रेन्दुको बदरकस्त्रिदशाह्वयसर्षपः।
देवाह्वसर्षपस्तिक्तः तीक्ष्णो रूक्षः कटुर्लघुः ॥
शिरोविरेचनो हन्ति कफपित्तानिलक्रिमीन्। (कै. नि. १।९७६)

५. रा. नि. ५।४८-५१

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

धरणीकन्द—यह मधुर, कफपित्तशामक, मुखदोषहर तथा कुष्ठकण्डू-विनाशन है[1]।

धरणीकन्द जमींकन्द (कन्दा या बण्डा)—Colocasia sp. है।

नदीकान्त—रक्तमञ्जरी, जलज आदि पर्यायों से स्पष्ट है कि यह नदियों के किनारे या जल में होने वाला पौधा है जिसकी पुष्पमंजरी रक्तवर्ण होती है। यह कटु, तिक्त, कषाय, कफमेदोहर, प्रमेहघ्न, क्रिमिघ्न तथा शोथ एवं उदर रोगों में उपयोगी है[2]।

प्रचीबल पर्याय होने के यह काकजंघा प्रतीत होता है (देखें प्रचीबल)।

नरपुष्प—नरपुष्प का वर्णन सोढल ने किया है। महानील और वातश्वास-निषूदन इसके पर्याय दिये गये हैं[3]।

'महानील' पर्याय से संकेत मिलता है कि यह कोई Indigofera sp. है।

नाकनारी—नाकनारी या नाकस्त्री का वर्णन सोढल ने किया है। यह कटु, उष्ण, कासश्वासहर, क्रिमिघ्न, रक्तवातहर कही गई है[4]।

नागदमनी—नागदमनी, बलामोटा, महायोगेश्वरी ये पर्यायवाची हैं। (देखें बलामोटा)।

नागपुष्पी—भावमिश्र ने इसका वर्णन किया है। नागिनी भी इसका पर्याय है। नागिनी तिक्त, उष्ण, कफपित्तहर, विषघ्न, शूलप्रशमन, योनिदोष, छर्दि एवं क्रिमि में लाभकर है[5]।

राजनिघण्टु की नागदन्ती[6] तथा कैयदेवनिघण्टु की नागिनी[7] भी यही प्रतीत होती है।

नागपुष्पी सर्पा की प्रजाति संभवतः Aisaema alba N. E. Br. है।

नागार्जुनी—यह लघु दुग्धिका (Euphorbia Thymifolia) है। यह अतिसारनाशक कही गई है[8]।

---

१. मधुरो धरणीकन्दः कफपित्तामयापहः।
वक्त्रदोषप्रशमनः कुष्ठकण्डूतिनाशनः॥ (रा. नि. ७।४३)

२. कै. नि., १।१०९३–४

३. नरपुष्पे महानीलो वातश्वासनिषूदनः। (सो. नि. I–६९०)

४. नाकस्त्री कटुकोष्णा च कासश्वासकफापहा।
क्रिमिसंभूतरोगघ्नी क्रिमिरक्तानिलापहा॥ (सो. नि. II–५५३)

५. नागपुष्पी श्वेतपुष्पा नागिनी रामदूतिका।
नागिनी रोचनी तिक्ता तीक्ष्णोष्णा कफपित्तनुत्॥
विनिहन्ति विषं शूलं योनिदोषवमिक्रिमीन्। (भा. प्र. ३।२५१–२)

६. रा. नि. ५।२६–२८

७. कै. नि. १।७६८–७०

८. नागार्जुन्यां पयोवर्षा योगिनी लघुदुग्धिका। (सो. नि., I–६७३)
नागार्जुन्यतिसारघ्नी। (सो. नि. II–५८५)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

नाराची—पित्तहन्त्री और पित्तातीसारनाशिनी इसके पर्याय हैं। यह पिच्छिल, शीत तथा सर्वातीसारनाशिनी कही गई है[1]।

यह चञ्चुभेद (Corchorus sp.) प्रतीत होता है जो पिच्छिल और ग्राही कहा गया है। स्थानीय भाषा में उसे नरचा कहते भी हैं।

निकुञ्जिका—राजनिघण्टु में इसका वर्णन है। इसके गुणकर्म श्रीवल्ली के समान कहे गये हैं। 'अम्लाख्या' पर्याय से इसकी अम्लरस लता का संकेत मिलता है[2]। (देखें श्रीवल्ली)।

निम्बी—वातापहा, सर्पजिह्वा, अस्रनाशिनी इसके पर्याय हैं। निम्बी विषघ्न, तिक्त, कृमिघ्न तथा व्रणरोपण है[3]।

संभवतः यह Picrasma quassioides Bennett है जो कड़वी या निमतोता के नाम से प्रसिद्ध है।

निश्रेणिका—निश्रेणिका कोई नीरस लता है[4]।

निष्पावी—यह शिम्बी (सेम) का भेद प्रतीत होता है। इसके अनेक प्रकारों का निर्देश राजनिघण्टु ने किया है[5]।

नील—वातारि, शोफनाशन आदि इसके पर्याय हैं। वातव्याधि एवं शोथ में उपयोगी है[6]।

यह Indigofera sp. हो सकता है।

नीलाम्ली—मधुर, रुचिकर तथा कफवातहर है[7]।

पकाण्ड—राजनिघण्टु में इसका वर्णन है। यह कटु और जीर्णज्वर में लाभकर कहा गया है[8]।

इसका नाम पखोड़ भी दिया गया है।

---

१. नाराच्यां पित्तहन्त्री च पित्तातीसारनाशिनी। (सो. नि. I–६६५)
नाराची पिच्छिला शीता सर्वातीसारनाशिनी। (सो. नि. II–५७३)
२. रा. नि. ८।३५
३. निम्ब्यां वातापहा चैव सर्पजिह्वास्रनाशिनी। (सो. नि. I–६५७)
निम्बी विषहरा तिक्ता कृमिजिद् व्रणरोपणी। (सो. नि. II–५६१)
४. निश्रेणिका श्रेणिका च नीरसा वनवल्लरी।
निश्रेणिका नीरसोष्णा पशूनामबलप्रदा॥ (रा. नि. ८।५०)
५. रा. नि. ७।९९–१०२
६. रा. नि. ९।११–१२
७. रा. नि. ४।३८
८. पकाण्डः पङ्क्कृत् पङ्कवर्धनः पङ्करञ्चकः।
हस्ताञ्जनविधौ शस्तः कटुर्जीर्णज्वरापहः॥ (रा. नि. ८।२६)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

पण्यन्ध—कङ्गुनीपत्र इसका पर्याय है। यह तिक्त, क्षार, सारक तथा शीघ्र क्षत का संरोपण है। दीर्घ, मध्य तथा ह्रस्व ये तीन भेद इसके होते हैं[1]।

पनसी—रोपणी और कपिकपित्थक इसके पर्याय हैं। इसका मूल व्रणरोपण है[2]।

पर्पोटी—रक्तहन्त्री, फलाम्ला तथा ज्वरकारिणी इसके पर्याय हैं। यह परम रक्तविद्रावण (Anticoagulant) है[3]।

यह Physalis minima Linn. है।

पलाशिनी—सोढलनिघण्टु में इसका वर्णन है[4]। राजनिघण्टु ने इसीका वर्णन 'पलाशी' शीर्षक से किया है[5]।

यह लतापलाश के नाम से प्रसिद्ध Butea superba Roxb. है।

पल्लिवाह—यह राजनिघण्टु में वर्णित एक तृणविशेष है जो पशुओं के चारे के काम में आता है[6]।

पाची—यह सुगन्धित क्षुप है। यह कटु-तिक्त-कषाय, उष्णवीर्य, वातशामक, ग्रहदोषनिवारक, त्वग्दोषशामक तथा व्रणोपयोगी है[7]।

पाची पचौली नाम से प्रसिद्ध Pogostemon cablin Benth. या P. heyneanus Benth. नामक वनस्पति है।

पिण्डार—मदनपालनिघण्टु में इसका वर्णन मिलता है[8]।

यह Randia uliginosa DC. है जो पिण्डार के नाम से प्रसिद्ध है। इसके फल खाये जाते हैं।

पीतरोहिणी—माधव-द्रव्यगुण में पीतरोहिणी को चक्षुष्या कहा है[9]।

---

१. रा. नि. ८।५८-५९

२. पनस्यां रोपणी चोक्ता तथा कपिकपित्थकः। (सो. नि. I-६८२)
पनसीकंगुणीमूले पृथक् ते व्रणरोपणे। (सो. नि. II-१११)

३. पर्पोट्यां रक्तहन्त्री च फलाम्ला ज्वरकारिणी। (सो. नि. I-६६४)
पर्पोटी पानलेपाभ्यां रक्तविद्रावणी परम्। (सो. नि. II-५७१)

४. सो. नि. I-६७८

५. रा. नि. ३।४९-५१

६. रा. नि. ८।५६

७. पाची मरकतपत्री हरितलता हरितपत्रिका पत्री।
सुरभिर्मञ्जारिष्ठा गारुत्मतपत्रिका चैव॥
पाची कटुतिक्तोष्णा सकषाया वातदोषहन्त्री च।
ग्रहभूतविकारहरा त्वग्दोषप्रशमनी व्रणेषु हिता॥ (रा. नि. १०।४६-४७)

८. पिण्डारः करहाटः स्यात्तीक्ष्णकीलः कुरंगकः।
पिण्डारो मधुरः शीतः शोथपित्तकफापहः॥ (म. नि. १)

९. चक्षुष्यं श्वेतमारिचं चक्षुष्या पीतरोहिणी। (मा. द्र. १।१५३)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

यह दारुहरिद्रा की कोई प्रजाति प्रतीत होती है।

पुत्रदा—यह पुत्रजीवक सदृश कोई लता है। 'तापसद्रुमसन्निभा' इसका पर्याय दिया है। यह गर्भोत्पादन तथा स्त्रियों के आर्त्तवदोषों का निवारक है[1]।

पुत्रदात्री—भ्रमरी, श्वेतपुष्पिका, वृत्तपत्रा, अतिगन्धालु ये पर्याय स्वरूपबोधक हैं। इस प्रकार यह एक सुगन्धित श्वेतपुष्पवाली लता है जिसका उपयोग वन्ध्या-दोष-निवारण के लिए किया जाता है[2]।

सोढल ने इसका 'फूति' शीर्षक से वर्णन किया है[3]।

पेऊ—यह वनार्द्रक[4] (Zingiber cassumunar Roxb.) है।

फोग—यह पंजाब, राजस्थान आदि के शुष्क क्षेत्रों में पाया जाता है। मदनपाल ने इसका वर्णन किया है। यह ग्राही, शीत, रक्तपित्तहर तथा विषघ्न है[5]।

यह Calligonum polygonoides Linn. है।

बलामोटा—केशव के सिद्धमन्त्र में कफपित्तघ्न वर्ग में बलामोटा है जिसकी व्याख्या बोपदेव ने बला और मोटा को पृथक् कर की है। मोटा से जयन्ती का ग्रहण किया है किन्तु यह सही नहीं है क्योंकि बलामोटा स्वयं एक द्रव्य बला से भिन्न है। गुणधर्म की दृष्टि से भी बला पित्तशामक तो है किन्तु कफशामक नहीं बल्कि कफवर्धक है। अतः बलामोटा से एक ही द्रव्य लेना चाहिए, न कि बला और मोटा दो द्रव्य।

संहिताओं में यह द्रव्य नहीं मिलता। मध्यकालीन निघण्टुओं में इसका वर्णन मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि तान्त्रिक समाज में इसका प्रचार विशेष हुआ और तान्त्रिक क्रियाओं तथा रसकर्म में इसका विशेष उपयोग होता रहा। इसके पर्याय महायोगेश्वरी, जयन्ती, नागदमनी आदि इसीके द्योतक हैं। सर्पविष में इसका प्रयोग होने से यह नागदमनी कही गई।

---

१. पुत्रदा मधुरा शीता नारीपुष्पादिदोषहा।
पित्तदाहभ्रमहरा गर्भसम्भूतिदायिका॥ (रा. नि. ४।२७–२८)

२. पुत्रदात्री तु वातारिर्भ्रमरी श्वेतपुष्पिका।
वृत्तपत्राऽतिगन्धालुर्वंशीजाता सुवल्लरी॥
पुत्रदात्री तु वातघ्नी कटुरुष्णा कफापहा।
सुरभिः सर्वदा पथ्या वन्ध्यादोषविनाशिनी॥ (रा. नि. ३।४७–४८)

३. सो. नि. I–६४७

४. पेऊ वनार्द्रका प्रोक्ता वनजारण्यजार्द्रका।
पेऊ तु कटुकाम्ला च रुचिकृद् बल्यदीपनी॥ (रा. नि. ७।२१)

५. फोगो मरुद्भवः श्रृङ्गी सूक्ष्मपुष्पः शशादनः।
फोगोऽतिग्राहकः शीतो रक्तपित्तविषापहः॥ (म. नि., ७)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

धन्वन्तरिनिघण्टु में बलामोटा का वर्णन है (करवीरादि वर्ग)। इसमें उपर्युक्त पर्यायों के अतिरिक्त विजया और अपराजिता भी दिये गये हैं। कैयदेवनिघण्टु में भी इसका स्पष्ट वर्णन है। यह कटु-तिक्त, कफपित्तशामक, मूत्रल तथा विषघ्न कहा गया है तथा विजय देने वाली है[1]। भावप्रकाशनिघण्टु में 'नागदमनी' शीर्षक से इसका वर्णन किया गया है (गुडूच्यादि वर्ग, २९९–३०१)।

बलामोटा जयन्ती के नाम से प्रसिद्ध है। इसका वानस्पतिक नाम Sesbania sesban Merrill. है[2]।

बृहतीभेद—राजनिघण्टु में बृहती के निम्नांकित भेदों का वर्णन किया गया है :—

१. बृहती
२. सर्पतनु
३. श्वेतबृहती
४. लक्ष्मणा (श्वेतकण्टकारी)
५. वृन्ताकी

धन्वन्तरिनिघण्टु में बृहती के लक्ष्मणा (श्वेतकण्टकारी), कासघ्नी तथा वृन्ताकी इन तीन भेदों का वर्णन है।

कैयदेवनिघण्टु में बृहती के निम्नांकित ११ भेदों का वर्णन किया गया है :—

१. सिंही
२. बृहती
३. कण्टकारी
४. निदिग्धिका
५. वल्लीबृहती
६. वृक्षबृहती
७. श्वेता
८. अलाबुफला
९. अम्लबृहती
१०. जलजा बृहती
११. स्थूलबृहती

ये भेद स्पष्टतः आकार-प्रकार, गुणधर्म, उत्पत्तिस्थान आदि के आधार पर किये गये हैं। ये Solanum की विभिन्न प्रजातियाँ हैं।

बृहत्पाली—धन्वन्तरिनिघण्टु तथा राजनिघण्टु में जीरकभेदों में इसका वर्णन है। अरण्यजीरक, वन्यजीर इसके पर्यायों में है।

यह Centratherum anthelminticum Kuntze है जो कालीजीरी के नाम से प्रचलित है।

---

१. बलामोटा कटुस्तिक्ता लघुः पित्तकफापहा।
मूत्रकृच्छ्रं विषं हन्ति विवादे कुरुते जयम्॥ (कै. नि., ओषधिवर्ग, १११२)

२ इसका विवरण द्वितीय भाग में देखें।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

ब्रह्मदण्डी—राजनिघण्टु में इसका वर्णन है। यह कटु, उष्ण, कफवातहर तथा शोथनाशक कही गयी है[1]।

ब्रह्मदण्डी Tricholepis glaberrima DC. है। इसके प्रतिनिधि रूप में वादावर्द (या तेलकाँट)—Volutarella ramosa (Roxb.) Santapau—का प्रयोग किया जाता है।

ब्रह्मसोमा—दावाग्नि, महाश्यामा, वृद्धदारुक इसके पर्याय हैं। ब्रह्मसोमा कटु, तिक्त, उष्ण, दीपन, सर, कफहर, कासघ्न तथा पित्तवर्धक है[2]।

यह अगिया नाम से प्रसिद्ध Ammannia baccifera Linn. नामक वनस्पति है।

भृङ्गराजभेद—सोढल ने अवन्ती और जयन्ती दो प्रकार का भृङ्गराज बतलाया है। अवन्ती पीतपुष्प तथा जयन्ती श्वेतपुष्प है[3]। ये दोनों कटुरस, कटुविपाक हैं तथा उनकी भस्म व्रणरोपण है[4]।

वैद्य बापालाल जी अवन्ती से पीत भृङ्गराज (Wedelia chinensis Merrill.) तथा जयन्ती से Tridax procumbens Linn. का ग्रहण करते हैं। मेरे विचार से, इनसे eclipta alba और Wedelia chinensis का ग्रहण करना चाहिए।

भृङ्गारि—सोढल ने मांसपुष्पा, भृङ्गहन्त्री, कुष्ठनाशिनी पर्याय दिये हैं[5]। राजनिघण्टु में यह 'भ्रमरारि' शीर्षक से है[6]। वहाँ इसे मालवा में प्रसिद्ध लिखा है।

सम्भवतः यह चित्रकूट में होने वाली कुष्ठ की जड़ी (Alectra parasitica) है जो निर्गुण्डीमूल से निकलती है और रक्तवर्ण के कारण दूर से ही आकर्षित करती है।

भृङ्गाह्वा—राजनिघण्टु ने भ्रमरच्छली इसका पर्याय दिया है। यह तिक्त, दीपन, रोचन कही गई है[7]।

यह Hymenodictyon excelsum Wall. है जो भ्रमरच्छली के नाम से प्रसिद्ध है।

---

१. ब्रह्मदण्ड्यजदण्डी च कण्टपत्रफला च सा।
ब्रह्मदण्डी कटूष्णा स्यात् कफशोफानिलापहा॥ (रा. नि. ५।४७)

२. ब्रह्मसोमा कटुस्तिक्ता तीक्ष्णोष्णा दीपनी सरा।
पाचनी पित्तजननी कफकासविनाशिनी॥ (कै. नि. १।१२०१-२)

३. सो. नि. I-६७०-७२

४. कटुपाकरसं युग्मं तद्भस्म व्रणशातभित्। (सो. नि. II-५८५)

५. सो. नि. I-१४३-१४४

६. रा. नि. १०।४१-४२

७. रा. नि. ७।२०

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

भृङ्गी—सोढल ने 'भृङ्गी' शीर्षक से भांग (Cannabis sativa Linn.) का वर्णन किया है जो धूर्त्तवधू, मातुलानी, मातुली आदि पर्यायों से स्पष्ट होता है[1]। इसके गुणकर्म भी विजया के ही दिये हैं[2]।

वैद्य बापालाल जी ने 'भृङ्गी' शब्द के भ्रम से इससे भ्रमरच्छली का ग्रहण किया है जो वस्तुतः इससे भिन्न 'भृङ्गाह्वा' है।

भेण्डा—अम्लपत्रक, करपर्णी, वृत्तबीज इसके स्वरूपबोधक पर्याय हैं। यह कुदरुम (Hibiscus cannabinus Linn.) है जो शाक में प्रयुक्त होता है। यह भिण्डी नहीं है क्योंकि वह अम्ल नहीं होती।

मज्जर—यह पशुओं का दूध बढ़ाने वाला तृणविशेष है[3]।

मढिण्ढ—मढिण्ढ रूक्ष, शीत, स्वेदरोधक तथा व्रणरोपण है[4]।

मन्थानक—यह मधुर एवं गोदुग्धवर्धक तृणविशेष है[5]।

सम्भवतः यह Chloris incompleta Roth. है जो मथनिया नाम से प्रचलित है तथा पशुओं के चारे के काम आता है।

मर्कोश—मर्कोश कटु तथा छर्दि, विसूचिका एवं कफवात का शामक है[6]।

महापिण्डी—श्वेतपिण्डीतक, करहाट आदि इसके पर्याय हैं। यह कषाय, उष्ण, त्रिदोषघ्न, चर्मरोगनाशक तथा रक्तदोषहर है[7]।

महापिण्डी खरहार नाम से प्रसिद्ध वनस्पति (Gardenia turgida Roxb.) है।

महाराष्ट्री—राष्ट्री, तीक्ष्णा, मरहट्टिका इसके पर्याय हैं। महाराष्ट्री कटुरस, अग्निदग्धपीडाशामक, रूक्ष, उष्णवीर्य, वातपित्तकर है[8]।

वैद्य बापालाल जी ने इसे Spilanthus oleracea Murr. माना है।

माकन्दी—राजनिघण्टु ने इसका वर्णन किया है। बहुमूला, मादनी, गन्धमूलिका इसके पर्याय हैं। यह दो प्रकार की होती है एक श्वेतमूली और दूसरी कृष्णमूली।

---

१. सो. नि. I–६६३।

२. भृङ्गी तु दीपनी रुच्या ग्राहिणी पाचनी लघुः।
निद्रापित्तप्रदोष्णा च कामदा कफवातजित् ॥ (सो. नि. II–५६९)

३. रा. नि. ८।५२

४. मढिण्ढको हिमो रूक्षः स्वेदघ्नो व्रणरोपणः। (सो. नि. II=५६६)

५. मन्थानकस्तु हरितो दृढमूलस्तृणाधिपः।
स्निग्धो धेनुप्रियो दोग्धा मधुरो बहुवीर्यकः ॥ (रा. नि. ८।५५)

६. मर्कोशः कटुकश्छर्दिविसूचीकफवातजित्। (सो. नि. II–५८८)

७. रा. नि. ९।३३।३४

८. महाराष्ट्री कटुरसा वह्निदग्धव्यथापहा।
रूक्षा लघूष्णवीर्या च वातपित्तकरा मता ॥ (सो. नि. II–३९१)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

माकन्दी कटुतिक्त, दीपन, रुचिकर, अल्पवातल है तथा वर्षा में अधिक लेना हानिकर है[1]।

मायुक—सोढल ने इसका वर्णन किया है। ब्रह्मविट्क, शिशुभेषज इसके पर्याय हैं।

यह शीतल, रूक्ष, कषाय, कटुविपाक, ग्राही तथा कफपित्तहर है[2]।

मायुक माजूफल है। राजनिघण्टु ने इसीका वर्णन 'मायाफल' शीर्षक से किया है[3]।

मालाकन्द—मालाकन्द तीक्ष्ण, दीपन, गुल्मभेदन, वातश्लेष्महर तथा गण्डमालाविनाशक है[4]।

ठा० बलवन्त सिंह ने मालाकन्द या चिरैयाकन्द नाम से प्रचलित वनस्पति (Eulophia nuda Lindl) को मालाकन्द माना है। किन्तु यह कन्द मधुर, वृष्य है जबकि राजनिघण्टु का मालाकन्द तीक्ष्ण, भेदन और गण्डमालानाशक है। अतः यह कोई भिन्न वनस्पति है जिसमें मालावत् छोटे-छोटे अनेक कन्द होते हैं जो देखने में गण्डमाला के सदृश प्रतीत होते हैं। इसी सादृश्य के कारण इसका प्रयोग गण्डमाला में हुआ होगा।

माषाली—सोढल ने इसे अस्थिद्रावी, कृमिघ्न तथा मांसद्रावण कहा है[5]।

मुद्गर—राजनिघण्टु ने करवीरादि (पुष्प) वर्ग में मुद्गर का वर्णन किया है[6]।

यह मोगरा नाम से प्रसिद्ध (Jasminum malabaricum Wight है। मल्लिका का भी एक भेद मोगरा कहा जाता है।

मैत्री—सोढल ने इसका वर्णन किया है। यह शीत, कषाय, कटुविपाक, कुष्ठनाशक, शूलानाहशामक, कफपित्तहर और सर है[7]।

यह मितरी नाम से प्रसिद्ध रक्तशोधक वनस्पति (Smilax oxalifolia Roxb) है।

---

१. रा. नि. ७।१५–१६

२. सो. नि. I–६६०, II–५६४

३. रा. नि. ६।२२

४. मालाकन्दः सुतीक्ष्णः स्याद् गण्डमालाविनाशकः।
दीपनो गुल्महारी च वातश्लेष्मापकर्षकृत् ॥ (रा. नि. ७।४४–४५)

५. माषाख्यामस्थिद्रावी च कृमिहृत् मांसद्रावणः। (सो. नि. I–६९३)

६. रा. नि. १०।२१–२२

७. मैत्री शीता कटुः पाके कषाया कुष्ठनाशिनी।
शूलानाहनिहन्त्री च श्लेष्मपित्तहरा सरा ॥ (सो. नि. II–३९२)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

मोदयन्ती—यह कटु, उष्ण, कफवातहर तथा विसूचीनाशक है[१]।

वैद्य बापालाल जी इससे पर्णयवानी (Coleus aromaticus) का ग्रहण करते हैं।

यवानीभेद—धन्वन्तरिनिघण्टु में यवानी के अतिरिक्त दो अन्य द्रव्यों का यवानीविशेष के रूप में वर्णन किया है। इनमें एक है चोहार या कीटमारी यवानी (Artemisia maritima Linn.) और दूसरा है पारसीक यवानी जिसके पर्याय तुरुष्का, यावनी और मदकारिणी दिये गये हैं[२]। यह Hyoscyamus niger Linn. है।

रागी—धन्वन्तरिनिघण्टु में धान्यविशेष के रूप में इसका वर्णन किया गया है[३]। रागी कर्नाटक में बहुप्रचलित अन्न है। यह मधूलिका (मड़ुआ) है[४]।

राजक्षवक—धन्वन्तरिनिघण्टु तथा राजनिघण्टु ने राजक्षवक का वर्णन सर्षपविशेष (राजिका) के अर्थ में किया है[५]।

राजशमी—राजशमी कटुतिक्त, उष्णवीर्य तथा कफवातशामक है[६]।

यह Prosopis cineraria Druce है।

राजाद्रि—राजनिघण्टु में धान्यविशेष के रूप में राजाद्रि का वर्णन है। राजगिरि, राजशाकिनी इसके पर्याय हैं। यह शीतल, पित्तशामक है[७]।

राजाद्रि रामदाना (Amaranthus caudatus Linn.) है।

रुदन्ती—राजनिघण्टु में रुदन्ती का वर्णन है। स्रवत्तोया, अमृतस्रवा, चणपत्री इसके सार्थक पर्याय हैं। यह क्षुप है जिसके पत्र चने के पत्र के सदृश, अम्ल तथा शिशिर में जलबिन्दुस्रावी होते हैं। रुदन्ती कटु तिक्त, उष्ण, क्षयहर, कृमिघ्न, रसायन, प्रमेहघ्न तथा रक्तपित्त, कफरोग एवं श्वास में उपयोगी है[८]। शार्ङ्गधर ने

१. मोदयन्ती कटूष्णा च विसूचीकफवातजित्। (सो. नि. II–५७७)

२. ध. नि. २।९३–९४

३. रागी तु लाञ्छनः स्याद् बहुदलकणिशश्च गुच्छकणिशश्च।
तिक्तो मधुरकषायः शीतः पित्तास्रनाशनो बलदः॥ (ध. नि. ६।१७८)

४. विवरण भाग ३ में देखें।

५. ध. नि. ४।४३–४६; रा. नि. ४।७०–७१

६. राजशमी कटुस्तिक्ता वीर्योष्णा कफवातजित्। (सो. नि. II–५६८)

७. रा. नि. १६।१८२–१८३

८. स्याद् रुदन्ती स्रवत्तोया संजीवन्यमृतस्रवा।
रोमाञ्चिका महामांसी चणपत्री सुधास्रवा॥
रुदन्ती कटुतिक्तोष्णा क्षयकृमिविनाशिनी।
रक्तपित्तकफश्वासमेहहारिरसायनी॥
चणपत्रसमं पत्रं क्षुपं चैव तथाम्लकम्।
शिशिरे जलबिन्दूनां स्रवन्तीति रुदन्तिका॥ (रा. नि. ५।१२५–१२७)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

रसायन के उदाहरण में रुदन्ती का उल्लेख किया है[1]। इससे संकेत मिलता है कि शार्ङ्गधर के काल में रुदन्ती एक प्रसिद्ध रसायन द्रव्य था। सोढल ने 'वृद्धपलितक' शीर्षक से इसका वर्णन किया है[2]।

रुदन्ती को रुद्रवन्ती भी कहते हैं। यह वनस्पति मध्यकाल में अनेक तान्त्रिक चमत्कारों कीं कथाओं से जुड़ी थी। लोग इस ववस्पति की खोज में लगे रहते थे।

प्रायः विद्वान् Cressa cretica Linn को रुदन्ती या रुद्रवन्ती मानते हैं। कुछ लोग Astragalus sp. को भी रुदन्ती मानते हैं।

आजकल रुदन्ती नाम से Capparis moonii Wight नामक वनस्पति के फलों का भी प्रयोग होता है। यह राजयक्ष्मा में लाभकर पाई गई है।

रुद्रजटा—राजनिघण्टु ने रुद्रजटा का वर्णन किया है। सुगन्धा, ईश्वरी, जटावल्ली आदि इसके पर्याय हैं। रुद्रजटा कटुरस, श्वासकासहर, हृद्रोगनाशक, भूतघ्न एवं रक्षोघ्न है[3]।

यह Celosia cristata Linn. हो सकती हैं जो 'जटाधारी' के नाम से लोकप्रचलित है। ठा० बलवन्त सिंह ने कारीझांक या महादेवजट नाम से प्रचलित अन्य वनस्पति (Lygodium sp.) की ओर इङ्गित किया है।

रुद्राक्ष—रुद्राक्ष का उल्लेख निघण्टुशेष (१४१) में हुआ है। राजनिघण्टु ने इसका स्पष्ट वर्णन किया है। तदनुसार यह अम्ल, उष्ण, वातकफनाशन, शिरःशूलशामक, रुचिकर, भूतग्रहविनाशन है[४]।

यह Elaeocorpus ganitrus Roxb. है। अन्य प्रजातियों की फलास्थि भी रुद्राक्ष के नाम से चलती है।

लघुकच्छू—रोमालु, लोमशा, वातविध्वंसिनी तथा संततिवर्धनी इसके पर्याय हैं। यह शीत, वृष्य, वातपित्तशामक, स्निग्ध, ग्राही तथा गर्भजनन है[४]।

कतोभट्ट ने इसे बिच्छू बूटी (Girardenia heterophylla) माना है किन्तु वैद्य बापालाल जी कपिकच्छू के लघु भेद को लघुकच्छू मानने के पक्ष में हैं। इस प्रकार यह Mucuna sp. हो सकती है।

---

१. रसायनं च तज्ज्ञेयं यज्जराव्याधिनाशनम्।
यथामृता रुदन्ती च गुग्गुलुश्च हरीतकी॥ (शार्ङ्ग.)

२. सो. नि. I–६९७

३. रा. नि. ३।२४–२६

४. रुद्राक्षमम्लमुष्णं च वातघ्नं कफनाशनम्।
शिरोर्तिशमनं रुच्यं भूतग्रहविनाशनम्॥ (रा. नि. ११।९५–९६)

९. लघुकच्छूकरी शीता वृष्या पित्तानिलापहा।
स्निग्धातीसारहन्त्री च वन्ध्यानां चाप्यपत्यदा॥ (सो. नि. II–५९४)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

लवणतृण—राजनिघण्टु ने इसका वर्णन किया है। लोणतृण, तृणाम्ल, अम्लकाण्ड इसके पर्याय हैं। यह स्तन्यजनन तथा अश्ववृद्धिकर है[1]।

लवणतृण लोनी या नोनिया नाम से प्रचलित Salsola sp. या Suaeda sp. की वनस्पति है जो सामान्यतः नमकीन मिट्टी में मरुप्रदेशों में होती है।

लिङ्गिनी—राजनिघण्टु ने इसका वर्णन किया है। शिववल्लिका, चित्रफला, लिङ्गजा इसके पर्याय हैं। यह कटु, उष्ण, दुर्गन्ध, रसायन, सर्वसिद्धिकरी, वशीकरण तथा रसनियामिका कही गई है[2]।

अष्टांगनिघण्टु ने भी इसका वर्णन किया है। पञ्चांगुली, लिङ्गबीजा, राजिका, पिण्डवत्फला इसके पर्याय हैं[3]। पञ्चगुरिया इसका लोकनाम भी है।

यह शिवलिङ्गी के नाम से प्रसिद्ध वनस्पति (Bryonopsis laciniosa (Linn.) Naud) है।

वंशरोचना—धन्वन्तरिनिघण्टु ने वंश से उपलब्ध रोचना के अतिरिक्त यव, गोधूम तथा षष्टितण्डुल से उत्पन्न द्रव्य का उल्लेख किया है। राजनिघण्टु ने इनके अतिरिक्त तालक्षीर तथा वनगोक्षीर से उत्पन्न पदार्थ का उल्लेख किया है। वंशरोचनाविशेष के रूप में तवक्षीरी का वर्णन है[4]। स्पष्टतः ये द्रव्य असली बंशलोचन की दुर्लभता के कारण उसके अभाव में व्यवहृत होते थे।

वचाभेद—भावमिश्र ने वचा के निम्नांकित भेदों का वर्णन किया है :—

१. वचा

२. पारसीक वचा

३. महाभरी वचा

४. स्थूलग्रन्थि

५. द्वीपान्तर वचा

इनकी वानस्पतिक पहचान निम्नांकित रूप में की जा सकती है :—

१. वचा—Acorus calamns Linn.

२. पारसीक वचा—Iris ensata thunb.

३. महाभरी वचा—Alpinia galanga Willd.

४. स्थूलग्रन्थि—Alpinia speciosa K. Schum.

६. द्वीपान्तर वचा—Smilax china Linn.

स्थूलग्रन्थि से कुछ लोग Zingiber zerumbet Rose ex Smith. लेते हैं।

---

१. रा. नि. ८।५७

२. लिङ्गिनी कटुरुष्णा च दुर्गन्धा च रसायनी।
सर्वसिद्धिकरी दिव्या वश्या रसनियामिनी॥ (रा. नि. ३।१६-१८)

३. पञ्चांगुली लिङ्गबीजा राजिका पिण्डवत्फला। (अ. नि., २७६)

४. ध. नि, २।५५-५८, रा. नि. २।८५-९०

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

वच्छूल—मालाफल, युगकण्ट, कण्टकी, सूक्ष्मपत्र, दृढवृक्ष इसके पर्याय हैं। इसके लेप से विस्फोट आदि नष्ट होते हैं तथा पान से क्षय, कास और कृमि को नष्ट करता है[1]।

यह बबूल का भेद (Acacia sp.) प्रतीत होता है। वैद्य बापालाल जी इससे Mimosa hamata का ग्रहण करते हैं जो गुजरात में कासी बावल के नाम से प्रचलित है।

वाराहमदन—राजनिघण्टु ने इसे महापिण्डीतक कहा है। दूसरा भेद स्निग्धपिण्डीतक है[2]। ये दोनों मदन के भेद (Randia sp.) हैं।

वल्लीयक—त्रिपत्र, कृष्णवल्ली, प्रतानिका इसके पर्याय दिये गये हैं। वल्लीयक ग्राही, कषाय, शीतल और गुरु है[3]।

वैद्य बापालाल जी इससे Aerva javanica का ग्रहण करते हैं किन्तु उपर्युक्त वर्णन को देखते हुए यह कोई भिन्न वनस्पति प्रतीत होती है।

विषखर्परिका—सोढल ने इसका वर्णन किया है। चीर्णपत्रा, खर्परी इसके पर्याय हैं। यह गुरु, शीत, पिच्छिल, मधुर, ग्राही तथा कुष्ठ एवं दुष्ट व्रण में लाभकर है[4]।

इससे विसखपरा (Trianthema portulacastrum Linn.) का ग्रहण करते हैं।

विषमुष्टि-अन्यादोडी-डोडिका-तिक्तजीवन्ती—राजनिघण्टु में विषमुष्टि और अन्यादोडी का वर्णन है[5]। वर्णन के अनुसार यह विषमुष्टि कुचला नहीं है।

---

१. सो. नि., I–६७६; II–५९१

२. रा. नि. ८।२८–२९

३. वल्लीयके त्रिपत्रश्च कृष्णवल्ली प्रतानिका। (सो. नि. I–६६९)
वल्लीयकोऽतिसारघ्नः कषायः शीतलो गुरुः। (सो. नि. II–५८३)

४. सो. नि. I–६६१
विषखर्परिका शीता पिच्छिलो मधुरा गुरुः।
तथातीसारहन्त्री च कुष्ठदुष्टव्रणापहा॥ (सो. नि. II–५६६)

५. विषमुष्टिः केशमुष्टिः सुमुष्टिरणुमुष्टिकः।
क्षुपदोडिसमायुक्तो मुष्टिः पञ्चाभिधः स्मृतः॥
विषमुष्टिः कटुस्तिक्तो दीपनः कफवातहृत्।
कण्ठामयहरो रुच्यो रक्तपित्तार्त्तिदाहनुत्॥
अन्या दोडी तु जीवन्ती शाकश्रेष्ठा सुखालुका।
बहुपर्णी दीर्घपत्रा सूचमपत्रा च जीवनी॥
दोडी तु कटुतिक्तोष्णा दीपनी कफवातजित्।
कण्ठामयहरा रुच्या रक्तपित्तार्त्तिदाहनुत्॥ (रा. नि. ४।३९–४२)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

इसके अतिरिक्त, कुचला का पृथक् वर्णन 'कारस्कर' शीर्षक से है। 'क्षुपडोडी' से संकेत मिलता है कि यह अफीम का पौधा है। 'अन्यादोडी' भी जीवन्ती (L. reticulata) न होकर 'पोश्ते की डोडी' है क्योंकि तिक्त, उष्ण आदि गुण जीवन्ती में नहीं मिलते मिलते। इसीका वर्णन शाक-प्रकरण में 'डोडिका' शीर्षक से मदनपालनिघण्टु में किया है[1]। सोढल ने इसीको तिक्तजीवन्ती कहा है[2]।

यह सारी भ्रान्ति 'डोडी' शब्द के कारण हुई है क्योंकि वह संज्ञा जीवन्ती तथा पोश्ता दोनों के लिए है।

विष्णुकन्द—राजनिघण्टु में इसका वर्णन है। जलवास, बृहत्कन्द, दीर्घवृन्त, बहुसम्पुट इसके स्वरूपबोधक पर्याय हैं। विष्णुकन्द मधुर, शीतवीर्य, पित्तशामक, दाहप्रशमन, शोथहर, रुचिकर तथा सन्तर्पण है[3]।

इससे Crinum sp. का ग्रहण किया जा सकता है।

वृद्धदारुक—धन्वन्तरिनिघण्टु ने वृद्धदारुक का वर्णन किया है। तदनुसार यह कटु-तिक्त, उष्ण, कफवातशामक, शोथ, क्रिमि, मेह, रक्तवात एवं उदररोग का नाशक है। इससे इसके रेचन कर्म का भी संकेत मिलता है। छगलान्त्री इसका पर्याय दिया है। राजनिघण्टु ने दो प्रकार का वृद्धदारु कहा है—पहली छगलान्त्री और दूसरी जीर्णदारु है। दूसरी वनस्पति बल्य और वृष्य है। भावमिश्र ने छगलान्त्री पर्याय देकर भी इसे रसायन और वृष्य कहा है।

वामन गणेश देसाई ने ipomoea Pes-caprae (Syn. ipomoea biloba) को वृद्धदारु माना है। अन्य विद्वान् ipomoea petaloidea Chois को वृद्धदारु मानते हैं। ध्यान देने की वात यह है कि 'वृद्धदारु' शब्द बृहत्त्रयी में नहीं है। मध्यकाल में टीकाकारों ने महाश्यामा, अधोगुडा आदि रेचक द्रव्यों का अर्थ वृद्धदारु लिखा किन्तु वृद्धदारु नाम से एक दूसरा द्रव्य रसायनार्थ भी प्रयुक्त होता था जिसका विस्तृत विधान अष्टांगसंग्रह के रसायन-प्रकरण में मिलता है। राजनिघण्टु ने इन दो द्रव्यों का स्पष्ट उल्लेख 'वृद्धदारुद्वय' करके किया है यद्यपि भावमिश्र इसमें भ्रान्त हो गये। रेचन द्रव्य (छगलान्त्री) के सन्दर्भ में वृद्धदारु से ipomoea pes-caprae या I. Petaloidea में से कोई लिया जा सकता है किन्तु द्वितीय वृद्धदारु जो रसायन है वह इनसे नितान्त भिन्न है इसमें कोई सन्देह नहीं।

---

१. डोडिका विषमुष्टिः स्याद् विषगृष्टिः सुमुष्टिका। (म. नि.. शाकवर्ग)
२. सो. नि. I–१९४
३. रा. नि. ७।४०–४१

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

अष्टांगसंग्रह में इस वृद्धदारु का परिचय सुन्दर रूप में दिया गया है—'वृद्धदारु लता का काण्ड त्रिकोण, प्रतानशील; दल पीतवर्ण, पुष्प रक्तवर्ण, पत्र दुग्धसहित, रोमश एवं ताम्बूलपत्रवत्, मूल स्थूल कन्दवत् होता है। यह अनेक रोगों का नष्ट करने वाली है। इसे माहिषवल्लरी, वेल्लरिका या वृद्धदारक कहते हैं'[1]।

अमरकोष में वृद्धदारक छगलान्त्री का पर्याय है। टीकाकारों ने इसका अर्थ किया है—'वृद्धत्वं दीर्यतेऽस्मात्, वृद्धो दारकोऽस्मात् वा'—अर्थात् जिसके सेवन से बूढ़ा जवान हो जाय। इससे इसके रसायनकर्म का ज्ञान होता है। कहीं-कहीं 'वृद्धदारुक' भी पाठ मिलता है। यहाँ अर्थ होगा—'जिसकी लकड़ी (तना) बड़ी फैली हुई हैं। इससे एक प्रसरणशील वनस्पति का बोध होता है।

इन सबको मिलाने से यह अर्थ निकलता है कि जो प्रसरणशील वनस्पति हो और जो रसायन में उपयोगी हो।

आजकल घावपत्ता (Argyreia speciosa Sweet) का प्रयोग बिधारा (वृद्धदारुक) के नाम पर हो रहा है। वस्तुतः वृद्धदारुक के उपर्युक्त शास्त्रीय लक्षण Lettsomia setosa Roxb. में मिलते हैं। यह 'भैंसबेल' कहलाती भी है जो अष्टांगसंग्रहोक्त संज्ञा 'महिषवल्लरी' का ही अपभ्रंश है।

अतः मेरे विचार से निघण्टुओं का रसायन वृद्धदारुक Lettsomia setora Roxb. है। इसके प्रतिनिधि रूप में A. speciosa का प्रयोग किया जा सकता है।

वृश्चिका—राजनिघण्टु की वृश्चिका बिच्छू बूटी (Girardenia heterophylla Decne) है।

यह अन्त्रवृद्धि आदि में उपयोगी कही गई है[2]।

व्याघ्राटक—कैयदेवनिघण्टु में व्याघ्राटक का वर्णन है। इसे फांफट भी कहा है। व्याघ्राटक तिक्त-मधुर-कषाय, पित्तवर्धक, कफहर, विषघ्न, रुचिकर तथा सद्यः अभिष्यन्दनाशक है[3]।

---

१. त्रिकोणकाण्डा सुबहुप्रताना फलेषु पीता कुसुमेषु रक्ता।
पत्रैः सदुग्धैर्मृदुरोमवद्भिस्ताम्बूलतुल्यैः घनकन्दमूला॥
पवनबिवस्वदंशुवनिताविषु कामचरा
विविधमनःशरीरगदवृन्दनिवृत्तकरी।
भुवि परमौषधिर्माहिषवल्लरीति प्रथितो
क्वचिदपि वृद्धदारक इयन्त्वपि वेल्लरिका॥ (अ. सं. उत्तर. ४९।२०७)

२. वृश्चिका पिच्छिलाऽम्ला स्यादन्त्रवृद्ध्यादिदोषनुत्। (रा. नि. ५।४०)

३. तिक्तं स्वादु कषायं च सद्योऽभिष्यन्दनाशनम्।
पित्तकं श्लेष्मविषहृत् रुच्यं व्याघ्राटकं स्मृतम्॥ (कै. नि. १।६१७-१८)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

शताक्षक—सिद्धमन्त्र के दोषघ्न वर्ग में शताक्षक है। बोपदेव ने इसकी व्याख्या में लिखा है :—'शताक्षकं वारड्यां (वारेन्द्र्यां) सदावस्थमिति ख्यातम्'।

शल्लक—कर्पर तथा शल्लगर्भ इसके पर्याय हैं। स्थानीय नाम सलेजखड दिया है। सेलखड़ी दुग्धपाषाण को कहते हैं। इसे बालभेषज कहा है तथा यह कास-श्वासहर एवं शोफनाशक है[१]।

शशाण्डुली—राजनिघण्टु में शाकवर्ग में इसका वर्णन है। लोमशफला, बहुफला इसके पर्याय हैं।

यह कपिकच्छुभेद (Mucuna sp.) प्रतीत होती है।

शिरीषिका—कैयदेव ने इसका वर्णन किया है। यह तुवर, तिक्त, कफघ्न, मेदोहर तथा विषघ्न है।

यह Dalbergia volubilis Roxb. प्रतीत होता है जो नारी सिरिस के नाम से प्रचलित है।

शिलिपका—यह एक तृणविशेष है जो मधुर-शीत है तथा जिसके बीज बल्य-वृष्य हैं[२]।

शूली—जलाश्रया, मृदुलता, पिच्छिला, महिषीप्रिया ये पर्याय स्वरूपबोधक हैं। शूली पिच्छिल, उष्ण, गुरु, बल्य, पित्तहर, दाहप्रशमन, स्तन्यजनन है[३]।

शृङ्गिरिट्टी—कर्णशूलापहा, मूलिनी इसके पर्याय हैं। कर्णशूल, कर्णकीट में इसके मूल का प्रयोग किया जाता है[४]।

यह गुजरात का सिंगरोटी (Pentatropis microphylla W. & A.) है।

शोली—यह वनहरिद्रा है। राजनिघण्टु में 'शोली' शीर्षक से इसका वर्णन है[५]।

श्रीवल्ली—कण्टवल्ली, कटुफला, अश्वत्था आदि इसके पर्याय हैं। श्रीवल्ली कटु, अम्ल, वातकफहर, शोफघ्न तथा उसका फल अत्यम्ल, रुचिकर एवं तैल-लेपघ्न है[६]।

श्वाविदुदरज—श्वाविद् नामक जन्तु का यह अन्त्रमल है। यह बालभेषज कहा गया है तथा श्वास, कास कफ एवं शोफ में परम उपयोगी है[७]।

---

१. सो. नि. I–६५३; II–५८१

२. शिलिपका मधुरा शीता तद्बीजं बलवृष्यदम्। (रा. नि. ८।४९)

३. शूली तु पिच्छिला चोष्णा गुरुर्गौल्या बलप्रदा।
पित्तदाहहरा रुच्या दुग्धवृद्धिप्रदायिका॥ (रा. नि. ८।६९)

४. श्रृङ्गरिट्टीशिफा कर्णशूलकीटानिलापहा। (सो. नि. II–५७३)

५. रा. नि. ७।१७

६. रा. नि. ८।३३–३४

७. सो. नि. I–६५३; II–५८१

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

श्वेतवट्ट—सोढल ने इसका वर्णन किया है[1]।

श्वेता—एक तृणविशेष है जिसके पत्र छुरी के समान तीक्ष्ण, मूल पर्वयुक्त और जो भेड़ों को प्रिय है। श्वेता अतिमधुर, शीत, रुचिकर एवं स्तन्यजनन है[2]।

श्वेताम्ली—अम्बिका, पिण्डिका इसके पर्याय हैं। यह मधुर, वृष्य, पित्तघ्न एवं वल्य है[3]।

समुद्रशमी—जयन्ती और राट्शमी इसके पर्याय हैं[4]। राजनिघण्टु ने भी द्वितीय शमी करके इसका वर्णन किया है[5]।

यह Prosopis stephaniana Kunth है जो गुजरात तथा पंजाब के कुछ भागों में होता है। इसके गुणधर्म शमी के समान हैं।

सर्पिणी—राजनिघण्टु ने इसका वर्णन किया है। यह विषघ्न तथा कुच-वर्धनी है[6]।

यह Arisaema sp. है।

साकुरुण्ड—ग्रन्थिफल, कर्बुरफल, वस्त्रभूषण इसके पर्याय हैं। साकुरुण्ड कषाय, रुचिकर, दीपन, कफवातशामक तथा वस्त्ररञ्जक है[7]।

यह माचिका (माँई) है जो वृक्षविशेष पर ग्रन्थिरूप में उत्पन्न होती है।

साबून—यह गुद में लगाने से० उदावर्त्तहर तथा सर है। कान में देने पर कर्णरोगों को दूर करता है तथा प्रलेप से ग्रन्थि का नाश करता है[8]।

यह साबुन (Soap) नहीं है बल्कि साबुनी नामक वनस्पति (Saponaria vaccaria Linn) है जिसमें सैपोनिन प्रचुर मात्रा में होता है।

सिगृडी—यह मेध्या, पंगुत्वहारिणी, दृषत्पत्री, गुच्छपुष्पी और बल्या कही गई हैं। सिगृडी कटु, उष्ण, वातहर, पृष्ठशूलनाशक, रसायन एवं देहदार्ढ्यकर है[9]।

---

१. सो. नि. I-६८८
२. रा. नि. ५।४६
३. रा. नि. ४।३७
४. सो. नि. I-६७०
५. द्वितीया तु शमी शान्ता शुभा भद्राऽपराजिता।
जया च विजया चैव पूर्वोक्तगुणसंयुता॥ (रा. नि. ५।१५५)
६. रा. नि. ५।२९
७. साकुरुण्डो ग्रन्थिफलो विकटो वस्त्रभूषणः।
कुरुण्डः कर्बुरफलः सकरुण्डश्च सप्तधा॥
साकुरुण्डः कषायश्च रुचिकृद् दीपनः परः।
श्लेष्मवातापहारी च वस्त्ररञ्जनको लघुः॥ (रा. नि. ६।१६-१७)
८. सो. नि. II-५९०
९. रा. नि. ४।३१-३२

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

सिद्धेश्वर—सोढल ने इसका वर्णन किया है। सिद्धेश्वर शीत, स्निग्ध, ग्रन्थि एवं नाडीव्रण का नाशक है[१]। निघण्टुशेष में इसे सिघ्रक और सिद्धवृक्ष कहा है[२]।

यह सीधा नाम से बहुप्रचलित वृक्ष (Lagerstroemia indica Linn) है। वैद्य बापालाल जी ने इससे गुलमुहर (Delonix elata) लिया है किन्तु गुलमुहर भारतीय वनस्पति नहीं है।

सिन्दूरी—राजनिघण्टु के करवीरादि तथा भावप्रकाश के पुष्पवर्ग में सिन्दूरी का वर्णन है। करच्छद, सिन्दूरपुष्पी इसके पर्याय हैं। देवी पर इसके फूल चढ़ाये जाते हैं। सिन्दूरी कटु-तिक्त-कषाय, कफवातहर, शिरःशूलनाशक तथा भूतघ्न है[३]।

सामान्यतः सिन्दूरी से Bixa orellana Linn. का ग्रहण करते हैं किन्तु इसके जपाभेद या Eunymus tingens Wall. होने की संभावना पर भी विचार करना चाहिए।

सुरपर्ण—सूक्ष्मपत्र, गन्धपत्र इसके पर्याय हैं। यह कटु, उष्ण, कृमिघ्न, दीपन, कफवातशामक, श्वासहर है[४]।

यह तुलसीकुल का कोई क्षुप प्रतीत होता है।

सोमराजी—सोढल ने सोमराजी का उल्लेख बाकुची के पर्यायों में (I-२०९) करने के अतिरिक्त इसका स्वतन्त्र वर्णन भी किया है[५]। इससे स्पष्ट है कि इस स्थल पर वह सोमराजी से बाकुची नहीं लेकर भिन्न द्रव्य का ग्रहण करते हैं। स्पष्टतः यहाँ कालीजीरी (Centratherum anthelminticum Kuntze) अभिप्रेत है जो कहीं-कहीं सोहराई या राई के नाम से प्रचलित है। इसीका वर्णन बृहत्पाली (अरण्यजीरक) शीर्षक से धन्वन्तरिनिघण्टु तथा राजनिघण्टु में किया गया है।

स्फूर्दन—स्फूर्जक तथा सूतिरोगापह इसके पर्याय हैं। यह सुगन्धित क्षुप है जो कफवातशामक तथा छर्दिनिग्रहण है[६]।

वैद्य बापालाल जी इससे पुदीना (Mentha sylvestris) लेते हैं।

---

१. सिद्धेश्वरो हिमः स्निग्धो ग्रन्थिनाडीव्रणापहः। (सो. नि. II-५९२)
२. 'सिहहके तु सिद्धवृक्षः' (१०४) में 'सिघ्रके' शुद्ध पाठ होना चाहिए।
३. रा. नि. १०।१९-२०
४. कटूष्णं सुरपर्णं च कृमिश्वासबलासजित्।
दीपनं कफवातघ्नं वर्ण्यं बालहितं तथा॥ (रा. नि. १०।५०-५१)
५. सोमराज्यां तु सुरसा विषभूतगरापहा।
कटुका जन्तुहन्त्री च बालानां च हितावहा॥ (सो. नि. I-६५९)
६. स्फूर्दनः सुरभिर्वातकफच्छर्दिनिवारणः। (सो. नि. II-५८७)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

स्वर्णवल्ली—भावप्रकाश में स्वर्णवल्ली का वर्णन है[1]। रक्तफला, काकवल्लरी इसके पर्याय हैं। यह विशेषतः शिरःशूलहर तथा स्तन्यजनन है।

स्वर्णुली—राजनिघण्टु में इसका वर्णन है। हेमपुष्पी, स्वर्णपुष्पध्वजा इसके पर्याय हैं। यह कटु, कषाय, शीत, व्रणनाशन है[2]।

हस्तिकन्द—हस्तिकन्द के पर्यायों में हस्तिपत्र, बृहत्पत्र, स्थूलकन्द, हस्तिकर्ण आदि दिये गये हैं। हस्तिकन्द कटु, उष्ण, कफवातशामक, त्वग्दोषहर, कुष्ठघ्न तथा विषघ्न है[3]।

यह स्पष्टतः हस्तिकर्णपलाश (Leea macrophylla Roxb) है जिसके कन्द प्रयोग में आते हैं।

हस्तिशुण्डी—हस्तिशुण्डी का वर्णन 'राजनिघण्टु ने किया है। हस्तिशुण्डी कटु, उष्ण, तथा संनिपातज्वर में हितकर है[4]।

यह Heliotropium sp. है। इसका पुष्पव्यूह हस्तिशुण्डाकार होने के कारण हस्तिशुण्डी नाम सार्थक है।

हिज्जल-समुद्रफल—प्रायः हिज्जल और समुद्रफल को पर्यायवाची समझा जाता है और इससे Barringtonia acutangula Gaertn का ग्रहण करते हैं। किन्तु राजनिघण्टु में हिज्जल[5] और समुद्रफल[6] का वर्णन पृथक्-पृथक् है। इससे दोनों की भिन्नता स्पष्ट है। संभव है, यहाँ समुद्रफल से समुद्रसोक (Salvia plebeja R. Br.) का अभिप्राय हो। अधिक संभावना है कि 'हिज्जल' शीर्षक से वनस्पति का तथा 'समुद्रफल' शीर्षक उसके फल का वर्णन किया है क्योंकि दोनों के गुणकर्म प्रायः समान हैं।

हेमा—राजनिघण्टु ने हेमवल्ली, स्वर्ण जीवन्तिका, तृणग्रन्थि आदि पर्यायों से इसके स्वरूप का संकेत किया है[7]। 'तृणग्रन्थि' से यह ग्रन्थि (Pseudo-bulb) युक्त तृण (बन्दाक) जाति का पौधा प्रतीत होता है।

---

१. स्वर्णवल्ली रक्तफला काकायुः काकवल्लरी।
स्वर्णवल्ली शिरःपीडां त्रिदोषान् हन्ति दुग्धदा॥ (भा. प्र., ३।१४९)

२. रा. नि. ४।३०

३. रा. नि. ७।३५–३७

४. हस्तिशुण्डी कटूष्णा स्यात् सन्निपातज्वरापहा। (रा. नि. ५।२०)

५. रा. नि. ८।७०–७१

६. रा. नि. ६।१४–१५

७. स्वर्णजीवन्तिका वृष्या चक्षुष्या मधुरा तथा।
शिशिरा वातपित्तासृग् दाहजिद् बलवर्धनी॥ (रा. नि. ३।२५)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

इस प्रकार यह Dendrobium macraei Lindl. हो सकती है जो कई स्थानों में 'स्वर्णजीवन्ती' के नाम से प्रयुक्त होती है। यह मैंनाटांग के नाम से प्रचलित है।

संभव है, भावप्रकाश की स्वर्णवल्ली यही हो (देखें स्वर्णवल्ली)।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

परिशिष्ट

विशिष्ट द्रव्यों पर प्रमुख टीकाकारों की व्याख्या

अक्षपीडः— (अक्षिपीडकः) ड.— यवतिक्ता (सु. चि. ६।४८)
च.— श्वेतपीतशिम्बीभेदः (च. चि. २३।२१५)

अक्षीवः— च.— अब्दकः शोभाञ्जनो वा (च. सू. ४।१५)
ड.— महानिम्बः, अन्ये शोभाञ्जनः (सु. क. ८।१२०)

अग्निकः— ड.— कलिकारिका, अन्ये भल्लातकमाहुः (सु. सू. ३७।१०)
अजमोदः, मोरट इत्यन्ये (सु. क. २।४५)
अजमोदा (सु. उ. ६।१६, २४।३६, ५३।१२; ५५।४६-४६, ५२)
चित्रकः, अजमोदामन्ये (सु. उ. २३।१०)
चित्रकः, अग्निमन्थ इत्यन्ये, मोरट इत्यपरे (सु. उ. ४२।४६)

अग्निमुखी— च.— लाङ्गलिया इति ख्याता (च. सू. ४।४)

अङ्कलोड्यम्— च.— ह्रस्वोत्पलकन्दः (च. सू. २७।११३)

अजकर्णः— च.— शालभेदः (च. वि. ८।१४४)
ड.— सर्जः (सु. २०।२४)
सर्जः पूर्वदेशे प्रसिद्धः (सु. क. १।७१)
सर्जः पूर्वदेशे प्रसिद्ध एव (सु. चि. ११।१०)
सर्जः शालभेद एव (सु. सू. ३८।८)
महासर्जः 'गन्धमुण्ड' इति लोके (सु. चि. २७।८)
महासर्जः 'गन्धमुण्ड' इत्येके (सु. चि. ६।१४)
'पिपासाल' इति लोके (सु. चि. १६।३३)
अश्वकर्णः प्रसिद्ध एव पूर्वदेशे (सु. चि. ३४।१७)

अजगन्धा— च.— फोकान्दी (च. सू. ४।४५)
फोकान्दीति ख्याता (च. चि. २३।२१०)
अजमोदा, फोकान्दीति केचित् (च. सू. २।२)
अजमोदा (च. चि. २७।४०)

च.—चक्रपाणिदत्त
ड.—डल्हण
अ.—अरुणदत्त

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

ड.— बोबयिका (सु. चि. १८।४८, उ. ४२।२८)
बोबयिका, लतौषधीत्येके, अन्ये यवानिकामाहुः
(सु. सू. ३७।६)
बोबयिका इति, गयी तु अजगन्धा 'क्षेत्रयवानी' इत्वाह
(सु. चि. ५।२८)
यवानिका, बोवयिका इत्यन्ये (सु. सू. ४४।१६)
बस्तगन्धा (सु. उ. ३५।४)

अजडा— च.— शूकशिम्बी (च. चि. २।२।१८)

अजमोदा— च.— अजमोदा (पा.) उग्रगन्धा (च. चि. १३।१२२)
ड.— स्वनामख्याता, अन्ये यवानिकामाहुः
(सु. सू. ३८।२२)

अजरुहा— ड.— अजरुहालक्षणमुशनसा प्रोक्तम्—
'कन्दः श्वेतः सपिडको भेदे चाञ्जनसन्निभः।
गन्धलेपत्तपानैस्तु विषं जरयते नृणाम्॥
दष्टानां विषपीतानां ये चान्ये विषमोहिताः।
विषं जरयते तेषां तस्मादजरुहा स्मृता॥'
(सु. क. १।७८)

अजलोमी— ड.— श्वेतदूर्वा (सु. उ. ६०।४७)

अजशृङ्गी— च.— विषाणी (च. क. ११।१३)
ड.— कर्कटशृङ्गी, अजशृङ्गी छगलविषाणिका उत्तमारणी
'मेढिका' इति लोके (सु. सू. ३७।६)
कर्कटशृङ्गी, उत्तमारणीत्यन्ये (सु. उ. ३१।३)
छगलविषाणिकां उत्तमारणी 'मेंढिका' इति लोके
(सु. सू. ३८।१०)
छागलविषाणिका 'उत्तमारणी' इति लोके, गयदासाचार्येण कर्कटशृङ्गी व्याख्याता (सु. चि. १७।१४)
मेंढिका, कर्कटशृङ्गीत्यपरे (सु. सू. ३८।७२)

अजा— ड.— अजगन्धा 'बोबई' इति लोके (सु. चि. १७।१४)

अजाजी— च.— ज़ीरकम् (च. सू. २७।३०७)
ड.— उत्तरपथे जीरकविशेषः (सु. सू. ४२।६५)
उत्तरापथे प्रसिद्धो जीरकविशेषः (सु. उ. ४७।३०)
अ.— जीरकः (अ. हृ. सू. १५।३३)

अञ्जनम्— ड.— रसाञ्जनम् (सु. सू. १६।२६, चि. १६।३०,
उ. १२।१३ आदि)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

रसाञ्जनम्, सौवीराञ्जनमित्यन्ये (सु. सू. ३५।७)
नीलवर्णं रसाञ्जनं, अन्ये स्रोतोऽञ्जनमाहुः (सु. सू. २५।३३)
सौवीराञ्जनम् (सु. सू. २५।२७)
स्रोतोऽञ्जनं, तदभावे रसाञ्जनं सौवीराञ्जनं वा (सु. सू. २९।३११)

अञ्जनकी— ड.— अश्मन्तकः (सु. उ. १९।१३)
अणुः— ड.— शालपर्णी (सु. क. ८।५१)
अतिगुहा— ड.— पृश्निपर्णी (सु. सू. १९।२९)
पृश्निपर्णी (सु. सू. १९।२९)
अतिच्छत्रा च.— मधुरिका—(च. चि. १४।१६)
शतपुष्पा, अन्ये छत्रातिछत्रे द्रोणपुष्पीद्वयम् (च. चि. ९।५६)
अरुणकोकिलाक्षः (च. वि. ८।२०(१))
ड.— छत्रातिच्छत्रे द्रोणपुष्पीद्वयम् (सु. सू. १९।२९)
अ.— शतपुष्पा (अ. हृ. उ. ६।३५)
अतिरसा— च.— शतावरी (च. सू. ४।७)
थष्टिमधु (च. चि. १०।३२)
अधोगुडा— च.— वृद्धदारकः (च. सू. १।७६)
अनन्ता— ड.— उत्पलसारिवा (सु. सू. १६।१९, शा. १०।६०; चि. ३।६१ आदि)
दुरालभा (सु. सू, ३७।७)
अनन्ता (पा०)— लाङ्गलिका कलिहारी इति लोके (सु. सू. ४६।२४९)
अ.— यवासकः (अ. हृ. सू. १५।३७)
अन्तःकोटरपुष्पी— च.— नीलबुह्ना (च. सू. १।८१)
अपेहिवाता— ड.— प्रसारिणी (सु. चि. १८।४)
अभिषुकः— च.— औत्तरापथिकम् (च. सू. १३।१०)
ड.— 'अभिषुः' इति लोके (सु. सू. ४६।१८७)
अ.— स्याराटम् (अ. हृ. सू. ६।११८)
अभीरुपत्री— च.— शतावरीभेदः (च. वि. ८।२०(१))
अमरवरायुधसाह्वयः— ड.— वज्रकन्दः (सु. चि. १४।४१)
अमृताद्वयम्— ड.— गुडूची हरीतकी चेति (सु. चि. ३७।२०)
अमृतासङ्गा— च.— कपिकच्छुः (च. चि. २५।११५)
ड.— खर्परिकातुत्थम् (सु. क. १।५४)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

अमोघा— च.— पाटला, आमलकी वा, लक्ष्मणा वा (च.सू. ४।४९)
पाटला (च. शा. ८।२१)

अम्बष्ठकी— च.— अकर्णविद्धा (च. सू. ४।५)

अम्बष्ठा— ड.— माचिका 'सांकुरड' इति लोके (सु. चि. ११।१०)
सांकुरड (सु. उ. २१।४८)
माचिका 'सांकुरड' इति पश्चिमे प्रसिद्धा, पाठेत्यपरे
(सु. सू. ३८।४६)
पाठा (सु. क. ५।८५)
अ.— मयूरशिखाख्या (अ. हृ. सू. १५।३८)

अम्लिका— च.— कन्दप्रधाना कामरूपे प्रसिद्धा, अम्लिकाभेदमित्याहुः
(च. वि. ८।२०(२))
स्वल्पविटपप्रायः कामरूपादौ भवति
(च. सू. २७।११८)

अरलुः— ड.— श्योनाकभेदः, अन्ये श्योनाकमरलुशब्देनाहुः
(सु. उ. ४०।४५)

अर्कपुष्पी— ड.— अर्कपत्रसदृशी लता, अन्ये अर्कपर्णमाहुः
(सु. सू. ४६।२६२)
पयस्या अर्कसदृशपयःपुष्पा लतैव, श्वेतदूर्वाविशेषां
केचिदाहुः, वृक्षजातिमन्ये (सु. शा. १०।६९)

अर्जकः— च.— श्वेतपर्णासः (च. सू. २७।१६५)
ड.— बर्बरिकाकारो लघुमञ्जरीकः सूक्ष्मपत्रो निर्गन्धः
श्वेतकुठेरकः (सु. सू. ३८।१८)
श्वेतकुठेरकः (सु. सू. ४६।२२१)
कुठेरकः (सु. सू. ३९।६, चि. ५।१८, उ. ४२।१११)
कुठेरकः, अन्ये सितपर्णासमाहुः (सु. उ. ३९।२७२)
अ.— खरपत्रकः (अ. हृ. सू. ६।१०६)

अलर्कः— ड.— मन्दारकः, यस्य क्षीरं न विनश्यति (सु.सू. ३८।१६)
मन्दारः (सु. सू. १६।१९, चि. ६।१२)
अ.— मन्दारकाख्यः श्वेतकुसुमः (अ. हृ. सू. १५।२८)

अवगुत्यम्— ड.— वेगनामा काकादनीत्यर्थः (सु. सू. ४६।२२१)

अव्यथा— च.— कदली गुडूची वा हरीतकी वा (सु. सू. ४:४९)
गुडूची (सु. शा. ८।२१)

अश्मन्तकः— च.— अम्ललोटः (च. सू. ४।३३)
मालुयासदृशपत्रो वृक्षः (सु. सू. १।११२)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

ड.— कोविदारसदृशोऽम्लपत्रः 'अम्ललोटक' इति लोके
(सु. शा. १०।५९)
अम्ललोटः कोविदारसदृशपत्रकः (सु. चि. ७।५)
अम्ललोटकसदृशवृक्षः (सु. सू. २५।२०)
वृक्षोऽम्लोटकानुसारी (सु. क. ५।८५)
कर्बुदाराकारः (सु. शा. १०।५७)
यमलपत्रकः 'आसन्त' इति लोके (सु. सू. ४६।१६३)
अ०— मालुकपर्णकः (अ. हृ. चि. ११।१८)
यमलपत्रकः (अ. हृ. शा. २।५४)

अश्वकर्णः— च.— शालभेदः (च. सू. २५।४८, चि. ३।२५४)
ड.— पूर्वदेशे गन्धमुण्डः पिप्पलसदृशः (सु. सू. ११।११)
पूर्वदेशे गन्धमुण्डोऽश्वत्थसदृशवृक्षः (सु. सू. ३७।२७)
गन्धमुण्डोऽश्वत्थसदृशः पूर्वदेशे प्रसिद्धः (सु.सू. ३८।८)
पूर्वदेशे गन्धमुण्डोऽश्वत्थसदृशः (सु. सू. ४६।१६३, चि. ६।७)
पूर्वदेशे गन्धमुण्ड इति ख्यातोऽश्वत्थसदृशः
(सु. चि. २१।५०)
पूर्वदेशप्रसिद्धो गन्धमुण्डोऽश्वत्थसदृशः (सु. क. ३।६)
पूर्वदेशप्रसिद्धोऽश्वत्थसदृशः (सु. चि. २।६४,१६।३३)
पूर्वदेशे प्रसिद्धः (सु. क. ६।३)
गर्दभाण्डः (सु. उ. ३१।५)
सर्जभेदः (सु. क. ६।२२)
अ०— कुशिकः (अ. हृ. सू. १५।१६)

अश्वखुरा— अ०— गिरिकर्णिका (अ. हृ. उ. ४।४६)

अश्वबला— ड.— हिस्फित्थो मेथिकाभेदः (सु. चि. ६।८)
तुरुष्कदेशे बृहत्पत्रा मेथिकाभेद एव 'हिस्फित्थ' इति लोके। तन्त्रान्तरे मेथिकाहिस्फित्थयोः पृथक् गुणनिर्देशः कृतः—
'वातपित्तहरा तिक्ता लघ्वी श्लेष्माविरोधिनी।
मेथिका, तत्समं किञ्चिद्धिस्फित्थं पुष्टिदं गुरु॥
(सु. सू. ४६।२५६)
उपोदकी, ब्रह्मदेवस्तु अश्वबला यवनभूमौ मेथिकाकारबीजा भवतीत्याह (सु. चि. १।११३)

असनपर्णी— च.— अपराजिता (च. वि. ८।२०(१), चि. २६।६८)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

अहिंस्रा— ड.— बृहदहिंस्रा (सु. सू. ३७।३)

आखुपर्णी— च.— मूषिकपर्णी । वृषपर्णी च तद्भेदः पञ्जिपत्रिकेति ख्याता (च. सू. ४।१५)

आत्मजा— च.— पुत्रंजरा ख्याता (च. चि. ३।२६३)

आदनी— च.— घोषकभेदः (च. शा. ८।४६)

आदारी— ड.— वेल्लन्तरसदृशपुष्पा आलिरिति लोके । 'कार्त्तिककुण्डस्तु आदारिशिम्बी आडलिरिति प्रसिद्धेति व्याख्यानपति (सु. उ. ४४।१९)

आदित्यपर्णी— ड.— सूर्यावर्त्तः (सु. चि. १५।४४)

आरुकम्— च.— कार्त्तिकपुरे प्रसिद्धम् (च. सू. २७।१२८)

आर्त्तगलः— ड.— ककुभः (सु. उ. ५३।११).

ककुभः सुगन्धिमूलः 'कवहा' (कौहा) इति नाम्ना पूर्वदेशे प्रसिद्धः (सु. सू. ३८।१०)

ककुभः, केचिदार्त्तगलं कण्टकीवृक्षमाचक्षते (सु. सू. ३९।७)

ककुभकः सुगन्धिमूलः 'कौहा' इति नाम्ना पूर्वदेशे प्रसिद्धः, अन्ये तु आर्त्तगलः कुरबक इत्याहुः, बहिःकेशरः कण्टकितफलो विटप इत्यन्ये (सु. चि. ७।६)

कण्टकफलो जलयुक्तदेशजः, ककुभ इत्यन्ये (सु. उ. ९।१९)

नीलसहचरः (सु. उ. १७।५१)

आर्द्रिका— अ.— आर्द्रधानिका (अ. हृ. सू. ६।१०७)

आसुरी— च.— राजिका मण्डको वा (ज. सू. २७।९७)

उ.— राजिका (सु. सू. ४६।२२८)

अ.— राजिका (अ. हृ. सू. ६।१०४)

आस्फोता— च.— अस्फुरमल्लिका (च. चि. १५।१२३)

ड.— सारिवा (सु. सू. ११।११, चि. ६।१३, ९।५४, १८।३९, ३२।३)

घास्फोटा सारिवा अर्को वा (सु. उ. ३९।२५७)

अ.— गिरिकर्णिका (अ. हृ. सू. ३०।९)

इक्षुवालिका— च.— खाभारिका (च. सू. ४।१७)

इङ्गुदी— च.— पुत्रंजीवकफलम् (च. सू. २७।१४२)

ड.— इंगुकः (सु. सू. ३९।६)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

इंगुकः, पुत्रञ्जीवक इत्यन्ये (सु. सू. ३६।६)
कण्टकीवृक्षः प्रसिद्धः, अन्ये पुत्रजीवकमाहुः
(सु. सू. ४५।११५)
ऐंगुदं इंगुदीफलं, अन्ये पुत्रञ्जीवकमाहुः
(सु. सू. ४६।१६२)

इत्कटः— ड.— खग्गली (सु. सू. २१।२६)
महती खगाली (सु. चि. ७।६)
अ.— इत्कटा सूक्ष्मपत्रिका दीर्घलोहितयष्टिका काष्ठ-विशेषः (अ. हृ. सू. १५।२४)

इन्दीवरः— ड.— इन्दीवरोऽपि तद् (कुरण्टिका) भेदो दीर्घपत्रो बहुलपुष्पः (.सु. सू. ३८।१२)
शरबालिकाभेदो दीर्घपत्रो बहुलपुष्पः, जेज्जटस्तु इन्दीवरं नीलोत्पलं, तन्नेच्छति गयी।
(सु. चि. ७।११)
इन्दीवरं कर्णपूरकाख्यो महापुष्पः शरबालिका-भेदः, अन्ये नीलोत्पलमिच्छन्ति, तन्नेच्छति गयी
(सु. चि. ७।१७)

इन्द्रपुष्पी— ड.— लांगलकी (सु. चि. १७।१५)

इन्द्रवल्ली— ड.— मत्स्याण्डकः गण्डदूर्वेति लोके (सु. उ. २८।७)

इन्द्रसाह्वा— च.— बीजपूरका (च. चि. ६।४०)

इन्द्राणी— च.— निर्गुण्डी (च. चि. २१।८३)
इन्द्राणीशाकं केचित् मत्स्याक्षक इत्यादुः, निर्गुण्डीत्य-परे (च. चि. २१।८८)

इषीका— अ.— दर्भमूलम् (अ. हृ. सू. २१।१६)

ईषीका— च.— अम्बष्ठा (च. चि. ३।२६३)

उच्चटा— ड.— शणघण्टाकारः स्वल्पविटपः प्रायशो हिमवति सरयूनदीतीरे दृश्यते (सु. चि. २६।३४–३६)
घुर्घुराख्यः शणघण्टाकारफलोऽल्पो विटपः सरयूपकण्ठे हिमवति वारेन्द्रयां च प्रायश उपलभ्यते
(सु. चि. ३८।८४)

उत्तमारणी— ड.— योधामल्ली (सु. चि. ६।१२)
उत्तमकरणी (सु. चि. १०।८)
अ.— करंभः (अ. हृ. उ. ३०।२७)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

उदकीर्या—	ड.—	चिरबिल्वः (सु. सू. ३९।९)
	अ.—	करञ्जकः (अ. हृ. सू. १५।२८)
उदुम्बरी (भद्रनामा)—	ड.—	काष्ठोदुम्बरी महती (सु. चि. ९।१५)
उद्दालकः—	च.—	बहुवारः (च. वि. ७।३०, ८।१८)
	ड.—	आरण्यकोद्रवः (सु. सू. १५।३२, २०।५, २१।१९ आदि)
		वनकोद्रवः (सु. सू. ४६।२१)
उन्दुरुकर्णिका—	ड.—	मूषिककर्णिका 'उन्दुरी' इति लोके, उन्दुरकर्णी द्रवन्तीमाहुरन्ये, अपरे दन्तिनीमाहुः । उन्दुरकर्णी इत्येके पठन्ति, तत्रापि स एवार्थः । (सु. सू. ३८।०८)
उपकुञ्चिका—	ड.—	स्थूलजीरक ईषत्कृष्णो बृहज्जीरक इति लोके (सु. सू. ४६।२३०)
उपकुल्याद्वयम्—	ड.—	पिप्पली गजपिप्पली च (सु. चि. ९।८)
ऋषभः—	ड.—	कूर्चशीर्षकः स्वनामप्रसिद्धः (सु. चि. १७।१०)
ऋषभकः—		स्वनामख्यातः (सु. सू. ३८।३५)
		वृषभकः, अयमपि स्वनामख्यातः (सु. सू. ३८।४)
ऋषभी—	च.—	शूकशिम्बा (च. सू. ४।७)
	ड.—	कपिकच्छू (सु. सू. ३८।४, क. ७।१६)
ऋष्यगन्धा —	च.—	ऋष्यजांगलकः (च. सू. ४।२)
		ऋष्यजांगलकी, बलाभेदो वा (च. वि. ८।२०।१)
ऋष्यप्रोक्ता—	च.—	बलाभेदः (च. वि. ८।२०।१)
		अतिबला (च. चि. २९।७०)
		माषपर्णी (च. सू. ४।७)
एकैषिका—	ड.—	शुक्लमूला त्रिवृत् (सु. सू. ३०।६)
		अविद्धकरणी 'पाठा' इति लोके, त्रिवृदिति जेज्जटः । (सु. सू. ४५।१२६)
		शतावरी, अन्ये त्रिवृद्भेदमाहुः (सु. चि. १७।१४)
		अम्बष्ठा, त्रिवृदित्येके (सु. चि. १८।४६)
	अ.—	त्रिवृत् (अ. हृ. चि. १७।३५, उ. २२।६७)
एरका—	च.—	होगल (च. सू. ३।२५)
एलवालुकम्—	ड.—	स्वनामप्रसिद्धम् (सु. क. २।४७, ६।३, १६)
		हरिवालुकं कृष्णगन्धि कट्फलसदृशम् (सु. सू. ६८।१४)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

		कुष्ठगन्धिकम् (सु. उ. ३६।२३०)
	अ.—	ऐलेयम् (अ. हृ. सू. १५।२६)
एलापर्णी—	च.—	रास्ना (च. वि. ८।१८)
		नागबला, अहिंस्रा इत्यन्ये (च. क. ६।५)
ऐन्दुकः—	च.—	निक्षारः (च. सू. २७।११०)
ऐन्द्री—	च.—	गोरक्षकर्कटी (च. सू. ३।२५, शा. ८।२१)
	ड.—	इन्द्रवारुणी अन्ये मत्स्याक्षकभेदमाहुः (सु. उ. ६२।३०)
	अ.—	ऐन्द्रवारुणी (अ. हृ. उ. १।६)
ऐरावतम्—	ड.—	ऐरावणिका कृष्णलोहिताल्पफला (सु. सू. ४६।१६१)
ऐरावतः (पा.)—		नारंगम् (सु. उ. १२।४२)
	अ.—	नागरंगम् (अ. हृ. सू. ६।१३५)
ऐरावती—	ड.—	नागबला (सु. चि. ३८।८६)
ओदनपाकी—	च.—	नीलझिण्टी (च. वि. ८।२०(१))
ककुभः—	ड.—	सुगन्धिमूलो विटपः (सु. चि. ८।७)
		सुगन्धिमूलो विटपी (सु. चि. ११।६)
		सुगन्धिमूलो विटपविशेषः (सु. क. ६।३)
ककुभः (पा.)—		स च प्रसिद्धः (सु. चि. ७।६)
कक्कोलकम्—	ड.—	बृहत् कक्कोलकम् (सु. सू. ४६।२०८)
कङ्कुष्ठम्—	ड.—	सुवर्णक्षीरिनिर्यासः (सु. सू. २८।१३)
कच्चकः—	ड.—	मध्यलेखाविचितः ऋजुकपत्र ईषद्रक्तमूलः 'कवहक' इति मालवके प्रसिद्धः । (सु. चि. ७।६)
कच्छुरा—	ड.—	कङ्कतिका (सु. उ. ४०।७४, १२४)
		कङ्कतिका, शूकशिम्बा इत्येके, दुरालभा इत्यन्ये (सु. उ. ४०।११०)
		कङ्कतिका, अन्ये दुरालभामाहुः (सु. उ. ४०।११३)
		कुङ्कुमर्दनिका, कच्छुरा शूकशिम्बिः इत्यन्ये (सु. सू. ३६।७)
	अ.—	फणिहारा धन्वयवासकाख्यः (सु. सू. १५।३८)
कटभी—	ड.—	श्वेतस्यन्दः (सु. क. ५।१८)
कटम्भरा—	च.—	कटभी (च. चि. ६।५६)
कटुकिका—	ड.—	अरण्यकासमर्दिका, अन्ये तिक्तारिकामाहुः । अपरे तु कटुतिक्तपुष्पामर्कफलाकारफलां प्रसिद्धामाहुः । (सु. सू. ४६।२६२)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कट्वङ्गः— ड.— अरलुकः (सु. सू. ३८।४६, त्रि. ११।१०)
अ.—कट्वङ्गफलं अरलुफलं केचित्तु टुण्टुकफलं राढमित्याहुः (अ. हृ. सू. १५।३३)
श्योनाकः (अ. हृ. सू. १५।३८)

कठिल्ल (कः)— च.— पुनर्नवा (च. सू. २७।९३)
कठिल्लका रक्तपुनर्नवा (च. चि. ३।१८७)
ड.— पुनर्नवाशाकम् (सु. उ. ३९।१५१)
अ.— कठिल्लं दीर्घपत्रा वर्षाभूः (अ. हृ. सू. ६।७६)

कण्टकी— ड.— विकङ्कतः, वृक्षकण्टकारिकेति प्रसिद्धा, 'कांकई' इति लोके (सु. सू. ३८।६)

कण्डीरः— च.— शमठभेदः, स हि जलस्थलभेदाद् द्विविधः (च. चि. ३।२६३)

कदम्बपुष्पी— ड.— अलम्बुषा मुण्डितिकेति लोके प्रसिद्धा (सु. चि. १९।६३)
भूमिकदम्बः, अलम्बुषामपरे (सु. उ. ४४।१९)

कदरः— च.— श्वेतखदिरः (च. सू. २५।४८)
विट्खदिरः (च. सू. ४।४३)
ड.— खदिराकारः श्वेतसारः (सु. सू. ३८।८)
आपीतसारः खदिराकारः (सु. चि. ११।९)
अ.— खदिराकृतिः श्वेतसारः (अ. हृ. सू. १५।१९)

कनकक्षीरी— ड.— सुवर्णक्षीरी, कंकुष्ठमित्यन्ये (सु. सू. ११।१३)

कनकाह्वयम्— ड.— कङ्कुष्ठम् , नागकेसरमित्यन्ये (सु. सू. ४४।४९)

कन्दली— ड.— श्वेतश्लक्ष्णबहुपुटकन्दविशेषः' सर्पच्छत्रकमिति लोके (सु. सू. ३९।८)

कपीतनः— च.— गन्धमुण्डः (च. सू. ४।३३)
गन्धमुण्ड इति ख्यातः (च. चि. १५।१२४)
ड.— आम्रातकः (सु. सू. ३८।४८)
गर्दभाण्डः (सु. क. ६।३)
अ.— कपिचूडः वानीराख्यः (अ. हृ. सू. १५।४१)
वानीरः (अ. हृ. चि. १०।४१)

कपोतवङ्का— ड.— प्रसिद्धैव (सु. चि. ७।२५)
कटकीसदृशपत्रो विटपी मध्यदेशे प्रसिद्धः (सु. चि. ७।६)
ब्रह्मसुवर्चला (सु. चि. ३१:५)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कवडवङ्केति लोके प्रसिद्धा ब्रह्मसुवर्चलापरपर्याया (सु. उ. ३२।३)
सुवर्चला, अन्ये शिरीषसदृशपत्रा स्वल्पविटपा इति द्रव्यान्तरमाहुः। (सु. चि. ३८।१२)
अ.— सुवर्चला (अ. हृ. चि. ११।१८)

कपोतवल्ली— च.— सूक्ष्मैला (च. वि. ८।२०(१))

कपोलवल्ली— च.— कवड़बेडुआ इति ख्याता (च. वि. ८।२०(१))

करञ्जः— ड.— वृक्षकरञ्जः (सु. सू. ४५।११५)
नक्तमालः (सु. उ. ३०।८)
नक्तमालः (अन्ये)—(सु. सू. ४६।२७८)
अ.— कैडर्यः (अ. हृ. सू. १५।४५)

करञ्जद्वयम्— ड.— एकश्चिरबिल्वः, द्वितीयः कण्टकी विटपकरञ्जः (सु. सू. ३८।६)
वृक्षविटपकरञ्जौ (सु. सू. ३८।१६, २९)

करञ्जयुग्मः— अ.— एकः पूतिकरञ्जश्चिरबिल्वाख्योऽपरो नक्तमालाख्यः (अ. हृ. सू. १५।१७)

करञ्जिका— उ.— वृक्षकरञ्जः (सु. चि. ९।१०)
नक्तमालः (सु. क. ६।३)
नक्तमालफलम् (सु. चि. २।७४, ९१)

करम्भः अ.— उत्तमारणी (अ. हृ. सू. १५।२१)

करवी— ड.— यवानीत्येके, अजमोदेत्यपरे, अन्ये राजिकामाहुः। (सु. सू. ४६।२३०)

कर्कशः— च.— पटोलभेदः (च. वि. ८।२०(५))
अ.— कठिल्लकः (अ. हृ. सू. ६।७६)

कर्कारु— च.— कूष्माण्डभेदः (च. चि. १९।३५)
ड.— वाडवं त्रपुसम् (सु. सू. ४५।१२०)
वाडवं त्रपुसं 'खरबारू' इति लोके (सु.सू. ४६।२१६)
वाडवं त्रपुसं 'खेरसा' इति लोके (सु. चि. ३१।५)

कर्बुदारः— च.— काञ्चनः (च. सू. २७।९६)
श्वेतकाञ्चनः (च. सू. ४।२३)
ड.— काञ्चनारः (सु. सू. ४५।१२०, उ. ४७।४६)
श्लेष्मान्तकः 'बवहार' इति 'लिहूसाढक' इति च देशभाषया प्रसिद्धः (सु. सू. ३९।३)
श्लेष्मातकभेदः (सु. सू. ४६।२४९)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कलायः— ड.— त्रिपुटकः (सु. सू. २१।१९, १९।१६, ४६, २७)
त्रिपुटककलायः (सु. सू. ४६।२७७)
त्रिपुटकभेदः (सु. सू. ४६।२२१)

कलोडयम्— अ.— पद्मबीजम् (अ. हृ. सू. ६।९०)

कवकम्— ड.— छत्रकम्, छत्रकभेदः सुखण्डर्कसंज्ञमित्यन्ये (सु. सू. २०।८)
कवकश्छत्रक उच्यते (सु. सू. १।२९)

काकजंघा— ड.— एतन्नाम्ना प्रसिद्धैव (सु. चि. १९।६३)

काकणन्तिका— ड.— गुञ्जा 'चिरिहिण्टिका' इति लोके, काकवनीत्यपरे (सु. नि. २।१३)
गुञ्जा 'चिरहण्टिका' इति प्रसिद्धा (सु. नि. ५।८)

काकतिक्ता— अ.— शार्ङ्गेष्टा (अ. हृ. सू. १५।१७)

काकनासा— च.— वासाफलका, काकतुण्डक इत्यन्ये (च. चि. १।६४)

काकाण्डः— च.— शूकरशिम्बः (च. सू. २७।३२)
ड.— कपिकच्छूसदृशशिम्बः 'शूकरशिम्बी' इति लोके (सू. सू. ४६।३६)
काकाण्डफलं'अश्वकः (सु. सू. ४६।३६)

काकाण्डी— च.— ख्याता (च. सू. १।७७)

काकाण्डोला— अ.— कटभी (अ. हृ. सू. ६।२१)

काकादनी— ड.— वायसतिन्दुकः (सु. उ. ५१।२४)
वायसतिन्दुका (सु. चि. १४।८; १८।३६)
काकतिन्दुकः (सु. उ. ४४।१९)
काकतिन्दुका (सु. उ. ३४।७)
वायसतिन्दुका, अहिंस्रेत्यन्ये है सु. चि. १८।१३)
काकतिन्दुकः, काला इत्यन्ये (सु. उ. ६२।८)
हिंस्रा (सु. सू. ३९।९)
काला, हिंस्रेत्यर्थः (सु. चि. १९।६३)
कृष्णश्रीफलिका (सु. क. ७।३१)
काकजङ्घा (सु. उ. २८।६)

काकोली— ड.— वीरा स्वनामप्रसिद्धा (सु. सू. ३८।३५)

काञ्चनक्षीरी— ड.— काञ्चनक्षीर्यौ द्वे, एकं कंकुष्ठं, अन्या पीतदुग्धा बृहत्पत्री यवतिक्ता (सु. चि. ८।४०)

काण्डेक्षुः— ड.— काण्डेक्षुका महती खगाली, अन्ये इक्षुमेवाहुः (सु. सू. ३८।७)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कामुकः—	अ.—	रक्तमञ्जरी, अतिमुक्तक इत्यन्ये (अ. हृ. सू. १५।३०)
काम्बोजी—	ड.—	कूविका, गयी तु माषपर्णीमाह (सु. चि. ११।४२)
कारवी—	च.—	कृष्णजीरकम् (च. सू. २७।३०४)
		अल्पजीरकम् (च. चि. १३।१२२)
		अल्पद्राक्षा (च. चि. २४।१७८)
	ड.—	कृष्णजीरक उत्तरापथे प्रसिद्धः (सु. सू. ४६।२३०)
	अ.—	अजमोदः (अ. हृ. चि. १४।१८)
काला—	च.—	कालानुसारिवा (च. चि. २८।१६१)
		काकोली (च. चि. ३।३५७)
	ड.—	अहिंस्रा—(सु. सू. ३७।६, चि. ८।३०)
		हिंस्रा—(सु. चि. १८।४५)
		कटुहिंस्रा (सु. चि. १८।१३)
		कासमर्दः (सु. चि. १७।१४)
		कालानुसारिवा, श्रीपर्णिकामन्ये (सु. उ. ५८।५९)
	अ.—	नीलिनी (अ. हृ. चि. १४।१३)
कालानुसारिवा—	ड.—	तगरम् (सु. चि. ३।६०, उ. १७।१७)
		तगरभेदः (सु. क. ६।१६)
		तगरमूलं, 'जेज्जटस्तु' द्वितीयसारिवामाह (सु. उ. १८।६१)
		कृष्णसारिवा (सु. चि. १५।३२)
		कालवल्ली (सु. चि. २२।६९)
कालानुसारी—	ड.—	कृष्णसारिवा (सु. चि. २०।५५)
कालानुसार्यम्—	ड.—	तगरम् (सु. सू. ३७।२६)
कालानुसार्यः—	च.—	शीतला (च. चि. ३।२५४)
कालानुसार्या—	ड.—	कालानुसारिवा (सु. क. ५।६५)
		तगरम् (सु. चि. २।६८, १७।१५)
	अ.—	उत्पलसारिवा (अ. हृ. शा. २।४९)
कालिका—	ड.—	कालेयकम् (सु. उ. ५१।२३)
कालीयकं-कालेयकम्—	च.—	कालियाकाष्ठम् (च. सू. ३।२४)
	ड.—	कृष्णचन्दनम् (सु. चि. २०।६५)
		'मलेन्द्रीचन्दनम्' इति प्रसिद्धम् (सु. सू. ३८।८)
		दारुहरिद्रानुकारि प्रसिद्धम् (सु. उ. १२।७)
		दारुहरिद्रानुकारि द्रव्यम् (सु. उ. ४४।३१, ४५।३९)
		दारुहरिद्रा (सु. क. १।५४)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

पीतचन्दनम् (सु. क. ६।१५)
कृष्णवर्णचन्दनविशेषो 'मलयाद्रिचन्दनम्' इति लोके (सु. सू. ३९।९)

किणिही— च.— कटभी (च. सू. ४।१५)
ड.— कटभी (सु. सू. ३९।४, ६, चि. २२।५५, क. २।४५ आदि)
अपामार्गः (सु. उ. १७।४२)
श्वेतस्पन्दः (सु. उ. ६१।२३)
नीलस्यन्दा (सु. क. ५।७५)
अ.— गिरिकर्णिका (अ. हृ. चि. २०।२६)

कीटारिः— ड.— विडंगः, कीटमारिणीत्यन्ये (सु. चि. २।८१)

कुक्कुटा— ड.— कुक्कुटशिम्बी (सु. उ. ६१।४७)

कुक्कुटी— ड.— कुक्कुटशरीरवत् कुसुमचित्रा वल्ली स्फटिकरचित-कुक्कुटाण्डतुल्यकन्दा (सु. उ. २९।७)
स्फटिकरचितकुक्कुटाण्डसदृशकन्दा कुक्कुटीशरीरवत् कुसुमचित्रा वल्ली (सु. उ. ३३।७)
कुक्कुटसदृशकन्दा महौषधिः (सु. उ. ६१।४४)

कुक्कुटी (पा.)— अ.— शितिवारकः (अ. हृ. उ. ५।३)

कुचन्दनम्— ड.— रक्तचन्दनम् (सु. सू. ३८।८, ३३; ३९।८)
मलयाद्रिचन्दनम् (सु. सू. ३८।४५)

कुचेला— च.— अकर्णविद्धिकाभेदः (च. सू. २७।९२)
अ.— पाठा (अ. हृ. सू. ६।९६)

कुटन्नटम्— च.— कैवर्त्तमुस्तकम् (च. चि. १५।१२३)

कुटन्नटः— ड.— श्योनाकः (सु. सू. ३८।१४, चि. २२।४३, क. ५।६६)
तगरः (सु. चि. २०।२५)
तगरम् (सु. उ. ११।५, ३६।४)
वस्यकः 'फञ्जीमदनक' इति लोके (सु. क. ६।१७)
अ.— श्योनाकः (अ. हृ. चि. १०।४१)

कुठिञ्जरः— ड.— कुरहञ्जकः 'कोल्हसुआ' इति लोके (सु. सू. ४६।२७४)
अ.— कुठिञ्जरं ताम्रमूलकम् (अ. हृ. सू. ६।९१)

कुठेरकः— ड.— तद् (कालमाल) भेद एव (सु. सू. ४६।२२१)

कुन्तलिका (पा.)— ड.— उत्तरापथजा (सु. सू. ४६।२७४)

कुन्तलिका— ड.— चुञ्चूसदृशा दीर्घपत्रा (सु. सू. ४६।२७४)

कुबेराक्षी— ड.— काष्ठपाटला, पेंटिकेत्यन्ये (सु. सू. ३९।७; उ. ३५।३)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कुब्जः— ड.— गुञ्जा (सु. चि. ७।६)

कुभारजीवः— अ.— जीवशाकम् (च. सू. २७।९७)

कुम्भिका— ड.— पानीयकुम्भिका (सु. उ. ४७।१५५)
जलजा (सु. उ. ३२।७)

कुम्भी— ड.— स्थलकुम्भी यस्यास्त्वग् वक्रा (वस्त्रं-पा.) भवति (सु. उ. ५९।१७)

कुम्भीकः— ड.— स्थलकुम्भिका (सु. चि. १७।२७)
श्लक्ष्णत्वक्को रोमशः कुम्भीनामा वृक्षः, यस्य त्वक् वस्त्राकारा भवति, अन्ये पाटलामाहुः, अपरे स्वल्पविटपमाहुः (सु. सू. ३८।४५)

कुम्भीका— ड.— दाडिमाकारफला स्थलकुम्भी (सु. उ. ३।१०)
कुम्भीफलमिव (सु. नि. १४।६)

कुरण्टः— अ.— सितिवारकः (अ. हृ. सू. १५।२१)

कुरण्टकः— च.— म्लानकः (च. चि. २१।८७)

कुरुटकः— अ.— सितिवारकः (अ. हृ. सू. ६।९१)

कुरण्टिका— ड.— कृष्णसूक्ष्मफला 'सिरिवालिका' इति लोके (सु. सू. ३८।१३)
अन्ये कुनालिकाकुरण्टिके उत्तरापथजे इत्याहुः । (सु. सू. ४६।२७४)

कुरुण्टकः— ड.— पीतपुष्पः 'कण्टशेलुआ' इति लोके (सु. सू. ३८।६)
सहचरपुष्पम् (सु. सू. ४६।२८८)

कुरुण्टिका— ,,— अम्लानसदृशपत्रकुसुमा हरितपुष्पा (सु. सू. ४६।२७४)
शरबालिकाभेदो लोहितपुष्पः (सु. चि. ७।१०)

कुरबकः— ड.— कृष्णषष्टिकः (सु. सू. ४६।८)
स्निग्धपत्रः सितकुसुमः स्वनामप्रसिद्धः । (सु. क. ५।८६)

कुरुवकः— ,,— कण्टसेलयाकः (सु. सू. ४२।११)

कुलिङ्गः— च.— उच्चटाभेदः (च. सू. ४।२०)
कुलिङ्गा उच्चटा (च. वि. ८।२०(१))

कुलिङ्गाक्षी— च.— पेटिका (च. वि. ८।२०(१))

कुशः— ड.— कुशाः दर्भाः (सु. उ. ६०।३३)
ह्रस्वदर्भः (सु. सू. ३८।११)
ह्रस्वो मृदुः सूचिपत्रः (सु. सू. ३८।७५)

कुशद्वयम्— अ.— स्थूलसूक्ष्मभेदेन दर्भद्वयम् (अ. हृ. सू. १५।२४)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कुष्ठम्— ड.— यत्र शट्याद‍ौ पौष्करं कुष्ठं च यत् पठ्यते तत्र पौष्करं मूलं, तद् विटपशाखाश्च कुष्ठमिति ज्ञेयम्। (सु. चि. ३७।११)

कृष्णसारिबा— ड.— 'छिलहेण्टापत्रसदृशच्छदा चन्दनगन्धा कालबेलीति लोके (सु. सू. ३८।४)

केलूटम्— च.— केलुटे हारीतवचनं–'केलुटं स्वादु विटपं तत्कन्दः स्वादुशीतलः (सु. सू. २७।११०)

अ.— हिंस्मकसंज्ञ उदुम्बरभेदः (अ. हृ. सू. ६।६०)

कैडर्यः— च.— पर्वतनिम्बः (च. सू. ४।४८)

ड.— पर्वतनिम्बः (सु. शा. १०।६६, चि. १८।२२)

महानिम्बः (सु. उ. २८।४)

कोकिलाक्षकः— ड.— खग्गली (सु. उ. ५८।४४)

कोविदारः— च.— स्वनामप्रसिद्धः (च. सू.)

ड.— काञ्चनारः (सु. सू. २६।६५, ६६।३, ४६।२४६ आदि)

काञ्चनारस्तद्भेदो वा (सु. सू. ४६।२८१)

कोशातकी— ड.— घोषकः, सा चतुर्विधा–बृहत्फला, अल्पफला, पीतपुष्पा, श्वेतपुष्पा इति (सु. सू. ११।११)

देवदाली (सु. चि. १७।३७)

क्रमुकः— ड.— पूगफलम् (सु. सू. ३८।२६, चि. ६१।६, क. ५।७०)

पूगफलं, रुबुकमित्यन्ये (सु. क. ५।७०)

पूगः, वृक्षरोध्र इत्यन्ये साराधिकारात् (सु. सू. ३८।८)

अ.— पट्टिकालोध्रः (अ. हृ. सू. १५।४५)

क्रौञ्चादनम्— च.— घिञ्चुलिका (च. सू. २७।११३)

अ.— तमेदम् (अ. हृ. सू. ६।६१)

क्लीतकम्— च.— यष्टिमधु (च. सू. १।८०)

क्षवकः— ड.— क्षवथुकारः फणिज्जकाकारः 'चिह्लरियाक' इति पारियात्रे प्रसिद्धः, छिङ्कनीति लोके। (सु. सू. ३८।१८)

छत्रकः, अन्ये तु क्षवकं द्रोणपुष्पीसदृशं विटपमाहुः, तन्न, तस्यानुद्भिदत्वात्। (सु. सू. ४६।२६०)

क्षीरकाकोली— ड.— तद् (काकोली) भेदः स्वनामख्याता। (सु. सू. ३८।३५)

क्षीरपलाण्डुः— ड.— स (पलाण्डुः) एव सक्षीरो मधुररसः क्षीरपलाण्डुरित्युच्यते (सु. सू. ४६।२४७)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

क्षीरमोरटः— ड.— किलाटमस्तु, पीलुपर्णीत्येके (सु. सू. ४२।११)
मोरट एव (सु. क. ८।१३२)

क्षीरविदारी— ड.— दीर्घकन्दा भृशं मधुरा (सु. चि. ५।७)

क्षीरिणी— च.— अग्निका (च. चि. १६।३४)
क्षीरलता (च. सू. ४।२)
दुग्धिका (च. सू. २१।७७)
ड.— अर्कपुष्पी (सु. चि. २६।२७)

क्षुद्रश्वेता— ड.— श्वेतस्यन्दा श्वेतपुष्पा 'सेफन्द' इति लोके (सु. सू. ३८।१६)

खरपुष्पः— ड.— मरुवकः, अन्ये क्षवकभेदमाहुः, केचिद् 'वोडयिका' इत्याहुः (सु. सू. ४६।२२१)
तस्य (क्षवकस्य) एव भेदः, वोवइकामपरे, मरुवकमन्ये (सु. सू. ३८।१८)
अ.— खरबुसः मरुवकः (अ. हृ. सू. १५।३०)

खर्जूरम्— ड.— पिण्डखर्जूरम् (सु. सू. ४६।३३४)
द्विविधं वृक्षविटपभेदेन, त्रिविधमित्यपरे, त्रैविध्यं च वृक्षखर्जूरं द्विविधमिति कृत्वा, तत्र पारसीकेषु देशेषु महत्प्रमाणं स्वादुभिन्नं पिण्डखर्जूरमित्यतो हेतोः । (सु. सू. ४६।१८२)

गण्डीरः— च.— शमठशाकम् (च. सू. ४।१५)
ड.— सारप्रधानस्तरुविशेषः (सु. सू. ४५।१२३)
गण्डीरोऽपि द्विविधः स्थलजो जलजश्चेति, तत्र स्थलजो हरितशाकपठितः, जलजो जलपिप्पली-गण्डीरः (सु. चि. ४।३२)
अ.— स्नुही (अ. हृ. सू. १५।३०)

गन्धनाकुली— ड.— सुगन्धमूला रास्ना (सु. क. ६।२२)
सुगन्धा रास्ना (सु. उ. ३२।७)
च.— रास्नाभेदः (च. चि. ३।२६७)

गलोड्यम्— ड.— पद्मबीजम् (सु. चि. ५।८)

गांगेरुकी— च.— गांगेरुकं नागबलाफलम् (च. सू. २७।१३८)
ड.— गांगेरुकी नागबला (च. सू. ४६।१६३)

गिरिकदम्बः— ड.— महाकदम्बः (सु. उ. ३२।६)

गिरिकर्णिका— ड.— सेफन्दः (सु. सू. ३६।६)
श्वेतस्यन्दः (सु. चि. ११।१०)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

श्वेतस्यन्दा (सु. चि. ८।३९)
अपराजिताभेदः (सु. उ. ५९।१७)

गिलोड्यः— ड.— कालंकतकः शितोड्यकन्दः प्रावृड्जातः शणपत्रिकाकारवल्लीयुक्तो 'गिल्लोठी' इति लोके। (सु. सू. ४२।११)
कन्दः प्रावृड्जातः शणपत्राकारो वल्लीयुक्तश्चर्मण्वतीनदीभवः श्वेतुवर्त्तुलपाषाणसदृशः 'गुगिलोट' इति लोके (सु. चि. ११।१०)

गुडशर्करा— ड.— गांगेटीफलम् (सु. उ. ४२।७०)

गुण्ठः— अ.— वृत्ततृणम् (च. सू. २५।२४)

गुन्द्रा— च.— गुलुञ्चः (च. सू. ४।१७)
ड. पट्टेरकभेदः (सु. चि. १७।६, ३७।३१)
,, 'गोदर' इति लोके (सु. सू. ३८।१२)
एरकाभेदः, गवेधुकेत्यन्ये (सु. उ. १०।४)
अ. पट्टेरकः (अ. हृ. सू. १५।६, २१)

गृञ्जनकः— च.— स्वल्पनालपत्रः पलाण्डुरेव (च. सू. २७।१७९)
लोहितपलाण्डुः (च. चि. १७।१२८)
रसोनकः, किं वा गृञ्जनकं शोभाञ्जनम्। (च. चि. १२।६०)
ड.— रसोनभेदः (सु. उ. ५६।१४)

गोचन्दना— ड.— प्रियंगुः (सु. चि. २८।२२)

गोजी— ड.— गोज़िह्वा (सु. चि. ६।१०, १९।४४, २२।१९ आदि)
गोजिह्विका, शाखोटक इत्यन्ये (सु. चि. १८।५)

गोलोमी— च.— भूतकेशः (च. सू. ४।४८)
श्वेतदूर्वा (च. शा. ८।६०)
नाकुली (च. चि. १०।६१)
ड.— दूर्वा (सु. चि. ८।३९, उ. २९।३ आदि)

गोपघोण्टा— ड.— कर्कोटी, बदरभेद इत्यन्ये 'ग्रामकोलिका' इति प्रसिद्धा, पूगभेदमपरे (सु. सू. ३८।६)
अ.— घोण्टा पूगविशेषः (अ. हृ. सू. १५।१७)

चण्डा— च.— चोरपुष्पी (च. सू. ३।६)
चोरहुली (च. सु. ४।३७)
ड.— स्वनामख्यातेषत्कृष्णा चोरकभेदः अजमोदाकारा (सु. सू. ३८।२४)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

अजमोदाकारा सुगन्धि द्रव्यम् (सु. उ. ४२।११)

चर्मवृक्षः— ड.— 'चर्मलोह' इति प्रसिद्धो लकुचद्रुमाकारो महावृक्षः (सु. चि. ११।१०)
पूर्वदेशे नौवृक्षः (सु. क. ५।४६)

चर्मसाह्वा— अ.— सातला, ब्राह्मीत्यन्ये (अ. हृ. सू. १५।४५)

चारटी— अ.— पद्मचारिणी (अ. हृ. उ. ६।३४)

चित्रफला— ड.— गुडदुग्धिका इन्द्रवारुणीपर्याया (सु. उ. ५८।६६)
इन्द्रवारुणी, चित्राण्डिकेत्यन्ये (सु. उ. ३२।८)

चित्रा— च.— दन्ती (च. चि. ४।४)
गोरक्षकर्कटी, तद्बीजमिह, यदि वा चित्रा लोहित एरण्डः (च. सू. १३।१०)
ड.— एरण्डः (सु. चि. २।६३)
दन्ती (सु. चि. १४।५)
चित्राण्डिका पटोलफलाकारफला आरण्यकचण्डकेत्यर्थः। अन्ये द्रवन्तीमाहुः (सु. सू. ३९।३)
अ.— मूषिकपर्णी (अ. हृ. सू. १५।१)

चिरबिल्वः— ड.— वृद्धकरञ्जः 'चिरिहिलि' इति लोके (सु. सू. ३०।१०)
वृक्षकरञ्जः (सु. चि. २।८९)
अ.— पूतिकरञ्जः (अ. हृ. सू. ६।१७)

चिल्ली— ड.— क्षेत्रवास्तुकः, गौडवास्तुक इत्यन्ये, यवशाकमाहुरेके; अन्ये तु यवशाकान्तरमाहुः। (सु. सू. ४६।२५६)

चोचम्— ड.— त्वक् (सु. चि. १७।१५)
त्वग्भेदो वनवासिकात्वक् (सु. सू. ३८।२४)
द्वितीया स्थूला त्वक् यां शाल्मलकमित्याचक्षते। (सु. क. ६।३)
अ.— त्वक् (अ. हृ. सू. १५।४३)
पनसफलम् (अ. हृ. सू. ३।३१)

चोरकः— च.— चोरपुष्पिका स्वनामप्रसिद्धः (च. सू. ३।२२)
चण्डालकः (च. चि. ९।५५)
ड.— स्वनामख्यातः ग्रन्थिपर्णकभेदो ग्रन्थिपर्णाकार एव (सु. सू. ३८।२४)
ग्रन्थिपर्णानुकारी (सु. क. ५।८४)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

अ.— ग्रन्थिपर्णी (अ. हृ. सू. १५।४३)
चण्डा (अ. हृ. उ. ६।३५)

चोरकपत्रः— ड.— लाक्षावृक्षः (सु. सू. ३८।४८)

छगलान्त्री— ड.— वृद्धदारकः (सु. सू. ३९।४)
वृद्धदारकभेद, बुध्नाभेद इत्यपरे (सु. सू. ३८।३९)

छत्रा— च.— कोकिलाक्षः (च. वि. ८।२०(१))
मधुरिका (च. चि. ९।६)
ड.— छत्रातिच्छत्रे द्रोणपुष्पीद्वयम् (सु. सू. १९।२९)
अ.— छत्रा धान्यकम् (अ. हृ. उ. ३।३५)

जटा— ड.— जटामांसी (सु. क. ७।२३, उ. ६२।३०)
गन्धमांसी (सु. उ. ६०।४७)
द्वितीया मांसी (सु. क. ६।१५)

जटिला— च.— उच्चटः (च. सू. ४।२०)
ड.— मांसी (सु. सू. १९।२९, उ. ३३।६, ६१।८)

जम्बीरः— च.— पर्णासभेदः, जम्बीरफलं सुगन्धि (सु. सू. २७।१६२)
ड.— नारङ्गजम्बीरलकुचानि प्रसिद्धानि (सु. सू. ४६।१३९)
हरितशाकमुत्तरापथे जम्बीरगन्धि किञ्चिदम्लम् । (सु. चि. ४६।२२१)
अ.— करपत्रकः (अ. हृ. सू. ६।१०५)

जयाद्वयम्— अ.— तर्कारी हरीतकी च (अ. हृ. सू. १५।२१)

जलगण्डः— ड.— जलगण्डीरकः, नदीपिप्पलिकेत्यन्ये (सु. चि. ९।२१)

जातुकम्— च.— जातुशाकं वंशपत्रिका (च. सू. २६।८६)
उ.— शुक्लशालपर्णी (सु. सू. ४६।२७४)
जातुकशाकं पौष्करशाकम् (सु. सू. २०।१३)

जातुकन्दः (पा०)— ड.— गुग्गुलुकः उत्तरापथे प्रसिद्धः (सु. सू. ३७।१६)

जिंगिनी— ड.— गुडमज्जनिका 'गुलहुणि' इति लोके पूर्वदेशे स्वनाम-प्रसिद्धा । (सु. सू. ३८।१४)
अ.— कृष्णशाल्मली (अ. हृ. सू. १५।२६)

जीरकद्वयम्— ड.— शुक्लपीतभेदेन (सु. सू. ४६।२२९)

जीवकः— ड.— कूर्चशीर्षकः स्वनामख्यात (सु. सू. ३८।४)

जीवन्तः— अ.— बृहद्गान्धारम् (अ. हृ. सू. ६।९२)

जीवन्ती— च.— सुवर्णनाला स्वनामप्रसिद्धा (च. सू. ५।६१)
स्वनामख्याता सुवर्णवर्णाभा (च. सू. ४।१)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

ड.— डोडिका इति लोके लताऽर्कफलाकारसक्षीरफला;
अन्ये स्वर्णजीवन्तीमाहुः (सु. सू. ३८।३५)
जीवा, तण्डुलीयसदृशी इत्यन्ये (सु. सू. ४६।३३५)
शुष्कयावनालवर्णा लतौषधी पर्ववती (सु. सू. ४४।३)
पटोलसमानपत्रा कन्दवती पश्चिमदेशे प्रसिद्धा,
लाटदेशे स्थूलवल्ली विलक्षणैव (सु. उ. ५१।२७)
अ.— जीववर्धना (अ. हृ. सू. १५।८)

तण्डुलीयः— अ.— गण्डीरकाख्यः (अ. हृ. सू. ६।८१)

तरुटः— च.— कल्हारकन्दः (च. सू. २७।११३)

तापसवृक्षः— ड.— इङ्गुदः (सु. चि. १८।१३)
इङ्गुदः, पुत्रञ्जीवक इत्यन्ये (सु. सू. ३८।१६)

ताम्रवल्ली— ड.— रामतरुणी, मञ्जिष्ठामपरे (सु. शा. १०।५९)
अ.— रामतरुणी मञ्जिष्ठा इति लोके (अ. हृ. शा. २।५५)

तिक्ताद्वयम्— अ.— एका कटुका अन्या काकतिक्ता (अ. हृ. सू. १५।४०)

तिन्तिडीकम्— ड.— वृक्षाम्लम् (सु. सू. ४६।१३९)

तिमिरः— ड.— नखरागिपत्रः 'तिवरिया' इति प्रसिद्धः
(सु. उ. ५१।३२)

तिलपर्णिकः— ड.— चोरकः, श्रीहस्तिनीत्यपरे (सु. सू. ४६।२२१)

तिलपर्णिकम्— ड.— हुलहुल इति लोके (सु. क. ६।१४)

तिलपर्णिका— च.— हुलहुलिका (च. सू. २७।९३)
अ.— बदरकः (अ. हृ. सू. ६।७५)

तिलपर्णी— ड.— हुलहुलः (सु. सू. ३९।९)

तिल्वकः— ड— स्वनामप्रसिद्धः (सु. सू. ११।११)
स्वल्परोध्रः (सु. सू. ३९।४. ४४।३)
पट्टिकारोध्रः (सु. चि. ४।२७, ८।३९,१०।१२ आदि)
रोध्राकारो बृहत्पत्रो रक्तत्वक्को वैरेचनिकः
(सु. सू. ३८।२९, चि. ३१।५)
अ.— रोध्रः (अ. हृ. सू. १५।२)

तुगाक्षीरी— ड.— वंशरोचना, अन्ये वंशरोचनानुकारि पार्थिवं द्रव्यमाहुः
(सु. उ. ४१।५१, सू. १२।२३)
च.— वंशरोचना, अन्ये वंशरोचनानुकारि पार्थिवद्रव्यं
तालधीति वदन्ति (च. चि. २।१।३०)

तेजोवती— ड.— काकमर्दनिका (सु. चि. २।९०, २२।२४, उ. २४।३६
आदि)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

तोदनम्— ड.— राजप्रियम् (सु. सू. ४६।१६३)
त्रायन्तिका— ड.— मदयन्तिका (सु. चि. ११।१०)
त्रायन्ती— ड.— त्रायमाणा (सु. उ. ३६।२२३)
त्रिपर्णिका— च.— त्रिपर्णी हंसपादिका (च. सू. २७।६६)
ड.— दुग्धिका, वनकार्पासीत्यपरे (सु. सू. ४६।२७४)
त्रिपादी— अ.— हंसपादी कीटमारिकाख्या (अ. हृ. सू.१५।६)
त्वक्, त्वचम्— ड.— वराङ्गं 'गुडतज' इति लोके (सु. सू. ३८।२४)
वनवासिकात्वक् (सु. उ. ४७।३२)
त्वक्पत्रम्— ड.— केचित् त्वक्पत्रशब्देन त्वक्पत्रिकामाहुः ।
(सु. उ. ४७।३२)
दर्भः— च.— उलुयातृणम् (च. सू. ४।१७)
ड.— कुशः (सु. सू. ३८।१०)
प्रसिद्धः (सु. सू. ३८।१२)
पृथुलः खरपत्रो दीर्घः (सु. सू. ३८।७५)
दासीकुरुण्टकः— ड.— नीलपुष्पः स (कुरुण्टक) एव (सु. सू. ३८।६)
दीप्यकः— ड.— अजमोदा (सु. चि. ८।२८, १५।२०, उ. ४२।२५)
अजमोदा, यवानीत्यपरे (सु. उ. ४७।२४)
यवानी, अन्ये अजमोदामाहुः (सु. उ. ४०।२०)
दीर्घवृन्तः— ड.— श्योनाकः (सु. चि. १।१०७)
अरलुकः (सु. उ. ४०।८१)
अरलुः, अन्ये श्योनाकमाहुः (सु. उ. ४०।७०)
द्रवन्ती— च.— दन्तीभेदः (च. सू. २।८)
दन्त्येव चीरितपत्रा (च. सू. १।७८)
ड.— शम्बरी (सु. सू. ४५।१२४, चि. १६।६८)
दन्तीभेदः सम्बरीति भादानके (सु. सू. ११।१३)
दन्तीभेदः सम्बरीति लोके (सु. सू. ३६।४)
चीरितपत्रा सम्बरी इति लोके (सु. सू. ४४।३६)
चीरितपत्रा दन्ती (सु. चि. २।८६)
चीरितपत्रा दन्तीभेदः (सु. चि. २३।११,
उ. ४२।६३, ५२।२०)
अ.— उन्दुरकर्णिका—(अ. हृ. सू. १५।४५)
ध्यामकम्— ड.— गन्धतृणम् (सु. चि. २२।६६)
कत्तृणं 'रोहिष' इति लोके (च. सू. ५।१८)
अ.— दवदग्धकम् (अ. हृ. सू. १५।४३)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

नक्तमालः— ड.— बृहत्करञ्जः (सु. सू. १४।३५, ३८।१०)
महाकरञ्जः (सु. चि. २३।१२)
करञ्जः (सु. चि. १।१०३, ४।३०)

नागवृत्तिकः— ड.— जिङ्गिनी गुडमज्जनिकेति लोके, वृश्चिकालीत्यन्ये (सु. चि. २०।१२)
वृश्चिकालीत्यन्ये (सु. चि. २०।१२)

नगवृत्तिका— ,,— शल्लकी (सु. चि. १५।१९, क. ५।७६)

नतम्— च.— तगरपादिका, तदभावे शिउली चोपगुडको गृह्यते (च. सू. ३।२१)

नदीभल्लातकः— ड.— ली (लो)जनकः (सु. सू. ४६।२४९)
नदीपिप्पलिका गण्डोपलीतिपर्याया (सु. उ. ३४।३)

नन्दीतकः— च.— कर्पूरनन्दी (च. वि. ८।१४०)

नन्दीमाषकः— च.— उन्दीमानवक इति ख्यातः (च. सू. २७।११०)

नन्दीमुखी— ड.— तद् (मधूलिका) भेदः (सु. सू. ४६।२१)

नलदम्— ड.— मांसी (सु. सू. ३८।४१, क. १।३५, उ. ३९।२३६, २९७)
उशीरम् (सु. उ. १७।४२, ३९।१७२)
उशीरभेदः लामज्जकम् (सु. क. ६।१४)

नन्दीवृक्षः— ड.— प्ररोही गर्दभाण्डः 'पार्श्वपिप्पल' इति लोके (सु. सू. ३८।४८)
काश्मरी, अन्ये गर्दभाण्डमाहुः (सु. सू. ३८।४६)

नाकुली— च.— चविका (च. चि. ३।२६७)
रास्ना (च. चि. २३।५५)
नाकुलीद्वयं रास्नाद्वयम् (च. चि. ९।५६)

नागदन्ती— च.— काष्ठपाटला (च. चि. १०।३९)
ड.— दन्तिनी (सु. सू. ३८।१६, चि. ८।४०, उ. ३०।६)
दन्ती (सु. चि. १७।२१)
इन्द्रवारुणीभेदः, जेज्जटाचार्यमते तु दन्ती (सु. क. ६।३)
अ.— पर्वपुष्पिका (अ. हृ. सू. १५।२८)

नागविघ्ना (पा.) ड.— इन्द्रवारुणीभेदः, वृश्चिकपत्रिकेत्यपरे (सु.उ. ६२।३१)
अ.— नागदन्ती (सु. उ. ६।३९)

नान्दीमुखी— च.— यविका (सु. सू. २७।२१)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

निकोचकम्—	ड.—	औत्तरापथिकं कोल्लकफलमुत्तरापथादवगन्तव्यम् (सु. सू. ४६।१८७)
	अ.—	सरलफलम् (अ. हृ. सू. ६।१२०)
निचुलः—	च.—	हिज्जलमिति प्रसिद्धः (च. सू. २।८)
		हिज्जलः (च. चि. १८।१८)
	ड.—	वेतसः (सु. चि. १६।१६, १६।२८, २२।२०)
		जलवेतसः (सु. चि. ११।१०, ३७।४३, उ. ५१।२३)
निर्गुण्डी—	ड.—	नीलनिर्गुण्डी (सु. सू. ३८।१८)
		नीलसिन्धुवारः (शेफालिकेति लोके) (सु. उ. ५२।३०)
निर्दहनी—	ड.—	चित्रकः (सु. उ. ४०।३६)
		चित्रकः, अजमोदा इत्यन्ये (सु. उ. ५७।१०)
		मोरटः, अग्निमन्थ इत्येके, अपरे चित्रकमाहुः (सु. चि. ४।३०)
		अग्निमन्थः, गणिकारिकेत्यन्ये (सु. उ. ५५।४८)
नीपः—	ड.—	धूलीकदम्बः (सु. सू. ६।३२)
		महाकदम्बः (सु. चि. ४।३२)
नृत्तकोण्डकः—	ड.—	मर्कटकः (सु. उ. ५१।३४)
	अ.—	नृत्यकुण्डलबीजः तुवरीबीजः (अ. हृ. चि. ११।२०)
पञ्चाङ्गुलम् (पा.)	च.—	चित्रैरण्डः (च. सू. २७।१०५)
	ड.—	एरण्डः, अन्ये तु पञ्चाङ्गुलशब्देन पटोलफलसदृशफलां लतां स्निग्धपत्रां शारदफलामाहुः । (सु. सू. ३६।४)
	अ.—	एरण्डः (अ. हृ. सू. १५।६)
पतङ्गम्—	ड.—	रक्तचन्दनम् (सु. सू. १४।३६, १६।२६, चि. २१।१० आदि)
		रक्तकाष्ठम् (सु. चि. १८।४१) (रक्तचन्दनम्—पा.)
पत्तूरः—	च.—	शालिञ्चिका (च. चि. २६।४४)
		शालिञ्चः (च. सू. २७।९६)
	ड.—	कुचन्दनम् (सु. सु. ३९।७)
		सितिवारः 'सिरिवाली' इति लोके प्रसिद्धा (सु. उ. ६।१६)
		शिरिवालिकाभेदो महापत्रः (सु. सू. ४६।२७४)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

अ.— पत्तूरा मत्स्याक्षकः (अ. हृ. सू. ६।९८)

पद्मा— च.— ब्राह्मणयष्टिका (च. सू. ४।३१)
ड.— मार्गी (सु. चि. २।७३, ८२, ११।१० थादि)
पद्मचारिणी, भार्गीमपरे (सु. शा. १०।६०)
अ.— पद्मचारिणी (अ. हृ. सू. १५।३७)

पयस्या— च.— क्षीरकाकोली विदारीकन्दो वा (च. सू. ४।७)
विदारीकन्दः (च. सु. ४।२)
ड.— अर्कपुष्पी (सु. सू. १६।२१, शा. १०।४५, ५७ आदि)
अर्कपुष्पी, क्षीरकाकोलीत्यन्ये (सु. सू. १५।३३)
अर्कपुष्पी, क्षीरविदारिकेत्यन्ये (सु. चि. ५।८)
अर्कपुष्पी, दुग्धिकामन्ये (सु. उ. ५८।५९)
विदारीभेदः (सु. सू. ४२।११)
विदारीभेदः, केचिदर्कपुष्पीमाहुः (सु. सू. १६।१६)

परिपेलवः— ड.— वन्यकः (सु. उ. ४७।३१)
वन्यकः, कैवर्त्तमुस्तकमन्ये (सु. क. २।५१)
अ.— परिपेलवं कुटन्नटं गोपालदमनकाख्यम्
(अ. हृ. सू. १५।६)

पर्वणी— च.— पर्वशाकम् (च. सू. २७।१०४)

पर्वपुष्पी— च.— कुक्कुटी (च. सू. २७।१०४)

पलंकषा— च.— गुग्गुलुः जटामांसी वा (च. सू. ४।४८)

पारावतः— ड.— कामरूपे मधुराम्लरसफलम् (सु. सू. ४२।११)
कामरूपे फलं पाककाले धवललोहितं मधुराम्लं च
(सु. सू. ४६।१३९)
पारावतवच्छुक्लतण्डुलः (सु. सू. ४६।१२)

पारावतपदी— ड.— ईषल्लोहितो हंसपदीभेदः (सु. चि. ९।३२)

पारिजातः— ड.— प्रसिद्धः (सु. चि. १४।१३)
पारिभद्रकः (सु. चि. ११।९)

पारिभद्रः— ड.— फलभद्रो रक्तकुसुमः कण्टकी रोहिणीसदृशपत्रः पूर्वदेशे प्रसिद्धः (सु. क. ३।९)
पर्वतनिम्बः, अन्ये कण्टकिवृक्षं रक्तकुसुमं फलभद्रसंज्ञकं वदन्ति (सु. उ. ५८।४८)

पारिभद्रकः— ,, निम्बवृक्षः (सु. सू. २९।६४)
देवदारुः, अन्ये तु रक्तकुसुमः कण्टकिवृक्षविशेषः स्वनाम्ना प्रसिद्धः (सु. सू. ११।११)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

पालिन्दी— च.— श्यामलता (च. सू. ४।१६)
ड.— कालवल्ली (सु. चि. १७।१५, उ. २६।४०)।
त्रिवृत् , कालवल्लीत्यपरे (सु. क. ५।७०)
श्यामा त्रिवृत् , सारिवामन्ये (सु. उ. १०।७)

पालेवतम्— अ.— रैवतकाख्यं द्विधा (अ. हृ. सू. ६।१३३)

पिचुकः— अ.— शितिवारकः (अ. हृ. चि. ११।२७)

पिण्डीतकः— ड.— मदनः (सु. सू. ३७।७, चि. ३१।५)
पिण्डीतकस्त्रिविधः–कृष्णपुष्पः, श्वेतपुष्पः, पीतपुष्पश्च (सु. चि. १७।४०)

पिण्याकः— च.— तिलकल्कः, निघण्टुकारस्तु आह—पिण्याको हरितशिग्रुः (च. सू. २७।४)

पीलुपर्णी— च.— मोरटकः (च. सू. २७।६६)
मोरटः, एलाभेद इत्यपरे (च. २७।३६)
मोरटा, मूर्वेत्यन्ये (च. चि. ३।२६७)

पुत्रश्रेणी— ड.— द्रवन्ती एरण्डसदृशफलपत्राऽल्पविटपः 'शम्बरी' इति लोके (सु. सू. ३८।२६)

पुन्नागः— ड.— देववल्लभः राजचम्पकमिति लोके (सु. सू. ३८।२४)
तुङ्गः पूर्वदेशे प्रसिद्धः (सु. क. २।४७)
तुङ्गः स्वनामख्यातः, अन्ये सुरपर्णिका सुगन्धिपुष्पा दक्षिणापथे सुरपती (सुरङ्गी)ति प्रसिद्धा (सु. सू. ३८।४५)
नागकेशरम् (सु. सू. ६।२३)

पुष्करवर्त्तिः— ड.— आमोदमित्युत्तरापथे (सु. सू. ४६।१६३)

पूतीकः— च.— कण्टकीकरञ्जः (च. सू. १।११४)
ड.— चिरबिल्वः (सु. सू. ३८।१०, ३९।४, चि. ४।३० आदि)
चिरबिल्वः, कण्टकी विटपकरञ्ज इत्येके (सु. सू. ३७।१३)
कण्टकिकरञ्जः (सु. सू. ११।१३)

पृथ्वीका— च.— कृष्णजीरकम् (च. सू. ५।१७)
ड.— हिंगुपत्रिका (सु. उ. ४२।६५)
हिंगुपत्रिका, कृष्णजीरक इत्यन्ये (सु. उ. ४२।२५)
कृष्णजीरकः (सु. सू. ४५।११५)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

श्यामवर्णः स्थूलजीरकः, हिंगुपत्रिकेत्यपरे
(सु. क. ६।१८)
एला, हिंगुपत्रिकेत्यन्ये (सु. क. ५।७३)
अ.— पृथ्वीका हिंगुपत्री (अ. हृ. सू. १५।४)

पोटगलः— च.— होगलः (च. वि. ८।१८, सि. १०।१३)

पौष्करम्— ड.— पुष्करमूलम् (सु. उ. ६१।३५)
यत्र शटचादौ पौष्करं कुष्ठं च यत् पठ्यते तत्र पौष्करं मूलं, तद्विटपशाखाश्च कुष्ठमिति ज्ञेयम्
(सु. चि. ३७।८)

प्रकीर्या— च.— प्रकीर्या उदकीर्या करञ्जद्वयम् (च. सू. १।८१)
ड.— कण्टकी विटपकरञ्जः (सु. सू. ३९।९)

प्र(प्रा)चीबलः— ड.— मत्स्याक्षकः, काकजंघा नदीपिप्पली वा इत्यपरे।
(सु. सू. ३८।१८)

प्रतिविषा— ड.— श्यामकन्दाऽतिविषाभेदः (सु. उ. ४०।३७, ४५)

प्रपौण्डरीकम्— ड.— स्वनामख्यातं यष्टीमधुद्रव्यादीषत् स्थूलं मधुररसं नेत्राश्चोतनार्हं द्रव्यम्, अन्ये श्रीपुष्पमाहुः
(सु. सु. ३८।५)

प्रियङ्गुः— च.— कायनीति प्रसिद्धा (च. सू. २७।१६)
पुन्नागिति (च. चि. ४।७३)
ड.— कङ्गुनिका' इति लोके (सु. सू. ४६।२१)
अ.— श्यामा (अ. हृ. सू. १५।६)

प्लवः— ड.— गोपालदमनकः (सु. चि. ११।९)
अ.— कुटन्नटः (अ. हृ. चि. २१।७८)
गोपालदमनाख्यः (अ. हृ. सू. २०।३८)

फञ्जी— च.— ब्राह्मणयष्टिका (च. सू. २७।९५)
ड.— भार्गी (सु. सू. ३८।१४, १८, क. १।६१)
'वाड' इति प्रसिद्धः. भार्गीमिके मन्यन्ते
(सु. सू. ४६।२४९)
पाठाभेदः, अन्ये भार्गीमाहुः (सु. उ. ४०।११३)

फणिज्झकः— च.— पर्णासभेदः (च. सू. ३।२)
ड.— तीक्ष्णगन्धः स्वनाम्नैव प्रसिद्धः, अन्ये निर्गुण्डीमाहुः
(सु. उ. ११।५)
तीक्ष्णगन्धो 'मरुवक' इति लोके, अन्ये त्वनेनैव नाम्ना प्रसिद्धः (सु. सू. ३८।१८)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

'फाणिज' इति लोके, अन्ये मरुवकमाहुः। (सु. सू. ४६।२२१)

अ.— मरीचकः तीक्ष्णगन्धः (सु. सू. १५।३०)

फल्गु— ड.— काकोदुम्बरिका 'कटुम्बरी' इति लोके (सु. सू. ४६।१६३)

बलाद्वयम्— ड.— बलातिबले शुक्लपीतपुष्पे (सु. सू. ३९।७)

बस्तगन्धा— ड.— बोबयिका (सु. उ. २१।६, ३४।६)

बाणः— ड.— सहचरः (सु. सू. ६।३६)

बाष्पः— ड.— बाष्पद्वयं बाष्पिकाद्वयं, तच्च लोहितं कृष्णं च सिन्धुविषये (सु. चि. ४।३२)

अ.— बाष्पिका हिंगुपत्रिका (अ. हृ. चि. ५।३१)

बिम्बी— च.— ओष्ठोपमफला (च. सू. १।७६)

ड.— कुन्दुरुका (सु. सू. ३९।६)

रास्नानुकारिविटपा लोहितफला च (सु. उ. ४४।१९)

अ.— गोल्हा ओष्ठोपमफलसंज्ञा (अ. हृ. सू. १।५१)

गोल्हा (अ. हृ. सू. १०।२२)

बिम्बीलोटः— ड.— भिल्लोटो हिमाद्रिजो वृक्षः (सु. उ. १२।११)

बिल्वपर्णी— च.— बिल्वार्जकः (च. सू. २७।१८३)

बूकः— अ.— ईश्वरमल्लिका (अ. हृ. सू. १५।२४)

बृहतीद्वयं— ड.— कण्टकारिकाद्वयं–एका स्थूलफला, द्वितीया ह्रस्वफला (सु. सू. ३८।१०)

स्थूलफला चणकबृहती च (सु. शा. १०।६१)

ब्रह्मचारिणी— ड.— मुण्डितिका, पतंगकाष्ठमित्यपरे (सु. सू. १९।२९)

ब्राह्मी— ड.— लवणिका (सु. चि. ७।२४)

मण्डूकपर्णी, अन्ये लवणिकामाहुः (सु. उ. ६२।३०)

अ.— मण्डूकपर्णी—(सु. उ. १।९)

भद्रश्रियम्— ड.— श्वेतचन्दनम् (सु. क. ६।१५)

श्रीचन्दनं, गयी तु श्वेतचन्दनम् (सु. शा. २।१५)

भद्रौदनी— च.— पीतबला (च. सू. ४।२)

भव्यम्— च.— कर्मरंगफलं, केचित् त्वक्संहतिफलं वदन्ति (सु. २७।१२७)

ड.— तालफलप्रमाणं उत्तरापथजं, अन्ये कर्मरंगमाहुः (सु. उ. ४७।४१)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

आरुकं कार्त्तिकेयपुरे प्रसिद्धं, अन्ये तु कर्मरंगफलं भव्यमाहुः; 'भव्यं तालफलोपमं केवलवल्कलसंहतिमन्त्रम्' इत्यपरे (सु. सू. ४६।१३९)

भण्डी— च.— स्वनामख्याता (च. सू. २७।१८४)
अ.— शिरीषः (अ. हृ. सू. १५।१९)

भाण्डी— ड.— भाण्डनीति लोके प्रसिद्धो विटपो भाण्डधावनार्थमासुतीवलाः समाहरन्ति (सु. चि. ३।१५)

भार्गी— अ.— अंगारवल्ली (अ. हृ. सू. १५।३०)
फञ्जी—(अ. हृ. सू. १५।२८)

भिल्लोटकः— ड.— पर्वते केदारभूमौ प्रसिद्धः (सु. चि. २४।१५)
हिमवदासन्नभूमिजः ककुभानुकारिफलो वृक्षविशेषः (सु. उ. १७।४०)

भूकन्दः— अ.— स्फोटाख्यः प्रावृडुद्भवः प्रसिद्ध एव (अ. हृ. सू. ६।१११)

भूतकेशी— ड.— मांसी (सु. उ. ६०।४७)
अ.— मांसी पुत्रजारा (अ. हृ. सू. १५।३०)

भूतीकः— च.— यमानिका (च. सू. ४।४२)

भूतीकम्— ड.— कत्तृणं गन्धतृणापरपर्यायम् (सु. चि. ३७।१९)
रोहिषम् (सु. उ. ५१।२८)

भूस्तृणम्— ड.— रोहिषं, तुम्बाकमन्ये (सु. सू. ४६।२२१)
गुदाकनामधेयो द्रोणपुष्पीसदृशः, अन्ये तु भूस्तृणं रोहिषम् (सु. सू. ३८।१८)
अ.— गूढबीजकम् (अ. हृ. सू. ६।१८४)
गुह्यबीजं अतिच्छत्राख्यम् (अ. हृ. सू. १५।३०)

मण्डूकपर्णी— च.— मणिमणि ख्याता (थानकुनी ख्याता—पा०) (च. सू. २७।९२)
ड.— ब्राह्मी (सु. सू. २०।५, ४१।११, ४६।२६२ आदि)
ब्राह्मीभेदः (सु. चि. ९।५)
अ.— आदित्यपर्णी (अ. हृ. सू. ६।७५)

मत्स्याक्षकः— च.— मच्छुरिति लोके ख्यातः, अन्ये तु ऐन्द्रीभेदं मत्स्याक्षकमाहुः (च. चि. १।३।२४)

मदयन्तिका— ड.— नखादिरागजननी 'मेंहदी' इति प्रसिद्धा । (सु. चि. ९।३४)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

'मेंदी' इति लोके, यस्याः पिष्टैः पत्रैर्नखानां रागं स्त्रिय उत्पादयन्ति (सु. चि. २५।४३)
मल्लिका (सु. क. १।६५)

मदयन्ती— ड.— मेन्दिका नखरञ्जनी (सु. चि. २।९१)

मधुरसा— ड.— मूर्वा (सु. सू. ३८।२२, उ. १९।१४, २६।३४ आदि)
मूर्वा 'चोरस्नायुः' इति लोके (सु. चि. १७।४४)
अ.— मूर्वा (अ. हृ. सू. १५।१७)

मधुवल्ली— च.— यष्टिमधुभेदः (च. वि. ८।१३९)

मधुशिग्रुः— ड.— शोभाञ्जनकः (सु. चि. ३१।५)
लोहितकुसुमोऽल्पविटपः शोभाञ्जनकभेदः ।
(सु. सू. ४६।२२१)
शाकविटपः, रक्तशोभाञ्जनक इत्यपरे (सु. क. ६।३)

मधूलकः— च.— गोधूमभेदः (च. सू. २७।१८५)
ड— स्वल्पगोधूमो मध्यदेशे 'पीशीका' इति ख्यातः, मर्कटहस्ततृणं (सु. सू. ४५।१७०)

मधूलिका— च.— मर्कटहस्ततृणम् (च. वि. ८।२०(१))
ड.— मर्कटहस्ततृणम् (सु. सू. ४६।२१, उ. २५।५)
मर्कटकः (सु. सू. ४२।११, उ. ५२।३४)
गुडूची, मर्कटतृणमपरे (सु. उ. २४।२८)
जलयष्टी (सु. उ. ३९।३००)
अ.— मधुयष्टिः (अ. हृ. क. १।२३)

मधूली— च.— गोधूमभेदः (च. सू. २७।२१)
अ.— जलजा मधुयष्टिः, गोधूमविशेषो वा (सु. चि. ५।३३)

मध्वालुकम्— ड.— रोमशं मधुरास्वादमेव (सु. सू. ४६।२९८)

मन्दारी— ड.— आली (सु. चि. १९।६३)

मरिचं शुक्लम्— ड.— शोभाञ्जनबीजम् , अन्ये शुक्लमेव मरिचं कथयन्ति (सु. उ. ११।१६)

मरिचं सितम्— ड.— शोभाञ्जनकबीजम् , शुक्लमपि मरिचमस्तीत्येके (सु. सू. ४६।२२५)

मर्कटी— च.— शूकशिम्बा (च. चि. ९।५५)
ड.— कपिकच्छुः, मर्कटमूलीत्यन्ये, शुकशिम्बीत्यपरे (सु. उ. ३३।७)

महानिम्बः— ड.— द्रेक्का, पर्वतनिम्ब इति लोके (सु. सू. ३८।२२).

महामेदा— ड.— स्वनामख्याता (सु. सू. ३८।३५)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

महावृक्षः— ड.— सेहुण्डः (सु. सू. ४४।८२, चि. १४।८, १० आदि)
सेहुण्डभेदः (सु. सू. ३६।४)

महाश्यामा— ड.— वृद्धदारकः (सु. सू. ३८।२९)

महाश्वेता— च.— अपराजिताभेदः कटभी वा (सु. सू. ४।२७)
ड.— नीलपुष्पः सेफन्दः, वन्ध्याकर्कोटिकेत्यन्ये (सु. सू. ३८।१६)
अ.— कटभी (अ. हृ. उ. ४।४६)

महासुगन्धा— ड.— उत्पलसारिवा, सर्पसुगन्धामपरे (सु. उ. २६।४०)

महीकदम्बः— ड.— अलम्बुषा मुण्डितिकेति लोके, जेज्जटाचार्यो भूकदम्बमाह (सु. चि. १७।१५)

माणकम्— ड.— महापत्रं यथापूर्वमधःपत्रपरित्यागि (सु. सू. ४६।३०६)

मातुलुङ्गम्— ड.— बीजपूरकः, मधुकर्कटी इत्यन्ये (सु. उ. ४५।३६)

माषपर्णी— ड.— 'माषवनी' इति लोके, अरण्यमाषस्तम्ब इत्येके (सु. सू. ३८।३५)

मुचलुन्दः— ड.— कण्टकी मदनः, अन्ये मुचकुन्दमाहुः (सु. चि. १८।१०)

मुञ्जातकः— ड.— स्वनामख्यातः स्वल्पकन्द उत्तरापथे (सु. सू. ३९।९)

मुष्ककः— ड.— क्षारवृक्षः 'मोखक' इति लोके (सु. सू. ३८।२०)
कालमुष्ककः (सु. क. १।७१)

मूर्वा— ड.— चोरस्नायुः (सु. सू. ४४।३५, चि. २।९१, ५।१२, ६।८ आदि)
चोरस्नायुः यया पूर्वदेशे गुणान् कुर्वन्ति धनुषाम्; अन्ये कोविदारसदृशपुष्पपत्रां लताविशेषां मूर्वामाचक्षते (सु. सू. २५।२१)
धनुर्गुणोपयुक्तो लताभेदः (सु. चि. १।११५)
धनुर्गुणोपयुक्तो 'दूधउ' इति लोके, अन्ये चोरस्नायुमाहुः (सु. सू. ३८।६)
दुधोड़ः, चोरस्नायुक इत्येके (सु. सू. ३८।३३)
कन्दलीसदृशस्वल्पविटपः 'हधोड़' इति लोके (सु. सू. ३९।८)
अ.— मूर्वा पीलुपर्णी (अ. हृ. सू. १५।१)

मूषिकपर्णी— च.— मूषकपर्णी तिलपर्णी—(च. चि. ३।२६३)
मूषिकपर्णी पुंजीपत्रेति ख्याता (च. चि. १२।६९)
ड.— द्रवन्ती, द्रव्यान्तरमित्यन्ये (सु. क. १।५८)
दन्ती, अन्ये मूषिककर्णाख्यं द्रव्यान्तरमाहुः (सु. उ. ५४।२७)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

मूषिका— ड.— मूषिका लोमशा कृष्णा भवेत् सापि च तद्गुणा (सु. क. ११७८)
(देखें अजरुहा)

मेदा— ड.— महामेदा च स्वनामख्याता (सु. सू. ३८।३५)

मेषशृङ्गः— ड.— कर्कटशृङ्गः (सु. सू. १४।३६)
कर्कटशृङ्गः स च पुत्रञ्जीवकसदृशस्तरुविशेषः (सु. सू. ३८।८)
कर्कटशृङ्गः, पुत्रञ्जीवकभेद इत्यन्ये (सु. चि. २।६४)
इंगुदीभेदः (सु. उ. १५।२७)

मेषशृङ्गी— ड.— कर्कटशृङ्गी (सु. सू. ३८।१०, उ. ४०।४०)
कर्कटशृङ्गी, गयी तु पुत्रञ्जीवकभेदमाह (सु. चि. ९।७)
मेढशृङ्गः पुत्रञ्जीवकतरुसदृशपत्रो वृक्षः, अन्ये कर्कंट-शृङ्गमाहुः (सु. सू. ३९।६०)

मोरटः— च.— मोरटं मूर्वा (च. वि. ८।२०(१))
मोरटा मूर्वा इत्यन्ये (च. चि. ३।२६३)
ड.— अङ्कोल्लपुष्पः 'मोइहर' इति लोके हस्तिकर्ण पलाश इत्यन्ये (सु. सू. ३८।१०)
इक्षुमूलम् (सु. चि. ७।९)
अ.— मूर्वा (अ. हृ. सू. १५।२१)

मोहनवल्लिका— ड.— वटपत्रिका (सु. उ. ६०।४८)
अ.— मोहनवल्ली मन्दाकः (अ. हृ. उ. ५।३)

मोहनिका— ड.— पुत्रञ्जीवी, अवाक्पुष्पी इत्यपरे (सु. चि. २८।२२)

यवतिक्ता— ड.— यवक्षेत्रेषु जायते तिक्तसप्ताष्टपत्रा 'येवन्तिका' इति प्रसिद्धा (सु. सू. ४५।१२५)

यवशाकम्— च.— क्षेत्रवास्तुकम् (च. सू. २७।९८)
अ.— हृद्यपत्रा चिल्ली (अ. हृ. सू. ६।१२)

यवासः— ड.— दुरालभा (सु. सू. ४४।४९)
धन्वयवासकः (सु. उ. ५२।४२)

यूथिका— ड.— वृक्षविशेषः, सा त्रिधा–ईषत् श्वेतपुष्पा, अतिश्वेत-पुष्पा च (सु. सू. ४६।२४९)

रजनीद्वयम्— ड.— पिण्डहरिद्रा दारुहरिद्रा च (सु.   )

रम्यकः— ड.— महानिम्बः (सु. सू. ४३।३)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

द्रेक्का पर्वतनिम्बः 'राजनिम्ब' इति लोके
(सु. चि. ४।२७)
द्रेक्का 'महानिम्ब' इति लोके प्रसिद्धः; पटोलमूलमित्येके (सु. सू. ३८।२९)
द्रेक्का 'बकाइणि' इति लोके, पटोलमूलमित्यपरे
(सु. सू. ३९।४)

रसाञ्जनम्— ड.— दारुहरिद्राक्वाथेन कृत्रिमं, अन्ये त्वेवं वदन्ति—रसाञ्जनं द्विविधं—स्रोतोञ्जनं कृष्णपाषाणाकृति धातुद्रव्यं, अन्यद् दारुहरिद्राक्वाथेन कृत्रिमं पीतलोहितम्।
(सु. सू. ३८।४१)

राजक्षवकः— च.— दुग्धिका (च. सू. ४।२, २७।८७)
ड.— कृष्णराजिका, अन्ये तु राजक्षवको बृहत्पत्रो क्षवथुकाकर इत्याहुः (सु. सू. ४६।२७६)
अ.— क्षद्बोधनो राजशाकाख्यः (अ. हृ. सू. ६।७१)

राजादनः— च.— क्षीरिका (च. क. ६।५)
वेञ्चुलिकीति ख्यातम् (च. वि. ८।२०(१))
ड.— क्षीरिका (सु. सू. ३८।४३, ४६।१६३, ३३४; चि. ११।१० आदि)
चारः, अन्ये क्षीरिकामाहुः (सु. उ. ४८।२६)
अ.— चाषप्रियम् (अ. हृ. सू. १०।२२)

रास्ना— ड.— सुरभिः (सु. सू. ३७।३)
गन्धनाकुली (सु. क. ८।१०४)
अ.— रस्या (अ. हृ. सू. १५।२८)
युक्तरसा (अ. हृ. सू. १५।३)

रुहापत्रम्— च.— उदग्रशाकम् (च. चि. १४।१२४)

लक्ष्मणा— च.— स्वनामख्याता (च. सू. २७।९८)
ड.— लक्ष्मणालक्षणं तु—'पुत्रकाकाररक्तात्पविन्दुभिः लाञ्छितच्छदा। लक्ष्मणा पुत्रजननी बस्तगन्धाकृतिर्भवेत्॥ (सु. शा. २।३२)
अ.— लक्ष्मणं मधुयष्टिकम् (अ. हृ. सू. ६।९३)

लक्ष्मी— ड.— शमी, लक्ष्मणेत्यन्ये, विष्णुक्रान्तेत्यपरे
(सु. सू. १९।२९)

लताकस्तूरिका— ड.— दक्षिणापथे विटपः शकुनापितुल्यः (सु. सू. ४६।२०४)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

लवङ्गम्— ड.— श्रीचन्दनपुष्पम् (सु. सू. ४६।२०२)

लवली— ड.— लवलीफलं सुगन्धिफलं स्वनामप्रसिद्धम् ; तल्लक्षण-
मुच्यते—'घनस्निग्धा हरितांशुः प्रपुन्नाटसदृक्छदा ।
सुगन्धिमूला लवली पाण्डुकोमलवल्कला ॥
(सु. सू. ४६।८९)

लामज्जकम्— ड.— उशीरभेदः (सु. सू. ३९।६, चि. १७।७, क. १।३५)
पर्वतोद्भूतमूलं, अन्ये उशीरमाहुः (सु. उ. ४७।५८)

लोहितिका— ड.— मञ्जिष्ठा, रामतरुणीत्यन्ये (सु. चि. ११।१०)

वज्रप्रोक्ता— ड.— वज्रकन्दः, स्नुहीत्यन्ये (सु. ड. ६०।४८)

वञ्जुलः— ड.— वेतसः (सु. सू. ३८।४८, चि. ५।८, उ. २६।१३)
जलवेतसः (सु. क. ८।१०८)

वत्सादनी— ड.— गुडूची (सु. सू. ३९।७)
वत्सपुत्रिका 'वत्सवतिया' इति लोके, गुडूचीत्यपरे
(सु. सू. ४६।२५४)

वनत्रपुषी— च.— बृहत्फला गोडुम्बा (च. वि. ८।१३९)

वयःस्था— च.— सूक्ष्मैला (च. चि. ९।५६)
ड.— गुडूची, ब्राह्मीत्यन्ये (सु. उ. ३९।६)
ब्राह्मी, अन्ये गुडूचीमाहुः (सु. उ. ३२।४)
अ.— धात्री (अ. हृ. उ. ६।३५)

वरकः— ड.— वरटिका कुधान्यविशेषः (सु. सू. २१।१९)
वरटिका शाकम्भरीभूमौ प्रायशः (सु. सू. ४६।२१)
च.— सामबीजम् (च. सू. २७।१७)

वराङ्गम्— च.— गुग्गुलुः (च. चि. ७।९८)
ड.— वनवासिकात्वक् (सु. क. ६।३)

वर्षाभूः— ड.— पुनर्नवा (सु. सू. ४६।२२१, उ. ५५।४६)
रक्तपुनर्नवा (सु.चि. २३।१२, उ. ३९।२०२,४२।४६)
श्वेतपुनर्नवा (सु. उ. २१।६, ४७।४६)
अ.— स्थूलपुनर्नवः (अ. हृ. सू. ६।९६, चि. १।११३)

वशिरः— च.— सूर्यावर्त्तः (चि. सू. ४।३५)
ड.— मर्कटपिप्पली तृणजातिः 'अपामार्ग' इति प्रसिद्धः
(सु. सू. ३८।१०)
अपामार्गः, सूर्यावर्त्तभेद इत्येके (सु. सू. ३८।१२)
सूर्यावर्त्तः, अपामार्ग इत्यपरे (सु. सू. ३९।७)
सूर्यावर्त्तफलं देशान्तरे ज्ञेयम् (सु. सू. ४६।१९०)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

अ.— वशिरं सामुद्रलवणम् (अ. हृ. चि. ११।१८)

वसुकः— च.— वसुहट्टकः (च. सू. ४।२०)
ड.— बुकः, 'बकपुष्प' इति लोके (सु. सू. ३८।१२)
बुकः, केदारगिरौ 'बगहुल' इति लोके
(सु. सू. ४६।४३३)
शिवमल्लिका, बकपुष्पमिति लोके (सु. सू. ३९।७)
बुकः, बकपुष्प इति लोके, अन्ये तु वसुकोऽर्कः
(सु. सू. ३८।१०)
अ.— ईश्वरमल्लिका (अ. हृ. चि. ११।१८)

वात्यपुष्पी— च.— पीतबला (च. शा. ८।२१)

वात्यायनी— च.— श्वेतबला (च. सू. ४।२)

वायसी— ड.— काकमाची (सु. चि. ९।३४)
काकतिक्ता 'चिरपोटिका' इति लोके, 'काकमाची' इत्यन्ये (सु. चि. ९।२९)

विदारी— ड.— विदारीकन्दः (सु. सू. ३८।७२, ३९।८, ४६।२९८)
विडाली (सु. सू. ४४।१६)
विपादिककन्दः कोहलाकारो लोहितकुसुमः, स च द्विविधः—दीर्घकन्दो बहुक्षीरः, हस्तिपादकोऽल्प क्षीरः
(सु. सू. ३८।४)
अ.— वृष्यकन्दा (अ. हृ. सू. १५।९)
शृगालिका (अ. हृ. सू. ६।८४)

विदुलः— च.— हिज्जलः (च. सु. ४।२३)
ड.— वेतसः (सु. सू. ३९।३, चि. १।९६, उ. ४७।२८)
अ.— जलवेतसः (सु. सू. १५।१)

विशल्या— ड.— गुडूची (सु. उ. ६२।३०)
पाटला (सु. शा. १०।११)
काष्ठपाटला (सु. क. ५।६१)
अग्निशिखवृक्षः (सु. चि. १८।४८)
(काष्ठपाटला—पा०)
अ.— लांगली (अ. हृ. सू. १५।२८, उ. ६।३९)

विश्वदेवा— ड.— गांगेरुकी प्रसिद्धा 'गुडशर्करा' (गुलसकरी) इति पूर्वदेशे, अन्ये सितकुसुमां बलामाहुः
(सु. सू. ३८।४, शा. २।३८)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

विषघ्नी—	ड.—	हरिद्रा, अन्ये निर्विषामाहुः (सु. उ. ६२।३०)
विषमुष्टिकः—	ड.—	द्रेक्का राजनिम्ब इति प्रसिद्धः; बृहदलम्बुषामपरे; कर्कोटीत्यन्ये (सु. सू. ३८।१८)
	अ.—	कर्कोटी, महानिम्ब इत्येके (अ. हृ. सू. १५।३०)
विषाणिका—	च.—	आवर्त्तनी (च. सू. १।७६)
	ड.—	मेषशृङ्गी (सु. सू. ३९।४, चि. ३१।५)
		आवर्त्तनिका (सु. चि. १८।४८)
वीरतरुः—	ड.—	शरः, अन्ये तु वीरतरुः 'वेल्लन्तर' इति नाम्ना प्रसिद्धो जांगलदेशे नर्मदातटे चर्मण्वतीनदीसमीपे च; तल्लक्षणमुच्यते— 'वेल्लन्तरुर्जगति वीरतरुः प्रसिद्धः श्वेतासितारुणविलोहितपीतपुष्पः । आदारितुल्यकुसुमः शमिसूक्ष्मपत्रः स्यात् कण्टकी विजलदेशज एष वृक्षः ।।" इति । (सु. सू. ३८।१२)
		बिल्वनासिका शर इत्यन्ये (सु. सू. ३९।७)
		स्वनामप्रसिद्धः, अर्जुन इत्येके, कोकिलाक्षः इत्यपरे (सु. चि. १५।४४)
वीरा—	च.—	जालन्धरं शाकम् (च. वि. ८।१३९, चि. १)
		विदारीकन्दः (च. चि. २१।७७)
		क्षीरकाकोली, शालिपर्णीत्यपरे (च. चि. ९।५५)
	अ.—	काकोलिका (अ. हृ. उ. ६।३५)
वृकधूमकः—	च.—	भूमिशिरीषः (च. सू. २७।९७)
वृक्षाम्लम्—	च.—	महार्द्रकम् (च. सू. २७।१४७)
	ड.—	तिन्तिडीकम् (सु. उ. ४२।२९)
वृश्चिकाली—	च.—	पथ्या (च. चि. १०।३१)
	ड.—	वृश्चिया(शा)कः (सु. सू. ३८।१६)
		वृश्चिकपत्री (सु. सू. ४५।११)
		कण्टकितमेषशृङ्गयुगाकारफला पाठापत्रा ईषद्रोमशा श्वेतपुष्पगुच्छा दक्षिणावर्त्तवल्ली मेषशृङ्गीभेदः; वृश्चियाशाकमन्ये (सु. सू. ३८।४)
	अ.—	उष्ट्रधूमकः (अ. हृ. सू. १५।२८)
		उष्ट्रधूमको मेषशृङ्गी (अ. हृ. सू. १५।१९)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

वृश्चीरः— च.— श्वेतपुनर्नवा (च. सू. ४।२२)
वृश्चीकः— ड.— शुक्लपुनर्नवा (सु. उ. ५६।२४)
अ.— वृश्चीकः सूक्ष्मपुनर्नवा (अ. हृ. चि. १।११३)
,, क्षुद्रवर्षाभूः (अ. हृ. सू. १५।६)
वेणुपत्रिका— ड.— वंशपत्राणि, अन्ये वेणुपत्रिकां वंशसदृशपत्रिकां द्रव्यान्तरमाहुः (सु. क. १।५३)
वेत्राम्लम्— ड.— अम्लवेतसम् (सु. उ. १२।१८)
शङ्खिनी— च.— श्वेतबुह्ना (च. सू. १।८०, ४।४)
श्वेतभल्लातकी (च. चि. १३।१२१)
ड.— यवतिक्ता (सु. चि. १७।३५)
यवतिक्ताभेदः सुदुग्धा बृहत्पत्रा (सु. सू. ३७।१२)
यवतिक्ता, अन्ये शङ्खिनी यवतिक्ताभेद इत्याहुः, अपरे तु श्वेतबुध्नामाहुः (सु. सू. ४४।८४)
श्वेतश्रीफलिका, अन्ये यवतिक्ताभेदमाहुः
(सु. सू. ४५।१२४)
तत् (सप्तला) भेदः (सु. चि. १०७।१२)
अ.— यवन्तिका (अ. हृ. सू. १५।२)
शताह्वफलम्— च.— सेहु इति ख्यातम् (च. सू. २७।१४५)
शताह्वे— च.— शतपुष्पामधुरिके (च. सू. ३।२३)
शार्ङ्गेष्टा— च.— काकतिक्ता (च. सू. २७।६३)
गुञ्जा (च. चि १८।६६, वि. ८।१८)
उ.— भुम्भुरुट्टाको वेष्टितफलः काकमाच्यनुकारः
(सु. चि. ३७।३६)
काकतिक्ता, भुम्भुरुट' इति लोके (सु. चि. १२।६)
काकजङ्घा 'विकसवनी' इति लोके, काकमाचीत्यन्ये; अन्ये तु शार्ङ्गष्टा काकतिक्ता गौरवर्त्तुलावगुण्ठितफला 'चिरपोटिका' इति प्रसिद्धा, 'भुरुदाका' इति पूर्वदेशे; काकादनीत्यपरे, सा च गुञ्जेति प्रसिद्धा
(सु. ३८।६)
विटपकरञ्जः, चिरपोटिकेत्यन्ये, अपरे तु काकजङ्घामाहुः (सु. सू. ४५।३५)
काकतिक्ता 'भुम्भुरुटा' इति लोके, गूथकरञ्ज इत्यपरे
(सु. चि. ६।७)
अ.— अङ्गारवल्लिका (अ. हृ. सू. ६।७४)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

शालः— ड.— शङ्कुः (सु. चि. १६।३३, २२।६६)
सर्जभेदः (सु. उ. १७।८)

शालकल्याणी— च.— शालिञ्चभेदः (च. सू. २७।६६)

शिग्रुः— ड.— शोभाञ्जनकः (सु. सू. ३७।६, ३८।१०, ३६।६ आदि)
शोभाञ्जनकः, सुवासमित्यन्ये (सु. सू. ४६।२२१)
शोभाञ्जनकः, विटपशाकमन्ये (सु. उ. २१।६)
मधुशिग्रुः (सु. उ. २१।१७)
शोभाञ्जनानुकारी विटपः, शोभाञ्जनमपरे
(सु. उ. ३६।२७२)
अ.— फलपत्रकः (अ. हृ. सू. ६।१०४)

शितिमारकः— च.— शालिञ्चः (च. चि. २६।५४)

शिवाटी— ड.— श्वेतपुनर्नवा, शेफालिकेत्यन्ये (सु. उ. २३।४)

शीतकः— च.— अम्बुलोटकः (च. वि. ८।१३६)

शीतकुम्भिका— च.— काष्ठपाटला (च. चि. ३।२५४)

शीतपाक्यम्— च.— शीतपाकी शीतला (च. वि. ८।२०(१))
ड.— शीतपाक्यं बलाफलम् (सु. सू. ४६।१६०)

शीतफलम्— ड.— 'रावणाम्लिका' इति प्रसिद्धम् , काश्मीराम्लिका इत्येके (सु. सू. ४६।१६३)

शीतशिवम्— ड.— कर्पूरम् (सु. सू. १४।३५, ४२।११)
कर्पूरं, शतपुष्पाभेदमेके, गवेधुकेत्यपरे
(सु. सू. ३६।६)
कर्पूरं, शमीत्यपरे (सु. क. ६।१८)

शीर्णवृन्तम्— ड.— सुवासकं त्रपुसभेदः, अन्ये तु शीर्णवृन्तम् कर्बुरमाहुः, एके तु शीर्णवृन्तं पाकावस्थायां यस्य वृन्तं शटितं भवतीत्यर्थः, अपरे तु कर्बुदभेदं खुदपुत्रकमाहुः ।
(सु. सू. ४६।२१६)

शुकः— ड.— ग्रन्थिपर्णः (चर्मकारवटः—पा.) (सु. चि. १८।३६)

शुकनसा— ,,— चर्मकारवटः (सु. चि. १७।३७, १६।६३)

शुकनासा— ,,— चर्मकारवटः 'कुप्यक' इति कान्यकुब्जे, चर्मकार जम्बूपलाशिका (प्रभासिका) इति मालवीया वदन्ति (सु. चि. १।११५)
स्योनाकः (सु. सू. ४२।११)

शुकाख्यः— ,,— चर्मकारवटः (सु. क. ७।३४)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

शुकाख्या— ,,— चर्मकारवटः, शुकशिम्बामपरे
(सु. उ. ५१।२३, ४४।१९)

शुकाह्वयः— ,,— चर्मकारवटः (सु. चि. १८।४८)

शृगालविन्ना— ड.— पृश्निपर्णी (सु. चि. ५।७, उ. ५८।५९)
पृश्निपर्णीभेदः (सु. उ. ४२।११३)
पृथक्पर्णीभेदः दीर्घपत्रा सिंहपुच्छा (सु. सू. ३८।४)

शृङ्गबेरी— च.— गोजिह्विका किंवा आर्द्रकाकृतिः शृङ्गबेरी
(च. सू. २७।१६५)

शेफालिका— ड.— रक्तवृन्ता शारदकुसुमा (सु. सू. ६।१५)

शेलूः— ड.— दक्षिणापथजं शाकं, श्लेष्मातकमपरे
(सु. सू. उ. ४५।१६)

श्यामा— ड.— त्रिवृत् (सु. चि. १८।३४, ५२, उ. २४।२९)
त्रिवृद्विशेषः (सु. चि. ८।३९, २०।५१)
श्वेता त्रिवृत् (सु. सू. ३८।२९)
कृष्णमूला त्रिवृत् (सु. सू. ३९।४)
अरुणमूला त्रिवृत् (सु. उ. ४२।९४, ५५।५२)
वृद्धदारुकः (सु. सू. ४४।१९, २३; ४५।१२४,
चि. ३७।१३ आदि)
प्रियङ्गुः (सु. चि. ३७।२७, ३८।५३, क. १।५७)
अ.— मालविका त्रिवृत् मसूरविदलाख्या
(अ. हृ. सू. १५।४५)
मालविका (अ. हृ. चि. १५।६०)

श्यामाकः— ड.— श्यामाकस्त्रिविधः—श्यामाकः, उष्ट्रश्यामाकः, हस्तिश्यामाकश्चेति । 'श्यामाक' शब्देन तोयश्यामाक उच्यते । उष्ट्रश्यामाकः स्थूलश्यामाकः, हस्तिश्यामाकः श्यामिकेति लोके (सु. सू. ४६।२१)

श्रेयसी— च.— रास्ना (च. चि. १८।१५९)
रास्नाभेदः (च. सू. ४।५०)
हस्तिपिप्पली (च. चि. १०।१८)
अ.— हस्तिपिप्पली (अ. हृ. चि. ६।४४)

श्वेतः— ड.— श्वेतस्यन्दः (सु. चि. १९।४२)

श्वेता— च.— श्वेतनामा श्वेतापराजिता (च. सू. १।७६)
ड.— श्वेत वचा (सु. सू. ३९।३)
श्वेतस्यन्दा (सु. चि. २२।६३, क. ७।२४)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कटभी (अन्ये)—(सु. क. १।६५, ७।५२)
श्वेताद्वयं–श्वेता महाश्वेता च, कटभीद्वयमित्यर्थः; अन्ये तु श्वेते द्वे श्वेतस्यन्दः श्वेतवचेति भाषन्ते। (सु. क. ६।३)

अ.— श्वेतायुग्मं एका किणिहीसंज्ञा अन्या महाश्वेता पालिन्दीसंज्ञा (अ. हृ. सू. १५।१८)

संहर्षा— च.— वन्दाकः (च. वि. ८।१३९)

सप्तला— च.— चर्मङ्कषा (च. सू. १।७६)
ड.— सप्तलिका यवतिक्ता (सु. चि. १८।३४)

सरला— ड.— अरुणमूला त्रिवृत् (सु. सू. ३७।६)
सरलः, विशंसिकामन्ये (सु. सू. ३७।२४)

सर्जः— ड.— लघुसर्जः (सु. चि. ६।१४)
शालभेदः (सु. सू. १४।३६)

सर्पगन्धा— ड.— नाकुली (सु. क. ५।८४)
सर्पच्छत्रिका (सु. क. ७।२६)
वर्षासु छत्राकारा (सु. उ. ६०।४४)
अ.— नाकुली (अ. हृ. उ. ५।३)

सर्पसुगन्धा— अ.— नाकुली (अ. हृ. चि. १४।१०३)

सर्पाक्षी— ड.— लोहितपुष्पा शंखपुष्पीभेदः (सु. क. ८।११७)
रक्तपुष्पा पूर्वदेशे प्रसिद्धा (सु. क. ६।२२)

सहदेवा— ड.— बलाभेदः पीतपुष्पा 'कांकही' इति लोके (सु. शा. २।३२)
गांगेरुकीति प्रसिद्धा (सु. चि. ५।१२)

सहदेवी— ,,— बलाभेदः पीतपुष्पा 'कांकही' इति लोके (सु. सू. ३८।४)

सहा— ड.— माषपर्णी (सु. चि. ५।१२, २२; २३।१२)
मुद्गपर्णी (सु. क. ८।५२)

सातला— ड.— स्नुहीभेदः (सु. सू. ३८।२६)
सेहुण्डभेदः, अपरे बुध्नामाहुः (सु. सू. ३६।४)
स्नुहीभेदः, अपरे श्रीफलिकामाहुः (सु. सू. ३६।५)

सारिवा— ड.— जम्बूपत्रा दुग्धगर्भा वल्ली स्वनामप्रसिद्धा (सु. सू. ३८।४)
उत्पलसारिवा सुगन्धमूला (सु. उ. ३६।२१८)
सारिवा उत्पलसारिवा च (सु. उ. ३६।२३०)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

सारिवाद्वयम्— ;;— आस्फोता कालवल्ली च (सु. उ. ६१।३५)

सुगन्धकः— ड.— देवशालिः पाञ्चाले (सु. सू. ४६।४)
द्रोणपुष्पः, अन्ये तु सुगन्धको बृहत् सुगन्धतृणम्
(सु. सू. ३८।१८)
गन्धतृणमल्पं भूस्तृणं, सुगन्धितृणमिति केचित्
(सु. सू. ४६।२२१)

सुगन्धा— ड.— सर्पसुगन्धा नाकुलीति यावत् (सु. क. ५।७६)

सुगन्धिका— ;;— उत्पलसारिवा (सु. चि. १७।८; २८)
सर्पगन्धिका (सु. क. ५।६६)
सर्पसुगन्धा (सु. क. ६।१५)

सुनिषण्णकः— ड.— सिरिबालिका इति लोके, श्रीब्रह्मदेवस्तु चतुर्दलमाह-
तल्लक्षणं कथ्यते—
'चांगेरीसदृशैः पत्रैः सुनिषण्णश्चतुर्दलः ।
शाको जलान्विते देशे चतुष्पत्रीति कथ्यते ॥ इति
(सु. ४६।२६२)
चतुष्पत्री, अन्ये शिरबालिकामाहुः (सु. उ. १७।५०)
अ.— स्वस्तिकाख्यो जलमध्ये भवति, पत्रैः चांगेरीतुल्योऽ-
ग्निकरोऽपि वृष्यः (अ. हृ. सू. ६।७१)

सुमुखः— ड.— वनबर्बरिका (सु. सू. ४६।२२१)
राजिका, अन्ये तु वनबर्बरिक 'सउहा' इति नाम्ना
जेजीभुक्तौ प्रसिद्धा (सु. सू. ३८।१८)
अ.— कटुपत्रकः (अ. हृ. सू. ६।१०४)

सुरभी— च.— शूकशिम्बा (च. सू. ५।६२)
पर्णासभेदः (च. चि. ३३।२३९)

सुरसी— ड.— कपित्थसदृशपत्रा 'बिल्वनासी' इति लोके प्रसिद्धा,
श्वेतनिर्गुण्डीत्यन्ये (सु. सू. ३८।१८)
अ.— सरसी तुम्बुरपत्रिका (अ. हृ. सू. १५।३०)

सुवर्चला— च.— सूर्यभक्तिका (च. सू. २७।९६)
सुवर्चिका सूर्यावर्त्तः (च. चि. १२।६०)
सूर्यावर्त्ता—(च. चि. १४।१२३)
ड.— सूर्यावर्त्तः 'सोंचली'ति लोके (सु. सू. ३७।१२)
सूर्यावर्त्तभेदः (सु. सू. ४६।२०४)
सूर्यभक्ता (सु. शा. १०।११ चि. २।८२, उ. ४७।३४)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

सूर्यावर्त्तः, केचित् मारिषसदृशदण्डमार्त्तंगलसदृशपत्रं लप्पसमाहुः (सु. सू. ४६।२६२)

अ.— रविभक्ता (अ. हृ. सू. ६।६२)

सुवर्णक्षीरी— च.— स्वर्णक्षीरी अंगुष्ठप्रभा (कंकुष्ठप्रभवा–पा.) (च. सू. ४।४)

ड.— कङ्कुष्ठम् (सु. चि. ४।२७)

अनन्तासदृशपत्रा 'हियावलि' इति लोके, कङ्कुष्ठ इत्यपरे (सु. सू. ३९।४)

अ.— कङ्कुष्ठम् (अ. हृ. सू. १५।४५)

सुवहा— च.— रास्ना हाफरमाली वा (च. सू. ४।१६)

ड.— गोधापदी (सु. चि. १।६०, उ. ३४।३, ५१।२३)

गन्धनाकुली नापिणीति लोके, गोधापदीत्यपरे; कन्दालीत्यन्ये (सु. चि. १७।४०)

सुषवी— च.— कारवेल्लकः (च. वि. ८।१८)

ड.— पानीयवल्ली (सु. चि. ५।७, १२)

कारवेल्लकः, अन्ये तु पानीयवल्लीमाहुः (सु. सू. ३८।६)

अ.— स्थूलजीरकः (अ. हृ. चि. १४।१३)

सूर्यवल्ली— ड.— पटोलसदृशपत्रा वल्ली (सु. चि. ३१।५)

पटोलसदृशपत्रा यस्याः पत्ररसेनाक्तं मासं स्विन्नमिव भवति, अन्ये सूर्यावर्त्तमाहुः (सु. क. २।४५)

अर्कपुष्पी, सूर्यावर्त्तभेद इत्यन्ये (सु. सू. ४५।१२०)

अ.— करवीरकाकारपुष्पी—(अ. हृ. उ. ३५।२१)

सैरेयकद्वयम्— ड.— रक्तपुष्पनीलपुष्पकण्टशेलुआद्वयम् (सु. सू. ३८।१०)

अ.— सैर्यकयुग्मं सहचरद्वयमेको रक्तपुष्पः कुरबकाख्योऽन्यः पीतपुष्पः कुरण्टकाख्यः। (अ. हृ. सू. १५।२१)

सोमः— ड.— सोम एव (सु. सू. ३७।२४)

सोम एव, सोमवल्कल इत्यन्ये, अपरे सोमा ब्राह्मी इत्याहुः (सु. सू. ३७।२३)

सोमलता, कट्फलमित्यपरे (सु. चि. १८।३३)

सोमसंज्ञः, सोमलतेत्यन्ये, कट्फल इति जेज्जटाचार्यः, तन्नेच्छति गयी, तस्य तीक्ष्णोष्णत्वात् (सु. चि. १७।२१)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

स्थौणेयकः— ड.— थुणेरकः (सु. सू. ३८।२४)
ग्रन्थिपर्णकम् (सु. क. ६।१९)
अ.— तैलपीतकम् (अ. हृ. सू. १५।४३)

स्पृक्का— ड.— कुटिलपुष्पा सुगन्धिद्रव्यमौत्तरापथिकम्
(सु. सू. ३८।२४)
अ.— देवी (अ. हृ. सू. १५।४३)

स्फूर्जकः— ड.— फणिज्जकाकारः प्रायशः पारियात्रे भवति
(सु. चि. ५।१८)
वनकुरण्टकाकारः फणिज्जकापरपर्यायः
(सु. उ. ३९।१८६)
श्योनाकनाम्ना प्रसिद्धः (लकुचाकारपत्रकाण्डः)
(सु. सू. ३८।८)

स्वादुकण्टकः— च.— विकङ्कतम् (च. चि. २७।३१)
ड.— विकङ्कतः 'वृक्षकण्टकारिका' इति प्रसिद्धः
(सु. सू. ४२।११)
गोक्षुरः, कण्टकारिवृक्षमन्ये (सु. चि. २२।३१)

हरेणुः— च.— वर्त्तुलकलायः (च. चि. २१।७६)
हरेणुका रेणुका (च. सू. ५।१७)
ड.— सतीनभेदः वर्त्तुलकलायः (सु. सू. २०।५)
स्वल्पवर्त्तुलः (सु. सू. ४६।२७)।
रेणुका नाम गन्धद्रव्यम् (सु. चि. २।७५)
हरेणुका (सु. उ. १७।२३)

हस्तिकर्णः— ड.— गजकर्णाकारैकपत्रः 'भूपलाश' इति लोके, रक्तैरण्ड इत्यन्ये (सु. सू. ३९।६, ४५।११५)

हस्तिदन्ती— च.— बृहत्फला गोडुम्बा नागदन्ती भण्यते इत्येके ।
(च. सू. १।७६)

हस्तिपर्णी— च.— मोरटः, अस्याश्च शरत्कालभवमेव फलं ग्राह्यम्
(च. सू. १।८३)

हिंगुपर्णी— च.— वंशपत्रिका (च. चि. ९।६४)

हिंगुशिवाटिका— च.— वंशपत्रकम् (च. चि. १०।३४)

हेमक्षीरी— ड.— कंकुष्ठम्—(सु. चि. ९।१४)

हैमवती— ड.— श्वेतवचा (सु. सू. ३८।५४, ४४।३६, चि. २८।७)
अ.— श्वेतवचा (अ. हृ. सू. १५।४०)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

संस्कृत-हिन्दी शब्दानुक्रमणिका

अ

अंकोल्लपुष्प २०१
अंजीर १११
अक्षपीड ५
अक्षि ४५
अक्षिपीडक ५, २८९
अक्षी ४५
अक्षीव २२५
अक्षुराग्निमन्थ ८
अखनी ५, ४५
अगिया ३४१
अगुरु ६, ३०७
अग्गई ४५
अग्निदमनी ३०७
अग्निमन्थ ८
अग्निमन्थद्वय ८
अङ्कलोठ्य ९
अङ्गारवल्ली ३१६
अङ्गारकेतु ३०७
अङ्गारवल्लिका १०३
अजगन्धा १२
अजगरी १५, १६६
अजगुर ३१
अजमोदा १२
अजदहा १५
अजलोमी १६, १६६
अजश्रृङ्गी १६, २६९
अजा १७, १८, १६६
अञ्जन १८
अञ्जनकी १९
अञ्जनद्वय १८
अञ्जलिकारिका २४६
अञ्जीर ३०७
अतिच्छत्रा १४७, १६६
अतिबला २०८, २११
अतिमुक्तक ११५, २०५
अतिविषा २७२
अतीस २७२
अत्यम्लपर्णी ३०८
अदरखी ५१
अद्रिकर्णी १३७
अधःपुष्पी ३०८
अधोगुडा २०, २३४
अनजान १८
अनन्तमूली ५५
अनुपाकी २०
अनुया २०
अन्तःकोटरपुष्पी २०
अन्तमूल ३०
अन्धक ३०८
अन्धाहुली ३०८
अन्नपाकी २१०
अन्यादोडी ३४७
अपक्व कपूर ३१७
अपरमल्लिका ५३
अपराजिता १३७, २७५, २९०, ३०८
अपर्वदण्ड ३०८
अपामार्ग ६, ९०, २६५, ३०८
अफीम ३४८
अफूक ३०९
अब्दक ५
अभिषुः २१
अभिषुक २१
अभीरुपत्री २१
अमटी ३७
अमरलती ३०८, ३२५

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

अमरूद ३०९
अमलबेल ३०८
अमृतफल २१, ३०९
अमृतवल्ली ३२५
अमृतस्रवा ३०९
अम्बष्ठा २१, ७३
अम्लपर्णी २६, ३०८
अम्लबृहती ३४०
अम्ललोट ३७
अम्लवेतस २३
अम्लार्द्रक २६
अम्लायन ३१०
अम्लिकाकन्द २५
अरणी ९
अरण्यकासमर्दिका ९३
अरण्यजीरक ३४०, ३५२
अरलु २६, २२४
अरार ४८
अरारी १०३
अरि ३२५
अरुणकोकिलाचः १४८
अर्क ३१०
अर्कपर्णी ३०
अर्कपुष्पी ३०, ४९, १६७, २६४
अर्जक ३१
अर्जकभेद १९७
अर्जुन ३१
अलम्बुषा २८४
अलाबुफला ३४०
अल्लका ७१
अवगुत्थ ३५
अवन्ती ३४१
अवशिरफल ३०९
अवाक्पुष्पी २३८
अशोकरोहिणी ३६, २४७
अश्मन्तक ३६
अश्मवल्क ३१०
अश्मक १०९
अश्वकर्ण ४२, ३३०
अश्वकाथरा ३११
अश्वक्षुर ३११
अश्वगन्धा ३८, ७२
असलियो ३१२
असबरण २९८
असनपर्णी २०३
अश्वबला ४१, १६६
अश्वमूत्री ४१
अश्वशकृत् ४२
अश्वावरोहिका ४२
अष्ट ३८
अष्टवर्ग ४२
असिशिम्बी ३११
अस्थिशृङ्खलिका ३११
अहिंसा ३१६
अहिफेन ३०९
आँखफूटामणि ५
आँखिफोरा ५
आँबरबेल ३०८
आंबलियो कन्द २६
आकारकरभ ३११
आकाशवल्ली ३२५
आक्षिकीफल ४४
आखुपर्णिका ४६
आखुपर्णी ४६
आछुवेल ३३३
आछी ४४
आछू ४४
आडू ५१
आढ़की १५७
आण्डीक १२
आण्डीर १२
आदानी ४७
आदारी ४७
आदित्यपर्णी ४८, १६६, २९२
आदित्यवल्ली ४८, २९३
आर्द्रिका ५१

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

आभाबबूलक ३११
आमलक ११५, ३१२
आमलकी २१
आम्रातक ९९
आरग्वध १०५
आरामतरुणी १५१
आरामशीतला ३१२
आरुक ५०
आर्त्तगल ३१, २९४
आल ४४, २२३
आली २२३
आलुक ५२
आलुक-भेद ५२
आलुबालु ५१
आलू ५२
आलूचा ५१
आलूबुखारा ५१
आवर्त्तकी ३१२
आवल २२३, ३१२
आशफल ४५
आशालिम ३१२
आसुरी १४
आस्फोटा ५३
आस्फोता ५३
आहुल्य ३१२

इ

इकड ५९
इक्षु ५७
इक्षुदर्भा ३१२
इक्षुरक १२, ५८
इक्षुवालिका ५७
इस्कट ५८
इन्दीवर १२१, १७६
इन्दीवरी १२१
इन्द्रवल्ली ५९, ७६
इन्द्रवृक्ष १२०
इन्द्रवारुणी ७६
इन्द्राणी ५९
इरिमेद ३२५
इसरौल १७०
इस्फिशत ४१

ई

ईश्वरमल्लिका २६५
ईश्वरमूल १७०
ईश्वरी १७०

उ

उखल ३१३
उगल ३१३
उच्चटा ६०, २८९
उटंगन ३१३, ३१९
उटंगन बीज ६२
उत्तमारणी १७, १२१, २२३, २६९
उत्तुण्डक ३१३
उत्पल १२४
उत्पलकन्द १२९
उत्पलबीज १२९
उत्पलसारिवा ५५, ११७, १४०
उदकीर्य ३१६
उदकीर्या १०१
उदग्रशाक २४६
उदीच्य ६४
उदीमानक १६८
उद्दालक ६६
उन्दुरुकर्णिका ४६
उपकुञ्चिका १०४
उपकुल्याह्वय ७१
उर्वारु ३३४
उलू २१२
उल्लक ७१
उशारेरेवन्द ८६
उशीर २५६
उषक ७२
उष्ट्रकाण्डी २१३
उष्णसुन्दर ३१३
उंसद्दान ३१३

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

ऊ

ऊँटकटारा ३१२
ऊंषदी ३१२

ऋ

ऋष्यगन्धा ७२
ऋष्यजांगलक ७२
ऋष्यप्रोक्ता ७२, २६०, २६१

ए

एकड़ ५९
एकपुटिया लहसुन ८९, १४०
एकलकंटो ३१४
एकला बीर ३१४
एकवीर ३१४
एकैषिका ७२
एरका १३८
एला ७३
एलाद्वय ७३, १७५
एलान ३१४
एलापर्णी २२९
एलायुग्म ७३, १७५

ऐ

ऐन्द्री ६०, ७४, ११५, २१९
ऐरावणिका ७७
ऐरावत ७७
ऐरावती ७७, ३१४, ३१६

ओ

ओदनपाकी २०८, २१०

क

कउगाछ १८७
कउठेकरा १८७
कंकुष्ठ ८०, ९३, २९९
कंगु २०५, ३२३
कंगुनिया २०५
ँटसैरया २९३
ककुभ ३१
ककोड़ा १०४
कच्चक ३१४
कच्छुक ३१४
कच्छट ३१४
कञ्चुकी ८८
कटभी ९०, २८८
कटुक ७१, ९२
कटुकदौग्धिक ९२
कटुका २४६, २४७
कटुकाफल ९३
कटुकिका ९२
कटुतुम्बी २२३
कटुनाही २८२
कटुपर्णी ३१५
कटुफला ९३
कटुरोहिणी २४७
कट्फल २४६, २९७
कट्वङ्ग २६, २२४
कट्वी २३८, ३१५
कठगूलर १११
कठचम्पा ९०६
कठमहुली ३७
कठालू ५२
कठिञ्जर ९३
कठिल्लक २०१
कड़वी ३३७
कणकणिका ९३
कण गुग्गुलु ९३
कणिका ८
कण्टकरञ्ज १०२, ३१६
कण्टकारिकाद्वय ९४
कण्टकारी ९४, ३४०
कण्टकारीद्वय ३१५
कण्टकीकरञ्ज १०१, ३२२
कण्टपद्म १०
कण्टपुंखा ३१५
कण्टशेलियाक २९३
कण्टशेलुक २९३
कत्तृण ९४

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कदम्ब ९७, २२३
कदम्बपुष्पी २८४
कदर ३२५
कदलीभेद ३१६
कनक २९२
कनकक्षीरी ८०, २९९
कनक चम्पा ३२६
कनकपुष्पी ३०३
कनफूल १२१
कन्थारी ३१६
कन्दली ९८
कन्दा २९६, ३३६
कनियार १०५
कन्या १६६
कपिकच्छू २८९
कपित्थपत्री २१४
कपीतन ९९, १६८
कपोतचरणा १६९
कपोतवंका ९२, १००
कपोलवल्ली २६४
कम्बोई ३१९
कम्जोडिकन्द ३१६
करञ्ज १००, ३१६, ३२२
करञ्जद्वय १००
करञ्जभेद ३१६
करञ्जिका १०३, ३१६
करञ्जी १०२
जरट ३१६
करंट ३१६
करण्टा ५६, ३१६
करथुआ ३४
करम ९८
करम्भ १२१, १२२
करवी १०४
करवीरभेद ३१६
करसी कवी ३२२
करुण ३१७
करुणी ३१७
करेणु १६६
करौनी ३४
कर्कट ३१२
कर्कटशृङ्गी १६, २३७, २६९
कर्कटी ३३४
कर्कन्धु २०७
कर्कश १०४
करका ३३४
कर्कारुक १०४
कर्कोट १०४
कर्कोटकी ३३४
कर्कोटी १०४, २६८
कर्णपूरक १२१
कर्णस्फोटा ३१७, ३१८
कर्णिकार १०५, ३२६
कर्पूर ३१७
कर्बुदार ६६
कर्बुर ६८
कर्मरंग १६१, २१५, ३१८
कर्मार ३१८
कलघण्टिका ५६, ३१६
कलम्बक ११९ ३१८
कलमी शाक २८०
कलम्बुका २८०
कलाय १०६
कलायवल्ली १०६
कलिङ्ग १२०
कलोड्य ९
कवक २९८, ३२७
कशेरु ६३, ३२८
कशेरुविशेष ६४
कसालु ५३
क्रमुक १२६
क्रीतक १२९
क्रीतनिका १३०
कांकसी ३२५
कांचड़ा शाक ३१४
कांचनार ६७
काककुष्ठ ८८
काककुष्ठक ८२

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

काकजंघा १०७, ११०, ११६, २०५, ३१८, ३३१
काकडोलिओ ३१८
काकतिक्ता ३५, २६१
काकतिन्दुक ११०; १२२, २६६
काकतुण्डी १०८
काकदोला ३१८
काकनज २४३
काकनासा २२३, ३१८
काकनासिका १०७
काकपीलु २६६
काकमर्दनिका १५८
काकमाची २६६, ३१८
काकमारी ११०
काकली ३२६
काकाण्ड १०९
काकाण्डफल १०९
काकाण्डोला १०९
काकादनी १०९, ३१७, ३१८
काकाम्र ११३
काकोदुम्बर १११
काकोली ११६
काजरबेल १९
काञ्चनक्षीरी १६७, २९९
काञ्चनी ३१९
काण्डीर १११, ३१९
काण्डेक्षु ५७
कान्ता २०५, २०६
कामवृद्धि ३१९
काम्बोजी ११५, ३१९
कायस्था ११५
कारली ३२२
कारवी १०४
कारवेल्लक १२२
कारस्कर २६९, ३१९, ३२१
कारी ३२०
कारीशांक ३७५
कार्मुका ११५, २०४
कालंकतक ९
कालमेघ २३८
कालवल्ली ५५, ११७
काला ११६
कालागुरु ७
कालाञ्जनी ३२०
काला दाना २०, १५९, ३२०
काला नागकेशर १७१
कालानुसार्य ११६
कालानुसार्या ५५, ११६
कालानुसारिवा ५५, ११६
कालानुसारी ५५
कालिका ११८
कालियाकाष्ठ ११८
काली जीरी ३४०, ३५२
काली मिर्च १२५
कालीयक ११७, १४२
काली रास्ना २४३
कालेयक ७, ११७, ३१८,
कालेय काष्ठ ११८
काश्मरी १६८
काश्मीरज १२०
काश्मीराम्लिका २८०
काष्ठगोधा १६६
काष्ठधात्री ३१२
काष्ठपाटला १६४, १८९
काष्ठागुरु ७
काष्ठालुक ५२
कासमर्द ११६
कासालु ५२
कासी बावल ३४७
काहू ३३
किंपाक ३२१
किङ्किणी ३२०
किङ्किरात ३२१
किणिही ९०, २८८
किशमिश काबुली २४३
कीटगन्धा ३२१
कीटमारी ३२१
कीटमारी यवानी ३४४

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कीडामारी ३२१
कीमू १२७
कीरकन्द २८१
कुकरौंधा २८६, ३२२
कुक्कुटा ८९
कुक्कुटी ८८
कुकुन्दर ३२१
कुकुरुन्द ३२१
कुङ्कुम ११९
कुचन्दन १४२
कुचला २६८, ३१९, ३२१
कुचला लता १९
कुचेलिका ३२२
कुजी ठेकरा १८७
कुजी थैकल २५, १८७
कुटज १२०
कुटुम्बिनी ३२२
कुटू ३१३
कुठिञ्जर ९३
कुठेरक १९७
कुडुहुञ्ची ३२२, ३३४
कुतिली १२१
कुदरुम २२, ३४२
कुन्तलिका १२१
कुन्तली १२१
कुपीलु २६८
कुबेराक्ष ३१६
कुबेराक्षी १८१, ३२२
कुमारजीव १५०
कुम्भाट ३२२
कुम्भाडु ३२२
कुम्भाडुलता ३२२
कुम्भी ३२३
कुरण्ट १२१
कुरण्टक २९३, ३१६
कुरबक २९३
कुरहअक ९३
कुरी ३२३
कुरुण्टिका १२१
कुरुवक २९४
कुलक १२२
कुलंजनभेद २४५
कुलञ्ज (न) ३२३
कुलत्था ३२३
कुलहल १२२, २८४
कुलाहल २८६
कुलिंगा ६०
कुवल २०७
कुश १२३
कुशद्वय १२३
कुशादि पञ्चमूल १२३
कुशिंशपा ३२३
कुष्ठ १२३, १८९
कुष्ठ की जड़ी ३४१
कूर्चपर्णी ३२४
कूविका ११५
कूष्माण्डभेद १०५
कूष्माण्डिका ३३४
कूष्माण्डी ३३४
कृमिघ्न ८
कृमिजग्ध ८
कृष्णकापोती १६६
कृष्णगन्धा ६, १२४
कृष्णजीरक १०४
कृष्णपाटलि १८१
कृष्ण पिण्डीतक १९८
कृष्णबीज २०, ३२०
कृष्णमरिच १२५
कृष्णमुष्कक १८१
कृष्णवल्ली ५५
कृष्णश्रीफलिका ११०
कृष्णषष्टिक २९४
कृष्णसारिवा ११७, १५९
कृष्णसैरेयक २९३
कृष्णागरु ७
केकर २०५, २६६
केकिदंडा ३२४

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

केना ३१५
केन्दु २६६
केथा ३२४
केलिकदम्ब ९८
केलूट १२५
केवटी ३२४
केविका ३२४
केशर ११९, १७०
केसर १२०, १७१
कैडर्य २२६
कैवर्त्तमुस्त २२८
कैवर्तिका ३२४, ३३३
कोकम १५३
कोकिला ३२६
कोकिलाक्ष १२, ५८, १४८
कोद्रवभेद २६२
कोरण्ट १२१, ३१६
कोल २०७
कोलकन्द ३२४
कोलवल्ली १४५
कोल्हसुआ ९३
कोलिपत्र ३२४
कोविदार ६६
कोशातकी चतुष्टय १२६
कौआटोटी १०८
कौआठोढ़ी १०८
कौआदोड़ी १०९
कौन्ती १७५
क्रिस ५२
क्रौञ्चादन १२९

क्ष

क्षवक १३४, ३२५
क्षीरनदी ३२५
क्षीरपलाण्डु १३५
क्षीरपुष्पी १३५
क्षीरमोरट २००
क्षीरलता १६४, १६७
क्षीरशुक्ला २८३
क्षीरिका १६७
क्षीरिणी १३५, १६७, २६४, ३२५
क्षीरिणीद्वय १६७
क्षीरीवृक्ष १३५
क्षुरकरी ३२५
क्षुद्रकारवल्ली ३२२
क्षुद्रचञ्चु ३२९
क्षुद्रपाषाणभेद १९७
क्षुपकण्टकारिका ९४
क्षुराग्निमन्थ ८
क्षेत्रयवानी १३

ख

खखसा १०४
खग्गली ५९
खण्डिका १०६
खदिर ३२५
खदिरभेद ३२५
खदिरवल्लरी ३१४
खदिरवल्ली ४७, ३१६
खरपर्णिनी १४१
खरबूजा ३३४
खरवारु २०५
खरहार २१८, ३४२
खसतिल ३०९
खस्खस ३०९
खस्तिल ३०९
खाखस ३०९
खाखसतिल ३०८
खिरनई ३२५
खींप १५०
खेरसा २०५
खेसाड़ी १०६
खेसारी ३१६

ग

गंगातुलसी ९५, ३२६
गङ्गाटी ३२५
गंगेरन १३७
गङ्गापत्री ३२५

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

गङ्गेटी ३२५
गजपिप्पली ७१, १४५
गजलेण्ड १३६
गणिकारिका ८
गणिकारी ३२६
गणेरुका ३२६
गण्ड दूर्वा २१०, ३२६
गण्डीर १११
गण्डीरक ११२
गन्दन १४०
गन्धकोकिला ३२६
गन्धनाकुली १६९, २४२, २४३
गन्धप्रसारणी २११
गन्धप्रियंगु २०५
गन्धमालती ३२६
गरमर ३२७
गर्जर १४०
गर्दभाण्ड ९९
गर्मुत् ३२६
गर्मोटिका ३२६
गलफुल २६४
गलोट १२
गवेधुका १३९, ३२७
ग्रन्थिपर्ण १४२, १५१, ३२८
ग्वालककड़ी ३३४
गांगेरुकी १३७
गाजर १३९
गायचँदवा १४०
गालोड्य ९
गावजबाँ १४१
गिप्पिट ३२७
गिमशाक ३१३
गिरि १३७
गिरिकदम्ब ९७
गिरिकर्कंट २६२
गिरिकर्णिका ५३, ९०, १०७, १३७, २७१, ३०८, ३११
गिरिकर्णीहृय ३११
गिरिमती ३२७
गिरिह्वा १३७
गिर्मी ३३४
गिर्याह्वा १३७
गिलास ५१
गिलोड्य ९
गुग्गुलु १४८, २३४
गुग्गुलुक १५०
गुग्गुलुभेद ३२७
गुच्छाह्वकन्द ३२७
गुच्छी ३२७
गुञ्जा ११०, १३३
गुञ्जाह्वय ३१९
गुडखण्डी १३७
गुडदिह्व ३२७
गुडभेली १३७
गुडशर्करा १३७
गुडूची ११५
गुण्ठ १३८
गुण्ड ३२७
गुण्डकन्द ३२८
गुण्डाला ३२८
गुण्डासिनी ३२८
गुदाक ९५
गुन्द्रा १३८
गुलमुहर ३५२
गुलाब १५१
गूगल १५०
गृञ्ज १३९
गृञ्जन १३९
गृष्टि ५२
गेंधारी १५०
गेम्बोज ९६
गोचन्दना १४०
गोजिह्वा १४०
गोजी १४०, ३२८
गोजीभी १४१
गोजीशाक १४१
गोंदर १३९
गोनसी १५, १६६

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

गोपवल्ली ५३, २६४
गोपालककंटी ३३४
गोभी १४१
गोमूत्रिका ३२८
गोरक्षककंटी ७६, २१२
गोरक्षगञ्जा १७६, १९३
गोरक्षदुग्धी ३२८
गोरक्षी ३२८
गोरख इमली २८०, ३२८
गोलोमिका ३२८
गोलोमी १६, १४९, ११६
गोशीर्षचन्दन ३०१
गौरख ९२, १००
ग्रामकन्द २९८
ग्रीष्मसुन्दर ३१३

घ

घण्टापाटल १८१
घण्टारवा ३२९
घण्टावली ३२९
घडंला २०६
जापपत्ता ३४९
घिघ्रुलिका १२९
घोटक ३२९
घोड़वच २५७
घोड़वेल ३११
घोड़ा नीम २२४
घोड़ा लिद्री ४२
घोड़ालेश्री ११५
घोली ३२९
घोषा १२६

च

चक्रका १६६
चक्षुष्या ३२३
चक्षु ३२९
चणकफला ९४
चणकबृहती ९४, २१५
चणिका ३२९

चण्डा १४२
चण्डालकन्द ३२९
चतुष्पत्री १२२, १९७
चनकम घूटी ३२९
चना ३२९
चन्दनचतुष्टय ११९
चन्दनत्रय ११९, १४२
चन्दनद्वय १४२
चन्दनपुष्प ३०१
चन्दनभेद १४२
चन्दनसारिवा ५५
चन्द्रशूर ३१२
चमरोर १४३, २८२
चमारमुसली ३११
चर्मकषा १४४
चर्मकारवट १४४, २८२
चर्मलोह २८२
चर्मवृक्ष १४३, २८२
चर्मसाह्वा २८९
चर्मिलोह १४३
चर्मिवृक्ष १४३
चविका १४५, १५८, १७०
चविकाफला १४६
चव्य १४५
चाकसू ३२१
चारटी १४७
चारुक २६२
चालता ११५
चालमोगरा १५६
चिचिण्डा ३३४
चिच्चोटक ३२९
चिच्चोडक ९
चित्रा २६१
चिन्हारू २३२, २३३
चिरई-गोड़ी १८८
चिरपोटा ३३०
चिरपोटिका ३५, २६६, ३३१
चिरबिल्व १०१
चिरैयाकन्द २४६

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

चिर्भट ३३४
चिर्भिटा ३३४
चीणाककर्कटी ३३४
चीनाककर्पूर ३१८
चुक्रिका २५
चूड़ामणि ३१८
चोक ८२, ३१५
चोकनिर्यास ८२
चोच २६२
चोपाली २९०
चोरक २४२, १५१
चोरकपत्र १४२
चोरपुष्पी १४२
चोरहुली १४२
चोरा १४२
चौपतिया १२२
चौहार ३३०, ३४४

छ

छगलान्त्री १५८, ३४८
छत्रा १४७, १६६
छत्राह्वय १४७
छागलखुरी ११०
छागलविषाणिका २७०
छिलहिण्ट ३३०
छोटी इलायची ७३
छोटी कँटेरी ९४, २१५
छोटी दुग्धिका ३२८
छोटी मटर १०६

ज

जंगली कासमर्द ९३
जख्मे हयात १९७
जटा १४९
जटाधारी १२१, १७७, ३४५
जटिला १४८
जन्तुकारी ३३०
जपाभेद ३५२
जमीकन्द३३६
जम्बीर ९४, ९७
जम्बू ३३०
जम्बूपत्रा ५६
जम्बूपलाशिका ५६
जयन्ती ८, ३४०, ३४१
जयपाल १६१, १६२
जया ८
जयाह्वय ८
जरणद्रुम ३३०
जरतोड़ २३२
जल ६४
जलकारवल्ली ३३१
जलगण्ड १३७
जलगण्डीर १३७, २७६
जलज गण्डीर ११३
जलजमनी २५९, ३३०
जलजा बृहती ३४०
जलधनियाँ ३१९
जलनीम ३२८
जलपिप्पली १११, १३७, १६८, ३१५
जलपिप्पलीगण्डीर ११३
जलमुस्तक २२९
जलवेतस १७१
जलापामार्ग ११३, ११४, ३०९
जहरमार ५
जातुक १४९
जातुकन्द १५०
जातुकशाक १४९
जारुल १५८
जिमा २१३
जीरकत्रितय १०४
जीरकद्वय १०४
जीरावली ३३१
जीवनीयगण ४२
जीवन्त १५०
जीवन्ती १५०
जीवशाक १५०
ज्योतिष्मती १५७, ३१७

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

झ

झझरुष ३५
झरेर ३३२
झारमरिच ३२०
झिंझरीटा ३२०
झिञ्झिरीटा ३३१
झिण्टी २९३
झिल्ल ३३१

ट

टङ्क १५१, ३०९
टंकारी ३३१
टिण्डा १५२

ड

डड्या २०६
डङ्गरी ३३४
डिकामाली २१३
डिल्ल ३२७, ३३१
डुकरकन्द २५२
डुलुपुष्प ३३१
डेफल १८७
डोडिका ३४७
डोडिया ३०९
डोडीशाक १५०

ढ

ढण्ढण ३३२
ढेढस १५२

त

तक्काह्वा ३३२
तक्की ३३२
तगर ६४, ११७
तगरभेद ३३२
तग्गर ६५
तङ्क १५१
तण्डुलीयक ११३
तमाल ३३२
तरटी ३३२
तरबूज ३३४
तरवड ३१२
तरुणी १५१
तर्कारी ८, २१६
तवक्षीरी १५४, ३४६
ताम्रकण्टक ३२५
ताम्रवल्ली ३३३
तालपत्री २२८
तालमखाना १२, ५८
तालमूली २२८
तालीशपत्र १५१
तिक्तक २२४
तिक्तजीवन्ती ३४७
तिक्तरोहिणी २४७
तिक्तला २८९
तिक्तारिका ९३
तिखुर १५४
तिण्डिश १५२
तितली २९०
तिन्तिडी २५
तिन्तिडीक १५२
तिन्दुकभेद २६९
तिमिर १५३
तिरिगिच्छि ३१६
तिलक १५३
तिलकन्द ३३३
तिलपर्णी १४, ४८
तिलवन ५०
तिल्वक १२६, १५३
तिल्वकभेद २४७
तिवरिया १५३
तुगाक्षीरी १५४, २५७
तुम्बाक ९५
तुम्बुरपत्रिका २१४
तुम्बुरु १५७
तुरुष्क १५४
तुलसी १५५
तुबरक १५६
तुवरी १५७

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

तुद १२७
तृणपञ्चमूल १५७
तृणराज्ञा २४२, २४४
तृणाढ्य ३३२
तेजपत्र १७१, २६३
तेजफल ३३२
तेजिनी १५७
तेजोवती १५७
तेजोह्वा १५७
तेरड ३३२
तेरण ३३२
तेलकाँट ३४१
तैरिणी ३३२
तैलकन्द ३३२
तोदन १५८, २३५
तोयवल्ली ३१०
तोरी १५७
त्रपुसभेद १०५, ३३४
त्रिपर्णी २६७
त्रिपुट १०४, ३१६
त्रिपुटकलाय १०६
त्रिवृत् ७२, १०७, १५८
त्रिहिम १४२
त्वक् २६२, २६३
त्वक्पत्र २६२
त्वक्पत्रिका २६४

थ

थुणेरक १५१
थुनेर १ १
थैकल २४

द

दग्धा ३३४
दण्डैरका १३९
दण्डोत्पला १४०, २१०
दधिपुष्पी ३३४
दन्तरंगा १४४, २८१
दन्तशठ १६०, ३१८
दन्ती ४६, १६१, १६२
दन्तीभेद ३३४
दयिता २०६
दरकृष्ण ३१२
दर्भ १२३
दर्भद्वय १२२
दर्भपञ्चक १२२
दादमारी १९३
दानकुनी २८५
दारुसिता २६३
दारुहरिद्रा १४२
दार्विका १४१
दार्विपत्रिका १४१
दालचीनी २६३
दासीकुरुण्टक २९३
दाहागरु ७
दिव्य ओषधियाँ १६५
दीनकी ३३५
दीर्घवृन्त २२४
दुग्धिका १३५, १६७
दुधलत ५६
दुन्दुभटी ३३५
दुर्मिल ३३५
दूर्वा १६
देनी ३२४
देवकांडर ११३, ११४, ३१९
देवकुसुम ३०१
देवगन्धारिका ३३५
देवदारु १८९
देवदाली ४७, १२६
देववृक्ष ३००
देवसर्षप ३३५
द्रेक्का २२५, २६८
द्रवन्ती ४६, १६१
द्रुमोत्पल १०५
द्रोणपुष्पी ३३५
द्रोणपुष्पीद्वय १४९
द्विदर्भ १२२

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

द्रुमाह्वी ७६
द्वीपान्तर वचा ३४६
दुग्धपाषाण ३५०

ध

धरणीकन्द ३३६
धान्यक ७१, १४८
धान्यप्रियंगु २०५
धामार्गव ९३, १२६
धाराकदम्ब ९७
धूप १५०
धूम्रपत्रा ३२१
धूलिकदम्ब ९७
ध्यामक ९४

न

नक्तमाल १०१, ३१६
नचौनी २२३
नट्टु नागकेशर १७१
नदीकान्त ३३६
नदीभल्लातक १६८
नदीमाषक १६८
नदीसर्ज ३३
नद्याम्र ११३
नन्दीतक १६८
नन्दीमुखी २२१, २२२
नन्दीवृक्ष १६८
नरचा ३३७
नरपुष्प ३३६
नलद १४८
नलिका १६९
नवमालिका १५१
नहिका २८२
नाई २४३, २४४
नाकनारी ३३६
नाकली ३३६
नाकुली १६९, २४२, २९१,
नाकुलीद्वय १६९
नागकेशर १२०, १७०, २९२
नागजिह्विका ५५
नागदन्ती १६४
नागदमन २१२
नागदमनी ३३२, ३३६
नागपुष्प १७०
नागपुष्पी ३३६
नागबला १३७, २०८, २११
नागरमुस्त २२८
नागलीची ४५
नागविन्ना १६५
नागार्जुनी ३२८, ३३६
नागिनी ३३६
नाडीहिंगु २१३
नादेयी ८
नाराची ३३७
नारी १६६
नारी सिरिस ३५०
नासपाती २१, १५१, ३०९
निकुम्भिका ३३७
निचुल १७१
निदिग्धिका ३४०
निमतीता ३३७
निम्ब १८९
निम्बी ३३७
निर्गुण्डी १७३
निर्गुण्डीबीज १०६, १७५
निशोथ १५९
निष्पावी ३३७
निश्रेणिका ३३७
नीप ९७
नील ३३७
नीलझिण्टी २१०
नीलबुष्ना २०
नीलशिग्रु ६
नील सैरेयक २९३
नीलस्यन्द ९१
नीला १६६
नीलाम्ली ३३७
नीलालु ५३

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

नीली १२०
नृत्तकौण्डक १५३, २२१
नोनिया ३४६
नौकावृक्ष १४३

प

पक्व कर्पूर ३१७
पक्वाण्ड ३३७
पचौली ३३८
पञ्चगुरिया ३४६
पटसन २२
पटोलभेद १२२
पट्टेरकभेद १३९
पण्यन्ध ३३८
पतीस २७२
पत्तंग ११७, १४२, १४३
पत्तूर १२१, १७६
पथरचट १९४
पथरफोड़ी १९५
पद्मगुडूची २५९
पद्मचारटी १४७
पद्मचारिणी १४७, १७७, २१८
पद्मपत्रक १२४
पद्मबीज ९
पद्मा १४७, १६६, १७७, २१८
पनसी ३३८
पयस्या १६७, २८३
पयस्याभेद २८३
परजाता २७५, १८८
पखौड़ ३३७
परिव्याध १०५
पर्णकपूर ३१८
पर्णबीज १९३, १९७
पर्णयवानी ११३, ११४, १९३, ३४४
पर्णास १७८
पर्णासभेद ९७
पर्पट १७८
पर्पटकी १७९
पर्पटी ३३०
पर्पोटिका १७९
पर्पोटी ३३८
पर्वणी १८०
पर्वतनिम्ब १८९, २२५
पर्वपुष्पी १८०
पलङ्कषा १४८
पलाशिनी ३३८
पल्लिवाह ३३८
पशुगन्धा १२
पशुमोहनिका २३८, ३१५
पत्र २६३
पत्ररासा २४२, २४४
पाची ३३८
पाटलि १८१
पाटली १८१
पाठा २२, ७३
पाठाद्वय १८३
पाठाभेद २२
पातालगरुडी २५९; ३३०
पातालतुमडी १२
पाथरकूची १९४
पाथरचूर १९४
पाथरफोड़ १९५
पानकांदो ३१०
पानीबेल २९२
पानीय तण्डुलीय ३१५
पानीयवल्ली २९२, ३१०
पानीयालु ५३
पानीलेवा २९२
पानीसाज ३३
पापड़ा १७९
पारस पीपल १६८
पारसीक यवानी ३४४
पारसीक वचा ३४६
पारावत १८३
पारावतपदी ९२, १८८
पारिजात १८८
पारिभद्र १८८
पारीष १६८
पार्श्वपिप्पक १६८

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

पालेबत १८३
पाले हसन ३१४
पाषाणभेद १८९, १९७
पिचु १९८
पिचुक १९८, २२९
पिचुमर्द १९८
पिण्डतगर ३३२
पिण्डार १९९, ३३८
पिण्डालुक ५२
पिण्डीतक १९८
पिण्डीतकत्रय १९९
पिप्पली ७१, १९९
पिप्पलीद्वय १४५
पिप्पलीमूल १९९
पियावासा २९३
पिश्ता २१
पीतघोषा १२६
पीतचन्दन १४२, ३१८
पीतदुग्धा यवतिक्ता ८१
पीत भृङ्गराज ३४१
पीतमूली २६
पीतरोहिणी ३३८
पीतवासक २९३
पीत सैरेयक २९३
पीलुपर्णी २००, २६५
पुंकुटज १२०
पुण्ड्राह्व २०४
पुतरिया कन्द २५२
पुतरी १६५
पुतेर १६५
पुत्रञ्जीवी २२८
पुत्रदा ३३९
पुत्रदात्री ३३९
पुत्रश्रेणी १६४
पुदीना ३५२
पुदीनाभेद ११३
पुनर्नवा २०१
पुनर्नवाद्वय २०१
पुन्नाग १७१
पुन्नास २०३, २९४
पुष्करबीज १०
पुष्करमूल १२३, २४३
पुष्करवर्ति २०३
पूग १२७
पूतनाकेशी १४९
पूतिकरञ्ज १०१
पूतीक १०१
पेऊ ३३९
पेटिका १८१
पोटेटो ५२
पोडोफाइलम २६०
पोश्ते की डोडी ३४८
पौण्ड्रक ५७
पौष्कर १२४
पौष्कर शाक १४९
प्रकीर्य ३१६
प्रकीर्या १०१
प्रचीबल ११६, ३३६
प्रतिविषा २७२
प्रपौण्डरीक २०३
प्ररोही गर्दभाण्ड १६८
प्रसारणी २०८
प्रसारिणी २११
प्राचीनामलक ३१२
प्राचीबल २०४
प्रियंगु १४०, १५९, २०५

फ

फञ्जिका १७७
फञ्जी १४७, २१७
फणिजिह्विका ५५
फरहद १८९
फल्गु १११, ३०७
फलभद्र १८९
फांग २१८
फिसफिसत ४१
फुस्तुक २१
फूति ३३९

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

फेनाश्म २६८
फोकान्दी १३
फोग २९९, ३३९
फोण्डालु ५३

ब

बकपुष्प २६५
बकायन २२३, २६९
बकुल १२०, १७१
बगहुल २६५
बटाटा ५२
बड़ा त्रिपुट १०६
बड़ी इन्द्रायण १६४
बड़ी इलायची ७३, १७५
बड़ी कँटेरी ९४, २१५
बड़ी मटर १०६
बण्डा २९८, ३३६
बदर २०७
बदरभेद २०६
बन-अदरख ५१
बनकाकडू २६०
बनगोभी १४१, ३२८
बनफूल ३१०
बनभण्टा ९४
बनमूली २३४
बन्दरसीटी २३२
बन्दाक २८९
बभनटी २१८
बरखिया लता २९२
बर्बरिक १४३
बर्बरी १९३
बरसी ७५
बर्हिशिखा २०७
बर्हिष्ठ ६४
बला २०८, २११
बलाकापदी २६०
बलाचतुष्टय २०८
बलात्रय २०८
बलाद्वय २०८
बलापञ्चक २०८, २११
बलाभेद २०८
बलामोटा ३३९
बल्लिकण्टकारिका ३०७
बल्वज २१२
बस्तगन्धा १२
बहुफेनरसा २८९
बहुलगन्धा २१२
बहुला ७३, २१२
बांसपाती २१३
बाकुची ३५२
बाण २९३
बाणपुष्प ३१०
बानी २९५
बाफली २१३
बाल ६४
बालक ६४
बाष्पद्वय २१२
बाष्पिका २१२
बाह्लीक ११९
बिखमा २७२
बिच्छू बूटी २७१, ३४५. ३४९
बिछाटी २७१
बिछुआ २७१
बिधारा ३४९
बिभीतक २३४
बिरबीलोट २१४
बिलाईकाटा २६७
बिल्वनासी २१४
बिल्वपर्णी २१४
बिल्वाजंक २१४
बिसतेन्दु २६६
बुक २६५
बुरांस २०३, २९४
बृहच्चञ्चु ३२९
बृहज्जीरक १०४
बृहती ९४, ३४०
बृहतीद्वय २१५
बृहतीभेद ३४०

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

बृहत् कक्कोलक ९२
बृहत् करञ्ज १०१
बृहत्पत्र शरबालिकाभेद १७६
बृहत्पाली ३४०, ३५२
बृहत्फला गोडुम्बा १६४
बृहदलम्बुषा २६८
बृहदेला १७५
बृहद्गान्धार १५०
बेली २१५
बोथयिका १३
ब्रह्मकमल १२४
ब्रह्मदण्डी ३४१
ब्रह्मसुवर्चला ४८, १६६
ब्रह्मसोमा ३४१
ब्राह्मणयष्टिका १७७, २१७, २१८
ब्राह्मी ७४, ११५, २१९, २९७

भ

भंटवारु २१६
भंटेश २१६
भद्रमुञ्ज ३०८
भद्रमुस्त २२८
भद्रश्रिय ३७१
भद्रैला ७३, १७५
भद्रोदुम्बर १११
भद्रोदुम्बरी १११
भद्रौदनी २०८
भरुदाका ३५
भव्य २१५
भांट २१६
भार्ङ्गी २१७
भाण्डी २१६
भाण्डीर २१६
भात-दाल २११
भामर २१२
भार्गी १७७
भार्ङ्गी १७७
भास्करकपूर ३१८
भिरी २१४
भिल्लोटक २१४
भिस्सटा ३१३
भुंभुरुटा ३५
भुंभुरुडक ३५
भुंसरी ९५
भूकन्द २९८
भूतकेशी १६, १४८
भूमिकदम्ब ९७, २८५
भूमिशिरीष २७२
भूम्याहुल्य ३१२
भूस्तृण ९४
भृङ्गराजभेद ३४१
भृङ्गवृक्ष २१८
भृङ्गारि ३४१
भृङ्गाह्वा ३४१
भृङ्गी ३४२
भेंट १२९
भेण्डा ३४२
भैंसचंदवा १४०
भैंसबेल ३४९
भ्रमरच्छली २१८, ३२४, ३४१

म

मंगरैल १०४
मंगल्यागरु ७
मकड़ा १५३
मकड़ा घास २२२, २६६
मकरा ३३२
मखान्न १०
मखाना १०
मच्छेछी २१९
मजर ३४२
मञ्जिष्ठा १७७
मठना ३३२
मडुआ २२२ ४४४
मदिण्ड ३४२
मण्डूकपर्णी ७४
मत्स्याक्षक २१८
मत्स्याक्षक २१८

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

मत्स्याक्षकभेद ७६
मत्स्याक्षी १७६, २१९
मथनिया ३४२
मदन १९८
मदनफल १९९
मदयन्तिका २१९
मदयन्ती २१९
मधुपर्णी २०३
मधुरा २७७
मधुरिका १४८, २७७
मधुशिग्रु ६, २७९
मधूक २२०
मधूक सार २२१
मधूलक २२०
मधूलिका २२०, २२१; ३४४
मधूली २२१
मध्वालुक ५२
मन्थानक ३४२
मन्दारी २२३
मयूरक २०७
मयूरशिखा २०७
मरोड़फली २३२
मर्कटतिन्दुक १८६
मर्कटतृण ६, १५३, २६५
मर्कटहस्ततृण २२१, २२२
मर्कटी ३१६
मर्कोश ३४२
मलपू १११
मलयाद्रिचन्दन १४२
मलयू १११
मलाबार नागकेशर १७१
मसी १०७
मसूरविदला १०७
महकोल २२७
महती खग्गली ५९
महाकन्द ५३
महाकाल ३२१
महार्द्रक २६
महाद्रोणा ३३५
महादेवजट ३४५
महानिम्ब ५, ६; २२३
महापिण्डी ३४२
महापिण्डीतक ३४७
महाबला २०८, २१०, २११
महाभरी बचा ३२३, ३४६
महामुस्ता ६२
महाराष्ट्री ३४२
महावेगवती १६६
महावृक्ष २५८
महाश्यामा १५८
महाश्रावणी १६६, २८४
महाश्वेता ९१, २८७
महिला २०६
महिषवल्लरी ३४९
महिषीकन्द ५३
मॉंई २२, ३५१
माईफल २२
मांसरोहिणी २४६, २४७
मांसलफल ३३४
मांसी १४८
मांसीद्वय १४८
माकन्दी ३४२
मागधिका २२६
माचिका ३५१
माचीक २१
माजूफल २२, ३४३
मायाफल ३४३
मायुक ३४३
मारंग कोंगट २७९
मालझन ३७, २३२, २३३
मालाकन्द ३४३
मालुधानी २३३
मालुया ३७, २३३
माषपर्णी ११५, २२७, २२८
माषवनी २२८
माषाली ३४३
मितरी ३४३
मिरिगलेण्डी २३५

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

मिर्चिया २८२
मिलगण्डी २३५
मुकूलक २२७
मुखालु ५३
मुगवनी २२८
मुचकुन्द १०६
मुचकुन्दभेद ३२६
मुञ्जद्वय ३०८
मुण्डितिका १२३
मुण्डी १२३, २८४
मुण्डीतिका २८४
मुद्गपर्णी २२७, २२८
मुद्गर ३४३
मुरहरी २०१, २३२, २६५
मुरा १४८
मुर्दासिंग ८६
मुशली २८८
मुष्कक १८१
मुस्तक २२८
मुस्ता ५
मुस्ताविशेष ६४
मुहुरसि २३२
मूर्वा २२९, २७९
मूलकपर्ण ६
मूलकपर्णी २०, २३४
मूलरास्ना २४२, २४४
मूषकपर्ण ६
मूषिकपर्णी ४६
मूषिका १५
मृगलिण्डिक १५८, २३४
मृगलिण्डिका २३४
मृगाक्षी ३३४
मृगैर्वारु २६०
मेंहदी २१९, २२०
मेढश्रृङ्ग २३७
मेढश्रृङ्गी २३७
मेदिका २६९
मेन्दिका २२०
मेषश्रृङ्ग १९, २३५
मेषश्रृङ्गी २३५, २६९, ३२४
मेहरनचनी २२३
मैंनाटांग ३५४
मैत्री ३४३
मोइहर २०१
मोगरा ३४३
मोदयन्ती ३४४
मोरट २००
मोरटा २००, २६५
मोरडिंडा ३२४
मोरदेनी ३२४
मोरबेल २३२, २३३
मोहनवल्लिका २३७
मोहनिका २३७
म्लानक २९३

य

यवतिक्ता ५, २३८, २८९
यवफला २३८
यवानिका १३
यवानीभेद ३४४
यवानीविशेष ३४४
यष्टीमधु १३०
यातुक १४९
युवती ३५१
यूपदारु १२७

र

रक्तचन्दन १४२
रक्तपुनर्नवा २०२
रक्तपुष्प ३०८
रक्तमञ्जरी ११५
रक्त व्याघ्रैरण्ड १६४
रक्तवृन्त २४८
रक्तशिग्रु २८०
रक्ता २४८
रक्तालुक ५३
रगत रोहेड़ो २४९
रतालू ५३
रम्यक २२५

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

रसभरी १८०
रसाञ्जन १८
रागी ३४४
राजकदम्ब ९८
राजकसेरुक ३२९
राजक्षवक १३४, ३४४
राजनिम्ब २६८
राजपाठा ३२२
राजबला २०८, २११
राजशमी ३४४
राजसैर्य ३१०
राजसैरेयक २९४, ३१०
राजादन १६७
राजाद्रि ३४४
राजिका १४
रामतरुणी १५१
रामदाना ३४४
रामशर ३०८
रावणाम्लिका २८०
रास्ना १७०, २३९
रिखपित्ता २६१
रुदन्ती ३४४
रुद्रजटा १२१, १७७, ३४५
रुद्रवन्ती ३४५
रुद्राक्ष ७९, ३४५
रुधिर ११९
रुहा २४५
रुहापत्र २४६
रेंगनी ९४
रेवतिका २६
रेवन्दचीनी २४
रेणुका १७५
रोध्रयुग्म १२८
रोहन २४८
रोहा २४५
रोहिणी २४५
रोहितक २४८
रोहितकद्वय २४८
रोहिष ९४
रोहीतक १८८
रोहीतकलता २४८

ल

लक्ष्मणा २४९, ३४०
लघु कक्कोलक ९२
लघुकच्छू ३४५
लघु दुग्धिका ३३६
लघुब्राह्मी ७५
लङ्का ३१६
लज्जालु २४६
लजौनी ३३२
लतरी १०६
लताकरञ्ज ३२२, ३१६
लताकस्तूरी ९२
लतापलाश ३३८
लताफटकी ३१७, ३१८
लतौषधि १३
लघ्वास ४९
लरका-बहा १५०
लवङ्ग ३००
लवंगलता २५५, ३२६
लवंगवल्ली २५६
लवंगवृक्ष १४३
लवणतृण ३४६
लवणिका ७५
लवली २५४
लहसुआ ९३
लाखन २३२, २७९
लाक्षावृक्ष १४२
लादू १३५
लामज्जक २५६
लाल नागकेशर १७१
लिङ्गिनी ३४६
लोध्र १२६, १२७
लोध्रद्वय १२८
लोनी ३४६
लोहिता २४८
लौह ६

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

व
वंगीय रास्ना २४४
वंशरोचना २५७, ३४६
वंशलोचन २५६
वचा २५६, ३४६
वचाभेद ३४६
वच्छूल ३४७
वज्रकन्द २५८
वज्रप्रोक्ता २५८
वज्रवल्ली ३११
वज्रवृक्ष २५८
वञ्जुल १७१
पटपत्र १९७
वटपत्रिका २३८
वटपत्री १९७
वत्सक १२०
वत्सादनी २५९
वद्धदारुक ३४८
वनक २६२
वनकर्कटी २६२
वनकुलत्थिका
वनकुलत्थी ३२२
वनकोद्रव ६६
वनयवानी १३
वनवासिका २६३
वनत्रपुषी २६०, ३०३
वनार्द्रक ३३९
वन्दाक २४६
वन्ध्यकर्कोटकी ३३४
वन्य जीर ३४०
वमनी ३०८
वयःस्था ११५, ३१२
वरक २६२
वरटिका २६२
वर्त्तुलक १०६
वर्त्तुल कलाय १०६
वरांग २६२
वरुक २६२
वर्षाभू २०१
वल्लीकरञ्ज ३१६
वल्लीखदिर ३१४
वल्लीबृहती ३४०
वल्लीयक ३४७
वल्लीषट्क २६४
वह्निसूरण ३०८
वशिर ५; ६, २६५
वसुक २६५
वसुहट्टक २६५
वाव्यायनी २०८
वाडव त्रपुस १०५
वादावर्द ३४१
वानीर १७१
वाप्य १२४
वायसपीलुक २६६
वायसी २६६
वाराहमदन ३४७
वाराही १६६
वाराहीकन्द ५३
वारिसंभव ३०१
वालुकी ३३४
वासनवेल २५९
विकङ्कत ९४
विकङ्कतभेद ३२०
विटपकरञ्ज १०१
विट्खदिर ३२५
विडंगसार २२१
विदारिगन्धा २६७
विदुल १७१
विद्रुमलता १६९
विधारा १५९
विश्वदेवा २०८
विषखर्परिका ३४७
विषतिन्दुक २६६, २६८
विषद्रव्य २६७
विषमुष्टि ३४७
विषमुष्टिक ६, २६८

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

विषाणिका १६, १४८, २६९
विषाह्वय २७१
विष्णुकन्द ३४८
विष्णुक्रान्ता १३७, २७५
विसखपरा ३४७
वीरतरु २७२
वृकधूमक २७२
वृत्तकण्टकारिका ९४
वृत्तकरञ्ज १०१
वृत्तकलम्बुका २८०
वृत्तबृहती ३४०
वृत्तरुहा २४६
वृत्ताम्ल १५२
वृद्धदारक २०, १५९
वृन्ताकी ३४०
वृश्चिकपत्रिका २७१
वृश्चिकपत्री २७१
वृश्चिका ३४९
वृश्चिकाली १७, १२१, २६९
वृश्चिया शाक २७१
वृश्चीर २०२
वृश्चीव २०२
वृश्चीव (र) २०१
वृषपर्णिका ४६
वेगनाम ३५
वेणुपत्रिका २१२
वेतस १७१, २७२
वेतसद्वय १७३
वेत्त २७२
वेल्लन्तर २७२
वैजयन्तिका ८
व्याघ्राटक ३४९
व्याघ्री ९४
व्याघ्रैरण्ड १६३

शं

शंखपुष्पी २७५
शंखपुष्पीभेद २९१
शंखालुक ५२
शंखाहुली २७६
शंखिनी २३८, २७५, २८९
शकरकन्द ५२
शकुलादनी २७४
शतपर्वक २७६
शतपर्विका २७६
शतपुष्पा १४८, २७७
शतवीर्या २७६
शतात्वक ३५०
शताह्वक २७७
शताह्वा १४, २७७
शताह्वाद्वय २७७
शमठ ११२, ११४
शमठभेद ११२
शमठशाक ११२
शमी १२४
शर २९४
शरबालिका १७६
शरबालिका भेद १२१
शल्लक ३५०
शल्लकी ४१
शशाण्डुली ३५०
शाकश्रेष्ठा १५०
शाखोटक १४१
शार्ङ्गेष्ठा २७७
शाबरकन्दक २७७
शालपर्णी २६७
शाल्मल २६२
शाल्मलक २६२
शाल्मलिक २६२
शालिञ्च १७६
शिंशपा ३२३
शिकाकाई २९०
शिखरी २०८
शिखी २०८
शिग्रु ५, ६, २७९
शिग्रुद्वय २७९
शिग्रुबीज १२५
शितिवारक १२१

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

शिम्बी ३३७
शिरीष ११३, २८१
शिरीषिका ३५०
शिलारस १५५
शिलावल्का १९७, ३१०
शिल्पिका ३५०
शिवमल्लिका २६५
शिवलिङ्गी ३४६
शिशिरद्वय १४२
शीतपर्णी २८०
शीतपाकी २०८, २१०
शीतफल २८०
शीतल ११७
शीतला २१०
शीतवल्ली २८०
शीतशीव २८०, २८१
शीर्णवृन्त ३३४
शुकतरु २८१
शुकनासा २८१, २८२
शुकशिम्बा २८२
शुकाह्वा २८१
शुक्ल शालपर्णी १४९
शुक्ला २८२
शुक्लार्क ३१०
शुभ्रालु ५३
शूकरशिम्बी १०९
शूली ३५०
शृङ्गबेरिका ५१
शृङ्गाटिका २८३
शृङ्गाटी २८३
शृंगालबदरी २०७
शृङ्गिरिट्टी ३५०
शेफालिका १७५, १८९
शेफाली १७३
शोभाञ्जन ५, १२४, २७९
शोभाञ्जनक २३४
शोभाञ्जनबीज १२५
शोली ३५०
श्यामलता ५५
श्यामा १५८
श्यामाकभेद २६२
श्योनाक २६, २२४
श्रवणाह्वया २८५
श्रावणी १६६, २८४
श्रावणीद्वय २८४
श्रीखण्ड १४२
श्रीचन्दन १४२, ३००
श्रीपर्ण ८
श्रीपर्णिका ११६
श्रीपुष्प ३०१
श्रीवल्ली ३५०
श्लेष्मातक ६६
श्वाविदुद्रज ३५०
श्वेत अगरु ७
श्वेतकण्टकारी ३४०
श्वेतकापोती १६६
श्वेतकाम्भोजी ३१८
श्वेतगुंजा ६३
श्वेतघोषा १२६
श्वेतचन्दन १४२
श्वेतदूर्वा १६
श्वेतपाटला १८१
श्वेत पुनर्नवा २०२
श्वेतबृहती ३४०
श्वेतमन्दार ३१०
श्वेतमरिच ६, १२४, १२५
श्वेतमुष्कक १८१
श्वेतमुष्कक १८२
श्वेतवचा २५७
श्वेतवट्ट ३५१
श्वेतशिला १९७, ३१०
श्वेतस्यन्द ९१, १३७
श्वेता ९१, २८७, ३४०, ३५१
श्वेताम्ली ३५१

ष

षड्ग्रन्था ३१६
षड्भुजा ३३४

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

स

संकोच ११९
संवर्त्तक २८८
संहर्षा २८८
सकरकन्द २९८
सकलकन्द २९८
सतम्बा १८७
सताम्बा २५
सतीन १०६
सतीना १०७
सत्यानाशी ८६, ३००, ३१५
सदाबहार २४४
सप्तधार सेहुड़ २९०
सप्तला २८९
सप्तलिका २९०
सफेद मुशली २२८
सबई २१२
समष्ठिल ११४
समष्ठिला ११३
समाकदाना १५३
समुद्रफल १७२, ३५३
समुद्रशमी ३५१
समुद्रसोक ३५३
सरपत ३०८
सरेठा ५७
सर्पगन्धा १६९, २४३, २४४
सर्पच्छत्रिका १७०
सर्पतनु ३४०
सर्पलोचना १७०, २९१
सर्पसुगन्धा १६९
सर्पा १५, १६६
सर्पाक्षी १७०, २७५, २९१
सर्पिणी ३५१
सर्वक्षीरी ३२५
सलगम १३९
सहचर २९३
सहचरद्वय २९३
सहदेवा १४०, २०८, २०९
सहदेवी २१०
सहस्रवीर्या २७६
साकुरुण्ड ३५१
सातला २८९
सावून ३५१
सावुनी ३५१
सारिवा २६४
सारिवाद्वय ५३
सिगरौटी १०९, ३५०
सिंघाड़ा २८३
सिंही ३४०
सिगृडी ३५१
सिध्रक ३५२
सिञ्चितिकाफल २०७
सिद्धवृक्ष ३५२
सिद्धेश्वर ३५२
सिन्दूरी ३५२
सिन्धुवार १७३
सियरभुका ७२
सिरवालिका १२१
सिल्हक १५४
सीधा ३५२
सुअरालु ५३
सुगन्धकोकिला १५६
सुगंधबाला ६४
सुथनी ५२
सुनिषण्णक १२१
सुरंगी १७१
सुरपर्ण ३५२
सुरपुन्नाग १७१
सुरस १५५
सुरसा ११५, १५५, १७८,
सुरसाद्वय १५५
सुरसी २१४
सुवर्चला ४८
सुवर्ण २९१
सुवर्णक्षीरी ८०, २९९, ३०३
सुवर्णक्षीरीनिर्यास ८०
सुषवी २९२

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

सुषिरा १६९
सुसनी साग १२२
सूक्ष्मैला ११५, २१२
सूरजमुखी ५०
सूरण ३०८
सूर्यकान्ता १६६
सूर्यभक्ता ४९
सूर्यभक्तिका ४९
सूर्यवल्ली ४८, २९३
सूर्यावर्त्त ६, ४९, २६५
सूर्यावर्त्तभेद ४९
सेफन्द १३७
सेम ३३७
सेलरवड़ी ३५०
सेहु २७७
सैर्यकयुग्म २९३
सैरेयक ३१६
सैरेयकचतुष्टय २९४
सैरेयकभेद २९३
सैरेयकत्रय २९४
सोम १६६, २९५
सोमराजी ३५२
सोमलता २९८
सोमवल्कल २९७
सोमवल्ली २६४, २९७
सोमवृक्ष २९७, २९८
सोमसरला २९७
सोमा २९७
सोया २७७
सोहराई ३५२
सौञ्चली ४९
सौंफ २७७
सौम्या २६४
सौराष्ट्री १५७
सौवीर २०७
सौवीराञ्जन १८
स्त्रीकुटज १२०
स्थलकन्द २९८
स्थलकमल १४७
स्थलगण्डीर ११३
स्थूलकन्द २९८
थूलग्रन्थि ३४६
स्थूलजीरक १०४
स्थूलफला ९४
स्थूलबृहती ३४०
स्थूलैला १०६
स्थौणेयक १५१
स्निग्धपिण्डीतक ३४७
स्नुही ११३
स्पृक्का २९८
स्फटिका १५७
स्फूर्जक २९८
स्फूर्दन ३५२
स्याह मुशली २२८
स्रोतोऽञ्जन १८
स्वर्णक्षीरिणी २९९
स्वर्णक्षीरी २९९, ३१५, ३२५
स्वर्णक्षीरीद्वय २९९
स्वर्णक्षीरीनिर्यास ८०
स्वर्णजीवन्ती १५०
स्वर्णवल्ली ३५३
स्वर्णुली ३५३
स्वल्प कर्कोटक १०४
स्वल्पवर्त्तुलक १०६

ह

हँड़िया २१६
हत्थाजोड़ी ३१६
हब्बुलास ३२६
हयपुच्छिका ११५
हरफारेवड़ी २५५
हरसिंगार १७५, १८८, १८९
हरिचन्दन १४३, ३००
हरिताल २६८
हरिद्वार की ब्राह्मी ७५
हरिद्र ९८
हरिद्रु ९८

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

हरीतकी ११५
हरीतकीभेद २४६
हरी धनिया ५१
हरेणु १०६, १७५
हरेणुका ७४, १७२
हलदू ९८
हस्तिकन्द ३५३
हस्तिकर्णपलाश ३०३, ३२४, ३५३
हस्तिकोशातकी १२६
हस्तिघोषा १२६
हस्तिदन्ती १६४
हस्तिपर्णी २६०, २६१, ३०३
हस्तिपिप्पली १४५
हस्तिशुण्डी ३५३
हस्त्यालुक ५२
हाफरमाली ५३
हालिम ३१२
हाशा १५
हिंगुपर्णी २१३
हिंगुपत्रिका २१२
हिंगुशिवाटिका २१३
हिंस्रा ११०, ११६, ३१६
हिज्जल १७२, ३५३
हितल ३०३
हिन्ताल ३०३
हिमावली ३०७
हियावलि ८०, ८७, २९९
हिरण्यपुष्पी ३०३
हिरवी ८७, २९९, ३१५
हिलमोचिका २१९, २७५
हिस्फित्थ ४१
हुलहुल १४, ४९
हुलहुलिका ४९
हेमक्षीरी २९९
हेमदुग्धा ८२, २९९
हेमा १५०, ३५३
हेमांग २९१
हैमवती २५७

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

INDEX

LATIN AND ENGLISH NAMES

A

A. archangelica Linn. 142
Abies pindrow Royle 329
Abies webbiana Lindle 151
Abutilon indicum (Linn.) Sw. 211
Acacia arabica 312
Acacia concinna DC. 290
Acacia pennata 325
Acacia pennata Willd. 48, 103, 314
Acacia sp. 312, 332, 347
A. canescens Grab. 103
Achyranthes acquatica Br. 114
Achyranthes aspera 309
A. campanulatus 308
Aconitum heterophyllum Wall 272
Acorus calamus Linn. 257, 346
Actiniopteris dichotoma Bedd 208
Adansonia digitata Linn. 280, 328
Adiantum caudatum Linn. 208
Adina cordifolia Hook. f. 98
Aerva Javanica 347
Aerva lanata Juss 176, 193
Aglaia roxburghiana Mig 206
Ailanthus excelsa 225
Ailanthus excelsa Roxb 30
Alangium begonifolium Harms. 5, 45
Albizzia lucida Benth. 92
Albizzia procera (Roxb) Benth. 92, 288
Albizzia sp. 335
Alectra parasitica 341
Allium ascalonicum Linn, 140
Allium straceyi Baker 330
Allium wallichii Kunth. 135
Alpinia galanga Wlld. 243, 323, 346
Alpinia speciosa K. Schum. 346
Alternanthera sessilis 219.
Alternanthera sessilis Br. 176.
Altingia excelsa Noronha 155.
Amanita muscaria 297.
Amaranthus caudatus Linn. 344
Amaranthus mangostanus 113.
Amaranthus paniculatus Linn. 150
Ammania baccifera Linn. 193, 341
Amomum subulatum Roxb.175.
Amorphophallus buibifer Blume 308
Anamirta coculus W. & A. 990
Andrographis paniculata Nees. 238
Angelica glauca Edgew. 142
Anthocephnlus cadamba 223
Anthocephalus cadamba Mig. 98

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

A. palmatum D. Don. 272
Aphanamixis polystacia (Wall.) Parker. 248
A. pulchellus Wall. 103
Aguilaria agallocha Roxb. 8
Aralia guinguefolia (called ginseng in china) 252
Argemone mexicana 315
Argemone mexicana Linn. 300
Argyreia speciosa Sweet. 34
Arisaema alba N. E. Br. 36, 39
Arisaema sp. 15, 148, 335, 351
Aristida setacea Retz. 115
Aristolochia bracteata Retz 321
Aristolochia indica 243
Aristolochia indica Linn. 170
Artemesia maritima Linn. 330, 344
Asclepias curassavica Linn. 108
Asparagus 21
Asparagus adscendens Roxb. 228
Astercantha Congifolia Nees. 58
Astragalus sp. 345
Anchusa strigosa Lebill. 141
Averrhoa carambola Linn. 161
Avicenna officinalis Linn. 153, 156, 295

B

Bacopa monnieri 219, 328
Bacopa monnieri (Linn) Pennell 75, 76, 77
Baliospermum 163
Bauhinia vahlii W. & A. 233
Barleria cristata Linn. 295
Barleria prionitis Linn. 295
Barleria strigosa Willd. 295
Barringtonia acutangula Gaertn. 172, 353
Bauhinia purpurea Linn. 71
Bauhinia racemosa 319
Bauhinia sp 36
Bauhinia vahlii W. & A. 37, 232
Bauhinia variegata Linn. 71
B. boerhaaviaefolia Pers 313
B. calycinum Muell-Arg 165
Bergenia 197
Bergenia ligulata 197
Bergenia ligulata (Wall) Engle 193
Biophytum sensitivum DC 332
Bixa orellana Linn 352
Blepharis edulis Pers 313, 319
Blepharispermum subsessile DC 243, 244
Blumea lacera DC 286, 322
B. malabiarca Roxb 36
Boerhavia diffusa Linn. 202
B. racemosa Lam 36
Breynia patens Benth 319
Bridal creeper 206
Bridelia retusa Spreng 193, 314
Bryonopsis laciniosa (Linn) Naud 346
Bryophyllum pinnatum (Lam) Kurz 193
Bryophyllum sp. 197
B. sinuatum Muell-Arg 163
Butea superba Roxb. 338

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

C

Caesalpinia sappan Linn. 117, 143
Caesalpinia sepiaria Roxb 103
Cajanus cajan (Linn) Mill Sp. 157
Calamus sp. 274
Calamus tenuis 272
Callicarpa macrophylla Vahl. 206
Calligonum polygonoides Linn. 339
Calophyllum inophyllum Linn. 171
Calosia argentea Linn. 121
Calotropis 310
C. amabilis Vahl. 229
Canavalia gladiata (jacg) DC. 311
Cannabis sativa 297
Cannabis sativa Linn. 342
Canscora decussata Schult 238, 275
Canthium parviflorum Lam. 320
Capparis mooni Wight 345
Cardiospermum halicacabum Linn. 264, 317, 318
Careya arborea Roxb. 323
Careya herbacea Roxb. 322
Carum bulbo-castanum W. Koch. 104
Carum carvi 104
Cassia absus Linn. 323
Cassa auriculata Linn. 323, 312
Cassia fistula Linn. 106
Cassytha filiformis Linn. 325
Cayratia carnosa 308
C. cassia Blume 263
Celosia argentia Linn. 176
Celosia argentea Linn. Var. cristata 208
Celosia argentea var. cristata Vorr. 121, 176
Celosia cristata Linn. 345
Centella ariatica (Linn.) Urban. 75, 77
Centipeda minima (Linn.) A. Br. & Aschers. 135
Centipeda orbicularis 325
Centratherum anthelminticum Kuntze. 340, 352
Ceropegia 89
Ceropegia bulbosa Roxb. 12
Ceropegia sp. 297
C. esculentus Linn. 229
Chloris incompleta Roxb. 342
Chlorophytum arundinaceum Baker. 228
Chlorophytum Sp. 89
Chlorxylon swietenia DC. 214
Chonemorpha macrophylla (Roxb.) G. Don. 232, 233
Cicca acida (Linn.) Merrill. 255
Cinnammum wightii Meissn. 161
Cinnamomum tamala Nees 263
Cissampelos pareira Linn. 183
Cissus quadrangularis Linn. 311
Citrullus vulgaris var. fistulouss (Stocks) Duthie and Fuller. 152
Clematis gouriana Roxb. 232
Cleome viscosa Linn. 50

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

Clerodendrum indicum (Linn.) Kutze. 218
Clerodendrum infortunatum Linn. 216
Clerodendrum phlomidis Linn. f. 8
Clerodendrum serratum (Linn.) Moon. 218
Clitorea ternatea 290
Clitorea ternatea Linn. 138, 275, 288
C. nudiflora Linn. 315
Coccinia glauca Savi 141
Cocculus hirsutus (Linn.) Diels. 259, 335
Coix gigantea Koenig ex Roxb. 327
Coleus amboinicus Lour. 114, 193
Coleus aromaticus 344
Coleus barbatus 113, 327
Coleus vettiveroides K.C. Jacob 64
Colocasia esculenta (Linn.) Schott. 298
Colocasia sp. 336
Commelina bengalensis Linn. 315
Convolvulus asgandha 38
Convolvulus pluricaulis Chois 276
Convolvulus sp. 291
Corallocarpus epigaeus Benth. ex Hook. f. 282
Corchorus sp. 329, 337
Coscinium fenestratum (Gaertn.) Colebr. 118
C. phlomidis 216
C. platystilis Br. 229
Cressa cretica Linn 345
Crinum Sp. 99, 348
Crotalaria sp. 329
Croton oblongifolius Roxb. 165
Croton sp. 335
Croton tiglium Linn. 162
Cryptolepis buchanani. 316
Cryptolepis buchanani Roem. Schult. 56
C. serratnm 216
Ctenilepis cerasiformis Naud. 5
C. triloba Heyne ex Roth. 232
Cucumis melo Linn. 334
Cubumis pubescens Willd 334
Cucumis sp. 334
Cucumis sativus Linn. 105
Cucurbita pepo DC. 105
C. umbellatum Wight 320
Curculigo orchioides Gaertn. 228
Curcuma angustifolia Roxb. 154
Cuscuta reflexa Roxb. 325
Cyclea arnotii Miers. 183
Cymbopogon jwarancusa Schult. 97
Cymbopogon martinii (Roxb.) Wats. 96
Cynoglossum lanceolatum Forsk 252
Cyperus rotundus Linn. 229
Cyperus sp. 64
Cyprus ecsulentus Linn. 330
C. zeylanicum Blume 263

D

Dactyloctanium aegyptium Beauv. 332

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

D. alata Linn. 52
Dalbergia lanceolaria Linn. 100
Dalbergia sissoides Grah 323
Dalbergia volubilis Roxb. 350
D. aromatica 197
D. brunonianum Royle 65
D. bulbifera Linn. 53
D. cashmarianum Royle 65
Decalpis hamiltonii W. & A. 57
Delima scandens Burkill 292
Delonix elata 352
Delphinium zalil Aitch & Hensl. 298
Dendrobium macraei Lindl. 150, 354
Desmodium gangeticum DC. 267
Desmostachya bipinnata Stapf. 123
D. glabra Roxb. 52
D. glaciale Hook. f. Th. 65
D. hispida Dennst. 52
Dichrostachys cineria W. & A. 272
Didymocarpus 197
Didymocarpus pedicellata R. Br. 193
Digeria muricata (Linn) Mart. 93
Dillenia indica Linn. 215
Dillenia pentagyna Roxb. 45, 171
Dioscorea deltoidea Wall 52
Dioscorea oppositifolia 26
Dioscorea Sp. 327
Dioscorea species 52
Diospyros montana Roxb. 266 269
Dipterocarpus alatus 331
Discorea esculanta Burkill 52
D. oblonga Wall. 197
Dodonaea viscosa Linn. 243, 244
Dolichandrone falcata Seem. 17, 237
Dorema ammoniacum D. Don. 72
D. pedicellata, R. Br. 197
D. podocarpa Clarke 197
D. prazeri Prain and Burkill. 53
D. puber Blume 53
Dregia volubilis Benth 279
D. sissoo Roxb. 323
Duck's foot 260
D. villosa Don. 197

E

Echinochloa sp. 262
Echinops echinatus Roxb. 313
Eclipta alba 341
E. colonum Link. 262
Ehretia laevis Roxb. 144
Ehretia laevis Var. pubescens. 282
Elaeocarpus serratus Linn, 79
Elaeocarpus sp. 186
Elaeocorpus ganitrus Roxb. 345
Elaeodendron glaucum Pers. 181
Elephantopus scaber Linn. 208
Eleusine aegyptiaca Desf. 153, 222, 266
Eleusine coracana Gaertn. 222
Eleusine indica Gaertn. 222
Enhydra fluctuans Lour. 219, 275
Enicostema littorale Blume 243

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

E. pendulous Wall. 214
Ephedra gerardiana (Wall) Stapf. 297
Ephepra Sp. 297
Eragrostis tremula Hochst. 329
Eruca sativa Mill 157
Erycibe paniculata Roxb. 247
Erythraea roxburghii G. Don. 238
Erythrina variegata Linn. var. orientalis (Linn.) Merill. 189
Eulaliopsis binata (Retz.) C.E. Hubbard. 212
Enlophia nuda Lindl. 343
Euonymus tingens Wall 352
Euonymus tingens 214
Euphorbia 89
Euphorbia acaulis Roxb. 20, 234
Euphorbia dracunculoides Lam. 290
Euphoria longan steud. 45
Euophorbia pilosa Linn. 290 300
Euphorbia royleana Boiss 290
Euphorbia thomsoniana 87, 315
Euphorbsia thomsoniana Boiss 299
Euphorbia thymifolia 328, 168 336
Euryale ferox Salisb. 11
Evodia meliaefolia Benth. 5
Evolvulus alsinioides Linn. 275
Evolvulus nummularis Linn. 47

F

Fagopyrum tataricum Gaertn. 313
False Calumba 318
Ferula narthex Boiss. 213
Ficus altissima Blume 142, 169
Ficus cunia Ham. 142
Ficus carica Linn. 111
Ficus hispida Linn. f. 111
Ficus palmata Forsk. 111
Ficus rumphii Blume 38
Flacourtia sepiaria Roxb. 320
Fritillaria Sp. 89
Fumaria vaillant Loisel. 178 7

G

Garcinia cowa Roxb. 187
Garcinia indica Chois 153
Garcinia morella 88
Garcinia morella Desv. 332
Garcinia pedunculata Roxb. 24
Garcinia Sp. 274
Garcinia xanthochymous Hook. f. 25, 187
Gardenia gummifera Linn. 213
Gardenia latifolia Ait. 179
Gardenia turgida 218
Gardenia turgida Roxb. 342
Garuga pinnata Roxb. 105, 321
Gentiana 247
Girardenia heterophylla 345
Girardenia heterophylla Decne 271, 349
Glinus oppositifolius (Linn.) A. DC. 313
Glossocardia bosvallia DC. 178
Gnetum montanum Markgraf. 235
Gnetum scandens Roxb. 235
G. optiva Drummond 158
Grewia hirsuta Vahl. 137, 211
Grewia tenax (Forsk.) Aschers & Schwf. 137

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

Gymnema sylvestre R. Br. 17
Gynandropsis pentaphylla DC. 50

H

Habenaria Sp. 44
Hardwickia binata Roxb. 18
Helianthus annuus Linn. 50
Helicterus isora Linn. 232
Heliotropium Sp. 353
Hemidesmus indicus R.Br. 56
Hibiscus cancellatus Roxb. 198
Hibiscus cannabinus Linn. 22, 342
Hibiscus ficulnans (Linn.) 152
H. kurzii (King) Warb. 156
Holarrena antidyseterica (Linn.) Wall. 120
Holoptelia integrifolia Planch 101
Holostemma rheedei Wall 30
Homonoia riparia Lour. 193
Horse's tail 115
H. salicifolia Nees. 59
Hydnocarpus laurifolia (Dennst) Sleumer. 156
Hygrophila 58
Hymenachne amplexicaulis (Rudge) Nees. 211
Hymendictyon cxcelsum Wall 218, 324
Hyoscyamus niger Linn 344
Hyptis 326
Hyptis suaveolens Poit 95

I

Iehnocarpus frutescens. R Br. 56
I. maxima (Linn. f.) G. Don 280
Impatiens balsamina Linn. 333
Imperata arundinacea Cyrill. 212
Imperata cylindricaBeauv. 123
Indigofera oblongifolia Forsk 331
Indigofera sp. 336, 337
Inula 147, 218
Inula racemosa 243
Inula racemosa Hook. f. 124
Ipomoea batatas (Linn.) Lam 298
Ipomoea eriocarpa R.Br. 280
Ipomoea maxima (Linn. f.) G. Don. 47
Ipomoea nil (Linn.) Roth. 20, 159, 320
Ipomoea pes-caprae 348
Ipomoea pes-caprae (Linn.) Sw. 160
Ipomoea petaloidea chois 159, 348
Ipomoea sepiaria Koen. 252
Iris ensata Thunb. 346
Iris sp. 193, 258

J

Jasminum melabaricum Wight. 343
Jateorrhiza palmata Miers 318
Jatropha glandulifera Roxb. 162
J. curcas Linn. 164
J. flexile Vahl. 151
J. gossipifolia Linn. 164
Jurinea macrocephala Benth. 150
Justicia procumbens Linn. 178

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

L

Lactuca serriola Linn. 35
Lageneria vulgaris 223
Lagerstroemia indica Linn. 352
Lagerstroemia speciosa Pers. 128
Lantana 168
Lasia spinosa Thwaites 252
Leucas sp. 335
Launaea sp. 141, 328
Lavanga scandens Ham. 255
Leea acquata Linn. 107
Leea macrophylla 261, 324
Leea macrophylla Roxb. 353
Leea macrophylla Roxb. ex Hornem 303.
Leea sp. 331
L. eleutherandra 256
Lepidium sativum Linn 312
Leptadenia pyrotechica Forsk-Decne 150
Leptadenia reticulata W. & A. 150
Lettsomia setosa Roxb. 349
Limonia crenulata Roxb. 215
L. indica Linn. 35
Liquidamber orientalis Miller 155
Liquid Storax 155
Lochnera rosea Reichb. 243
Loranthus sp. 289
Luffa sp. 126
Luvunga scandens 326
Lygodium sp. 345

M

Macrotomia benthamii DC. 141
Maerua arenaria Hook f. and Thoms. 201, 232, 265
Malva rotundifolia Linn. 50
Mammea longifolia Planch and Triana 171
Mandragora autumnalis Spreng. 252
Marsdenia tenacissima W. & A. 232, 233, 279
Marsilea minuta Linn. 122
Martynia annua Linn. 108
Martynia diandra 223
M. concanensis Nimmo 280
Melothria maderaspatana (Linn.) Cogn. 334
Mentha sylvestris 352
Merremia emarginata (Burm. f.) Hallier. f. 47
Mesua ferrea Linn. 171
Meyna laxifiora Robyns. 199
Microstylis sp. 44
Miliusa velutina Hook. f. & Th. 72
Mimosa hamata 347
Mitrogyna parviflora Korth 98
Mitragyna rotundifolia (Roxb) Kuntze. 98
Mitragyna tubulosa (Arn.) Kuntze 98
Mollugo hirta Thunb. 313
Mollugo oppositaefolia Linn. 178
Momordica cochinchinensis Spreng. 331
Momordica tuberosa (Roxb.) Cogn. 322
Momordica dioica Roxb. ex Willd. 104
Mongoose plant 291

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

Morinda coreia Buch-Ham. 44
Moringa oleifera Lam. 6, 280
Mucuna monosperma DC. 109
Mucuna sp. 289, 334, 345, 350
Mushroom 298, 327
Myrtus communis Linn. 326

N

Nardostachys jatamansi 149
Nerium indicum Mill 317
Nigella sativa Linn. 104
Noble canes 58
North Indian canes 57
Northosaerva brachiata Wight 193
Nyctanthes arbortristis Linn. 175, 189
Nymphoides macrospermum Vasudevan 332

O

Ocimum basilicum Linn. 193
Ocimum sanctum Linn. 178
Oldenlandia corymbosa Linn. 178
Onosma bracteatum Wall. 141
Operculina turpethum (Linn.) Silva Manso 159
Ophiorrhiza mungos Linn. 291
Oplismenus burmannii (Retz) Beauv. 213
Oroxylum indicum Vent 30
Orthosiphon pallidus Royle 31
Osmanthas fragrans Lour. 266

P

Paederia foetlda Linn. 211
Pandanus sp. 324
Panicum miliare 323
Panicum psilopodium Trin. var. coloratum Hook, f. 323
Panicum psilopodium Trin. var. psilopodium 323
Paris polyphylla Sm. 258
Paspalum scrobiculatum var. commersonii Stapf. 71
Paspalum sp. 262
P. brachystachyum Wall. 147
P. capensis (Linn. f.) Bullock 109
Pedalium murex Linn. 284
Peganum harmala 297
Pentatropis microphylla W. & A. 350
Pentatropis sp. 322, 325
Pentatropis spiralis Decne 108
Pergularia daemia (Forsk.) Chiov. 270
Pergularia extensa 121, 223
Pergularia extensa N. E. Br. 17
Periploca aphylla 297
Peristrophe bicalyculata 116
Peristrophe bicalyculata Nees. 107
Peucedanum grande C. B. C. 213
Phaseolus lunatus Linn. 5
Phaseolus trilobus Ait 228
P. herbacea 218
P. heyneanus Benth.338
Phyoenix paludosa Roxb. 303
Physalis minima 331
Physalis minima Linn. 35, 179 266, 330, 338
Physalis peruviana Linn. 180
Picrasma quassioides Benn. 218

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

Picrasma quassioides Bennett. 337
Picrorhiza kurroa Royle ex Benth 247
Piper boehmeriaefolium Wall. 147
Piper retrofractum Vahl. 147
Pistacea integerrima Stew ex Brandis 17, 237
Pistacia vera Linn. 21
Pluchea lanceolata C.B. Clarke 243
Pogostemon cablin Benth 338
Polycarpaea corymbosa Linn. 178
Polygonatum Sp. 44
Polygonum 276
Polygonum plebejum R.Br. 291
Polygonum sp. 89, 181
Pongamia pinnata Lierra 101
Porana paniculata Roxb. 206
Portulaca Sp. 329
Premna barbata Wall. 266
Premna herbacea Roxb. 218
Premna integrifolia Linn. 8
Premna latifolia var. mucronata Clarke. 8
Prosopis cineraria Druce 344
Prosopis stephaniana Kunth. 351
Prunus aloocha 51
Prunus carasus 51
Prunus commumis 51
Prunus domestica Linn. 51
Prunus mahaleb Linn. 206
Prunus persica 51
Prunus sp. 198, 227
Pterocarpus santalinus Linn. f. 143
Pterospermum acerifolium Willd 106
Pterospermum canescens Roxb. 326
Pyrus communis Linn. 151

Q

Quercus infectoria Oliv. 22

R

Radermachera xylocarpa (Roxb.) K. Schum. 181
Randia dumetorum Lam. 199
Randia sp. 347
Randia uliginosa DC. 199, 338
Ranunculus sceleratus 114
Ranunculus sceleratus Linn. 113, 319
Rauwolfia serpentina 243
Rauwolfia serpentina Benth. ex Kurz. 160
Remusatia vivipara Schott. 251
Rheum emodi 297
Rheum emodi Wall ex Meissn. 24, 26
Rheum nobile Hook. f. & Thomas 314
Rhododendron anthopogon D. Don. 151
Rhododendron arboreum Sm. 203
Rhododendron Sp. 294
Rhus parviflora Roxb. 153
Rivea ornata Chois 218
R. ornata 218
Roscoea Sp. 44
Rotula aguatica Lour 193
Rungia repens Nees. 178

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

Ruta graveolens 297

S

Saccharum 59
Saccoarum officinarmum 297
Saccharum sinense Roxb. 57
Saccharum sp. 312
Salanum indicum Linn. 94
Salix caprea Linn. 173
Salix sp. 272, 274
Salix tetrasperma Roxb. 173
Salsola sp. 346
Salvia plebeja R. Br. 353
Sansvieria roxburghiana Schult f. 232, 332
Santalum album Linn. 142
Sapium insigne Triven 227
Saponaria vaccaria Linn. 351
Sarcostemma acidum 297, 298
Sarcostemma acidum Voigt 297
Sarcostemma Brevistigma W. & A. 264
Saretha 57
Saussurea lappa C. B. Clarke 124
Saussurea sp. 124
Schrebera swietenioides Roxb. 182
Scindapsus 147
Scirpus articulatus Linn. C. B. Clarke 330
Scirpus Sp. 64
Selaginella rupestris Spreng 316
Selinum sp. 16, 149
Selinum tenuifolium Wall. 149
Sesamum Sp. 121
Sesbania cannabina (Retz.) Pers. 59
Sesbania sesban Merrill 340
Setaria glauca Beauv. 213
Setaria italica Beauv. 205
S. gossypifolia Don. 18
Sida cordifolia Linn. 211
Sida rhombifolia 210
Sida rhombifolia Linn. Mast 211
Sida spinosa Linn. 325
Sida veronicaefolia Lam. 211
Smilax china Linn. 346
Smilax oxalifolia Roxb. 343
S. officinarum Linn. 57
Solanum dulcamara Linn. 307
Solanum trilobatum Linn. 306
Solid Storax 155
Solnum xanthocarpum Schrad & Wendle 94
Soymida febrifuga A. Juss. 247
S. paniculata Miq. 129
Sphaeranthus Sp. 123
Spilanthus oleracea Murr 342
Stephania glabra Miers. 183
Stephania japonica Miers. 183
Stereospermum suaveolens DC. 181
Strychnos colubrina Linn. 19
Strychnos nuxvomica Linn. 269 319
Styrax officinalis Linn. 155
Suaeda sp. 346
Sword bean 311
Symplocos racemosa Roxb. 128
Syzygium aromaticum (Linn.) Merr. & L. M. Perry 143, 303

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

T

Tamarindus indica Linn. 25
Tamarix Sp. 22
Taxus baccata Linn. 151
Tecoma grandiflora Loisel 249
Tecoma undulata (G. Don.) 248
Tephrosia spinosa Pers. 315
Teramnus labialis Spreng. 228
Terminalia alata Heyne ex Roth. 331
Terminalia arjuna W. & A. 33
Terminalia myriocarpa Heurck & Muell-Arg. 33
Thespasia populnea 169
Thespesia populnea Soland ex Correa 99
Thevetia neriifolia 317
Thin canes 57
Thymus serpyllum Linn. 14
Tinospora sinensis (Lour.) Merill. 259
Tragia involucrata Linn. 271
Trianthema portulacastrum Linn. 202, 347
Trichodesma indicum R. Br. 308
Tricholepis glaberrima D.R. 341
Trichosanthes sp 122
Tridax procumbens Linn. 341
Triumfetta rhomboidea Jack 331
Triumfetta rotundifolia Lam. 327
T. tomentosa 33
Tuber cibarium Sibth. 327
T. uniflora Pers. subsp. petrosa (Blatt & Halb.) Gill & Ali. 315
Tylophora fasciculata Ham. ex Wight. 140
Tylophora indica (Burm. f.) Merrill 30
Typha australis Schum. & Thom. 139
Typha elephantina Roxb. 139
Typha laxmannii Lepech 139

U

Uncaria sessilifructus Roxb. 292
Uraria Lagopoidis Desv. 267
Urginea indica 310
Urginea indica Kunth 259, 324
Urtica dioica Linn. 271

V

Valeriana hardwickii Wall 64
Valeriana pyrolaefolia Decne. 96
Valeriana sp. 149
Vallaris heyni Spreng 56
Vallaris sp. 56
Vanda roghurghii R. Br. 243, 244
Ventilago maderaspatana 333
Ventilago maderaspatana Gaertn, 249, 324
Vernonia cineria Less. 210
Vetiveria zizanioides (Linn.) Wash. 256
Viburnum coriaceum Blume 247
Viburnum nervosum. D. Don. 128
Viburnum sp. 153

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

Viscum album 243
Viscum monoicum Roxb. ex DC. 238, 315
Vitex leucoxylon Linn. f. 188
Vitex negundo Linn. 174
Vitex pedunculalaris Wall. 107, 188
Vitis araneasus Dalz Gibs ex M. Laws 311
Vitis latifolia Roxb. 292, 310
Vitis pentaphylla 308
Vitis tomentosa Heyne 42
Vitis trifolia Linn. 308
Vitis vinifera 297
Volutarella ramosa (Roxb.) Santapau. 341
V. roxburghii 244

W

Wattakaka volublis (Linn. f.) Slapf. 232
Wedelia chinensis Merrill 341
Wendlandia exerta DC. 153
Withania aswagandha 38
Withania coagulens 243
Withania coagulens Dunal 72
Withania somnifera Dunal 72
Withania somnifera (Linn.) Dunal 36
Wrightia tomentosa Roem. & Schult. 120

X

Xanthium strumarium 34
Xanthium strumarium Linn. 314

Z

Zanthoxylum armatum DC. 158
Zanthoxylum sp. 333
Zingiber cassumunar Roxb. 51, 339
Zingiber zerumbet Rosc ex Smith. 346
Zizyphus mauritiana Lam. 207
Z jujuba Mill. 207
Z. nummularia (Burm. f.) W. &. A. 207
Z. oenophia Mill 207

Vaidyaraj Zandu Bhatji
National Ayurvedic Library
Punjabi Bagh, New Delhi-26
Call No.........4139...
Book No.........
Acc No.........

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

Also can be had from :

Chaukhambha Orientalia

Bunglow Road, 9-UB., Jawahar Nagar,

DELHI-110007

Phone—2911617, 238790

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection